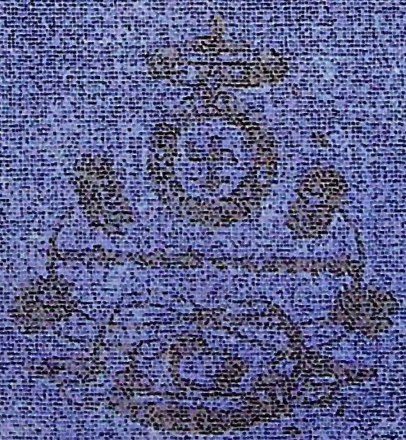


अ. ५

हिंदी साहित्य का बृहत् संहिता

संस्कृत भाषा
संस्कृत साहित्य का बृहत् संहिता

संस्कृत भाषा
संस्कृत साहित्य का बृहत् संहिता



सागराचार्य सभा काशी



3.4

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

(सोलह भागों में)

द्वादश भाग

(कथा साहित्य)

संपादिका

डॉ० निर्मला जैन



नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

सं० २०४० वि०

प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

मुद्रक : विद्या प्रिंटिंग प्रेस, ब्रह्माघाट, वाराणसी

संस्करण : प्रथम : २६०० प्रतियाँ : सं० २०४० वि०

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

मूल्य... २४००-००

(प्रकाशक)

०१ १९०४ ०१

विद्या प्रिंटिंग प्रेस

०१ १९०४ ०१

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

(सोलह भागों में)

संपादकमंडल

श्री डा० वेण्णेशंकर झा (अध्यक्ष)

श्री डा० नगेंद्र

श्री पं० करुणापति त्रिपाठी

श्री डा० हरवंशलाल शर्मा

श्री डा० वासुदेवसिंह (सह० संयो०)

श्री० डा० विजयपाल सिंह

श्री पं० सुधाकर पांडेय (संयोजक)

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

सं० २०४० वि०

ਸਾਹਿਬੀਤ ਦਾ ਇਕ ਸਾਹਿਬੀਤ ਸਿੱਖੀ

(ਸੋ ਗਿਆਤ ਹੋਵੇ)

ਸੰਸਕਰਣ

(੧੯੩੮) ੧੮ ਫਰਵਰੀ ੧੯੩੮

ਸਿਰਸੀ ਸੰਪਾਦਕ.੦੮

ਸੰਪਾਦ ੦੮

(੧੯੩੮) ੧੮ ਫਰਵਰੀ ੧੯੩੮

ਸਿਰਸੀ ਸੰਪਾਦਕ.੦੮

(੧੯੩੮) ੧੮ ਫਰਵਰੀ ੧੯੩੮

ਸਿਰਸੀ ਸੰਪਾਦਕ.੦੮

ਸਿਰਸੀ ਸੰਪਾਦਕ.੦੮

੦੮ ੧੯੩੮

बागरीप्रचारिणी सभा, काशी की संरक्षक

माननीया श्रीमती इंदिरा गांधी को

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

(१६ भाग)

सादर समर्पित

नई दिल्ली २६ मार्च, १९८४

प्राक्कथन

यह जानकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई है कि काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने हिंदी साहित्य के बृहत् इतिहास के प्रकाशन की सुचित योजना बनाई है। यह इतिहास १६ खंडों में प्रकाशित होगा। हिंदी के प्रायः सभी मुख्य विद्वान् इस इतिहास के लिखने में सहयोग दे रहे हैं। यह हर्ष की बात है कि इस शृंखला का पहला भाग, जो लगभग ८०० पृष्ठों का है, छप गया है। प्रस्तुत योजना कितनी गंभीर है, यह इस भाग के पढ़ने से ही पता लग जाता है। निश्चित ही इस इतिहास में व्यापक और सर्वांगीण दृष्टि से ही साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जाएगा।

हिंदी भारतवर्ष के बहुत बड़े भूभाग की भाषा है। गत एक हजार वर्ष पहले इस भूभाग की अनेक बोलियों में उत्तम साहित्य का निर्माण होता रहा है। इस देश के जनजीवन के निर्माण में इस साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहा है। संत और भक्त कवियों के सारगर्भित उपदेशों से यह साहित्य परिपूर्ण है। देश के वर्तमान जीवन को समझने के लिये और उसे अभीष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर करने के लिये यह साहित्य बहुत उपयोगी है। इसीलिये, इस साहित्य के उदय और विकास का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचन महत्वपूर्ण कार्य है।

कई प्रदेशों में बिखरा हुआ साहित्य अभी बहुत अंशों में अप्रकाशित है। बहुत सी सामग्री हस्तलेखों के रूप में देश के कोने कोने में बिखरी पड़ी है। नागरीप्रचारिणी सभा ने पिछले पचास वर्षों से इस सामग्री के अन्वेषण और संपादन का काम किया है। बिहार, राजस्थान, मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश की अन्य महत्वपूर्ण संस्थाएँ भी इस तरह के लेखों की खोज और संपादन का कार्य करने लगी हैं। विश्वविद्यालय के शोधप्रेमी अध्येताओं ने भी महत्वपूर्ण सामग्री का संकलन और विवेचन किया है। इस प्रकार अब हमारे पास नए सिरे से विचार और विश्लेषण के लिये पर्याप्त सामग्री एकत्र हो गई है। अतः यह आवश्यक हो गया है कि हिंदी साहित्य के इतिहास का नए सिरे से अवलोकन किया जाए।

इस बृहत् हिंदी साहित्य के इतिहास में लोकसाहित्य को भी स्थान दिया गया है, यह खुशी की बात है। लोकभाषाओं में अनेक गीतों, बीरगाथाओं, प्रेमगाथाओं तथा लोकोक्तियों आदि की भी भरमार है। विद्वानों का ध्यान इस ओर भी गया है, यद्यपि यह सामग्री अभी तक अप्रकाशित ही है। लोककथाओं और लोककथानकों का साहित्य साधारण जनता के अंतरतर की अनुभूतियों का अत्यन्त दिग्दर्शन है। अपने बृहत् इतिहास की योजना में इस साहित्य को भी स्थान देकर सभा ने एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है।

हिंदी भाषा तथा साहित्य के विस्तृत और संपूर्ण इतिहास का प्रकाशन एक ओर दृष्टि से भी आवश्यक तथा वांछनीय है। हिंदी की सभी प्रवृत्तियों और साहित्यिक कृतियों के अविकल ज्ञान के बिना हम हिंदी और देश की अन्य प्रादेशिक भाषाओं के आपसी संबंध को ठीक ठीक

नहीं समझ सकते । इंडोआर्यन वंश की जितनी भी आधुनिक भारतीय भाषाएँ हैं, किसी न किसी समय उनकी उत्पत्ति का हिंदी के विकास से घनिष्ठ संबंध रहा है और आज इन सब भाषाओं और हिंदी के बीच जो अनेक पारिवारिक संबंध हैं उनके यथार्थ निदर्शन के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि हिंदी के उत्पादन और विकास के बारे में हमारी जानकारी अधिकाधिक हो । साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मेल जोल के लिये ही नहीं बल्कि पारस्परिक सम्झौता तथा आदान प्रदान बनाए रखने के लिये भी यह जानकारी उपयोगी होगी ।

इन सब भागों के प्रकाशित होने के बाद यह इतिहास हिंदी के बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करेगा और मैं समझता हूँ, यह हमारी प्रादेशिक भाषाओं के सर्वांगीण अध्ययन में भी सहायक होगा । काशी नागरीप्रचारिणी सभा के इस महत्वपूर्ण प्रयत्न के प्रति मैं अपनी हार्दिक शुभ-कामना प्रकट करता हूँ और इसकी सफलता चाहता हूँ ।

राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली,
३ दिसंबर, १९५७ ई०

२१ नोव ५९५७

हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास

नागरीप्रचारिणी सभा के संक्षिप्त खोज विवरणों के प्रकाशन के साथ ही सन् १९०३ ई० से हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन के लिये प्रचुर सामग्री उपलब्ध होनी आरंभ हुई और उसका विस्तार होता गया। इस क्षेत्र में धीरे धीरे अतुल सामग्री का भांडार उपस्थित हो गया। इन उपलब्ध सामग्रियों का उपयोग और प्रयोग समय समय पर विद्वानों ने किया और सभा के भूतपूर्व खोजनिरीक्षक स्व० मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबंधु विनोद' में सन् १९१० ई० तक उपलब्ध सामग्री का व्यापक रूप से उपयोग भी किया। यद्यपि उनके पूर्व श्री गार्साँद तासी (सं० १८९६ वि०), शिवसिंह सेंगर (सं० १९३४ वि०), डा० सर जार्ज ग्रियर्सन (सं० १९४६ वि०), एफ० ई० की (सं० १९७७) द्वारा क्रमशः 'हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास', 'शिवसिंह सरोज', 'माडर्न क्वांटिफायर लटरेचर ऑव हिंदुस्तान', 'ए हिस्ट्री ऑव द हिंदी लटरेचर' प्रकाशित हो चुके थे, तो भी ये ग्रंथ हिंदी साहित्य के इतिहास नहीं माने जा सकते क्योंकि इनकी सीमा इति-वृत्तसंग्रह की परिधि के बाहर नहीं। निश्चय ही ग्रियर्सन का मान अधिक वैज्ञानिक कालविभाजन के कारण और 'मिश्रबंधु विनोद' की गरिमा उसके कालविभाजन तथा तथ्यसंग्रह की दृष्टि से है।

सभा ने हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन का गंभीर आयोजन हिंदी शब्दसागर की भूमिका के रूप में आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा किया, जिसका परिवर्धित संशोधित रूप 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के रूप में सभा से सं० १९८६ में प्रकाशित हुआ। यह इतिहास अपने गुणधर्म के कारण अनुपम मान का अधिकारी है। यद्यपि अब तक हिंदी साहित्य के प्रकाशित इतिहासों की संख्या शताधिक तक पहुँच चुकी है, तो भी शुक्ल जी का इतिहास सर्वाधिक मान्य एवं प्रामाणिक है। अपने प्रकाशनकाल से आज तक उसकी स्थिति ज्यों की त्यों बनी हुई है। शुक्ल जी ने अपने इतिहासलेखन में १९९६ वि० तक खोज में उपलब्ध प्रायः सारी सामग्री का उपयोग किया था। तब से इधर उपलब्ध होनेवाली सामग्री का बराबर विस्तार होता गया, हिंदी का भी प्रसार दिन पर दिन व्यापक होता गया और स्वतंत्रताप्राप्ति तथा हिंदी के राष्ट्रभाषा होने पर उसकी परिधि का और भी विस्तार हुआ।

संवत् २०१० में अपनी हीरक जयंती के अवसर पर नागरीप्रचारिणी सभा ने 'हिंदी शब्द-सागर' और हिंदी विश्वकोश' के साथ ही 'हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास' प्रस्तुत करने की भी योजना बनाई। सभा के तत्कालीन सभापति तथा इस योजना के प्रधान संपादक स्वर्गीय डा० अमरनाथ झा की प्रेरणा से इस योजना ने मूर्त रूप ग्रहण किया। हिंदी साहित्य की व्यापक पृष्ठभूमि से लेकर उसके अद्यतन इतिहास तक का क्रमबद्ध एवं धारावाही वर्णन उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रस्तुत करने के लिये इस योजना का संघटन किया गया। मूलतः यह योजना ५ लाख ५६ हजार ८ सौ ५४ रुपए २४ पैसे की बनाई गई। भूतपूर्व राष्ट्रपति देशरत्न स्वर्गीय

डॉ० राजेंद्रप्रसाद जी ने इसमें विशेष रुचि ली और प्रस्तावना लिखना स्वीकार किया। इस मूल योजना में समय समय पर आवश्यकतानुसार परिवर्तन परिवर्धन भी होते रहे। इसकी पूर्ति में सभा की केंद्रीय सरकार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, अजमेर, बिहार तथा उत्तर प्रदेश की सरकारों ने भी वित्तीय सहायता प्रदान की है; जिसके लिये सभा इन सरकारों के प्रति आभारी है। प्रत्येक विभाग के अलग अलग मान्य विद्वान् इसके संपादक एवं लेखक नियुक्त किए गए जिनके सहयोग से 'बृहत् इतिहास' का पहला खंड २०१४ वि० में, छठा खंड २०१५ में, सोलहवाँ खंड २०१७ में, दूसरा और तेरहवाँ खंड २०२२ में, चौथा खंड २०२५ में, चौदहवाँ खंड २०२७ में, दसवाँ खंड २०२८ में, सातवाँ खंड २०२९ में, आठवाँ खंड २०३० में, पाँचवाँ खंड २०३१ में, नवाँ खंड २०३४ में और पंद्रहवाँ खंड २०३६ वि० में और तीसरा खंड सं० २०४० में प्रकाशित हो गए। अब यह बारहवाँ खंड प्रकाशित हो रहा है। देश के व्यस्त तथा निष्णात् लेखकों को यह कार्य सौंपा गया था। पर इस योजना की गरिमा तथा विद्वानों की अतिव्यस्तता के कारण इसमें विलंब हुआ। लगभग दो दशक बीत जाने पर भी कुछ संपादकों और लेखकों ने रचमात्र कार्य नहीं किया था। किंतु ऐसी व्यवस्था कर ली गई है कि इसमें और अधिक विलंब न हो। सं० २०१७ तक इसके संयोजक डा० राजबली पांडेय थे और इसके पश्चात् सं० २०२० तक डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा रहे।

इस योजना को गति देने तथा आर्थिक बचत को ध्यान में रखकर इस योजना को फिर से सँवारा गया और इसके लिये एक संपादकमंडल गठित किया गया जिसके प्रधान महामहिम डॉ० संपूर्णानंद जी थे। अब इसके सदस्य निम्नलिखित हैं :

श्री डॉ० वेणीशंकर झा
 श्री डॉ० हरवंशलाल शर्मा
 श्री डॉ० नगेंद्र
 श्री कर्णपति त्रिपाठी
 श्री डॉ० विजयपाल सिंह
 श्री डॉ० वसुदेव सिंह—संपादन सहायक
 श्री पं० सुधाकर पांडेय—संयोजक

इस योजना का अद्यतन प्रारूप निम्नांकित है :

विषय और काल	भाग	संपादक
हिंदी साहित्य की ऐतिहासिक पीठिका	प्रथम प्रकाशित	डा० राजबली पांडेय
हिंदी भाषा का विकास	द्वितीय प्रकाशित	डा० धीरेंद्र वर्मा
हिंदी साहित्य का उदय और विकास (१४०० वि० तक)	तृतीय प्रकाशित	पं० कर्णपति त्रिपाठी डा० वासुदेव सिंह

भक्तिकाल (निर्गुण) (१४००—१७०० वि०)	चतुर्थ प्रकाशित	पं० परशुराम चतुर्वेदो
भक्तिकाल (सगुण) (१४००—१७०० वि०)	पंचम प्रकाशित	डा० दीनदयाल गुप्त डा० देवेंद्रनाथ शर्मा डा० विजयेंद्र स्नातक
रीतिकाल (रीतिबद्ध) (१७००—१९०० वि०)	षष्ठ प्रकाशित	डा० नगेंद्र
रीतिकाल (रीतिमुक्त)	सप्तम प्रकाशित	डा० भगीरथ मिश्र
हिंदी साहित्य का अभ्युत्थान (भारतेंदुकाल, १९००—५० वि०)	अष्टम प्रकाशित	डा० विनयमोहन शर्मा
हिंदी साहित्य का परिष्कार (द्विवेदी काल, १९५०—७५ वि०)	नवम प्रकाशित	पं० सुधाकर पांडेय
हिंदी साहित्य का उत्कर्ष (काव्य, १९७५—९५ वि०)	दशम प्रकाशित	डा० नगेंद्र, डा० अंचल, पं० शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'
हिंदी साहित्य का उत्कर्ष (नाटक, १९७५—९५ वि०)	एकादश प्रकाशित	डा० सावित्री सिन्हा, डा० दशरथ ओझा, डा० लक्ष्मीनारायण लाल
हिंदी साहित्य का उत्कर्ष (कथा साहित्य, १९७५—९५ वि०)	द्वादश प्रकाशित	डा० निर्मला जैन
हिंदी साहित्य का उत्कर्ष (समालोचना, निबंध, पत्रकारिता, १९७५—९५ वि०)	त्रयोदश प्रकाशित	डा० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'
हिंदी साहित्य का अद्यतन काल (सं० १९९५ वि०—२०१७ वि०)	चतुर्दश प्रकाशित	डा० हरवंशलाल शर्मा, डा० कैलाशचंद्र भाटिया
आंतर भारती हिंदी साहित्य	पंचदश प्रकाशित	डा० नगेंद्र
हिंदी का लोकसाहित्य	षोडश प्रकाशित	महापंडित राहुल सांकृत्यायन डा० कृष्णदेव उपाध्याय

इतिहासलेखन के लिये जो सामान्य सिद्धांत स्थिर किए गए हैं वे निम्नलिखित हैं :

१—हिंदी साहित्य के विभिन्न कालों का विभाजन युग की मुख्य सामाजिक, साहित्यिक प्रवृत्तियों के आधार पर किया जायगा ।

२—व्यापक सर्वांगीण दृष्टि से साहित्यिक प्रवृत्तियों, आंदोलनों तथा प्रमुख कवियों और लेखकों का समावेश इतिहास में होगा और जीवन की सभी दृष्टियों से उनपर यथोचित विचार किया जायगा ।

३—साहित्य के उदय और विकास, उत्कर्ष तथा अपकर्ष का वर्णन और विवेचन करते समय ऐतिहासिक दृष्टिकोण का पूरा ध्यान रखा जायगा अर्थात् तिथिक्रम, पूर्वापर तथा कार्य-कारण-संबंध, पारस्परिक संपर्क, संघर्ष, समन्वय, प्रभावग्रहण, आरोप, त्याग, प्रादुर्भाव, तिरो-भाव, अंतर्भाव आदि प्रक्रियाओं पर पूरा ध्यान दिया जाएगा ।

४—संतुलन और समन्वय—इसका ध्यान रखना होगा कि साहित्य के सभी पक्षों का समुचित विचार हो सके; ऐसा न हो कि किसी पक्ष की उपेक्षा हो जाय और किसी का अति-रंजन । साथ ही साहित्य के सभी अंगों का एक दूसरे से संबंध और सामंजस्य किस प्रकार से विकसित और स्थापित हुआ, इसे स्पष्ट किया जायगा । उनके पारस्परिक संघर्षों का उल्लेख और प्रतिपादन उसी अंश और सीमा तक किया जायगा जहाँ तक वे साहित्य के विकास में सहायक सिद्ध हुए होंगे ।

५—हिंदी साहित्य के इतिहास के निर्माण में मुख्य दृष्टिकोण साहित्यशास्त्रीय होगा । इसके अंतर्गत ही विभिन्न साहित्यिक दृष्टियों की समीक्षा और समन्वय किया जायगा । विभिन्न साहित्य दृष्टियों में निम्नलिखित की मुख्यता होगी—

क—शुद्ध साहित्यिक दृष्टि : अलंकार, रीति, रस, ध्वनि,
ख—दार्शनिक ।

ग—सांस्कृतिक ।

घ—समाजशास्त्रीय ।

ङ—मानववादी, आदि ।

च—विभिन्न राजनीतिक और प्रचारात्मक प्रभावों से बचना होगा । जीवन में साहित्य के मूल स्थान का संरक्षण आवश्यक होगा ।

छ—साहित्य के विभिन्न कालों में उसके विभिन्न रूपों में परिवर्तन और विकास के आधार-भूत तत्वों का संकलन और समीक्षण किया जायगा ।

ज—विभिन्न मतों की समीक्षा करते समय उपलब्ध प्रमाणों पर सम्यक् विचार किया जायगा । सबसे अधिक संतुलित और बहुमान्य सिद्धांत की ओर संकेत करते हुए भी नवीन तथ्यों और सिद्धांतों का निरूपण संभव होगा ।

झ—उपर्युक्त सामान्य सिद्धांतों को दृष्टि में रखते हुए हुए प्रत्येक भाग के संपादक अपने भाग की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे । संपादकमंडल इतिहास की व्यापक एकरूपता और आंतरिक सामंजस्य बनाए रखने का प्रयास करता रहेगा ।

पद्धति—

६—प्रत्येक लेखक और कवि की सभी उपलब्ध कृतियों का पूरा संकलन किया जायगा और उसके आधार पर ही उसके साहित्यक्षेत्र का निर्वाचन और निर्धारण होगा तथा उनके जीवन और कृतियों के विकास में विभिन्न अवस्थाओं का विवेचन और निर्देशन किया जायगा ।

७—तथ्यों के आधार पर सिद्धांतों का निर्धारण होगा, केवल कल्पना और संमतियों पर ही किसी कवि अथवा लेखक की आलोचना अथवा समीक्षा नहीं की जायगी ।

८—प्रत्येक निष्कर्ष के लिये प्रमाण तथा उद्धरण आवश्यक होंगे ।

९—लेखन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जायगा : संकलन, वर्गीकरण, समीकरण (संतुलन), आगमन आदि ।

१०—भाषा और शैली सुवोध तथा सुस्मृतिपूर्ण होगी ।

११—प्रत्येक अध्याय के अंत में संदर्भ ग्रंथों की सूची आवश्यक होगी ।

१२—संपादकों के यहाँ से विभिन्न भागों की संपादित पांडुलिपियाँ आने पर प्रधान संपादक को अवकाश जिन्हें सभा निश्चित करे, उन्हें दिखा दी जाया करेगी । भली भाँति देख परख लेने पर ही लेखन और संपादन के पुरस्कारों का भुगतान किया जाया करेगा । एतदर्थ प्रति भाग २५०) ६० तक का व्यय स्वीकार किया जायगा ।

१३—सभा का आरंभ से ही यह विचार रहा है कि उर्दू कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है, बल्कि हिंदी की ही एक शैली है, अतः इस शैली के साहित्य को यथोचित चर्चा भी ब्रज, अवधी, हिन्दी, प्रकृतवादी उपन्यास में अवश्य होनी चाहिए ।

७. सन् १९१८ से १९३५ लेखकों को प्रति मुद्रित पृष्ठ ६) ६० की दर से और संपादक को उपन्यासों की शिल्प रचना से पुरस्कार दिया जायगा ।

८. सम्पूर्ण संपादन संपादक यदि अपने भाग के किसी अंश के लेखक भी होंगे तो उन्हें अपने लिखे अंश पर केवल लेखन पुरस्कार दिया जायगा, संपादन पुरस्कार (उतने अंश का) पृथक् से न दिया जायगा ।

१६—बृहत् इतिहास के लेखकों और सभा के बीच परस्पर अनुबंध होगा जिसमें यह भी उल्लेख रहेगा कि इतिहास की पुरस्कृत सामग्रियों पर सभा का स्वत्व सदा सर्वदा और सर्वत्र के लिये होगा तथा उनका उपयोग आवश्यकतानुसार करने के लिये सभा स्वतंत्र रहेगी ।

यह योजना अत्यंत विशाल है तथा अतिव्यस्त बहुसंख्यक निष्णात विद्वानों के सहयोग पर आधारित है । यह प्रसन्नता का विषय है कि इन विद्वानों का तो सहयोग सभा को प्राप्त है ही, अन्यान्य विद्वान् भी अपने अनुभव का लाभ हमें उठाने दे रहे हैं । हम अपने भूतपूर्व संयोजकों—डा० पांडेय और डा० शर्मा—के भी अत्यंत आभारी हैं जिन्होंने इस योजना को गति प्रदान की । हम भारत सरकार तथा अन्यान्य सरकारों के भी आभारी हैं जिन्होंने वित्त से हमारी सहायता की ।

इस योजना के साथ ही सभा के संरक्षक स्व० डा० राजेंद्रप्रसाद और उसके भूतपूर्व सभापति स्व० डा० अमरनाथ झा, स्व० पं० गोविंदवल्लभ पंत तथा स्व० डा० संपूर्णानंद की स्मृति जाग उठती है । अपने जीवनकाल में निष्ठापूर्वक इस योजना को उन्होंने चेतना और गति दी और फिर उनकी स्मृति प्रेरणा देती रही है । उनके आशीर्वाद से ही यह योजना पूरी हो सकी है ।

इस बृहत् इतिहास के विभिन्न खंडों को, श्रुतियों के बावजूद, हिंदो जगत् का स्नेह और आदर मिला है । मुझे विश्वास है, आगे के संस्करणों में और भी परिष्कार और सुधार होगा तथा अपनी उपयोगिता और विशेष गुणधर्म के कारण वे समादृत होंगे ।

इस ग्रंथ के लेखक हिंदी के अधिकारी विद्वान् हैं। उनका मैं विशेष रूप से अनुगृहीत हूँ क्योंकि व्यस्त होते हुए भी हिंदी के हित में इस कार्य को उन्होंने गरिमा के साथ पूरा किया। अंत में इस योजना में योगदान करनेवाले ज्ञात और अज्ञात अन्य सभी मित्रों एवं हितैषियों के प्रति सभा अनुगृहीत है और विश्वास करती है, उन सबका सहयोग इसी प्रकार उसे निरंतर प्राप्त होता रहेगा।

सुधाकर पांडेय

संयोजक,

बृहत् इतिहास उपसमिति

तथा

प्रधान मंत्री,

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी

२९ मार्च, १९८४ }

विषयसूची

लेख	लेखक	पृष्ठ
१. परिवेश	श्रीमती डा० निर्मला जैन	१-१३
२. सन् १९१८ से पूर्व हिंदी उपन्यास की परंपरा	श्री इंद्रनाथ चौधरी	१४-३१
३. सामाजिक यथार्थ के उपन्यास	श्री रामदरश मिश्र	३२-६१
४. ऐतिहासिक उपन्यास (१९१८-१९३६)	श्री शशिभूषण सिंहल	६२-८४
५. रोमानी उपन्यास	श्री शांतिस्वरूप गुप्त	८५-१००
६. प्रकृतवादी उपन्यास	श्री मोहनलाल रत्नाकर	१०१-११७
७. सन् १९१८ से १९३६ तक के हिंदी उपन्यासों की शिल्प रचना	श्री नित्यानंद तिवारी	११८-१४०
८. अनूदित उपन्यास	श्री शांतिस्वरूप गुप्त	१४१-१६२
९. प्रेमचंद पूर्व हिंदी कहानी	श्री सुमन मेहरोत्रा	१६३-१७४
१०. प्रेमचंद युग की यथार्थवादी कहानी	श्री विश्वनाथ त्रिपाठी	१७५-१९८
११. रोमानी ऐतिहासिक कहानी	श्री हरदयाल	१९९-२२९
१२. दो दशकों (१९१८-३८) की हिंदी कहानी : भाषा शिल्प और स्वरूप विश्लेषण	श्री परमानंद ओवास्तव	२३०-२४४
१३. अनूदित कहानी (सं० १९७५-१९९५ वि०)	श्री शांतिस्वरूप गुप्त	२४५-२६२
१४. उपसंहार	श्रीमती डा० निर्मला जैन	२६३-२७३

Index

Page	Name	Address
11-12	John Doe	123 Main St, New York, NY 10001
13-14	Jane Smith	456 Elm St, New York, NY 10002
15-16	Robert Brown	789 Oak St, New York, NY 10003
17-18	Mary White	101 Pine St, New York, NY 10004
19-20	James Black	202 Cedar St, New York, NY 10005
21-22	Elizabeth Green	303 Birch St, New York, NY 10006
23-24	William Hall	404 Spruce St, New York, NY 10007
25-26	Patricia King	505 Willow St, New York, NY 10008
27-28	Richard Lee	606 Ash St, New York, NY 10009
29-30	Susan Clark	707 Hickory St, New York, NY 10010
31-32	Thomas Evans	808 Sycamore St, New York, NY 10011
33-34	Linda Scott	909 Dogwood St, New York, NY 10012
35-36	Christopher Adams	1010 Magnolia St, New York, NY 10013
37-38	Nancy Baker	1111 Redwood St, New York, NY 10014
39-40	Gregory Nelson	1212 Cypress St, New York, NY 10015
41-42	Helen Carter	1313 Juniper St, New York, NY 10016
43-44	Anthony Mitchell	1414 Fir St, New York, NY 10017
45-46	Deborah Perez	1515 Palm St, New York, NY 10018
47-48	Joseph Roberts	1616 Cedar St, New York, NY 10019
49-50	Karen Turner	1717 Birch St, New York, NY 10020
51-52	Steven Phillips	1818 Spruce St, New York, NY 10021
53-54	Michelle Campbell	1919 Willow St, New York, NY 10022
55-56	Donald Parker	2020 Ash St, New York, NY 10023
57-58	Barbara Evans	2121 Hickory St, New York, NY 10024
59-60	Timothy King	2222 Dogwood St, New York, NY 10025
61-62	Angela Scott	2323 Magnolia St, New York, NY 10026
63-64	Jeffrey Adams	2424 Redwood St, New York, NY 10027
65-66	Christina Baker	2525 Cypress St, New York, NY 10028
67-68	Erica Nelson	2626 Juniper St, New York, NY 10029
69-70	Benjamin Mitchell	2727 Fir St, New York, NY 10030
71-72	Stephanie Perez	2828 Palm St, New York, NY 10031
73-74	Jonathan Roberts	2929 Cedar St, New York, NY 10032
75-76	Rebecca Turner	3030 Birch St, New York, NY 10033
77-78	Adam Phillips	3131 Spruce St, New York, NY 10034
79-80	Olivia Campbell	3232 Willow St, New York, NY 10035
81-82	Isaac Parker	3333 Ash St, New York, NY 10036
83-84	Grace Evans	3434 Hickory St, New York, NY 10037
85-86	Samuel King	3535 Dogwood St, New York, NY 10038
87-88	Chloe Scott	3636 Magnolia St, New York, NY 10039
89-90	Wyatt Adams	3737 Redwood St, New York, NY 10040
91-92	Madeline Baker	3838 Cypress St, New York, NY 10041
93-94	Leo Nelson	3939 Juniper St, New York, NY 10042
95-96	Isabella Mitchell	4040 Fir St, New York, NY 10043
97-98	Julian Perez	4141 Palm St, New York, NY 10044
99-100	Valentina Roberts	4242 Cedar St, New York, NY 10045
101-102	Sebastian Turner	4343 Birch St, New York, NY 10046
103-104	Alfred Phillips	4444 Spruce St, New York, NY 10047
105-106	Isabelle Campbell	4545 Willow St, New York, NY 10048
107-108	Harold Parker	4646 Ash St, New York, NY 10049
109-110	Frances Evans	4747 Hickory St, New York, NY 10050
111-112	Frederick King	4848 Dogwood St, New York, NY 10051
113-114	Clara Scott	4949 Magnolia St, New York, NY 10052
115-116	Alvin Adams	5050 Redwood St, New York, NY 10053
117-118	Julia Baker	5151 Cypress St, New York, NY 10054
119-120	Carl Nelson	5252 Juniper St, New York, NY 10055
121-122	Janet Mitchell	5353 Fir St, New York, NY 10056
123-124	Walter Perez	5454 Palm St, New York, NY 10057
125-126	Evelyn Roberts	5555 Cedar St, New York, NY 10058
127-128	Philip Turner	5656 Birch St, New York, NY 10059
129-130	Norma Phillips	5757 Spruce St, New York, NY 10060
131-132	Wayne Campbell	5858 Willow St, New York, NY 10061
133-134	Theresa Parker	5959 Ash St, New York, NY 10062
135-136	Howard Evans	6060 Hickory St, New York, NY 10063
137-138	Norma King	6161 Dogwood St, New York, NY 10064
139-140	Alfred Scott	6262 Magnolia St, New York, NY 10065
141-142	Theresa Adams	6363 Redwood St, New York, NY 10066
143-144	Wayne Baker	6464 Cypress St, New York, NY 10067
145-146	Theresa Nelson	6565 Juniper St, New York, NY 10068
147-148	Wayne Mitchell	6666 Fir St, New York, NY 10069
149-150	Theresa Perez	6767 Palm St, New York, NY 10070
151-152	Wayne Roberts	6868 Cedar St, New York, NY 10071
153-154	Theresa Turner	6969 Birch St, New York, NY 10072
155-156	Wayne Phillips	7070 Spruce St, New York, NY 10073
157-158	Theresa Campbell	7171 Willow St, New York, NY 10074
159-160	Wayne Parker	7272 Ash St, New York, NY 10075
161-162	Theresa Evans	7373 Hickory St, New York, NY 10076
163-164	Wayne King	7474 Dogwood St, New York, NY 10077
165-166	Theresa Scott	7575 Magnolia St, New York, NY 10078
167-168	Wayne Adams	7676 Redwood St, New York, NY 10079
169-170	Theresa Baker	7777 Cypress St, New York, NY 10080
171-172	Wayne Nelson	7878 Juniper St, New York, NY 10081
173-174	Theresa Mitchell	7979 Fir St, New York, NY 10082
175-176	Wayne Perez	8080 Palm St, New York, NY 10083
177-178	Theresa Roberts	8181 Cedar St, New York, NY 10084
179-180	Wayne Turner	8282 Birch St, New York, NY 10085
181-182	Theresa Phillips	8383 Spruce St, New York, NY 10086
183-184	Wayne Campbell	8484 Willow St, New York, NY 10087
185-186	Theresa Parker	8585 Ash St, New York, NY 10088
187-188	Wayne Evans	8686 Hickory St, New York, NY 10089
189-190	Theresa King	8787 Dogwood St, New York, NY 10090
191-192	Wayne Scott	8888 Magnolia St, New York, NY 10091
193-194	Theresa Adams	8989 Redwood St, New York, NY 10092
195-196	Wayne Baker	9090 Cypress St, New York, NY 10093
197-198	Theresa Nelson	9191 Juniper St, New York, NY 10094
199-200	Wayne Mitchell	9292 Fir St, New York, NY 10095
201-202	Theresa Perez	9393 Palm St, New York, NY 10096
203-204	Wayne Roberts	9494 Cedar St, New York, NY 10097
205-206	Theresa Turner	9595 Birch St, New York, NY 10098
207-208	Wayne Phillips	9696 Spruce St, New York, NY 10099
209-210	Theresa Campbell	9797 Willow St, New York, NY 10100
211-212	Wayne Parker	9898 Ash St, New York, NY 10101
213-214	Theresa Evans	9999 Hickory St, New York, NY 10102
215-216	Wayne King	10000 Dogwood St, New York, NY 10103

परिवेश

निर्मला जैन

१९१८-३६ तक का भारतीय साहित्य दो विश्वयुद्धों के बीच का साहित्य है। इतिहास साक्षी है कि यह समय भारत के ही नहीं, संपूर्ण विश्व के इतिहास में पहले महायुद्ध के परिणाम-स्वरूप व्याप्त संक्रांत, आर्थिक संकट और अनेक यूरोपीय देशों में अधिनायकवाद की प्रतिष्ठा का काल है। जहाँ तक भारतीय मानस का प्रश्न है, यह कहीं न कहीं राष्ट्रीय अस्मिता की खोज का, यानी भारतीयता की पहचान बनाने का काल है। इसके अतीत में सांस्कृतिक नवोत्थान के अनेक प्रयत्न हैं और वर्तमान में स्वतंत्रताप्राप्ति की उत्कट लालसा से प्रेरित एक विराट् जन उद्वेलन।

भारत जैसे विराट् देश की पराधीन मानसिकता का संघर्ष दो स्तरों पर है—विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध और उनके प्रतिनिधि स्वदेशी शिल्पियों के विरुद्ध। १९१७ की रूसी क्रांति का दृष्टांत संमुख होने पर भी, विश्व के सबसे विराट् और शक्तिशाली साम्राज्य के विरुद्ध क्रांति की अव्यावहारिकता के प्रति पूर्णतः सजग भारतीय चेतना के लिये यह काल जन-शक्तियों के संगठन का और किसी न किसी रूप में आत्मोपलब्धि या आत्मप्रतिज्ञान का काल है। इतिहास में इस युग को 'गांधी युग' कहा गया है और साहित्य में 'छायावाद युग'—इस समय की सबसे प्रबल काव्यप्रवृत्ति के आधार पर। यह बात अलग है कि उस समय के काव्य पर गांधीवाद का जितना प्रभाव दिखाई पड़ता है, कथा साहित्य पर किसी रूप में उससे कम नहीं। बल्कि यह कहना अनुचित न होगा कि कथा साहित्य का चरित्र क्योंकि अधिक यथार्थ-परक होता है, अतः यह प्रभाव जितना प्रत्यक्ष वहाँ दिखाई पड़ता है, उतना काव्य पर नहीं।

विदेशी साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष का प्रतिफलन राष्ट्रवादी चेतना में होता है और उसके स्वदेशी प्रतिनिधियों या सहायकों के विरुद्ध वर्ग चेतना के रूप में। अतः ऐसी परिस्थिति में रचा जानेवाला साहित्य राष्ट्रीयता और जनतांत्रिकता दोनों को साथ साथ वहन करता है। जब शोषण विदेशी और स्वदेशी दोनों शक्तियों द्वारा किया जा रहा हो तब क्रांतिकथा संमोहित कर सकती है, एक हृद तक उत्साहित भी कर सकती है, पर आसानी से व्यावहारिक आदर्श नहीं बन सकती। इसीलिये एक बार 'बुलशेविक उसूलों के लगभग कायल' हो जानेवाले प्रेमचंद वर्गहीन समाज का समर्थन तो करते दिखाई पड़ते हैं, क्रांति का नहीं : 'मेरा आदर्श समाज वह है जिसमें सबको समान अवसर मिले। विकास को छोड़कर और किस जरिये से हम उस मंजिल तक पहुँच सकते हैं? लोगों का चरित्र ही निर्णायक तत्व है। कोई समाज व्यवस्था नहीं पनप सकती जब तक कि हम व्यक्तिशः उन्नत न हों। कहना संदेहास्पद है कि क्रांति से हम कहाँ पहुँचेंगे।'।

इस वर्गहीन समाज तक पहुँचने के लिये एक बहुत बड़ी तैयारी की जरूरत थी। 'व्यक्तिशः उन्नति' और चरित्रनिर्माण किसी भी देश की जनशक्ति को संगठित करने की पहली शर्त है। राजनीतिक जीवन में उत्तरोत्तर होनेवाली घटनाएँ इस ओर इंगित करती हैं कि लोकमान्य तिलक के निधन (१९२० ई०) के उपरांत, गांधी जी के नेतृत्व में आगे बढ़नेवाला भारत आत्म-

विकास के लिये स्वाधीनता की आवश्यकता को भी भली भाँति समझता था और स्वाधीनता के लिये जनसंगठन की जरूरत को भी । साहित्यकार ने इसी बात को इस रूप में देखा था, '.....मगर हिंदुस्तान कला के सर्वोच्च शिखरों पर नहीं पहुँच सकता, जब तक कि वह विदेशी दासता के जुए के नीचे कराह रहा है । यहीं पर एक पराधीन देश का साहित्य स्वाधीन देश के साहित्य से अलग दिखाई देने लगता है । हमारी सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ हमें विवश करती हैं कि जहाँ भी हमें अवसर मिले, हम लोगों को शिक्षा दें ।' (—प्रेमचंद का पत्र केशोराम सबरवाल को, ८ सितंबर, १९२९) ।

साहित्यकार में इस दायित्वबोध का होना एक बात है, इसे कार्यान्वित कर पाना बिल्कुल दूसरी बात । १९१९ ई॰ के बाद केंद्र और प्रांत की सरकारों द्वारा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने के लिये विशेष अध्यादेशों का जो ताँता लगा, उसने सत्ता के द्वारा किए जानेवाले शोषण का सीधा प्रतिरोध और आलोचना असंभव कर दी । अतः लोगों को शिक्षा देने के लिये अवसर की खोज करना एकदम आकस्मिक नहीं है । स्थिति का प्रत्यक्ष सामना कर पाने की सुविधा के अभाव में साहित्य की मुद्रा जुझारू नहीं बन पाती । पराधीन देश की राष्ट्रीय चेतना ऐसी स्थिति में अभिव्यक्ति की अन्य भंगिमाएँ अपनाने लगती है । पराधीन देश का राष्ट्रीय चेतना संपन्न साहित्य इसी अर्थ में प्रगतिशील होता है कि वह अक्सर विद्रोह से पहले आत्मोपलब्धि और आत्माभिज्ञान, यानी राष्ट्रीय अस्मिता एवं राष्ट्रीय चरित्र की पहचान का उपक्रम करता है ।

आत्मचरित्र की यह पहचान प्रायः दो रूपों में होती है—अंधकारमय वर्तमान में शक्ति के केंद्र या स्रोत का अभिज्ञान और उसके उत्थान और पोषण का प्रयत्न और बीते हुए आदर्श के रूप में अतीत के गौरवपूर्ण खंडों का पुनराख्यान और उनमें राष्ट्रीय चरित्र का संधान करते हुए आत्मविश्वास का अर्जन । इसलिए यदि इस युग में एक ओर प्रसाद के नाटकों की अतीतोन्मुखता और छायावादी कविता में निरंतर एक अपरिभाषित रहस्यबोध दिखाई पड़ता है और दूसरी ओर प्रेमचंद में तात्कालिक वर्तमान को गहरी चिंता, तो यह दो विरोधी मुद्राएँ न होकर एक ही सिक्के के दो पहलू हैं ।

कविता की तुलना में गद्य साहित्य की यथार्थघमिता यों भी अधिक सहज उजागर होती है । इसलिये यह आकस्मिक नहीं है कि विचाराधीन युग में साहित्य के मंच पर बड़े समारोह के साथ भारतीय गाँव और किसान का अवतरण हुआ है । राजनीति में होनेवाले असहयोग आंदोलन के साथ इसका गहरा संबंध है । कांग्रेस ने बखूबी समझ लिया था कि सरकार को चुनौती देने के लिये उसे जिस जनशक्ति की आवश्यकता थी वह गाँवों में थी । राजनीतिक स्तर पर यह चेतना किसान सभाओं के संगठन के रूप में प्रकट हुई । उत्तर प्रदेश में किसानों का हित जवाहरलाल नेहरू को सौंपा गया और बिहार में जयप्रकाश को ।

यह अकारण नहीं था कि उस समय की साहित्यिक चेतना की प्रमुख पत्रिका 'सरस्वती' में बराबर किसानों की हितचिंता से प्रेरित लेख छप रहे थे । अगस्त, १९१५ की 'सरस्वती' में ईश्वरदास मारवाड़ी का एक लंबा लेख 'भारतीय किसानों के उद्धार का उपाय' छपा और उसी वर्ष सितंबर में कृष्णानंद जोशी का 'भारतीय किसान' । असहयोग आंदोलन से पहले स्वयं द्विवेदी जी द्वारा 'संपत्तिशास्त्र' जैसे ग्रंथ का प्रणयन इस बात का प्रमाण है कि विदेशी

शासकों द्वारा कायम किया गया आर्थिक ढाँचा किसान हित की दृष्टि से कहीं न कहीं स्वदेशी विचारकों को गहरे आंदोलित कर रहा था। यह बात ध्यान देने की है कि द्विवेदी जी ने उस समय लगभग हर उस समस्या पर कलम उठाई जो तत्कालीन स्वाधीनता संग्राम में प्रवृत्त भारतीय नेताओं की चिंता का विषय थी। वह चाहे नस्लवाद का प्रश्न हो, या भारत से बाहर बस जानेवाले भारतीयों के अधिकारों की लड़ाई हो, या विदेशों में हिंदी भाषा के सम्मान का प्रश्न हो। इस नवीन चेतना का उदित होकर प्रखर होते जाना इस बात को प्रमाणित करता है कि भारत में एक व्यक्ति के नेतृत्व में सामूहिक स्तर पर जनशक्तियों का इतना देशव्यापी संगठन शायद पहली बार हुआ।

इतिहासज्ञों में भी इस बात पर विशेष मतभेद नहीं है कि बीसवीं शताब्दी में प्रबल होने-वाला यह स्वाधीनता संघर्ष एक शताब्दी पहले से चले आते व्यापक सांस्कृतिक पुनरुत्थान का सहज विकास था। यह बात अलग है कि स्वयं १९वीं शताब्दी से आरंभ होनेवाले सांस्कृतिक पुनर्जागरण की मूल प्रेरणा राजनीतिक दासता को गहरी पीड़ा से ही जुड़ी है। किसी भी देश या जाति के इतिहास में घटित होनेवाला पुनर्जागरण, आत्मविश्वास के अर्जन का, निज स्वरूप की पहचान का एक विराट् प्रयत्न होता है। इस प्रयास की दिशा प्रायः दुहरी होती है। हम एक ओर अतीतोन्मुख होकर अपनी परंपरा और विरासत का पुनःशोध और पुनराख्यान करते हुए आत्मगौरव और आत्मबल अर्जित करते हैं और दूसरी ओर भविष्य के लिये स्वप्न रचते हैं। जिस अनुपात में वर्तमान अनिश्चित और अंधकारग्रस्त होता है उसी अनुपात में भविष्य के स्वप्नों का स्वरूप भी अपरिभाषित और धुंधला होता जाता है, विशेषकर ऐसी स्थिति में जब स्वप्न को साकार करने के साधनों पर हमारा दश न हो। भारतीय स्वाधीनता संग्राम से संबंधित महत्वपूर्ण घटनाओं पर दृष्टि डालें तो उनके क्रम में अनिश्चय और उतार चढ़ाव स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। एक ओर सामने ज्ञान विज्ञान की समस्त भौतिक शक्तियों से संपन्न विश्व का सबसे बड़ा साम्राज्य चुनौती के रूप में खड़ा हो और दूसरी ओर हो पराधीन देश की कोटि कोटि मूढ़, अपढ़, साधनहीन जनता। महात्मा गांधी ने जब इस जनता का नेतृत्व संभाला तो दृढ़ संकल्प और नैतिक बल के अतिरिक्त भौतिक साधनों के नाम पर उनके पास कुछ नहीं था। जनचेतना जगाने का काम उनसे पहले लोकमान्य तिलक कर चुके थे। गांधी जी के नेतृत्व में उस काल के लगभग सभी प्रतिभाशाली और मेधावी व्यक्ति संगठित हो गए—इनमें महामना मालवीय, लाला लाजपत राय, राजेंद्रप्रसाद, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, स्वामी श्रद्धानंद, मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, सरोजिनी नायडू, खान अब्दुल गफ्फार खान, वल्लभ भाई पटेल, विठ्ठलभाई पटेल, राजकुमारी अमृतसर, सुभाषचंद्र बोस आदि सभी प्रमुख नेता शामिल थे।

विदेशी शासकों का विरोध तो धीरे धीरे बल पकड़ ही रहा था, १९१७-१८ ई० के उपरांत वह एक निश्चित कार्यक्रम के अनुसार बड़ी तेजी से बढ़ चला। १९१७ ई० में रूस की क्रांति हुई और १९१८ ई० में पहले महायुद्ध का अंत। इसी के समानांतर भारत में जो घटनाएँ हुईं उनसे भारतीय स्वाधीनता संग्राम के स्वभाव और चरित्र का संकेत मिलता है। श्रीमती ऐनी बेसेंट ने होमरूल आंदोलन का प्रवर्तन किया (१९१७ ई०) और महात्मा गांधी ने चंपारन सत्याग्रह (१९१७ ई०) का संचालन किया। न कहीं हिंसा थी न क्रांति, पर एक बात का स्पष्ट संकेत था कि गांधी जी ने अपने पूर्ववर्तियों के छिट पुट प्रयत्नों को जनशक्ति के

एक व्यापक, देशव्यापी, संगठन के रूप में ढाल लिया था। यह बात अलग है कि उनके विदेशी समानधर्मा इस बात के बारे में बहुत स्पष्ट नहीं थे कि भारतीय विचारकों को राजनीति में हस्तक्षेप करना चाहिए या नहीं। भारत की महानता शायद इतने भर में ही समझी जा रही थी कि वह आध्यात्मिक और धार्मिक चिंतन को आगे बढ़ाए और राजनीति का मैदान अपने विदेशी स्वामियों के लिये छोड़ दे। शायद इसीलिये गांधी जी के धार्मिक प्रवचन, ऐनी बेसेंट और रोम्यां रोलां को गद्गद् करते थे पर जैसे ही उन्होंने धर्म के साथ राजनीति का समन्वय करने की दिशा में कदम बढ़ाया वैसे ही भारत के इन हितचिंतकों का हृदय क्षोभ से भर उठा। भारतीयों से दोनों का ही आग्रह और अपेक्षा थी कि वे राजनीति में कूदकर अपने श्रेष्ठतम सांस्कृतिक उपलब्धि नष्ट न करें।

शायद इसका एक कारण यह भी रहा कि सांस्कृतिक जागरण और राजनीतिक चेतना कुछ इस तरह परस्परवलंबित रहें कि उनकी गति चक्राकार हो गई। पराधीनता की पीड़ा ने सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रेरणा जगाई और यही पुनर्जागरण बाद में स्वाधीनता संग्राम का कारण बना। ऐनी बेसेंट, आर्यसमाज, राममोहन राय, रामकृष्ण मिशन, वियोमोफि हल सोसायटी यानी कुल मिलाकर नवजागरण की प्रेरणा ने यह स्पष्ट कर दिया था कि सही और गलत का विवेक, अच्छाई और बुराई अपने आपमें स्वतंत्र चीजें न होकर समाज और स्थिति सापेक्ष हैं। विदेशी चंगुल से छूटने से पहले जहरी है कि हम अपने बोच फैले जात पात, छुआछूत, अशिक्षा और धार्मिक अंधविश्वास से मुक्त हों। बुराई की जड़ जितनी विदेशी पराधीनता में है उससे कम अपने समाज में नहीं। स्वाधीनता के लिये संघर्ष करने से पहले खुद अपने को उसके लायक बनाना जहरी था। समाजसुधार के आंदोलनों ने जो सैद्धांतिक धरातल तैयार किया था, गांधी जी ने उसे व्यापक राजनीतिक अर्थ दिया।

गांधी जी के कार्यक्रम में राजनीतिक आंदोलन के समानांतर अछूतों, विद्याविधियों, नारियों को समान सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाने का सामाजिक आंदोलन भी चल रहा था। उनके इस प्रयत्न के पीछे प्रायः ताल्लताय के मानवतावादी विचारों की प्रेरणा स्वीकार की गई है। राजनीतिक स्तर पर चलनेवाले स्वाधीनता आंदोलन का सामाजिक संस्करण सुधारवादो आंदोलन था। साहित्य में इसके सबसे समर्थ संवाहक मुंशी प्रेमचंद थे। यह केवल संयोग नहीं है कि गांधी जी ने अपना कार्यपरिधि में जिस समाज को ग्रहण किया था उसी समाज के मानस को प्रेमचंद ने साकार किया। साहित्य में किसान, मजदूर, नारी और इन्हीं के साथ अछूतों का इतने समारोह से अवतरण, कहीं न कहीं इन्हें सामंती व्यवस्था से मुक्ति दिलाने की चेतना से प्रेरित है। 'रंगभूमि' में यदि महाजनी और सामंती व्यवस्था से प्रकट संघर्ष है तो 'सेवासदन', 'निर्मला' या 'गवन' में सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ियों और कुसंस्कारों के संदर्भ में नारी की चिंता। अधिकांश सामाजिक उपन्यासों में शोषित या निम्न वर्ग के प्रति यह प्रतिबद्धता तत्कालीन राजनीतिक चेतना का ही प्रतिफलन है। सामाजिक समस्याओं के दबाव को उस समय का कथाकार इस हद तक महसूस कर रहा था कि अपने नाटकों में ऐतिहासिक कथावस्तु के प्रति आग्रहशील प्रसाद भी उपन्यासों की रचना के लिये समसामयिक संदर्भों को ग्रहण करते दिखाई पड़ते हैं।

ऐतिहासिक कहे जानेवाले उपन्यास भी समसामयिक आशयों से मुक्त नहीं हैं। यह ध्यान

देने की बात है कि ऐसे अधिकांश उपन्यासों में अपने स्वर्ण युग अर्थात् गुप्त और मौर्यकाल से कथावस्तु ग्रहण करके स्वदेशी राजाओं की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशस्तियों और लगे हाथों हूणों, मुगलों आदि को विदेशी बताते हुए उनके अत्याचार की कहानियों से कथा का ढाँचा निर्मित किया गया है। आपसी फूट और विदेशियों के सामने अपनी असमर्थता पर अश्रुपात करने के साथ साथ प्रतिरोध करनेवाले राजाओं का यशगान करना भी ये लोग नहीं भूले।

इस समय की अधिकांश कथाकृतियों में विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करनेवाली बात यह है कि इनमें वर्तमान की सामाजिक राजनीतिक चेतना जितनी प्रखर है भविष्य के लिये उतना स्पष्ट कार्यक्रम नहीं है। अतीत का स्मरण कर ये गौरवान्वित होते हैं, वर्तमान इनके मन में क्षोभ उत्पन्न करता है, किंतु भविष्य क्या होगा, उसे बनाने की कार्यविधि क्या होगी, इसका कोई नियत खाका या तस्वीर इनके पास नहीं मिलती। 'सर्वोदय', 'स्वराज्य', 'राम-राज्य' उस युग के राजनीतिक स्वप्न हैं—अनिश्चित एवं धुँधले, छायावादी कवियों के क्षितिज पार स्थित रहस्यमय किंतु भव्य काल्पनिक लोक की तरह या फिर कथाकारों के 'सदन' और 'आश्रम' की आदर्श भूमि की तरह। स्पष्ट केवल एक बात है—जो जहाँ है, उससे असंतुष्ट है, परिवर्तन के लिये प्रयत्नशील है। सिद्धि भले ही बहुत निश्चित न हो, किंतु अपने को उसके लिये देते जाने के नैतिक दायित्व के प्रति वह पूरी तरह सजग है। यह केवल संयोग नहीं है कि इस पूरे युग में गीता अधिकांश विचारकों और नेताओं के ध्यान के केंद्र में दिखाई पड़ती है। किस वर्तमान में किस अतीत को ग्रहण किया जाय, इसका निर्धारण हमेशा वर्तमान की अपेक्षाओं से होता है।

कर्म के महत्व और मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा के प्रबल आग्रह का कारण यदि राजनीतिक संदर्भ में देखा जाय तो समझना कठिन न होगा। १९३९ ई० में कांग्रेस मंत्रिमंडलों के बनने और टूटने की चरम घटना से पूर्व का पूरा घटनाक्रम इस बात का साक्ष्य है कि द्वितीय महा-युद्ध के बाद स्वाधीनता संघर्ष का इतिहास संघर्ष, अनिश्चय और उतार चढ़ाव का इतिहास है। इस कालखंड की प्रमुख राजनीतिक घटनाओं के क्रमांक से यह बात स्पष्ट लक्षित की जा सकती है।

१९१९ ई० में रोलट ऐक्ट और जलियाँवाला बाग कांड, १९२१ ई० में खिलाफत आंदोलन और सत्याग्रह एवं असहयोग, १९२३ ई० में बारडोली सत्याग्रह, १९२६ ई० में साइमन कमीशन, १९२९ ई० में लाहौर कांग्रेस, १९३० ई० में मेरठ पड्यंत्र केस, दांडो कूच और नमक कानून भंग एवं गोलमेज परिषद्, १९३१ ई० में गांधी इविन समझौता, अगले ही वर्ष (१९३२ ई०) पुनः लगानबंदी आंदोलन, १९३४ ई० में उत्तरपश्चिम सीमांत प्रदेश में खुदाई खिदमतगार आंदोलन और उसके बाद १९३६ ई० में सामूहिक सत्याग्रह के स्थान पर व्यक्तिगत सत्याग्रह एवं गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया ऐक्ट और अंततः १९३९ ई० में कांग्रेस मंत्रिमंडलों का बनाया जाना और टूटना—ये घटनाएँ सीधे एक लक्ष्य की ओर उत्तरोत्तर बढ़ने से ज्यादा, इस बात को प्रमाणित करती हैं कि पूरा क्रम निरंतर आरोह अवरोह का है जिसमें गति है, दृढ़ संकल्प भी है, एक दिशा भी, किंतु सिद्धि बराबर अनिश्चित है। जब इतने लंबे प्रयत्न के बाद भी यह तय न हो पाए कि हम निरंतर लक्ष्य की दिशा में ही बढ़ रहे हैं या कि वह एक हद तक करीब आता जा रहा है, तो अक्सर कार्यपद्धति के संबंध में भी संदेह उत्पन्न होने लगता है।

कांग्रेस मंत्रिमंडलों का बनना और टूटना इसी मोहभंग की चरम स्थिति है ।

राजनीतिक घटनाओं के समानांतर सामाजिक चेतना में भी असमंजस, अनिश्चय और संशयात्मकता का एक कारण 'जनता' के विभिन्न वर्गों के प्रति कांग्रेस का समझौतावादी दृष्टिकोण था । बीसवीं शताब्दी के आरंभ में कृषिभूमि का पचास प्रतिशत जमींदारी प्रथा के अधीन था । कुल जनसंख्या का केवल दो प्रतिशत यह जमींदार वर्ग इस प्रकार समाज का सर्वाधिक शक्तिशाली वर्ग हो गया था । सामान्यतः इस वर्ग की सहानुभूति कांग्रेस के साथ थी क्योंकि कांग्रेस का लक्ष्य तब तक बिना मोर्चा लिए अपीलों के द्वारा अपने विदेशी शासकों से रियायतें उपलब्ध करना था, परंतु जैसे जैसे कांग्रेस पार्टी में साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय तन्त्र शक्तिशाली होते गए, विशेषकर १९१९ ई० में अमृतसर में होनेवाले जलियाँवाला कांड के उपरांत, वैसे वैसे पार्टियों में जमींदारों को दिलचस्पी भी कम होता गई ।

यों जहाँ तक कांग्रेस का प्रश्न है जमींदारों के प्रति पार्टी का रुख भद्रतापूर्ण एवं तटस्थ था । अमरीकी इतिहासकार वालटर हासर ने इस स्थिति को लक्ष्य करते हुए लिखा है कि विशेष चुंगी या ऊँचे भूमिकरों के लागू करने के विरुद्ध गांधी और पटेल के नेतृत्व में चलनेवाले किसान आंदोलन जहाँ गुजरात और बिहार में ब्रिटिश इलाकों में हुए और किसानों के हितों की टकराहट ब्रिटिश सरकार से हुई, वहाँ कांग्रेस ने बड़े उत्साह से किसानों के हितों का समर्थन किया पर जहाँ भूमिगत स्वार्थों की टकराहट स्वदेशी शक्तियों के बीच थी, वहाँ गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने पारस्परिक विश्वास और समझौते का मार्ग अपनाने की सलाह दी । आगे चलकर १९३१ में कांग्रेस ने जो आर्थिक कार्यक्रम अपनाया, उसमें भी यही रवैया दिखाई पड़ा । इस कार्यक्रम में जमीन का किराया कम करने, जमींदारों द्वारा काश्तकारों को बेदखल करने के अधिकार को सीमित करने की और किसानों के एक विशेष वर्ग को स्थायी काश्तकारों का दर्जा देने की सिफारिश की गई थी । यह कार्यक्रम किसी रूप में विशेष मौलिक या क्रांतिकारी नहीं था । खुद ब्रिटिश सरकार, देश की आर्थिक राजनीतिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए, १८८५ ई० के बाद समय समय पर काश्तकारों के पक्ष में अनेक कानून पास कर चुकी थी ।

पार्टी की आम सभा में किसानों के हित को ध्यान में रखते हुए १९३६ ई० में पार्टी के उग्र सुधारवादी पक्षधरों के दबाव में 'भूमि व्यवस्था' में 'आमूल परिवर्तन' का नारा दिया गया किंतु तब भी जमींदारी व्यवस्था को पूरी तरह खत्म कर देने की स्पष्ट माँग नहीं की गई । किंतु एक वर्ष बाद ही जब ब्रिटिश कालीन भारत के ग्यारह में से आठ राज्यों में पार्टी ने राज्यसत्ता प्राप्त कर ली, तब भी सब सरकारों ने १९३१ ई० में पारित प्रस्ताव के अनुसार न तो कानून ही पास किए और न भूमि व्यवस्था में आमूल परिवर्तन का कोई कार्यक्रम हाथ में लिया, यहाँ तक कि काश्तकारों की सुरक्षा के लिये बने कानूनों में भी बेदखली के लिये कुछ गुंजाइश छोड़ दी गई । सार रूप में तीसरे दशाब्द के अंत तक कांग्रेस और जमींदारों के बीच प्रत्यक्ष संघर्ष का कोई स्वरूप नहीं खड़ा हुआ ।

इस राजनीतिक वातावरण में रचित कथा साहित्य का भूमिहीन, अशिक्षित, शोषित, किसान यदि चारों ओर कसे हुए आर्थिक शिकंजे के बोझ के नीचे दम तोड़ देता है किंतु किसी क्रांतिकारी कार्यक्रम की योजना नहीं बना सकता तो विशेष आश्चर्य नहीं । वह अधिक से अधिक स्वप्न देख सकता है, उसकी कार्यान्विति नहीं ।

इस स्थिति में सहसा परिवर्तन १९३९ ई० में दूसरे विश्वयुद्ध की शुरुआत के साथ ही घटित होता दिखाई पड़ता है। इससे पहले गांधी जी के रवैये में एक सीमा तक जो समझौता-वाद या नैतिक बोध दिखाई पड़ता है, उसे स्थितिविवेक से उत्पन्न माना जाना चाहिए। गांधी जी की 'हिंद स्वराज' नामक पुस्तक में सत्याग्रह आंदोलन का जो चित्र स्पष्ट हुआ है, उसका आधार नैतिक मूल्य, उच्च आदर्श और आध्यात्मिक बल था और सत्य, अहिंसा एवं निःस्वार्थता उसकी कार्यपद्धति थी। इस सत्याग्रह आंदोलन में न कहीं क्रांति थी और न उग्रता, फिर भी राष्ट्रीय भावना के उत्साह में वृद्धि के समानांतर शासकों का दमनचक्र बढ़ता जाता था। १९२१ ई० में गांधी जी द्वारा चलाया गया अमहयोग आंदोलन ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह की लड़ाई का पहला उद्घोष था और इस बात का पहला प्रमाण कि भारत की मूक और निरीह जनशक्ति अहिंसा और सत्याग्रह के संस्त्र के सहारे भी संगठित होकर इतने बड़े साम्राज्य को ललकार सकती है। किंतु अमहयोग से आरंभ करके पूर्ण स्वाधीनता के नारे तक पहुँचने में गांधी जी को आठ वर्ष लग गए। पूर्ण स्वतंत्रता मंचंधी प्रस्ताव १९२९ ई० के कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में ही सामने आ सका।

इस यात्रा के दौर में गांधी जी ने सत्य, अहिंसा, संयम, सेवा, हृदयपरिवर्तन आदि के रचनात्मक साधनों को ही अपनाया। आज प्रेमचंद की अनेक कहानियों में हृदयपरिवर्तन के माध्यम से लक्ष्य तक पहुँचाने की प्रवृत्ति को देखकर अन्न होता है कि विचार को फार्मूला का रूप देकर उसे काल्पनिक या फिर आदर्श के रूप में आकांक्षित स्थितियों से सिद्ध किया गया है जबकि वस्तुस्थिति शायद यही है कि राजनीतिक स्तर पर आत्मत्याग, आत्मबलिदान आदि के द्वारा भी यही किया जा रहा था। जैसे गांधी जी मनुष्यत्व में देवत्व का संधान कर रहे थे उसी प्रकार कहीं न कहीं इस युग का साहित्यकार मनुष्य को देवता बनाकर मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा कर रहा था।

यह बात सर्वविदित है कि स्वयं कांग्रेस के बीच स्वाधीनता संग्राम की कार्यपद्धति को लेकर बराबर मतभेद रहा। आरंभ में गोखले और तिलक के बीच असहमति, आगे चलकर कुछ प्रमुख कांग्रेसी नेताओं द्वारा सत्याग्रह आंदोलन से असंतोष, ब्रिटिश सरकार द्वारा उदार-दलीय नेताओं की सहायता से राष्ट्रीय नेताओं को विधान सभा की ओर खींच लेने का निरंतर प्रयत्न, कांग्रेस में ही जन आंदोलन के पक्षपाती अपरिवर्तनवादी और स्वराज्य पार्टी के परिवर्तनवादी नेताओं के रूप में दो दलों की स्थिति और अंततः १९३८ ई० में सुभाषचंद्र बोस द्वारा फारवर्ड ब्लाक की स्थापना में इस आंतरिक मतभेद की स्पष्ट साकार परिणति—इन सब घटनाओं से क्रमशः खंडित और क्षीण होते आंदोलन की प्रकृति का बोध तो होता ही है, उसमें अंतर्व्याप्त असमंजस, दुविधा, उतार चढ़ाव और अनिश्चय का प्रमाण भी मिलता है।

ब्रिटिश सरकार द्वारा बीच-बीच में बातचीत के विभिन्न प्रयास, गोलमेज परिषदें आदि किसी स्थायी समाधान की खोज के लिये आयोजित न होकर भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य तक संतुष्ट रखने के प्रयास के रूप में थीं। इसीलिये बार-बार किसी संतोषजनक हल तक पहुँचने का छल उत्पन्न तो होता था किंतु अन्त में निराशा ही हाथ लगती थी।

शायद इसीलिये अहिंसा, सत्याग्रह आदि पर आधारित त्यागधर्मी आंदोलनों के समानांतर एक वर्ग उन उत्साही नवयुवकों का था जो गांधी जी की पद्धति से भिन्न क्रांति का स्वप्न देखते थे, सरफरोशी की तमन्ना रखते थे और जांबाजी का हौसला इनके हृदय में भावुकता की

सीमा का स्पर्श करता था। इन क्रांतिकारी नवयुवकों की साहसिकता ने पूरे राष्ट्र की चेतना को कहीं न कहीं अभिभूत और मुग्ध अवश्य किया था। इसीलिये उस युग के अनेक उपन्यासों में अक्सर कथानक में एक क्रांतिकारी युवक की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। इस पात्र के प्रति रचनाकार में एक रोमानी मोह दिखाई पड़ता है किंतु समय की वास्तविकता के अनुरूप राजनीतिक स्थिति में प्रायः यह युवक न तो कोई उल्लेखनीय फेर बदल करने में समर्थ होता है और न ही व्यक्ति के रूप में उसकी साहसिकता किसी जन आंदोलन का या व्यापक संगठन का रूप ग्रहण कर पाती है।

स्वाधीनता संघर्ष में भारतीय नेताओं के संमुख एक और बड़ी कठिनाई थी। १९०६ ई० में ही मुस्लिम लीग की स्थापना के साथ शासकों के द्वारा अपनाई गई भेदनीति का पहला प्रत्यक्ष फल सामने आ चुका था। वाद में अनेक धर्मों, जातियों, संप्रदायों और भाषाओं में बँटे इस देश की जनता के बीच फूट, मतभेद और वैमनस्य उत्पन्न करके उसे पोसने में शासकों की बहुत बड़ी भूमिका रही। इन आपसी भेदों का दमन करने के बजाय उन्होंने संवैधानिक सुधारों के नाम पर देश में एकता के बजाय विभाजन और विघटन को कूटनीति से प्रोत्साहित किया। समय समय पर विभिन्न धर्मों के लोगों के बीच सांप्रदायिक दंगों के रूप में तो यह विप बेल फैली ही, बहुसंख्यक अछूत कही जानेवाली जातियों और सवर्ण हिंदुओं के बीच भी यह खाई बढ़ती ही गई जिसकी चरम परिणति १९४७ ई० में देश के विभाजन में हुई।

सांप्रदायिक दंगों के सहारे विदेशी सरकार को विश्व के सामने यह सिद्ध करने का अवसर मिला कि भारत एक राष्ट्र नहीं है एवं ऐक्य के अभाव में अनेक धर्म एवं संस्कृतियों में बँटा यह देश स्वराज्य प्राप्त करने योग्य नहीं है।

सरकार की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई भेदनीति का एक अच्छा परिणाम यह हुआ कि गांधी जी ने भी अपने रचनात्मक कार्यक्रम में संगठनात्मक प्रयत्नों पर अधिक बल देना आरंभ कर दिया और वे एक धर्मनिरपेक्ष अखंड भारत की कल्पना को साकार रूप देने में संलग्न हो गए।

कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रमों पर ध्यान दिया जाय तो दोहरी कार्यविधि स्पष्ट दृष्टि-गोचर होती है :

(१) विदेशी के विरुद्ध स्वदेशी का प्रचलन और पोषण—जो भारतीय जनता के मन में आत्मसंमान का भाव तो पैदा करता ही था, इस दृष्टि से आर्थिक कार्यक्रम भी था कि बड़े बड़े कल कारखानों के विरुद्ध लघु उद्योग धंधों को प्रोत्साहित करके एक विशेष वर्ग को आत्मा-वलम्बी या स्वनिर्भर बनाता था।

(२) भारतीय जनता के भीतर फैली अशिक्षा, सांप्रदायिकता, अस्पृश्यता, नारीशोषण के विरुद्ध अनेक कार्यक्रमों की योजना बनाकर संगठित रूप में उन्हें चलाने का प्रयत्न।

कांग्रेस ने सभी अधिवेशनों में बहुत बड़े पैमाने पर उपर्युक्त कार्यक्रमों पर बल दिया, यथाशक्ति कार्यान्वित भी किया किंतु कोई ठोस परिणाम सामने नहीं आया।

कच्चा माल विदेशी कल कारखानों के लिये बाहर जाता रहा और भारतीय किसान भुखमरी, महँगाई और बेकारी से पीड़ित रहा। ग्रामीण उद्योग धंधे क्रमशः नष्ट होते रहे और महाजनों, व्यापारियों और जमींदारों की सामंतवादी व्यवस्था के भार के नीचे किसान पिसता चला गया। एक ओर पैदावार के भाव में कमी और बेकारी और दूसरी ओर लगान, नमक कर, सरकारी कर्मचारियों के बड़े बड़े वेतनों का बोझ, विदेशी माल के बदले स्वदेशी

मुद्रा का निर्यात, सब मिलकर देश में भयंकर आर्थिक संकट का निमित्त बन गए। शिक्षा के प्रचार प्रसार के नाम पर अल्पशिक्षित मध्यमवर्गीय बाबुओं की एक ऐसी पलटन तैयार हो गई जो वाणिज्य, व्यवसाय और उद्योग धंधों से विमुख होकर छोटी छोटी नौकरियों की आस लगाने लगे। इस पूरी स्थिति के विरुद्ध गांधी जी ने अनेक रचनात्मक कार्यक्रमों द्वारा जो अहिंसक विद्रोह का मार्ग अपनाया उससे इस दिशा में कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि भले ही न हुई हो किंतु एक अखिल भारतीय राष्ट्र की चेतना ने भौगोलिक इकाई से आगे एक जीवंत सत्ता का स्वरूप ग्रहण किया और इस प्रकार एक सीमा तक भारतीय जनता में जो राष्ट्रीय भावना जाग्रत हुई उसने अपने आपको तरह तरह के रूपकों में बाँधकर व्यक्त किया। सबसे प्रिय और प्रचलित रूपक था 'कारावसिनो' भारत माता के उद्धार के लिये कृष्णरूप मोहनदास करमचंद गांधी का अवतरण।

पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा की टकराहट से प्रतिक्रिया दोहरी हुई। नवोत्थानकालीन चेतना ने भारतीय नेताओं और समाजसेवियों को अपनी सभ्यता और जीवन की पहचान में प्रवृत्त तो किया पर कहीं न कहीं जाने अनजाने उनमें एक हृद तक हीनता की ग्रंथि और परिणामतः विदेशी सभ्यता के प्रति मोह का भाव भी उत्पन्न किया। अंग्रेजी शिक्षा और सभ्यता में चमक दमक तो थी किंतु स्वदेशी संस्कार और भारत की अपनी जातीय सभ्यता का अभाव था। इसीलिये संभवतः राममोहन राय जैसे समाजसेवियों की भी स्थिति इस हृद तक विडंबनापूर्ण थी कि गाँव और शहर में स्थित उनके दो घरों में से क्रमशः एक में उन्हें छोड़कर सब स्वदेशी दिखाई पड़ता था और दूसरे में उन्हें छोड़कर सब विदेशी। बाहरी प्रभाव में से कितना कितनी दूर तक ग्रहण किया जाना चाहिए और किसके विरोध में कहीं तक खड़ा होना चाहिए, यह विवेक शिक्षा और विदेशी संपर्क से ही उत्पन्न हो सकता था। गांधी जी ने अपने रचनात्मक कार्यक्रमों के बीच इसीलिये बुनियादी शिक्षा पर बहुत बल दिया। यह बात अलग है कि वे जितनी दूर तक और जिस हृद तक भारतीय जनता को शिक्षित बनाना चाहते थे वह स्वप्न तो शायद आज स्वतंत्रताप्राप्ति के लगभग पैंतीस वर्ष बाद भी पूरा नहीं हो सका है। इसीलिये सांस्कृतिक पुनरुत्थान का संदेश भी घर घर न पहुँच सका।

इस असफलता का एक कारण देशी भाषाओं के प्रति शासकीय रुख भी था। अंग्रेजी से पहले सरकारी काम काज, कचहरी की भाषा उर्दू, फारसी थी। अंग्रेजों के शासनकाल में 'वर्नाक्युलर' कहो जानेवाली भाषाओं का दर्जा न तब विशेष संमानजनक था न बाद में हो सका। परिणामतः ये भाषाएँ जिस संस्कृति और ज्ञान विज्ञान की वाहक थीं, उसके प्रति भी जो आत्मीयता और संमान का भाव जन जन में होना चाहिए था वह पैदा न हो सका। पश्चिम से आनेवाली नई रोशनी, नई सभ्यता, ज्ञान विज्ञान और आधुनिकता का संबंध इनकी वाहक अंग्रेजी भाषा से जुड़ गया और स्वदेशी भाषाएँ और उनका साहित्य बिना कहे भी एक हीन भावना का शिकार होता गया। हिंदी भाषा और उसके साहित्य का सम्यक् विकास अवरुद्ध भी हुआ और इस अवरोध के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी हुई। साहित्य में विदेशी साहित्य के संपर्क से आधुनिक चेतना का उदय भी हुआ और अनेक नई शैलियाँ और विधाएँ भी विकसित हुईं। साथ ही राष्ट्रीय सुधारवादी और व्यापक मानवतावादी दृष्टि का आग्रह भी बढ़ा। इसी आग्रह के कारण साहित्य के माध्यम से अपनी प्राचीन सभ्यता, संस्कृति और जीवनमूल्यों का पुनः

शोध और पुनरुद्धार भी निरंतर हुआ। अंग्रेजी साहित्य की अनेक रचनाओं के अनुवाद तो हुए ही प्राचीन संस्कृत साहित्य से अनुवाद करने का मोह भी कम नहीं रहा। इन अनुवादों का महत्व परिमाण की दृष्टि से तो है ही, चयन की दृष्टि से भी विशेष ध्यान देने योग्य है। इतिहास के जिन युगों से कथानक का ग्रहण किया गया है, अथवा जिन साहित्यिक रचनाओं को अनुवाद के लिये चुना गया है, उसमें उपर्युक्त विवेकदृष्टि स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

सैद्धांतिक रूप में समाजोत्थान एवं समाजसुधार के प्रयत्नों को स्वीकार करना जितना सरल है, जीवन व्यवहार में उसे प्रतिफलित होते देखना उतना ही दुष्कर है, यह समय ने सिद्ध कर दिया है। राजनीतिक कार्यक्रम के रूप में जाति विरोध, धर्म निरपेक्षता, नारी उत्थान एवं प्रजातांत्रिक जीवनमूल्यों को जिस हद तक स्वीकार किया गया था, उसी अनुपात में उसे भावात्मक स्तर पर साहित्य में पूरी निष्ठा से प्रतिफलित करने का प्रयत्न किया गया। कितना हो सका, इसका प्रमाण आज प्रत्यक्ष है। धार्मिक ढोंग और आडंबर का भी आर्यसमाज आंदोलन के समय से ही विरोध आरंभ हो गया था, किंतु इस विरोध के लिये जिस औद्योगिकरण और सही अर्थ में वैज्ञानिक दृष्टि के विकास की अनिवार्यता होती है वह क्या आज भी विकसित हो सकी है? यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

भारतीय पुनरुत्थान का एक और प्रधान अंग था नारी जागरण। विचारक्षेत्र के लिये स्त्रियों के समानाधिकार, शिक्षा, विधवा विवाह, अनमेल विवाह, दहेज विरोध, बाल विवाह, पुरुषों द्वारा बहु विवाह आदि प्रश्नों को स्वीकार किया गया। कथा साहित्य में भी इन तमाम सामाजिक प्रश्नों को चित्रित विश्लेषित किया गया। स्वाधीनता की लड़ाई ने बहुत सी स्त्रियों को घर की चहारदीवारी के बाहर लाकर सड़कों पर पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर खड़ा कर ही दिया था। इस प्रकार आत्मसमर्पण और आत्मोत्सर्ग के द्वारा उनमें आत्मविश्वास पैदा कर एक हद तक उनका आत्मिक उत्थान करने का प्रयत्न तो हुआ किंतु आर्थिक स्वनिर्भरता के अभाव में इस प्रकार की स्वतंत्रता कितनी अस्थायी और वेमानी सिद्ध हो सकती है, इसपर ध्यान देने की जरूरत शायद नहीं समझी गई। विधवाओं, अपहृत नारियों या परिस्थिति के दबाव से विवश वेश्याओं के लिये यह समाज आश्रम और सदन खोलने की योजना तो बड़ी उदारता से बनाता था, परंतु उन्हें सहज रूप में परिवारों में स्वीकार करने का साहस बिरले ही कर पाते थे। कुल मिलाकर यह दृष्टिकोण शुद्धिपरक ही कहा जाएगा—अर्थात् वर्तमान स्थिति में विशेष फेर बदल किए बिना एक समझौतावादी हल की तलाश। इसलिये लेखक सहानुभूतिपूर्ण मानवतावादी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर इनके प्रति सहानुभूति और वरुणा तो व्यक्त करते रहे, किंतु स्थिति में सुधार करके इन्हें संमानजनक स्थान दिलाने के लिये कोई ठोस और क्रांतिकारी सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम प्रस्तुत करने का साहस नहीं कर सके। संमिलित कुटुंब के बीच ऐसी स्त्रियों की कोई संमानित भूमिका हो सकती है या इन्हें परिवार के सहज अंग के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, यह बात तमाम सुधारवादी आंदोलनों के बावजूद अकुंठ भाव से गले नहीं उतर पाई थी।

धार्मिक दृष्टि से भी आलोच्यकालीन समाज की स्थिति बहुत सुखद नहीं थी। वैष्णवों और शैवों के बीच विभाजन तो मध्य युग से चला ही आ रहा था, क्रमशः धर्म के तात्त्विक चिंतन का ह्रास भी हो चला था और उसका स्थान कर्मकांड और बाह्याडंबर ने ले लिया था। आर्य-

समाज ने इस ओर विशेष ध्यान दिया और धर्म के आडंबरप्रधान कर्मकांड, रूढ़िवादिता और ढोंग का विरोध कर वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की। हिंदुओं में परंपरावादी दृष्टि रखने-वाला कट्टर वर्ग सनातनधर्मी कहा जाने लगा और नए संदर्भों में सुधारवादी दृष्टिकोण के समर्थक आर्यसमाजी आंदोलन में संमिलित हो गए। अपने आरंभिक रूप में आर्यसमाजी दृष्टि पर्याप्त आधुनिक और धर्म के तात्त्विक एवं उदार रूप में विश्वास करनेवाली प्रतीत हुई। किंतु हिंदू धर्म के भीतर होनेवाले इन परिवर्तनों के अतिरिक्त एक समस्या हिंदू इतर धर्मों को लेकर उठ खड़ी हुई थी। हिंदुओं के अतिरिक्त इस्लाम, ईसाई आदि धर्मों को माननेवालों की जनसंख्या भी काफी हो गई थी। इनमें से हिंदू और मुसलमानों के बीच प्रायः संघर्ष होता रहता था। मुसलमानों का तबलोग आंदोलन और आर्यसमाजियों का शुद्धि आंदोलन दोनों के बीच संघर्ष के कारण ही जन्मे थे। हिंदू धर्म यों भी प्रकृत्या उदार और सहिष्णु रहा है और उस समय तो राजनीतिक दृष्टि से इस बात की महती आवश्यकता थी कि धर्म के उन्हीं पक्षों पर बल दिया जाय जो परिस्थितियन्त्र नवराष्ट्रीय चेतना का पोषण करते हुए सांप्रदायिक वैमनस्य के परिहार में यथासंभव सहायक हो सकें। यह केवल संयोग नहीं है कि उपनिषद् और गोता इस युग के सर्वाधिक वरेण्य ग्रंथ सिद्ध हुए। गांधी और उनसे पूर्व अधिकांश विचारकों ने उपनिषदिक ज्ञान और व्यावहारिक अद्वैत पर बल दिया। आर्यसमाज के क्रमशः राष्ट्रीय आंदोलन में मिल जाने का भी एक कारण यही था कि उस समय ऐसा कोई आंदोलन या विचारधारा पनप नहीं सकती थी जो संकीर्ण मतवाद से ग्रस्त हो। धर्म का जो रूप इस युग में उभरा, उसमें कर्मकांड-ग्रस्त रूढ़ धर्मवद्धता के स्थान पर धर्म के नीति-अध्यात्म-प्रधान उदार स्वरूप की प्रतिष्ठा अरविंद, रमण महर्षि, गांधी, टैगोर सभी ने की। धर्म के मौलिक तत्त्वों की खोज और पुनर्व्याख्या इसलिये अनिवार्य हो गई थी कि उसके आधार पर जीवनव्यवहार में सहिष्णुता, समन्वय और अनेकता में एकता के महत्व का प्रतिपादन किया जा सके।

धार्मिक चिंतन के प्रसंग में यह बात ध्यान देने की है कि धर्म और दर्शन के सैद्धांतिक प्रश्नों में जीव-जगत्-संबंध, ईश्वर, सृष्टि, स्वर्ग नरक, जन्मजन्मांतरवाद आदि पर विशेष विचार न करके समय और स्थिति के अनुरोध से जीवनव्यवहार और आचार संबंधी बातों पर अधिक बल दिया गया। अद्वैत दर्शन पर रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद और रामतीर्थ आदि ने जो विचारक्रम आरंभ किया था वह आगे भी बना रहा। अंधविश्वास और रूढ़िमोह त्यागकर इन तात्त्विक विषयों पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने का जो आग्रह बढ़ा उसके पीछे विकासवाद और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांतों का गहरा दबाव था। कट्टरपंथियों की भाव-मूढ़ अलौकिकतावादी दृष्टि के विरुद्ध उदार मानववादो दृष्टि का विकास किया गया। यह मानववाद सुधारवादी आंदोलनों के मूल में निहित समाजसेवा की भावना के बहुत अनुकूल था। ईश्वरीय सत्ता एवं ईश्वरत्व के प्रसार को सर्वात्मवादी दृष्टि से खेत खलिहानों में, निधनों और दीन दुखियों में खोजने का प्रयत्न किया गया। ईश्वरीय माहात्म्य और महिमा के समानांतर मानवीय गरिमा जीवनव्यवहार और साहित्य दोनों में प्रतिष्ठित हो चली। किंतु पश्चिमी विचारों के संपर्क में आकर उनसे प्रभावित होने पर भी भारतीय मानस उनके भौतिकवाद को एक सीमा तक ही स्वीकार कर सका। इस भौतिकवाद का उपयोग यहाँ धर्म और अध्यात्म की वैज्ञानिक व्याख्या के लिये किया गया। वस्तुतः नए के प्रकाश में प्राचीन के पुनरुद्धार और

पुनर्व्यख्या की यह प्रवृत्ति धर्म, दर्शन, कला, साहित्य सभी क्षेत्रों में दिखाई पड़ती है। विषय और विधा के भेद से अभिव्यक्ति के स्वरूप में अंतर अवश्य लक्षित किया जा सकता है।

परंपरा में निष्ठा व्यक्ति में आत्मगौरव और आत्मविश्वास जगाती है और नवीनता उसे समयानुकूल और प्रासंगिक बनाती है। विवेच्य युग में भारतीय भाषाओं में रचना करनेवाले साहित्यकारों की स्थिति बहुत संमानजनक नहीं थी। इनमें से अधिकांश ने व्यक्तिगत विवशताओं के कारण विधिवत् अधिक शिक्षा भी नहीं पाई थी। इनकी पूंजी इनका परंपराज्ञान था। परंपरा का यह तीखा बोध वर्तमान के प्रति और भी गहरा असंतोष पैदा करता था। यथार्थ की चुनौती से टकराकर कवियों ने प्रायः रहस्यलोक या सामरस्य भूमि की कल्पना में समाधान ढूँढा और कथाकार यथार्थ के प्रस्तुत प्रश्नों से जूझता हुआ आरंभ में तो 'सदन' और 'आश्रम' का आदर्श खड़ा करता रहा किंतु क्रमशः यथार्थ के कटु अनुभव ने उसमें मानव नियति की गहरी समझ पैदा की। ग्रामीण जीवन इनमें से अधिकांश ने निजी परिचय और अनुभव के क्षेत्र में आता था। इसलिये ग्राम जीवन के भीतरी संघर्ष और समस्याओं को तो इन्होंने लिया हो, नगर बनाम गाँव के बोध ने ग्रामीण मानस में जो द्वंद्व, असमंजस, किर्तव्यमूढ़ता उत्पन्न की उसका भी इन्हें पूरा अहसास था। इनके प्रश्न व्यक्तियों से अधिक वर्गों के, समूह के प्रश्न थे। व्यक्तिमानस का भीतरी संसार इन्हें आंदोलित न करता हो, या इनकी समझ से बाहर हो, ऐसा तो नहीं था, किंतु इनका बल व्यापक सामाजिक समस्याओं पर ही अधिक रहा।

सीमित इकाइयों में संयुक्त परिवार के विघटन, स्त्री-पुरुष-संबंध, पीढ़ियों के संघर्ष आदि से उत्पन्न विडंबनापूर्ण स्थितियों की पहचान इस युग के कथा साहित्य में दिखाई पड़ती है। इन स्थितियों ने नैतिक प्रश्नों के रूप में इन्हें आंदोलित भी किया है। वर्तमान व्यवस्था से असंतोष का अर्थ ही होता है परिवर्तन की कामना और प्रयत्न और परिवर्तनकामी युवा मानस के सामने सबसे बड़ी चुनौती या बाधा होती है नैतिकता अनैतिकता का परंपरागत विवेक क्योंकि इसी विवेक के सहारे पुरानी पीढ़ी संयुक्त परिवार की मर्यादा और व्यक्ति पर अंकुश को सुरक्षित रखती है।

नैतिकता अनैतिकता के इस खोखले ढोंग के विरुद्ध प्रश्न तो बहुत हैं, लेकिन व्यवस्था के विरुद्ध कुछ कर गुजरने का क्रांतिकारी कार्यक्रम या उत्साह नहीं। एक ओर लड़ियों को ही अपनी नियति मानकर उनके प्रति आत्मसमर्पण कर, सिर टेककर मर जानेवाली नारी है, जिसका मूल स्वर है रेजिनेशन—'त्यागपत्र'। दूसरी ओर बिखरते और टूटते संबंधों को यथाशक्ति पुनर्गठित करने का प्रयास करती नारी है—'बड़े घर की बेटी।' चरमराते हुए ढाँचे को उखाड़ फेंकने का न उसमें उत्साह है, न साहस। दरअसल वह कुल मिलाकर उसे बनाए रखने के पक्ष में ही है। यदि यह ढाँचा टूट जाय तो उसके पास आत्मनिर्भर होकर संमानजनक जीवन बिताने का दूसरा मार्ग क्या है, इसको कोई स्पष्ट धारणा इन कथाकारों के पास नहीं है। जहाँ नैतिकता अनैतिकता की रूढ़ मान्यताओं की बहुत चोर फाड़ करने का प्रयास किया जाता है वहाँ परिणाम होता है लेबोरेटरीनुमा विश्लेषण—'चित्रलेखा'।

इतना निश्चित है कि इस युग के साहित्यकारों ने अंधविश्वास पर आधृत धार्मिकता और नैतिक मान्यताओं के स्थान पर प्रत्यक्ष जीवनानुभव पर निर्भर मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा को अपना दायित्व समझा। मानवतावादी मूल्य, प्रजातांत्रिक राष्ट्रीय चेतना, बौद्धिकता, सामाजिक

समता को प्रधानता देने का एक महत्वपूर्ण कारण वैज्ञानिक दृष्टि का बढ़ता हुआ प्रभुत्व था। डार्विन के विकासवाद और मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद ने जीवन और जगत् के प्रति बुद्धि-जीवियों के दृष्टिकोण को निर्मित करने में बहुत बड़ी भूमिका अदा की।

प्रथम महायुद्ध के बाद की राजनीति, आर्थिक परिस्थितियों, रूस की राज्यक्रांति, महात्मा गांधी द्वारा संचालित स्वाधीनता आंदोलन और वैज्ञानिक प्रगति ने मध्यकालीन दृष्टि पर प्रहार किया। इस युग के साहित्यकार का बल स्वर्ग को धरती पर उतारने के बजाय पृथ्वी को ही स्वर्ग बनाने पर रहने लगा। कवियों ने एक पद्धति अपनाई, कथाकारों ने दूसरी। गद्य में सामाजिक जीवन की संघर्षसापेक्ष शक्ति का स्वरूप अधिक प्रकट हुआ। कविता की तुलना में आलोच्य काल का कथा साहित्य अधिक यथार्थधर्मी दिखाई पड़ता है। इसका एक बहुत बड़ा कारण यही था कि कविता में लोकतत्त्व की स्वीकृति जहाँ मुख्यतः प्रकृतिविवरण, लोकभाषा एवं लोकधुनों के प्रयोग में दिखाई पड़ती है, वहाँ कथाकारों ने संपूर्ण लोकजीवन को ही अपना विषय बनाया। मध्यकालीन सामंती मूल्यों का अस्वीकार दोनों ने ही किया। प्रबंधानुसारी विषयों का मुख्य माध्यम उपन्यास और कहानी बने और कविता में प्रगति रचनाओं की प्रधानता रही।

अपनी यथार्थधर्मी प्रकृति और समाजसंपृक्ति के कारण इस युग के कथा साहित्य की भाषा में जो सहज-प्रसन्न-प्रवाह और जीवंतता दिखाई पड़ती है वह बाद की भाषा में दुर्लभ हो गई। जीवन की भाषा का जैसा प्रामाणिक और सर्जनात्मक रूप प्रेमचंद के कथा साहित्य में उपलब्ध होता है वह परवर्ती कथाकारों के लिये आदर्श हो सकता था। इस काल के कथा साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है उसका अति परिचित स्वरूप। इस साहित्य का संसार जितना परिचित है उतनी ही स्वाभाविक उसकी भाषा है। अतः इसकी राह से गुजरना जीवन के अति परिचित गली चौराहों से गुजरने का अनुभव जगाता है। अंतर यही है कि गुजरने की इस प्रक्रिया के साथ कहीं न कहीं एक गहरी संकुक्ति, दायित्वबोध और मानवीय स्थिति और नियति की पहचान जुड़ी है। यही इस अत्यंत सामान्य और साधारण दिखाई पड़नेवाले रचनासंसार का असाधारणत्व है।



सन् १९१८ से पूर्व हिंदी उपन्यास की परंपरा

इंद्रनाथ चौधुरी

उपन्यास या नावेल का आविर्भाव साहित्य के इतिहास में एक आधुनिक घटना है। चूंकि उपन्यास का उद्भव एक सीमा तक गद्य के उद्भव के साथ जुड़ा है अतः उन्नीसवीं शती के सातवें दशक के अंत तक हिंदी में उपन्यास का जन्म नहीं हो सका। गद्य के विकास के साथ साथ किसी सीमा तक मुद्रणयंत्र समाचारपत्र, पाठ्य पुस्तक, शिक्षाप्रसार आदि का संयोग स्वीकार्य हो सकता है मगर नागरिक समाज को प्रतिष्ठा एवं शहर नियासो व्यवसायी, मध्यवित्त और नौकरीपेशा वर्गों के संप्रसार के बिना न तो शिक्षा व्यवस्था का सही प्रसार हो पाता है और न ही ऐतिहासिक नियमानुसार मुद्रणयंत्र एवं समाचारपत्र समुचित प्रसार विस्तार पाते हैं। मध्यवित्त वर्ग के मानसिक विकास और अंतर्विरोध के प्रसार तथा नए व्यावसायिक वर्ग के उदय के कारण आर्थिक व्यवस्था में उलट फेर हुआ। मुद्रणयंत्र, समाचारपत्र तथा शिक्षा-व्यवस्था के कारण व्यक्तिचेतना के साथ साथ सामाजिक चेतना एवं यथार्थधर्मिता को बढ़ावा मिला। परिणामतः जो बहुमुखी और नई समस्याएँ हमारे सामने उपस्थित हुईं उनको अभिव्यक्त करने के लिये एक नवीन साहित्यिक विधा को आवश्यकता महसूस हुई और तभी उपन्यास का जन्म हुआ। बहुआयामी जीवन को बाँधने के लिये उस समय उपन्यास की हो जरूरत थी क्योंकि यह स्वयं ही एक बहुआयामी विधा है जिसमें काव्य, नाटक, आख्यायिका आदि का अंतर्भाव होने के साथ साथ और भी कुछ रहता है। काव्य, नाटक, आख्यायिका आदि विधाएँ बहुत कुछ अभिजात रूपकारों, परंपरायुक्त मूल्यों, सार्वभौम सत्तों को अभिव्यक्त करती आई थीं। इनमें सामूहिक अनुभवों को ही महत्व दिया जाता था मगर उपन्यास युगधर्म के अनुरूप सामयिक परिवेश में वैयक्तिक अनुभवों को तरजोह देता है। फारस्तर इसी को 'लाइफ बाइ टाइम' कहते हैं। इस तरह यथार्थ को भूमिका पर समसामयिकता का अनुसरण करते हुए व्यावहारिक शैली में उपन्यास की रचना शुरू हुई जहाँ वैयक्तिक अनुभवों को नए आर्थिक मध्यवर्गीय घरातल पर अंकित किया जाने लगा।

हिंदी में उपन्यास के प्रादुर्भाव के विषय में सामान्यतः दो मत हैं। एक, यह पाश्चात्य साहित्य की एक समर्थ विधा है जो बँगला के माध्यम से हिंदी में आई। दूसरा मत, यह भारतीय विधा है। पं० किशोरीलाल गोस्वामी 'प्रणयिनी परिणय' के उपोद्धात में 'अमरकोश' का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि 'उपन्यास्तु बाङ्मुखम्' अर्थात् उपन्यास शब्द का प्रयोग यहाँ प्राचीन है और 'दशकुमारचरित', 'वासवदत्ता', 'हर्षचरित' आदि उपन्यास हैं। गोस्वामी जो यह भी कहते हैं कि जिस प्रकार साहित्य के प्रधान अंगों में नाटक का प्रचार प्रथम यहीं हुआ था, उसी तरह उपन्यास की सृष्टि भी प्रथम यहीं हुई थी। मगर 'बाङ्मुखम्' का अर्थ प्रस्तावना है तथा 'हर्षचरित' आदि, जिन्हें कीथ ने रोमांस कहा है, गद्यकाव्य हैं। कलारारीव ने उपन्यास को रोमांस से अलग करते हुए कहा है कि उपन्यास यथार्थ जीवन और व्यवहार का तथा उस काल का जिसमें वह लिखा गया है, एक चित्र है। रोमांस उदात्त और उन्नत भाषा में उस सबका वर्णन करता है जो न कभी घटित हुआ है और न जिसके घटित होने की संभावना है।

उपन्यास की पूर्णता इसी में है कि वह प्रत्येक दृश्य का अंकन ऐसे सरल और स्वाभाविक रूप में करे कि वह पूर्णतः संभाव्य हो जाए और हमें यथार्थ की प्रतीति या भ्रम होने लगे। हम सोचने लगे कि उपन्यास के पात्रों के सुख दुःख मानो हमारे सुख दुःख हैं। वस्तुतः उपन्यास के प्रादुर्भाव के विषय में पहले मत का ही अधिक समर्थन मिलता है। बालकृष्ण भट्ट ने 'हिंदी प्रदीप' में 'उपन्यास' (१८८२) का विवेचन करते हुए लिखा था कि हम लोग जैसे और बातों में अंग्रेजी की नकल करते जाते हैं, उपन्यास का लिखना भी उन्होंने के दृष्टांत पर सीख रहे हैं। पं० रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (२०१४ सं०) में कहा है कि उपन्यास और छोटी कहानियों के ढाँचे हमने पश्चिम से लिए हैं। बाबू श्यामसुंदर दास 'साहित्यालोचन, १९५३ सं०) का कहना है कि उपन्यास लेखन की आधुनिक कला पाश्चात्य देशों से आई है। हिंदी के लगभग सभी विशिष्ट आलोचक यह स्वीकार करते हैं कि उपन्यास की कला पश्चिम से आई है और उपन्यास शब्द अंग्रेजी शब्द नावेल का पर्याय है हालाँकि संस्कृत साहित्य में 'स' शब्द का प्रयोग है परंतु वहाँ इसका अर्थ कथन मात्र है। हिंदी में यह शब्द सीधे संस्कृत से न आकर बँगला से आया है। माधव मिश्र का कहना है कि अनुकरणप्रिय रचनाचतुर बंगाली ग्रंथकारों ने आधुनिक लक्षण से उपन्यास को अंग्रेजी के नावेल शब्द का पर्याय बना लिया है (माधव मिश्र निबंधमाला)। अंग्रेजी शब्द नावेल इतालिय नावेला (एक छोटी सी नई वस्तु) से संबद्ध है। नावेला गद्य में वर्णित छोटी कथा को कहते हैं। बोकेशिओ (१४वीं शती) की 'डोकेमरन नाइट्स' इसी श्रेणी की पुस्तक है। नावेला के अनुरूप स्पेन में १७वीं शती में 'पिकारेस्क नेरेटिव्स' प्रचलित थे जो घटनाप्रधान, यथार्थ शैली में व्यंग्य के प्रसार के लिये लिखे जाते थे। नावेला या पिकारेस्क के आश्रय से ही धीरे धीरे नावेल का विकास हुआ। वस्तुतः पाश्चात्य देशों में जब ऐतिहासिक और वैज्ञानिक मनोवृत्ति का उत्थान हुआ, अर्थात् मनुष्य आधिदैविक और आध्यात्मिक विश्वास को त्यागकर ऐतिहासिक घटनापरंपरा तथा प्रत्यक्ष ज्ञान को महत्व देता हुआ आधिभौतिक कार्यों में विश्वास करने लगा तभी से जगत् और जीवन के संपर्क में आधुनिक दृष्टिकोण का उदय होता है। तदनुयायी साहित्य सृष्टि ने भी नया रूप ग्रहण किया जो नावेल या उपन्यास है। देव देवी, राजा रानी को छोड़कर मानव की प्रतिदिन की ज़िंदगी की वर्णहीन कहानी पाठकों को पसंद आने लगी। टाईप या अतिव्यक्ति एवं हीरो या अतिमानव के स्थान पर साधारण लोग साहित्य में स्थान पाने लगे—वे लोग जो किसी विशेष संप्रदाय या श्रेणी के मुखपात्र नहीं, जो स्वयं अपने ही प्रतिनिधि थे। क्लारा रीव या राफ़ फाक्स अथवा क्रास हरेक ने एक स्तर में यह कहा है कि उपन्यास में यथार्थ या यथार्थ की प्रतीति होती है, वास्तविक जीवन का यथार्थवादी विधि से अंकन होता है अथवा संपूर्ण जीवन के यथार्थ की अभिव्यक्ति होती है। मगर उन्नीसवीं शती में जब हिंदी में उपन्यास लिखना शुरू हुआ तब औपनिवेशिक भारत में बुर्जुआ और मध्यवित्त समाज का ऐतिहासिक विकास द्विधाग्रस्त था। इसका नतीजा यह हुआ कि विक्टोरियन युग और रेनेसांस के प्रभाव-स्वरूप नैतिकतायुक्त मानवतावाद और समकालीन जातीयतावाद के आधार पर नरनारी के जीवन के यथार्थ को ग्रहण करने के बजाय प्रारंभिक अवस्था में उपन्यास में कल्पना एवं रोमानियत तथा आदर्शवाद का ही अधिक प्रसार हुआ।

अंग्रेजी में डैनियल डिफो ने सन् १७१९ में 'रॉबिंसन क्रूसो' लिखा जो अंग्रेजी का पहला

उपन्यास है। यह घटनाप्रधान उपन्यास था। साहित्यिक दृष्टि से औपन्यासिक जीवनयथार्थ का प्रसार करनेवाला पहला अंग्रेजी उपन्यास है 'पामेला' (१७४० ई०) जिसके लेखक थे रिचर्डसन। उपन्यास लिखने की यह परंपरा धीरे धीरे बंगला के माध्यम से हिंदी में प्रवेश कर गई। एक ईसाई महिला, हैना कैथरिन मैलेंस ने सन् १८५२ में बंगला का पहला उपन्यास लिखा, नाम था 'फूजमणि ओ कदगा'। आत्मचरित शैली में यह उपन्यास मूलतः ईसाई धर्म के प्रचार के उद्देश्य से लिखा गया था। हिंदी में पहला उपन्यास लाला श्रीनिवास दास (सं० १८५१-८७) का 'परीक्षा गुह' (सं० १८८२) माना जाता है। भूमिका में इसे 'नयी चाल की पुस्तक' कहा गया है। लाला जी ने पुस्तक के मुखपृष्ठ पर 'उपन्यास' शब्द देकर उसे अंग्रेजी में समर्पित करते हुए लिखा है कि यह उपन्यास लेखन का विनम्र प्रयास है। कल्पना एवं रोमानियत के परिवेश में जीते हुए भी लाला जी ने इस उपन्यास में देश की मूल समस्या—आर्थिक समस्या—का जिस गहराई से विवेचन किया है और उसके समाधान के लिये मशीनीकरण एवं वैज्ञानिक खेतीबाड़ी पर जिस रूप में जोर दिया है, उससे उपन्यास का बुनियादी रूप उभरकर सामने आया है। रत्न फॉक्स ने इसी कारण उपन्यास को आधुनिक बुर्जुआ समाज का महाकाव्यत्मक कलारूप कहा है। इस उपन्यास में लाला जी ने मध्यवर्गीय समाज की तसवीर खींची है, उसका विश्लेषण किया है एवं उसके ढोंग का पर्दाफाश किया है। उपन्यासकार की दृष्टि में सावधानी सर्वोत्तम राष्ट्रीय गुण है और सावधान वही जो वचन और खर्च में भारसाम्य बनाए रखना जानता है। इस व्यावहारिक एवं आधुनिक दृष्टिकोण के बावजूद अपने युग की सुधारवादी दृष्टि से लाला जी अपने को बचा नहीं पाए, इसीलिये वे अंततः एक विश्वजनीन उपदेशक की भांति जीने की कला सिखाते हैं। आलोचकों के अनुसार सरस वार्तालाप के क्रम में रोचक दृष्टान्तों और सूक्तिओं के द्वारा दो गई शिक्षा के कारण यह उपन्यास आचारशास्त्र का निर्जीव ग्रंथ तो नहीं बना परंतु उपदेश की अधिकता से उसकी रोचकता काफी कम हो गई।

'परीक्षा गुह' से पहले इंशा अल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' (१८००) की रचना की थी। उन्होंने आत्मप्रेरणा से यह मौलिक प्रयास किया था। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने गद्य साहित्य में कहानी शब्द का प्रयोग किया था। यह रचना मध्ययुगीन प्रेमाख्यानकाव्य की परंपरा में लिखी गई है यद्यपि इसमें कोई आख्यात्मिकता नहीं है। इसमें उपन्यास शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। इनमें उपन्यास की किसी भी विशेषता का पता नहीं चलता—यह रोमांस है, चांदनी रात में फूलों के देश में घूमना है। इंशा शुरू में ही कह देते हैं—देखिए, किस ढब से बढ़ चलता हूँ और अपने फूट की पंखड़ों जैसे होठों से किस किस रूप में फूल उगता हूँ—फिर तो उनकी वाणी से फूट झड़ते जाते हैं। विवाह का प्रस्ताव लानेवाले ब्राह्मण पर फूट की चंगेर फेंकी जाती है। महेंदर गिरि पर 'सोने रूरी के फूल' निछावर किए जाते हैं। कुंवर की चिट्ठी रानी के पास कागज के नोले लिफाफे में नहीं 'फूल की पंखड़ों' में लिपटी आती है। शादो की खुशियाली में झीलों में कुसुम और टेसू और हरसिंगार सज जाते हैं। नायक नायिका का नाम 'केवड़ा' और 'केतकी' है तो नायिका को सहेली का नाम 'मदनवान' और मालिन का नाम 'फूजकली' है। 'रानी केतकी की कहानी' में रोमांस के सारे गुण विद्यमान हैं। इसे उपन्यास नहीं कहा जा सकता।

भारतेंदु के द्वारा प्रकाशित 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' में १८७५ ई० में 'मालती' के नाम से एक

उपन्यास प्रकाशित होना शुरू हुआ था । इसके लेखक का पता नहीं मगर बहुत से आलोचक इसे हिंदी का पहला मौलिक उपन्यास मानते हैं । यह मौलिक है या अनूदित, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता, मगर यह अधूरा है । अधूरा होने पर भी जिस नाटकीय कौशल से एक सेठ के जीवन की कथा लिखी गई है और सुधारवादी दृष्टिकोण व्यक्त किया गया है उससे ऐसा लगता है कि 'परीक्षागुरु' इसका ही पूर्ण रूप है । यदि यह अपूर्ण नहीं होता तो हिंदी उपन्यास की परंपरा का वास्तविक आरंभ उसी से माना जाता । इसी तरह का भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा रचित एक और अधूरा उपन्यास 'कविवचन सुधा' में प्रकाशित 'एक कहानी कुछ आप-बीती कुछ जगबीती' (१८७६ ई०) है । यह हिंदी का पहला अधूरा मौलिक उपन्यास है । इसका केवल 'प्रथम खंड' उपलब्ध है जिसमें अर्द्ध आत्मकथात्मक शैली में समाज की कहानी सुनाई गई है । आलोचकों के अनुसार मानव स्वभाव की परख, पात्रों के शब्दचित्रण, वर्णन-शक्ति और सरल साहित्यिक शैली में भारतेंदु, प्रेमचंद को प्रत्याशित करते हैं । डा० रामविलास शर्मा का तो कहना है कि उनको प्रतिभा जिस बुलंदी पर यहाँ दिखाई देती है उस बुलंदी पर नाटकों और निबंधों में भी नहीं दिखाई देती (भारतेंदु हरिश्चंद्र, १९५३ ई०, पृ० १११) । भारतेंदु का दूसरा उपन्यास 'हमीर दूढ़' भारतेंदु के जीवन के आखिरी समय में लिखा गया ऐतिहासिक उपन्यास है । यह भी अपूर्ण है । 'श्री हरिश्चंद्र कला', द्वितीय भाग (१८९२ ई०) में बाबू राधाकृष्ण दास ने लिखा है कि इसका केवल प्रथम परिच्छेद ही लिखा गया था । यह बात सही है कि भारतेंदु का ध्यान उपन्यास की ओर पीछे गया था परंतु हिंदी में उपन्यास लिखने के लिये लोगों के हृदय में अंकुर जमानेवाले वही हुए । उन्होंने पत्र द्वारा पंडित संतोष सिंह का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया था । यह पत्र लिखे जाने के बाद ही लोगों की रुचि इधर हुई । बंगभाषा के कई एक उपन्यास अनूदित भी हुए और नए भी लिखे गए और सबसे बड़ी बात 'अंधेर नगरी' जैसे नाटकों की रचना कर बाबू हरिश्चंद्र ने जिस व्यक्तिचेतना का उद्बोधन और संशयमुक्तिवाद की प्रतिष्ठा की उसी से लेखकों को एक ऐसी शैली और विचार की प्रेरणा मिली जिससे शिल्प के क्षेत्र में उपन्यास का प्रसार हो सका । अपूर्ण उपन्यासों में पं० बालकृष्ण भट्ट के उपन्यास 'रहस्यकथा उपन्यास' (१८७९ ई०) का भी उल्लेख किया जाता है । अधूरा होने पर भी इसमें सामाजिक यथार्थ की जो झलक मिलती है उससे यह प्रमाणित होता है कि यदि यह पूर्ण होता, तो इसे एक सशक्त रचना के रूप में याद किया जाता ।

श्रद्धाराम फुलौरी ने 'भाग्यवती' (१८७७ ई०) के नाम से एक उपन्यास की रचना 'भारतखंड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा' देने के लिये की । इसमें जीवन का चित्रण है मगर लगता है कि यह दृष्टांत कथाओं का संग्रह है । स्वयं भाग्यवती का चरित्र मानो एक लंघ्य दृष्टांत है । लेखक का उद्देश्य दृष्टांतों के माध्यम से 'लोक परलोक, विहित अविहित, योग्य अयोग्य सब प्रकार के व्यवहारों का ज्ञान प्रदान करना है ।' लेखक के शब्दों में 'यह अनहुई और कल्पित कहानी और अनुत्पन्न पुरुषों के मुख के उपदेश हैं परंतु पढ़नेहार को सब ऐसे प्रतीत होंगे कि जैसे प्रत्यक्ष खड़े होते और सामने बैठे शिक्षा करते हैं ।' इसीलिये रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' के कहने पर भी कि यह प्रथम प्रौढ़ उपन्यास है, इसे उपन्यास मानने में हिचक होती है । इसमें उपन्यास के कुछ प्रमुख तत्वों को पाकर आलोचकों ने इसे उपन्यास की श्रेणी में रख तो दिया

किंतु इससे आधुनिक उपन्यास के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। 'भाग्यवती' के अतिरिक्त पं० गौरीदत्त की 'देवरानी जेठानी की कहानी' (१८७० ई०) तथा मुंशी ईश्वरीप्रसाद मुद्गरिस और मुंशी कल्याण राय का 'बामा शिक्षक' भी मूलतः नारीशिक्षा विषयक ग्रंथ है। इन्हें उपन्यास नहीं कहा जा सकता। इसमें कहीं भी औपन्यासिक तत्व नहीं मिलते।

हिंदी उपन्यास के उद्योग पर्व में 'परीक्षागुरु' को ही हिंदी का प्रथम मौलिक उपन्यास मानना पड़ता है। साहित्यिक कोटि का यह पहला उपन्यास है जिसमें भारत में विदेशी व्यापारी और पूंजीपतियों द्वारा प्रतिष्ठित पूंजीवादी समाज व्यवस्था के सत्ताधारी सेठ, सौदागर एवं बेतनभोगी मध्यवर्ग की कहानी कही गई है। दिल्ली के सेठ मदनमोहन को कथा का केंद्र बनाकर नगरीकरण के प्रसार और नगर जीवन के अनेक पक्षों को प्रतिबिंबित किया गया है मगर मध्यवर्ग समाज की वह यथार्थ झांकी इसमें नहीं दिखाई पड़ती जिसको आधार बनाकर उपन्यास का जन्म हुआ था। कार्ल मार्क्स की यह बात सही है कि समस्त गृहयुद्ध, विदेशी आक्रमण, विद्रोह, विजय, दुर्भिक्ष भारतीय समाज की ऊपरी सतह को छूकर रह गए पर इंग्लैंड ने उसका पूरा ढाँचा घुस्त कर दिया (ऑन ब्रिटेन, १८५३ ई०)। कदाचित् इसीलिये दैनंदिन अंग्रेजी के प्रथम साहित्यिक उपन्यास 'पामेला' का जन्म हुआ जिसने एक ओर व्यक्तिचेतना का उद्बोधन किया और दूसरी ओर समाजबोध का प्रसार किया मगर हमारे देश में प्रारंभ में ऐसा कुछ नहीं हो सका। नागरिक मध्यवर्ग समाज की दृष्टिभंगिमा में प्रारंभ में जो परिवर्तन दूसरे देशों में प्रारंभ में हुआ था, वह हमारे देश में नहीं हुआ और इसीलिये हमारे यहाँ प्रारंभिक अवस्था में जो उपन्यास लिखे गए उनमें नैतिक शिक्षा, सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्ति, सुधार का मार्गनिर्देश एवं मनोरंजन ही मूल उद्देश्य रहा। वस्तुतः अंग्रेजों के संपर्क में आने से जिस यूरोपीय रेनेसाँ (नव जागरण) के साथ हमारा परिचय हुआ उसके फलस्वरूप साहित्य में युक्तितर्क को ज्ञान का नियामक मानने, आध्यात्मिकतायुक्त मानवतावाद को स्वीकारने अथवा इंद्रियग्राह्य जगत् के साथ उसके प्रेम और भोग को ग्रहण करने की जो संभावनाएँ उत्पन्न हुई थीं वे हमारी पराधीनता के कारण पूरी नहीं हो सकीं। पुनर्जागरण के समय यूरोप स्वाधीन था और हम पराधीन। इसीलिये हमारे रेनेसाँ के साथ राष्ट्रवाद की भावना ही अधिक जुड़ो हुई है। फिर जिस समय हम रेनेसाँ के संपर्क में आए हम अंग्रेजों की विक्टोरियन मोरैलिटी के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके थे। नतीजा यह हुआ कि इंद्रियग्राह्य जगत् के जिस भोग की गाथा से संस्कृत काव्य या भक्ति या रीतिकाव्य भरा पड़ा है, उससे हम आँखें बचाने लगे और नैतिकता के प्रसार की ओर ध्यान देते हुए भारतीय संस्कृति और आदर्शों की पुनः प्रतिष्ठा का सपना देखने लगे। हमारे रेनेसाँ के नायकगण बुर्जुआ श्रेणी से संबद्ध रहे हैं और यूरोपीय रेनेसाँ के नायक अभिजात वर्ग के लोग थे इसीलिये हम आध्यात्मिकतामुक्त मानवतावाद की प्रतिष्ठा के स्थान पर परमात्मा का जो भग्नांश जीवात्मा के रूप में वर्तमान है उसको मनुष्यता का मूलाधार मानने से इंकार नहीं कर सके। इस तरह हिंदी साहित्य के आधुनिक युग की शुरुआत में जिस नवजागरण का हाथ था उससे राष्ट्रवाद, सुधारवाद, पुनरुत्थानवाद और पेंथिड्ज्म या मिस्टिसिज्म का प्रसार हुआ और परिणामतः यथार्थ संस्कार, प्रीति, मानव जीवन के प्रति आकर्षण और व्यक्तिचेतना के उद्बोधन के स्थान पर नैतिक स्वच्छता, राष्ट्रवाद और धर्म तथा आदर्श पर हिंदी उपन्यास की प्राणप्रतिष्ठा हुई। यह बात सही है कि लाला श्री-

निवासदास यथार्थ की भूमिका पर 'परीक्षागृह' को खड़ा करना चाहते थे। इसीलिये उन्होंने इसे अनुभव द्वारा उपदेश मिलने की संसारी वार्ता कहा था। सामाजिक ढाँचे में जो थोड़ा बहुत परिवर्तन दिखाई दे रहा था और महाजनी सम्भ्रता के प्रसार के कारण समाज में दो विरोधी शक्तियाँ ('भेड़िया' और 'भेड़') में जो टकराहट शुरू हो गई थी उसकी ओर उनका ध्यान था मगर व्यक्ति के स्थान पर उन्होंने राष्ट्रवाद और सुधारवाद को ही उपन्यास का मूल लक्ष्य बनाया। यह परंपरा लगभग अर्ध शताब्दी तक हिंदी उपन्यास क्षेत्र में बरकरार रही। इससे उपन्यास की संघटना संबंधी त्रुटि सामने आ गई क्योंकि लाला जी अपनी बातों की पुष्टि के लिये बहुत सी ऐतिहासिक और उपदेशमूलक कथाएँ भी बीच-बीच में कह जाते हैं और लंबे लंबे शिक्षामूलक प्रकरणों से कथा असंबद्ध प्रतीत होने लगती है। परंतु हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि 'परीक्षागृह' को आज भले ही महान् उपन्यास की अभिधा न मिले मगर उसका ऐतिहासिक महत्त्व असंदिग्ध है क्योंकि उसी से भावी हिंदी उपन्यास की संभावनाएँ रेखांकित हो सकीं और हिंदी उपन्यास की अखंड धारा का प्रवर्तन संभव हो सका।

१८८२ ई० एवं उससे पहले उपन्यास के नाम पर जो कुछ भी लिखा गया उसका ऐतिहासिक मूल्य इसलिये है कि वे कृतियाँ परंपरा से प्रगति की ओर उन्मुख हैं। अधूरे मौलिक प्रयोगों की साधकता इसमें है कि उससे उपन्यास कला का आविष्कार हो सका। इसी समय अंग्रेजी एवं दूसरी भारतीय भाषाओं से उपन्यासों के बहुत से अनुवाद भी हुए। थामस ड के 'सैंडफोर्ड ऐंड मट्टन' का राजा शिवप्रसाद सितारैहद ने अनुवाद १८५५ ई० में किया। पंडित बद्रीलाल ने 'राबिसन क्रूसो' का अनुवाद १८६० ई० में किया। डा० जानसन के दार्शनिक उपन्यास 'रासेलास' के दो अनुवाद हुए—१८७९ ई० तथा १८८० ई० में। बंगला से 'फूलमणि और कण्ठा' का अनुवाद १८६५ ई० में हुआ। बाबू गदाधर सिंह ने बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय की 'दुर्गेशनंदिनी' (१८७७-७८) और रमेशचंद्र दत्त के 'बंगविजेता' (१८७९ ई०) का अनुवाद किया। भारतेंदु द्वारा लिखित समझा जानेवाला 'चंद्रप्रभा और पूर्ण प्रकाश' तथा 'राजसिंह' भी बंगला के अनुवाद हैं। हरिप्रकाश यंत्रालय से 'कुलीन कन्या अथवा चंद्रप्रभा और पूर्ण प्रकाश' के नाम से यह १८८९ ई० में प्रकाशित हुआ था जिसे बाबू ब्रजरत्नदास ने श्रीमती मल्लिका देवी द्वारा अनूदित कहा है (हिंदी उपन्यास साहित्य, पृ० १२९)। डा० श्रीकृष्ण लाल ने 'श्रीनिवास ग्रंथावली' की भूमिका में उसे गुजराती का अनुवाद कहा है। हरिप्रकाश यंत्रालय के उक्त संस्करण से उनके कथन की पुष्टि नहीं होती। मुखपृष्ठ पर लिखा है कि वह 'कुलीन कन्या विवाह संबंधी एक छोटी सी आख्यायिका' है, जो 'बंगभाषा का आशय लेकर प्रकाश की गई।' इससे एक बात स्पष्ट होती है कि यह भारतेंदु हरिश्चंद्र की रचना नहीं है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (हिंदी साहित्य, पृ० ४१५) और डा० रामविलास शर्मा (भारतेंदु हरिश्चंद्र, पृ० १७०) की यह धारणा गलत है कि यह पहला सामाजिक उपन्यास यथार्थवादो कथा साहित्य को पहलो कड़ी है। 'राजसिंह' बंकिम बाबू का उपन्यास है जिसका अनुवाद भारतेंदु ने करवाया था (देखिए, हिंदी उपन्यास साहित्य, पृ० ३०५)। इन अनुवादों से भी लेखकों को उपन्यास लिखने की प्रेरणा मिली और कथा-साहित्य लोकप्रिय होने लगा। पश्चिम के संपर्क के फलस्वरूप कच्चा माल तैयार हो गया और भारतेंदुयोगीन लेखकों को इस दिशा में बढ़ने का अवसर मिला। प्रारंभ में हिंदी में बंगला आदि

भाषाओं की तुलना में उपन्यास कम लिखे गए। यह मूलतः उस ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम था जिसके कारण अंग्रेजी संपर्क का प्रभाव हिंदी क्षेत्र पर कुछ देर से पड़ा और इस विधा से परिचित होने में हिंदी लेखकों को कुछ समय लगा। कदाचित् इसीलिये १८८२ ई० में पं० बालकृष्ण भट्ट ने लिखा था कि सच तो यह है कि हिंदी अभी इस लायक हुई ही नहीं कि इसमें नोवेल लिखे जाय और निखालिस की काट छांट समझ सकें (देखिए, 'उपन्यास', 'हिंदी प्रदीप', जनवरी, १८८२ ई०)। फिर भी १८८२ ई० में प्रकाशित 'परीक्षागुरु' से उपन्यास लिखने की जो परंपरा चल पड़ी उसी के आधार पर प्रेमचंद १९१८ ई० में हिंदी उपन्यास को साहित्य के सशक्त घरातल पर ला खड़ा करने में समर्थ हो सके।

इस समय के उपन्यास लेखकों में लाला श्रोनिवासदास के बाद बालकृष्ण भट्ट (१८४५-१९१५ ई०) ने सुधारवादी सामाजिक उपन्यास रचना की परंपरा को आगे बढ़ाया है। 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८७ ई०) तथा 'सी अज्ञान ओर एक मुजान' (१८९२ ई०) उनके दो प्रसिद्ध उपन्यास हैं। 'नूतन ब्रह्मचारी' के 'निवेदन' में भट्ट जी ने इसे शिक्षोपयोगी उपन्यास कहा है जिसमें सत्संग की महिमा पर प्रकाश डाला गया है। नायक विनायक अपने अच्छे संस्कारों के द्वारा डाकुओं का हृदयपरिवर्तन करने में समर्थ होता है और इस तरह हिंसा पर अहिंसा की और असत्य पर सत्य की नैतिक विजय का प्रदर्शन किया जाता है। दूसरे उपन्यास में एक सेठ के सुधार की कथा है और साथ ही नागरिक सभ्यता के दुष्परिणाम का उल्लेख करते हुए सामंतवाद की अंतिम अवस्था के दृश्य उपस्थित किए गए हैं और विभिन्न वर्गों के नैतिक पतन पर प्रकाश डाला गया है। इसी वर्ग के दूसरे लेखक राधाकृष्णदास (१८६५-१९०७ ई०) हैं जिन्होंने 'निस्सहाय हिंदू' (१८८९ ई०) की रचना कर गोहत्या की समस्या को राष्ट्रीय समस्या के रूप में उपस्थित करते हुए उसे आर्थिक प्रश्न के साथ जोड़ा है। नायक मदनमोहन एक मुसलमान अब्दुल अजीज की सहायता से गोहत्या को बंद करने और सांप्रदायिकता के जहर को खतम करने की कोशिश करता है मगर अंत में दोनों को ही जान देनी पड़ती है। दरअसल एक अंतहीन समस्या की सामाजिक आलोचना में लेखक ने स्थिरबुद्धि का परिचय देते हुए उपन्यास की कलात्मकता को बनाए रखा है। लोकातीत आदर्शवाद के विरोध में राधाकृष्णदास ने भारत की एक वर्तमान समस्या को उठाया है मगर उनके लिये यथार्थ केवल जीवन की नग्नता नहीं उसकी शुभ्रता भी है। इसीलिये उनके उपन्यास में बनारस के जीवन का एक संपूर्ण बिंब दिखाई पड़ता है जहाँ गरमी है, बदबू है, घुटन है, प्यास है तो साथ ही बरफ का पानी है, पान है, खरबूजे हैं, बाग हैं, गंगातट की संध्या-कालीन शोभा है। यहाँ यथार्थ की प्रतिष्ठा का आग्रह उतना नहीं जितना जीवन को संपूर्णता में चित्रित करने का प्रयास है।

सामाजिक सुधारवादी और स्वदेशप्रेम के उपन्यासों की कड़ी में रत्नचंद्र प्लिडर का 'नूतन चरित्र' (१८९३ ई०), पं० अंबिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तांत' (१८९४ ई०) तथा पं० राधाचरण गोस्वामी की 'विधवा विपत्ति' (१८८८ ई०) का उल्लेख किया जाता है। 'नूतन चरित्र' सुधारवादी होते हुए भी रोमानी उपन्यास की धारा से जुड़ा हुआ है, 'आश्चर्य वृत्तांत' में देशानुराग का निर्देशन है और 'विधवा विपत्ति' में अपमानित एवं लांछित बाल विधवाओं की समस्या को उठाया गया है। इसी कड़ी में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय

हरिऔध (१८६५-१९४७ ई०) के दो उपन्यास 'ठेठ हिंदी का ठाठ' (१८९९ ई०) तथा 'अधखिला फूठ' (१९०७ ई०) काफी प्रसिद्ध हुए हैं। पहले उपन्यास में नायिका जिस व्यक्ति से प्रेम करती है उससे उसका विवाह न होकर एक धनी किंतु अशिक्षित और दुराचारी व्यक्ति से हो जाता है। प्रेमी अपने आदर्श प्रेम के रक्षार्थ नायिका के पति को अच्छो राह पर ले आता है। किंतु नायिका विरह में धुलकर समाप्त हो जाती है। वस्तुतः इसमें प्रेम की समस्या नहीं अनमेल विवाह की समस्या है जहाँ प्रेम आदर्श और उत्सर्गमूलक होकर रह गया है। 'अधखिला फूठ' की देवदूती अपने सतीत्व की रक्षा करती हुई अपने संन्यासी पति को प्राप्त कर लेती है। सामाजिक जीवन का वर्णन करते हुए हरिऔध जी आदर्श मूल्यों को ही प्रधानता देते हैं। कदाचित् इसीलिये इसमें न जीवन की विस्तृति है और न ही गहराई। एक निश्चित एवं पूर्वनिर्धारित उद्देश्य की प्रतिष्ठा के लिये ही इन उपन्यासों की रचना हुई थी।

सामाजिक उपन्यास की परंपरा की एक कड़ी गृहस्थ जीवन पर केंद्रित उपन्यास हैं। गार्हस्थिक उपन्यास लेखकों में मेहता लज्जाराम शर्मा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उनकी 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' (१८९९ ई०), 'धूर्त रसिकलाल' (१८९९ ई०), 'हिंदू गृहस्थ' (१९०३ ई०), 'आदर्श दंपति' (१९०४ ई०), 'बिगड़े का सुधार' अपने समय के लोकप्रिय उपन्यास हैं। लोकप्रियता उनकी कहानों कहने की कला की मौलिकता का परिचय अवश्य देती है मगर 'परीक्षागुरु' की परंपरा की लीक से वे भी मुक्त नहीं थे। 'आदर्श दंपति' की भूमिका में वे लिखते हैं, 'उपन्यास अवश्य ही मनोरंजन के लिये हैं परंतु मेरा यह सिद्धांत है कि इसके साथ साथ पाठक पाठिकाओं को किसी न किसी तरह भी अच्छी शिक्षा मिलनी चाहिए।' अच्छी शिक्षा से उनका तात्पर्य था चरित्रशोधन तथा लोकव्यवहार कुशलता की सीख जिससे समाज का उत्थान हो सके। उनका कहना था कि उपन्यासकार को समाज का यथार्थ भी प्रस्तुत करना है तथा उसके माध्यम से शिवेतर का नाश भी। अपने उपन्यासों में उन्होंने आदर्श हिंदू परिवार के नमूने, स्त्रियों के नैतिक बल तथा अक्षय प्रेम के उदाहरण दिए हैं। डा० जानसन के नीतिवादी उपन्यास 'रासेलास' (१७५९ ई०) की तरह ये नैतिक कहानियाँ (मारल फेबुल्स) हैं। इन आदर्शवादी गार्हस्थिक सामाजिक उपन्यासों में मनस्तात्विक समस्याओं का, यथार्थ जीवन का तथा व्यक्तिचेतना का संकेत बड़ा विरल है, पारिवारिक प्रगतिशीलता का कहीं नामोनिशान तक नहीं। जो कुछ है वह आदर्श के नाम पर केवल लोपा-पोती और व्यक्तित्व का हनन है।

इसी कड़ी में, मगर थोड़ा हटकर, ब्रजनंदन सहाय ने 'सौंदर्योपासक' (१९११ ई०) और 'राधाकांत' (१९१२ ई०) के नाम से दो भावमूलक उपन्यास लिखे। वे सौंदर्य और प्रेम के उपन्यासकार हैं। 'सौंदर्योपासक' में विवाह की समस्या नहीं मगर उस चित्तवृत्ति की समस्या है जिसे प्रेम कहते हैं। 'राधाकांत' में दो भावुक स्त्रियों के आदर्श स्नेह की कहानों कही गई हैं। सहाय जी के मत में सौंदर्योपासना और प्रेम पवित्र अनुभूतियाँ हैं। उन्होंने सामाजिक घरातल पर दर्शन और काव्य का समन्वय किया है। इन उपन्यासों में घटनाओं के स्थान पर भावों की सुललित धारा बहती दिखाई पड़ती है और इस तरह मानसिक ऊहापोह इन उपन्यासों का प्रधान विषय रहा है। उनको भाषा भावानुकूल, उदात्त और ललित है। उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार लड़के बाटिका में तितलियों को पकड़ते फिरते हैं, उसी प्रकार वे भी अपने

भावों को स्वतंत्र रूप से लिखते हैं। ये भावप्रधान उपन्यास जीवनयथार्थ से कोसों दूर हैं। उपन्यास को गतिशील जीवन का कलारूप कहा जाता है जिसका केंद्रबिंदु उसकी जीवननिष्ठा तथा यथार्थानुराग है मगर रोमानी आदर्श और अशरीरी सौंदर्यबोध को प्रसारित करनेवाले इन उपन्यासों में ऐसी कोई विशेषता दिखाई नहीं पड़ती।

इन उपन्यासकारों का विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि सामाजिक सुधारमूलक तथा भाववाद। प्रेममूलक उपन्यासों की रचना कर इन लेखकों ने यथार्थ से हटकर आदर्श के स्तर पर सामाजिकता का वर्णन करते हुए नवजागरण की परंपरा राष्ट्रवाद और सुधारवाद को स्थापना की ही कोशिश की है। भाववादो प्रेममूलक उपन्यासों में छायावाद की सौंदर्यानुभूति और प्रेमभावना की व्यंजना हुई है। ऐसी बात नहीं कि इनकी प्रेमभावना में रीतिकालीन परंपरा का प्रभाव मिलता हो। ठाकुर जगमोहन सिंह का उपन्यास 'श्यामा स्वप्न' (१८८५ ई०) इसका स्पष्ट उदाहरण है। डा० श्रीकृष्णलाल को इसमें 'यथार्थवादो प्रवृत्ति का पूर्ण अभाव' मिला है। यह रीतिबद्ध काव्य की हूबहू नकल है। एक उदाहरण है—

'उसकी कटि छुटि कछुल्ला सो हो गई थी। केहरो भी जिसे देख अपने घर की देहरी के बाहर कभी नहीं निकला, ऐसी सुकुमारी जो बार के भार से भी लचती थी, ऐसी पतरी जो मुट्ठो में भी आ जाती थी। कई तो उसे देख भ्रम में पड़े थे कि लंक है कि नहीं या केवल अंग का ही शंक है। नव जीवन नरेश के प्रवेश होते हो अंग के सिपाहियों ने बड़ी लूटपाट मचाई.... पर यह न जान पड़ा कि कटि किसने लूट ली।' किंतु यह कहना अनुचित रहेगा कि इन उपन्यासों में यथार्थ की ओर बढ़ने की कोशिश नहीं है। दरअसल रोमानी एवं भावमूलक दृष्टि के प्रसार के साथ साथ समाज का यथार्थ चित्रण भी इनमें मिलता है। सामाजिक रुढ़ियों के प्रति विद्रोह भी है मगर साथ ही निर्माण का आदर्शमूलक संदेश भी है जो चरित्र चित्रण और घटनाविन्यास द्वारा प्रकट न होकर लेखक के उपदेशात्मक वक्तव्य के द्वारा प्रकट होता है और तभी इन उपन्यासों की कलात्मकता हलकी पड़ने लगती है। आदर्शमूलक होने के कारण इन उपन्यासों में व्यष्टि के स्थान पर समष्टि का अधिक महत्व है और इसीलिये इनमें मानव की अपेक्षा मानव मूल्यों की बात अधिक है। इनकी रूचि मानव जाति में जितनी है उतनी मानव स्वभाव में नहीं है। इसीलिये इनमें सुख और सुनोति की बात है, राष्ट्रप्रेम का जयघोष है, धर्म का गान है मगर नर नारियों की जिदगो की कलतान नहीं। प्रकृतिवर्णन है, वातावरण का निर्माण भी है मगर कहानी नहीं। अगर कहानी है भी तो लेखक के उपदेशात्मक वक्तव्यों से इतनी ज्यादा सनी हुई कि पाठकों का मन ऊबने लगता है। पाठकों की इस ऊब को दूर करने के लिये तिलस्म, ऐयारी और रोमांस की डाली सजाकर उपन्यास के क्षेत्र में देवकी-नंदन खत्री (१८६१-१९१३) ने प्रवेश किया।

जॉन रॉबिनसन द्वारा बंगला में 'रॉबिनसन क्रूसो' (१८५२ ई०) के अनुवाद पर जे० लाग ने अपने डिस्क्रिप्टिव कैटालॉग में टिप्पणी की थी कि हिंदुओं को नैतिक शिक्षा प्रदान करने के लिये ही इसका अनुवाद किया गया था। इससे एक ओर उस युग की नैतिकतावादी दृष्टि का पता चलता है जिसके आधार पर हिंदी, बंगला में उपन्यासों की रचना शुरू हुई थी और दूसरी ओर इन सब पुस्तकों के फलस्वरूप, अनजाने में, रोमांस और रोमांचक इतिवृत्त की ओर पाठकों की रूचि के विस्तार का भी हमें सहो अहसास होता है। प्राश्नात्य (अंग्रेजी और फारसी)

रोमांटिक साहित्य के अनुशीलन के कारण ही हिंदी जगत् में वीरेंद्रसिंह और चंद्रकांता का प्रेम-मिलन संभव हो सका था और खत्री साहब अपने उपन्यासों में रोमांस, तिलस्म और ऐयारी का मायाजाल फैला सके थे। 'चंद्रकांता' (१८९१ ई० से लेकर कई वर्षों में कई भागों में प्रकाशित), 'चंद्रकांता संतति' (सर्वाधिक विशालकाय उपन्यास १८९४-१९०५ ई०) और 'भूतनाथ' (१९०८-१२ ई०) खत्री जी के तीन प्रसिद्ध उपन्यास हैं जिनमें एक ही कथा का विकास और विस्तार हुआ है। इन कथाओं में मुख्य वस्तु प्रेम है और उसको प्राप्त करने के लिये संघर्ष है। संघर्ष के विस्तार में ही तिलस्म का विधान और ऐयार की महत्वपूर्ण भूमिका का संयोजन है। तिलस्म और ऐयार शब्द अरबी भाषा के हैं जिनका अर्थ क्रमशः अद्भुत रचना और चालाक होता है। रोमांस, जादू और मनोरंजन की चमत्कारपूर्ण सामग्री का लोभ दिखाकर खत्री जी ने भारी संख्या में पाठकों को अपनी ओर आकर्षित किया। नेपथ्य में लोकमंगलकारी अभिप्राय ही प्रमुख था, इसीलिये तो वे प्रेमी प्रेमिका का प्रेम, संघर्ष और विवाह दिखाते हुए सदाचारी पात्रों को पुरस्कृत करते हैं और दुराचारों को दंड देते हैं। मगर इस सत्यबोध से कहीं अधिक पाठकों की कल्पना तिलस्म के खेयों में, दुस्साहसिक यात्राओं में और ऐयारों की बाजीगरी में ही लीन होती रही।

'चंद्रकांता' में चंद्रकांता और वीरेंद्रसिंह के प्रेम का रोमानी विकास दिखाया गया है। वीरेंद्रसिंह पहली बार चंद्रकांता से रात में मिलते हैं, जब वह बाग में संगमरमर के चिकने चबूतरे पर मोमी शमादान की धुंधली लौ के पास सखियों के साथ बैठी रहती है। इस वातावरण में दो प्रेमियों के मिलन में उनके दिलों की धड़कन हमें साफ सुनाई देती है। मिलन के बाद विरह और फिर मिलन के लिये नायक का संघर्ष। मगर इस संघर्ष में भी यथार्थ के स्थान पर जादू या तिलस्म का खेल ही अधिक है अथवा कल्पना की स्वप्निल उड़ान। चंद्रकांता तिलस्म में फँसकर पहाड़ पर चली गई थी। वीरेंद्रसिंह तिलस्म तोड़ते हैं और पहाड़ पर पहुँचते हैं। मन मिलन की उड़ान लेता हुआ दिखाई पड़ता है :

'आज मैं अपने हाथों से उसके बाल सुलझाऊँगा, अपनी चादर से उसके बदन की गर्द झाड़ूँगा.....अपनी चादर अपनी कमर में लपेट लूँगा और अपनी धोती उसे पहराऊँगा।'

'चंद्रकांता' में स्त्री के लिये पुरुषों में संघर्ष होता है और 'चंद्रकांता संतति' में पुरुषों के लिये स्त्रियों में संघर्ष होता है। 'चंद्रकांता संतति' में जो दांपत्य प्रेम भारतीय पद्धति में शुरू होता है वह 'भूतनाथ' में विकसित होता है। इस प्रेमवर्णन में लौकिक प्रेम अलौकिक स्तर पर पहुँचता हुआ दिखाई पड़ता है। उपन्यासकार के शब्दों में हरेक का प्रेम 'हृद् दर्जे तक पहुँचा हुआ प्रेम' था इसीलिये तो एक बार चाँदनी रात में सुने वन के बीच पत्थर की चट्टान पर बैठकर वीरेंद्रसिंह के मित्र तेजसिंह और उसकी प्रणयिनी चपला मिलनपर्व के स्वर्ण अवसर पर दूसरी बातों में समय को बिता देती हैं। इस प्रकार अशरीरी प्रेम के द्वारा पात्रों के रोमानी व्यक्तित्व का प्रसार किया गया है। केवल व्यक्तित्व ही क्यों, सारा परिवेश ही रोमानी है। तिलस्मी इमारत के अद्भुत कमरे, दरवाजे, तहखाने, तालियाँ, सीढ़ियाँ, सुरंगें, कुएँ सभी रोमानी परिवेश को जन्म देते हैं। इसी परिवेश में अद्भुत और भयानक, मगर कौतूहल को बढ़ानेवाले मनमोहक परिवेश में, नायक नायिकाओं का मिलन होता है। कुएँ के नाचे से गुजरता हुआ नायक जब आगे बढ़ता है तो सामने सुंदर बाग दिखाई पड़ता है जहाँ खाने के

लिये मेवे, पीने के लिये मीठा पानी और मन बहलाने के लिये 'मारने और जिलानेवाली बड़ी बड़ी आँखें, गालों पर पड़ी हुई घुंघराली लटें, सीधी और पतली नाक, पतले और लाल होंठ हैं।' पाठक जब नायक नायिका के मिलन के लिये उत्सुक है तो उसी समय उसे दहाड़ता हुआ शोर दिखाई पड़ता है। उपन्यास में चरित्र नहीं व्यक्ति हैं जिन्हें किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है। ये व्यक्ति घटनाओं की तीव्र गति में बहते हुए दिखाई पड़ते हैं और साथ ही पाठक भी। जो भी क्रियाकलाप है वे रोमांचकारी हैं, काल्पनिक हैं और मन को मुग्ध करनेवाले हैं। बेकार का विस्तार नहीं है। लेखक का कहना भी है कि हम दिलचस्प घटनाओं का ही लिखना पसंद करते हैं। विस्तारपूर्वक लिखकर पढ़नेवालों का समय नष्ट करना हमारी आत्मा और आदत के विरुद्ध है (चंद्रकांता संतति, २२।१३)। उनकी शैली की मुख्य विशेषता यह है कि वह कथ्य में पाठकों को तन्मय कर देती है। उनके कथन में नाटकीय प्रत्यक्षता और वर्तमानता रहती है।

यह बात सही प्रतीत होती है कि इन उपन्यासों में अस्तोन्मुख सामंतीय वर्ग का अंतिम खेल चित्रित किया गया है। पालकी, घोड़े, किले, सुरंग, महल, बाग आदि सामंती सभ्यता के प्रतीक हैं। प्रेम के लिये किए गए युद्ध और पड्यंत्र, पात्रों की वीरता, साहस, स्वामिभक्ति, अस्तबल में हिनहिनाते घोड़े, फोलखाने में झूमते हुए मस्त हाथी सामंती वातावरण की याद दिलाते हैं। मगर इसके बावजूद ऐयारों का जमघट हमें धीरे धीरे मध्य युग से आधुनिक युग की ओर ले चलाता है। मध्यकालीन सामंतवाद के पतन तथा आधुनिक पूंजीवाद के उदय से समाज में धूर्तों की संख्या बढ़ी। ऐयार उन्हीं के प्रतीक हैं। ये ऐयार धूर्त होने पर भी स्वामिभक्त थे। लेखक का कहना है कि ऐयार का यही काम है कि अपने मालिक के लिये छिने हुए मामले का पता लगाए, दुष्टों, चोरों और खूनियों का पता लगाए, राजाओं और रईसों को, जिनमें बहुत से आदमियों का खून होना संभव है, अपनी कारीगरी से रोके और सहज ही मामले को तै कर डाले (भूतनाथ, ६।६)। ये ऐयार हाथ में कमंड, कमर में खंजर और बगल में बटुआ लटकाए चलते हैं तो उनके आगे जर्बामर्दी और दिलेरी हाथ जोड़े खड़ी रहती है। बटुआ में बुकनी, लखलखा, मोमबत्ती, आइना आदि रहते हैं। जब जरूरत हुई बुकनी सुंधाकर बेहोश किया, लखलखा सुंधाया तो छींक मारकर आदमी होश में आ गया। अँधेरी रात में मोमबत्ती जलाकर आइने की सहायता से सूरत बदल डाली। अदृश्य होने के लिये भी गुटका हाजिर है। ये ऐयार वीर, उदार, स्वामिभक्त और नैतिक आचार्यों से युक्त होते हैं। केवल ऐयार ही क्यों खत्री जी के सभी पात्र मानवीय हैं और इसीलिये वे पाठकों को आकर्षित करते हैं। मानवीय होने पर भी वे घटनाओं को आगे बढ़ानेवाले नहीं, घटनाओं के द्वारा आगे बढ़नेवाले व्यक्ति हैं जो प्रेम, वीरता, साहस के रहते हुए भी कल्पनालोक के स्वो पुरुष ही प्रतीत होते हैं। इसीलिये तो उनके आँसू गुलाबी गालों पर मोतियों की तरह लड़कते हैं, शव जिंदा हो जाते हैं या तहखाने में कैद नायिका अंगूर खाती दिखाई पड़ती है।

जैसा पहले कहा गया है कि इन उपन्यासों के नेपथ्य में लोकमंगलकारी अभिप्राय ही प्रमुख था, इसीलिये हम कह सकते हैं कि ये उपन्यास कहानी प्रधान हैं मगर कहानी सर्वस्व नहीं। लेखक की जीवनजिज्ञासा की अभिव्यक्ति भी इसमें हुई है। उन्होंने उपन्यास को मनोरंजन का साहित्य मानकर ग्रहण किया और विचारों के प्रचार का साधन बनाया। उनका कहना था कि

‘चंद्रकांता’ मनोविनोद के लिये लिखी गई थी मगर इसका इतना प्रचार देखकर अपने विचारों को भी इसमें जोड़ दिया गया जिससे भारत का भविष्य बन सके (देखिए, चंद्रकांता संतति का अंत)। मानव मूल्यों में उनका विश्वास था। देवत्व को उन्होंने हमेशा प्रथम दिया मगर कहानी का आकर्षण इतना तीव्र है कि पाठक नैतिक विचारों के स्थान पर कहानी, घटनाओं, रोमांस, तिलस्म के आवर्त में हो गोता लगाने रहते हैं और यही प्रभाव शेष रह जाता है।

खत्री जी कहानी कला और उसके विन्यास की श्रम में सिद्धहस्त हैं। नाटककार की तरह वे कथा का उद्घाटन करते हैं। रोमांस के अद्भुत रस में काल्पनिक कथावस्तु को मिश्रित करते हैं परंतु इस खत्री के साथ कि हमें वास्तविकता का भ्रम (इल्यूनन आव रियैलिटी) होने लगता है। कदाचित् इसके दो कारण हैं। एक तो, उनकी प्रामांगिक कथाओं में दैनिक जीवन के यथार्थ का रंग है और दूसरे स्थानीय रंग (लोकल कलर) विश्वसनीय है। नौगढ़ में लकड़ी की ठेकेदारी करते हुए इन्हें पर्वत, गुफा, खोहों, दरिया, खंडहरों को निकट से देखने का अवसर मिला था और इनका सजीव वर्णन कर इन्होंने घटनाओं को विश्वसनीयता प्रदान की है। फिर उनके उपन्यासों में नौगढ़, विजयगढ़, जमानिया, चुनार, गया, काशी आदि परिचित स्थान पृष्ठभूमि के रूप में इस्तेमाल किए गए हैं। इन्हीं कारणों से काल्पनिक कथावस्तु में वास्तविकता का भ्रम होने लगता है और ये ही उपन्यास कला को मार्थकता प्रदान करते हैं।

आलोचकों के अनुसार इन उपन्यासों का साहित्यिक महत्व नगण्य है। हिंदी उपन्यास की परंपरा में न तो इनसे कुछ जुड़ता है और न कुछ घटता है। अलवत्ता इससे हिंदी भाषा की भारी सेवा हुई है। बहुत से लोगों ने ‘चंद्रकांता’ पढ़ने के लिये ही हिंदी सीखी। इन उपन्यासों का साहित्यिक मूल्य चाहे जो कुछ भी हो, इनका ऐतिहासिक मूल्य असाधारण है। ये शायद उस अर्थ में साहित्यिक कोटि के हैं भी नहीं, समाजतत्त्व के ही अनिवारणीय उपादान हैं। इन उपन्यासों ने साधारण जनसमाज को हिंदी में दीक्षा दी थी और जनचित्त को तुष्ट करने की इनमें तीव्र शक्ति विद्यमान थी। इनका प्रधान गुण यह है कि बिना किसी आयास के ये पढ़े जा सकते हैं जिनके बारे में काक्सॉल ने कहा था कि ऐसे उपन्यास पढ़ने के लिये दिमाग को कम से कम खर्च करना पड़ता है (सच ऐज आर आब्टेंड विद द लीस्ट लेवरर... आव द माइंड। —प्रिफेस, सेलेक्ट फ्लेक्शन आव नावेल्स ऐंड हिस्ट्रीज, १७२०)। खत्री जी ने ‘नरेंद्र मोहिनी’ (१८९३ ई०), ‘कुसुमकुमारी’ (१८९४ ई०) और ‘काजर की कोठड़ी’ (१९०२ ई०) के नाम से दूसरे प्रकार के उपन्यास भी लिखे, जिनकी कैफियत उन्होंने ‘चंद्रकांता संतति’ के २१वें हिस्से में दी है। इन उपन्यासों में भी रोमांस और शौर्य का रंग है और युगानुकूल सुधारवादी दृष्टि का प्रसार है मगर इन उपन्यासों को बहुत अधिक महत्व नहीं मिल सकता।

मनोरंजनप्रधान उपन्यासों की कड़ी में एक ओर तिलस्मी ऐयारी उपन्यास और दूसरी ओर जासूसी उपन्यास हैं जिनके सबसे प्रसिद्ध लेखक गोपालराम गहमरी (१८६६-१९४६ ई०) थे। अंग्रेजी लेखक रेनाल्ड की रहस्य कहानियों का पहले पहल भुवनचंद्र मुखोपाध्याय ने बंगला में अनुवाद करना शुरू किया। बाद में उनके उपन्यास ‘लंडन रहस्य’ आदि का हिंदी में अनुवाद होने पर पाठकों का ध्यान इस प्रकार की पुस्तकों की ओर आकृष्ट हुआ। १८९८ ई० में

गहमरी जी ने नरेंद्रनाथ गुप्त की कहानी 'होरे का मोल' का हिंदी अनुवाद किया जिसे पाठकों ने बेहद पसंद किया और इसकी लोकप्रियता देखकर गहमरी जी जासूसी उपन्यास लिखने लगे तो फिर जीवन भर लिखते ही रहे। स्वयं गहमरी जी के अनुसार उन्होंने कोई १५० छोटे बड़े जासूसी उपन्यास लिखे और अनुवाद किए (साहित्य संदेश, अक्टूबर नवंबर, १९४० ई०, पृ० १७३), यद्यपि इनमें बहुत सी कहानियाँ थीं और बहुत सी रचनाएँ बँगला और अंग्रेजी से अनूदित थीं। इनको छोट देने पर भी जो रचनाएँ बाकी रह जाती हैं वे इनकी सृजन शक्ति का परिचय देने के लिये पर्याप्त हैं। उपन्यास लेखन का प्रारंभ उन्होंने गार्हस्थ जीवन के उपन्यासों से शुरू किया था मगर उनकी प्रतिभा की चमक जासूसी उपन्यासों में ही ज्यादा दिखाई दी। 'जासूस' नाम की एक मासिक पत्रिका उन्होंने सन् १९०० से निकालनी शुरू की जो तीस वर्षों तक प्रकाशित होती रही। 'बेकमूर की फाँसी' (१९०० ई०), 'खूनी की खोज' (१९०३ ई०), 'केतकी की शादी' (१९०४ ई०), 'हम हवालात में' (१९०५ ई०), 'मरे हुए की मौत' (१९१२ ई०), 'तीन जासूस' (१९१३ ई०), 'चक्करदार खून' (१९१५ ई०) आदि उनके कतिपय प्रसिद्ध जासूसी उपन्यास हैं। ऐयारी और तिलस्मी उपन्यासों की तरह जासूसी उपन्यासों में घटनाओं की धारा तीव्र गति से बढ़ती हुई आगे बढ़ती है मगर उनमें कार्य-कारण-शृंखला बनी रहती है। जगत्प्रसिद्ध जासूसी उपन्यासकार कौनन डायल के उपन्यासों में कार्य-कारण की यह शृंखला वैज्ञानिकता के साथ जुड़ी हुई है। गहमरी जी के उपन्यासों में यह शृंखला लगभग दिखाई नहीं पड़ती। ये मोटे किस्म के जासूसी उपन्यास हैं जहाँ खूनी या डाकू की तलाश की प्रक्रिया बुद्धिजन्य नहीं, कल्पनाजन्य है। गहमरी जी ने इन उपन्यासों में ऐयारी और तिलस्म का प्रवेश करवाके इन्हें घटनाप्रधान होने के साथ साथ काल्पनिक भी बना दिया है जहाँ कार्य-कारण की कोई शृंखला नहीं। इसीलिये उनके जासूस शारलक होम्स की तरह यथार्थवादी, वैज्ञानिक बुद्धिसंपन्न जीते जागते आदमी प्रतीत नहीं होते। उनके जासूस भूत बन सकते हैं। अपराधी के सिर पर हाथ रखकर उसे अंधा बना देते हैं, गोया जासूस बाजीगर प्रतीत होते हैं जिन्हें दुनिया की सब चीजों का इलहाम हो जाता है। उस समय का पाठक भी घटनाओं के जगत् में बहना पसंद करता था। इस प्रकार के उपन्यासों की खूबी कहानियों में ही नहीं, कहानी कहने की कला में भी है इसीलिये तो काल्पनिक होने पर भी गहमरी जी जिस ढंग से अपनी बात कहते थे, उससे पाठक को वह यथार्थ ही प्रतीत होता था। गहमरी जी का कहना भी था कि जिसका उपन्यास पढ़कर पाठक ने समझ लिया कि सब सोलहो आने सच है उसकी लेखनी सफलपरिश्रम हुई समझनी चाहिए ('नाटक और उपन्यास', प्र० हि० सा० स०, कार्य विवरण २, पृ० १५)। मैथ्यू आर्नल्ड ने इसे ही लेखक की एक खास विशेषता कही थी जिसके आधार पर लेखक पाठक के अविश्वास को तोड़ देता है (विलिंग सस्पेंशन आव डिस्बिलीफ)।

गहमरी जी के अनुसार साहित्य जिस युग में रचा जाता है उसके साथ उसका गहरा संबंध होता है इसीलिये वे उपन्यास को अपने समय का इतिहास मानते थे ('गेरुआ बाबा' की भूमिका)। उनके उपन्यासों में समकालीन युग के अपराधियों के रहस्यमय संसार की झाँकी मिलती है, शासन व्यवस्था का ज्ञान होता है और पारिवारिक जीवन का पता लगता है। लोगों का यह कहना सही है कि बँगला अंग्रेजी उपन्यासों के कथानक और पात्रों को हिंदी प्रदेश में

लाकर उन्होंने एक ओर इनकी विश्वसनीयता बढ़ाई और दूसरी ओर इनको सामाजिकता प्रदान की ।

गहमरी जी शुद्ध मनोरंजन के लिये लिखते थे मगर युगधर्म के मुताबिक सुधारवादी दृष्टि से कतराते नहीं थे इसीलिये उन्होंने अपराध के मूल में अर्थ और काम का हवाला देते हुए उसको सामाजिक आलोचना की है । जामूसी उपन्यासों के बारे में प्रेमचंद जी का कहना है कि जामूसी उपन्यास अद्भुत होता है, लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगे जब उसमें सुंदर का समावेश हो, खूनी का पता लगाने के लिये सतत प्रयोग, नाना प्रकार के कष्टों का झेलना, न्याय मर्यादा की रक्षा करना, ये भाव रहें जो इस अद्भुत रस की रचना को सुंदर बनाते हैं (साहित्य का उद्देश्य) । गहमरी जी के उपन्यासों को कथाकीशल, लेखनशैली और बौद्धिक आनंद प्रदान करने के लिये साहित्य का दर्जा दिया तो जा सकता है मगर आर्थर कानन डायल, एडगर वॉलिस, पाँचकड़ो दे आदि उस युग के जामूसी उपन्यासकारों की श्रेणी में उन्हें स्थान देना मुश्किल ही प्रतीत होता है । घटनाओं के वर्णन में कार्य-कारण-शृंखला का प्रभाव, चरित्रों में असंभाव्यता का दोष और जामूसी उपन्यासों के लिये सर्वाधिक आवश्यक वैज्ञानिक बुद्धि संपन्नता के स्थान पर काल्पनिक रोमांस का प्रसार कुछ ऐसे कारण हैं जिनके फलस्वरूप गहमरी जी को अपने युग के प्रसिद्ध जामूसी उपन्यासकारों की श्रेणी में स्थान देना मुश्किल हो जाता है । मगर हिंदी जगत् में वे जामूसी उपन्यास के पिता के रूप में आदर पाते रहेंगे, इसमें संदेह नहीं है ।

इस कालाविधि के उपन्यासकारों में किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२ ई०) केवल एक स्मरणीय नाम ही नहीं केंद्रवर्ती उपन्यासकार भी हैं । गोस्वामी जी का जीवन साहित्यमय था । इन्होंने अपने जीवन में एक ही काम किया और वह था हिंदी साहित्य सेवा । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उनके छोटे बड़े ६५ उपन्यासों का उल्लेख किया है । छोटे उपन्यासों से शुक्ल जी का तात्पर्य कदाचित् कहानियों से है । कुछ उपन्यास बंगला से अनूदित हैं । उनके मौलिक उपन्यास विषयवस्तु की दृष्टि से अपने समय में प्रचलित सामाजिक, ऐयारी तिलस्मी, जामूसी, रोमानी आदि सभी धाराओं को समेटे हुए हैं । मगर उनकी प्रसिद्धि का सबसे बड़ा आधार उनके ऐतिहासिक उपन्यास हैं जिनके द्वारा उन्होंने उपन्यास के क्षेत्र में एक नई शुरुआत की । इस समय का युग रोमानी कल्पना का युग था । अंग्रेजी रोमांटिक साहित्य तथा क्लासिकल संस्कृत साहित्य की चेतना को बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय और रमेशचंद्र दत्त जैसे बंगला लेखकों के माध्यम से एवं रीतिकालीन शृंगार साहित्य को विरासत में ग्रहण करते हुए भी उन्होंने रोमांस, राष्ट्रवाद तथा इतिहास को अपने अधिकतर उपन्यासों में प्राथमिकता दी है । गोस्वामी जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक सत्य, कल्पना और रोमांस तथा पुनरुत्थानवादी धारणाओं का कुछ ऐसा गठबंधन है कि यथार्थ जीवन के साथ इनका योगसूत्र नितांत क्षीण प्रतीत होता है । इसीलिये वे चरित्रों को आलोच्य युग की आत्मा और स्वरूप के स्तर पर नहीं ले जा सके हैं । उनके प्रथम उपन्यास 'प्रणयिनी परिणय' (१८९० ई०) को लेकर तो विवाद ही है कि यह उपन्यास नहीं मात्र कहानी है । 'हृदयहारिणी' (१८९० ई०) तथा 'लवंगलता' (१९०३ ई०) में ऐतिहासिक कथानक में पारिवारिक प्रसंग का समावेश किया गया है । इस प्रकार के उपन्यासों में एक ओर इतिहास की विपुलता और घटनावैचित्र्य को क्षुद्र दैनंदिन जीवन में प्रतिफलित

करना पड़ता है और दूसरी ओर वास्तविक जीवन की नियमानुवर्तिता और तथ्यधर्मिता के द्वारा इतिहास की अस्पष्टता और कल्पनामुखोन्मत्ता को नियंत्रण में रखना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, इन दोनों में एक प्रकार का गहरा संबंध रहता है। मगर गोस्वामी जी के इन उपन्यासों में ऐतिहासिक उपादान अस्पष्ट और अवास्तव हैं। सत्य कल्पनाजड़ित है तथा पारिवारिक जीवन से उसका कोई संबंध नहीं है। इतिहास के साथ यथार्थ जीवन का अंतरंग मिलन कराने में गोस्वामी जी की कला असमर्थ थी। इसीलिये 'राजकुमारी' (१९०२ ई०) और 'लखनऊ की कन्न' (१९०६ ई०) जैसे जटिल कथानकवाले उपन्यासों में उन्होंने रोमांस, इतिहास और तिलस्म का संयोग कर ऐतिहासिक उपन्यास से बिल्कुल भिन्न एक रहस्यमय लोक की सृष्टि की है। इनमें घटना और पात्र में कोई सामंजस्य नहीं है। सब कुछ माया कुहेलिका से ढका हुआ है।

गोस्वामी जी ने ऐतिहासिक उपादान के आश्रय से अपनी रोमानी प्रवृत्ति का हो प्रसार किया है इसलिये उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में 'ऐतिहासिक कल्पना' का अभाव दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त जिस हिंदू पुनरुत्थानवाद को शुरुआत राधाकृष्णदास के उपन्यासों से होती है उसकी चरम परिणति गोस्वामी जी के उपन्यासों में दिखाई पड़ी। चितन की इग अपरिपक्वता के कारण ऐतिहासिक उपन्यास के सही आदर्श को वे पहचान नहीं सके। 'तारा' (१९०२ ई०), 'लालकुंवर' (१९१३ ई०) जैसे उनके प्रसिद्ध चरित्र या वातावरणप्रधान उपन्यासों में भी कमोवेश यही अभाव दिखाई पड़ता है। 'तारा' उपन्यास में रानी चंद्रावली अपने भाई से कहती है कि 'भारतवर्ष के भाग्यविपर्यय का प्रत्यक्ष इतिहास आँखों के आगे नाच रहा है, तो भी स्वार्थ से अंधे होकर तुमने यवनों पर अंधविश्वास कर लिया है। भाई, जागो और मोह-निद्रा को छोड़ सनातन धर्म और क्षत्रिय कुल की गौरवता पर दृष्टि डालो।' गोस्वामी जी की लेखनी का एक आश्चर्यजनक विरोधाभास यह है कि एक तरफ वे हिंदुत्व और उसके संस्कारों को प्रतिष्ठा चाहते हैं तो दूसरी ओर मनोरंजन के नाम पर अश्लील वर्णन खुल के करते हैं। 'लालकुंवर' और 'तारा' में वासना के बड़े स्पष्ट वर्णन हैं जहाँ बेगम अपनी बाँदी से हो लिपटकर सोई रहती है और जनकों और लौंडियों में छेड़खानी होती है। शाहजादे बाँदियों से आँख लड़ाते हैं और शाहजादियाँ हम्माम में सुरंग की राह से नौकर को बुलाती हैं।

अगर हम यह मानकर भी चलें कि अश्लीलता एक सापेक्षिक वस्तु है, फिर भी कहना पड़ता है कि ये वर्णन कथावस्तु के साथ तद्गत भाव से जुड़े हुए नहीं हैं, मनोरंजन के लिये ऊपर से थोपे गए प्रतीत होते हैं। इसीलिये इनमें अतिनाटकीयता है, अतिरंजना है और ये अनावश्यक प्रतीत होते हैं एवं सबसे बड़ी बात यह है कि विरोधाभास हमें कचोटता रहता है। शिक्षा, धर्म और मनोरंजन की इस त्रिवेणी के द्वारा वे इतिहास को रंगना चाहते थे मगर इससे उपन्यासों में बिखराव और शिथिलता आ गई है। ऐतिहासिक परिवेश, चरित्र-चित्रण और यथार्थ जीवन के साथ उसका भारसाम्य बनाए रखने में गोस्वामी जी असफल रहे हैं।

सामाजिक उपन्यास के क्षेत्र में 'चपला' (१९०३ ई०) की उस युग में विशेष चर्चा रही जिसे आलोचकों ने मध्यवर्गीय महाकाव्य कहा है। 'स्वर्गीय कुसुम' (१८९१ ई०) तथा 'लोलवती' (१९०१ ई०) उनके अन्य सामाजिक उपन्यास हैं। 'चपला' उपन्यास के उपनाम 'नव्य समाज-

चित्र' से स्पष्ट है कि यह भारत के नागरिक समाज का चित्र है। इस कालावधि में कदाचित् यह सबसे पहला उपन्यास है जिसमें नवोत्थित शिक्षित नगरवासी मध्यवर्ति वर्ग और बुर्जुआ समाज का उल्लेख है। कहने को यहो समाज उपन्यास का प्रकृत जन्मदाता है। सूर्यस्नात आकाश का नीलाभ आदर्श और पृथ्वी का पकिल यथार्थ दोनों ही 'नव्य समाजचित्र' में अंकित हैं। इसी में आधुनिक कथा साहित्य का बीज बोया गया है। इसमें कल्पना या रोमांस नहीं है। यह उस समय के नागरिक समाज के एक अंश का नक्शा है जहाँ व्यभिचार, मदिरापान, गरीबी, बेकारी, निराशा, पशुता, पवित्रता, उद्यम, समवेदना, व्यावहारिकता का कभो यथार्थ वर्णन है तो कभो इनपर व्यंग्य कसा गया है तो कभो आदर्श को स्वीकारने की कोशिश की गई है। इस युग में पहली दफा साहित्य में आख्यान के अंत और उपन्यास के प्रारंभ की सूचना मिलती है। आख्यान कहानीप्रधान होता है और उपन्यास प्छाट निर्भर होता है। कहानी इन्द्रियानुभाव पर आधारित होती है और प्छाट बुद्धिनिर्भर होता है। फास्टर के शब्दों में कथावस्तु का स्टोरी से प्छाट की ओर जाना दरजसल प्राथमिकता से परिणति की ओर अग्रगति है (ऐस्पेक्ट्स आव द नावेल, १९५३, पृ० ८०-९८)।

'चपला' इसी अग्रगति का संकेत देती है इसीलिये तो रामचंद्र शुक्ल ने गोस्वामी जी के उपन्यासों को साहित्यिक माना है। उनका कहना था कि इनके उपन्यासों में समाज के कुछ सजीव चित्र, वासनाओं के रूपरंग, चित्ताकर्षक वर्णन और थोड़ा बहुत चरित्रचित्रण भी अवश्य पाया जाता है। इस कालावधि में, निःसंदेह, गोस्वामी जो एक ऐसे उपन्यासकार हैं जिन्होंने इस विधा के यथार्थ रूप को समझा था और समाज के यथार्थ रूप को उभारते हुए कलात्मकता का प्रसार किया था।

इस युग के दूसरे उपन्यासलेखकों में देवीप्रसाद शर्मा, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, शिव-नारायण द्विवेदी, शेरसिंह, रुद्रदत्त शर्मा, जयरामदास गुप्त, बलदेवप्रसाद मिश्र, भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र, मन्नन द्विवेदी, कृष्णप्रकाश सिंह अखौरी आदि उल्लेखनीय हैं।

इस कालावधि में मौलिक उपन्यासों की रचना के साथ-साथ अंग्रेजी, बँगला, मराठी आदि अन्य भाषाओं से हिंदी में विस्तार से अनुवाद का कार्य चल रहा था। पाठकों की रुचि को ध्यान में रखकर ही उस समय अनुवाद के लिये उपन्यास चुने जाते थे इसीलिये रेनाल्ड्स, हैगर्ड, कानन डायल, स्काट आदि अंग्रेजी लेखकों के रोमानो, रहस्य रोमांचक तथा नग्न यथार्थवादी उपन्यासों के ही अनुवाद अधिक हो रहे थे। प्रियरंजन सेन ने कहा है कि हमारी इस चटकीली, मनोरंजनप्रिय रुचि के कारण ही प्रथम श्रेणी के उपन्यासकारों की अपेक्षा रेनाल्ड्स को अधिक महत्व देने में हमें थोड़ा भी संकोच नहीं हुआ। यह सच है कि रेनाल्ड्स का उल्लेख अंग्रेजी उपन्यास के इतिहास में नहीं मिलता, मगर स्काट, कानन डायल आदि साहित्यिक महत्व रखते हैं। दरअसल ये अनुवाद सीधे अंग्रेजी से न होकर बँगला के माध्यम से होते थे इसीलिये अच्छे अंग्रेजी उपन्यासों के चयन की बात ही नहीं उठी। यदि एक अच्छे उपन्यास 'टाम काका की कुटिया' का अनुवाद हुआ तो वह भी चंडीचरण सेन के बँगला अनुवाद का अनुवाद था। बंकिम-चंद्र चट्टोपाध्याय, रमेशचंद्र दत्त, शिवनाथ शास्त्री, योगेंद्रचंद्र बसु, चंडीचरण सेन, रवींद्रनाथ, नगेंद्रनाथ गुप्त, पाँचकोड़ी दे आदि के नाना बँगला उपन्यास अनूदित होकर हिंदी पाठकों का मनोरंजन करते रहे और इनसे मौलिक उपन्यास लिखनेवालों को मार्गनिर्देशन मिला। आचार्य

रामचंद्र शुक्ल ने पूर्वप्रेमचंद अनुवाद कार्य का विवरण देते हुए लिखा है कि उस समय तक बंगभाषा में बहुत से अच्छे अच्छे उपन्यास निकल चुके थे। अतः साहित्य के इस विभाग की शून्यता शीघ्र हटाने के लिये उनके अनुवाद आवश्यक प्रतीत हुए। हरिश्चंद्र ने भी अपने पिछले जीवन में बंगभाषा के एक उपन्यास के अनुवाद में हाथ लगाया था, पर पूरा न कर सके थे। किंतु उनके समय में ही प्रतापनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी ने कई उपन्यासों के अनुवाद किए (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ४९९)। गदाधर सिंह, बाबू राधाकृष्ण, कार्तिक-प्रसाद खत्री, गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी के द्वारा किए गए बहुत से अनुवाद इस काल में प्रकाशित हुए। गुजराती और मराठी के भी कुछ अनुवाद प्रकाशित हुए।

इस समय के उपन्यासों में जो मूल वृत्ति दिखाई पड़ती है वह है कोरा मनोरंजन या मनोरंजन के बहाने राष्ट्रवाद और सुधारवाद का प्रसार। एक विशिष्ट ऐतिहासिक प्रक्रिया (उल्लेख पहले किया जा चुका है) के फलस्वरूप भारत में नवजागरण के उदयकाल में राष्ट्रवाद, सुधारवाद को बल मिला और उपन्यासों में व्याख्यान, प्रवचन, विचारसंकलन का बिना संकोच के उपयोग किया गया। समाजसुधार और नीति उपदेश को निषिद्ध न समझकर उन्हें गौरव का स्थान दिया गया। दरअसल इस समय मानवीय मूल्यबोध की धारणा बुद्धिजीवियों के मन में घर करती जा रही थी। मनुष्य की आत्मावमानना एवं ईश्वर की जयघोषणा के स्थान पर मनुष्य के प्रति अन्याय के खिलाफ आवाज बुलंद करने को चाह बढ़ती जा रही थी। इसीलिये पुरुष और विशेष रूप से नारी की महिमा के संबंध में सचेत इन उपन्यासकारों ने सुधारवादी दृष्टि के सहारे व्यक्तिचेतना को उभारने की कोशिश की मगर यथार्थ दृष्टि के अभाव में एवं मनोरंजनकारी वृत्ति को प्राथमिकता देने के कारण व्यक्तिचेतना उभर नहीं पाई। कहने की चरित्र ही नहीं उभर पाया, यदि कुछ उभरा तो कतिपय अच्छे और बुरे व्यक्ति। 'चपला' आदि दो एक उपन्यास अपवाद हैं। ऐसी बात नहीं कि इन उपन्यासकारों ने मनुष्य जीवन के यथार्थ को चित्रित करने की आकांक्षा व्यक्त नहीं की। श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भाग्यवती' की भूमिका में लिखा है कि जो कोई जैसे बोला उसी की बोली भरी हुई है। श्रोनिवास दास ने 'परीक्षागुरु' में नायक को 'जैसा का तैसा' दिखाना चाहा। भुवनेश्वर मिश्र ने 'बलवंत भूमिहार' की भूमिका में चरित्रों के बारे में कहा है कि जैसा मैंने उसे पाया है इस पुस्तक में लिख दिया है। किशोरीलाल गोस्वामी ने 'चपला' के निवेदन में लिखा है कि वे वर्तमान शिथिल, उच्छृंखल और बंधविहीन समाज को यथावत् चित्रित कर रहे हैं। इन उक्तियों से इस समय के लेखकों की यथार्थ की ओर रुझान का पता तो लगता है मगर वास्तविकता तो यह है कि मनोरंजनप्रिय तथा सुधारवादी दृष्टि के कारण ये लेखक उस अनासक्त दृष्टि को ग्रहण नहीं कर सके जो यथार्थ को जन्म देती है। नतीजा यह हुआ कि उस समय के उभरते हुए मध्यवर्गीय समाज के बुनियादी सत्तों का ये पता नहीं लगा सके, समाजबंधन से मुक्ति का आह्वान नहीं कर सके। केवल समाज की ऊपरी सतह पर तैरती हुई घटनाओं और उनसे जुड़े हुए पात्रों की जिदगी का स्थूल वर्णन करते हुए आदर्शवादी चित्रण प्रस्तुत करने की कोशिश करते रहे और जैसे ही मौका मिला एक से एक विचित्र रोमांचकारी, विस्मयावह घटनाओं का अंबार लगा दिया और रोमानी? मनोवृत्ति को चरितार्थ किया। चूंकि कहानी सुनाना ये नहीं भूले और कहानी सुनने की आदिम मनोवृत्ति को ये चरितार्थ करते रहे, बस, पाठकों की ओर क्या चाहिए था।

उपन्यास का पठन लोकप्रिय होता गया। बीच बीच में राष्ट्रवाद की बातें सुनाकर हमारे स्वदेश-प्रेम की चेतना को जगाकर हमारे मन को जीतते भी रहे।

इन उपन्यासों का सबसे बड़ा गुण इनकी भाषा रही है। आत्मकथात्मक शैली (चंद्रकला, १८९३ ई०), आत्मचरितात्मक शैली (दीनानाथ, १८९९ ई०), आख्यायिका शैली (आश्चर्य-वृत्तांत १८९४ ई०) या फिर विवरणात्मक शैली (नूतन ब्रह्मचारी, १८८६ ई०) में चटपटी और गतिशील भाषा के प्रयोग में इनका सानी नहीं है। चूंकि इनमें कथा कहने की स्थिरता नहीं थी इसीलिये बीच बीच में उपदेशों की रुक्षता, रोमांस की ऊहात्मकता या सस्ते मनोरंजन की एकरसता भाषा के लिये बाधक हो जाती थी। मगर जहाँ ऐसा नहीं था वहाँ भाषा को तीव्र गत्यात्मकता पाठकों को बहाती चलती है।

किशोरीलाल गोस्वामी, गहमरी जो या देवकोनंदन खत्री अथवा लाला श्रोनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट या अयोध्यामिह उपाध्याय के उपन्यासों के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि उनमें उपन्यासकला को पहचान थी। यथार्थ की आवश्यकता को वे महसूस करते थे, व्यक्तिनिष्ठता के प्रसार के वे हिमायती थे मगर कहीं न कहीं उनके मन में ऐसी द्विधा थी जिससे दूसरी विशेषताएँ उनपर हावी होती गईं। दरअसल उनके उपन्यासों में एक द्वंद्वात्मक स्थिति दिखाई पड़ती है। लोकमंगल और कलावाद, साहित्यविद्या की संमिश्रता और विशुद्धता, रोमानवाद और यथार्थवाद, इतिहास और कल्पना, सामाजिकता और व्यक्तिनिष्ठता को द्वंद्वमय स्थिति से ये उपन्यासकार अपने को मुक्त नहीं कर सके। वस्तुतः इस समय औपनिवेशिक राष्ट्र में मध्यवर्त्त समाज का ऐतिहासिक विकास ही द्विधाग्रस्त था और इसलिये इन मध्यवर्गीय लेखकों में इस द्वंद्व की अभिव्यक्ति स्वाभाविक ही थी। इस पराधीन एवं धर्मप्राण देश में राजनीति और धर्म ने इकट्ठे मिलकर उपन्यासों के माध्यम से राष्ट्रवाद और सुधारवाद का प्रसार किया तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं मगर परिणति में जब नरनारी के जीवन की कलध्वनि नहीं सुनाई पड़ी तब थोड़ा आश्चर्य हुआ। मगर ज्यादा दिनों तक यह स्थिति नहीं रही। सन् १९१८ में प्रेमचंद जी ने उपन्यास के क्षेत्र में प्रवेश करके मानव जीवन की उपन्यास के केंद्र में लाकर प्रतिष्ठित किया और इस प्रकार उपन्यास को एक निश्चित सामाजिक आधार प्रदान किया।

सामाजिक यथार्थ के उपन्यास

रामदरश मिश्र

इस अवधि के सामाजिक यथार्थ के उपन्यासों में अनेक उपन्यासों की परिगणना हो सकती है। किंतु यथार्थ की गहरी पहचान, नई यथायात्रा, रचनात्मक उपलब्धि और उपन्यासों की संख्या की दृष्टि से प्रेमचंद के उपन्यास सर्वाधिक विशिष्ट और सशक्त हैं। इन विशेषताओं के कारण यह अवधि कथा साहित्य में प्रेमचंद युग के नाम से प्रख्यात हो गई है। सामाजिक चेतना के शेष उपन्यास प्रेमचंद के उपन्यासों की परंपरा में ही आते हैं।

प्रेमचंद के आगमन से हिंदी उपन्यास में नया युग प्रारंभ होता है बल्कि यों कहा जाए कि वास्तविक अर्थों में उपन्यास युग आरंभ होता है। उपन्यास साहित्य की सृष्टि जिस उद्देश्य को लेकर हुई थी उस उद्देश्य की पूर्ति प्रेमचंद के पूर्व उपन्यासों द्वारा नहीं हुई। पश्चिम में उपन्यासों का जो विकास हो गया था उससे भी प्रेमचंद के पहले के उपन्यासकार लाभान्वित नहीं हो सके थे। प्रेमचंद ने पहली बार उपन्यास के मौलिक क्षेत्र, स्वरूप और उद्देश्य को पहचाना। पहचाना ही नहीं, उसे भव्य समृद्धि प्रदान की, काफी ऊँचाई तक ले गए।

अक्सर कहा जाता है कि प्रेमचंद ने पहली बार इस तथ्य को पहचाना कि उपन्यास सोद्देश्य होना चाहिए अर्थात् उपन्यास या कोई भी साहित्यिक विधा मनोरंजन के लिये नहीं होती बरन् वह मानव जीवन को शक्ति और सुंदरता प्रदान करनेवाली सोद्देश्य रचना होती है। सोद्देश्यता हिंदी उपन्यास क्षेत्र में पहले पहल प्रेमचंद में ही व्यक्त हुई और सोद्देश्यता ही प्रेमचंद के उपन्यासों की सफलता का रहस्य है, यह कहना गलत है। सोद्देश्यता (सोद्देश्यता का प्रयोग मैं किसी नैतिकता की स्थापना या समाधान की प्रतिष्ठा या उपदेश के नियोजन के स्थूल अर्थ में कर रहा हूँ) तो भारतेंदुकालीन और द्विवेदीकालीन साहित्य की खास चीज थी। 'परीक्षागुरु', 'सो अजान एक सुजान', 'नूतन ब्रह्मचारी' और अन्य तत्कालीन सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों में उपदेशमूलक उद्देश्यपरकता बहुत नंगी होकर उभरी है और यह उद्देश्यपरकता भी इन उपन्यासों को शक्ति नहीं दे सकी बल्कि उन्हें कला के स्तर से गिराने में सहायक ही हुई। फिर प्रेमचंद की क्या विशेषता है जो उनके उपन्यासों को पूर्व के उपन्यासों से अलग कर उपन्यास साहित्य की स्थायी निधि बनाने में समर्थ हुई। मैं मानता हूँ, वह विशेषता है उनकी यथार्थ की पकड़। यथार्थ सतह पर फैली हुई गंदगी नहीं है बल्कि मानव जीवन के बुनियादी प्रश्न, उसके अनेकानेक बाहरी भीतरी स्वरूपों को बनानेवाली, बदलनेवाली परिस्थितियाँ, समस्याएँ, आपसी संबंध और मानव मन के भीतर के अनेक गहन रहस्यमय सत्य यथार्थ हैं। कहने का अर्थ यह है कि यथार्थ एक व्यापक और संश्लिष्ट वस्तु है जिसमें मानव समाज के सामूहिक और व्यक्तिगत, बाहरी और भीतरी, परिस्थितिगत और मानसिक, अंधकारमय और प्रकाशमय सभी प्रकार के सत्य एक दूसरे से मिले जुले हैं। जिनकी दृष्टि सतही या एकांगी होती है वे यथार्थ को घरातल पर लक्षित होनेवाली घटनाओं और व्यापारों का पर्याय मान लेते हैं या अपनी दृष्टि की एकांगिता के अनुसार जीवन के ललित या कि तयाकथित सुंदर पक्ष को चुनकर प्रतिष्ठित करते हैं। यथार्थवाद के संबंध में ये धारणाएँ भ्रामक हैं। यथार्थ का स्वरूप

बड़ा ही संश्लिष्ट, जटिल और परिवर्तनशील होता है। उसे देखने के लिये जीवन का गहरा अध्ययन और अनुभव अपेक्षित होता है। अतः यह कहना एकदम सही है कि यथार्थ के उद्घाटन में प्रेमचंद के उपन्यासों की मूल शक्ति निहित है। स्वयं प्रेमचंद ने स्वीकार किया है : 'मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।' मानव चरित्र ही पूरी सृष्टि के केंद्र में है। वही परिस्थितियों से प्रभावित होता है, प्रभावित करता है, वह सामाजिक संबंधों तथा परिस्थितियों के अनुसार एक विशेष प्रकार का रूप धारण करता है, एक विशेष प्रकार की जिदगी भोगता है। उसके अंतर्जगत् में बाहरी जगत् अपनी तरह-तरह की छायाएँ छोड़ता है और उसका अंतर्जगत् इस बाहरी जगत् को प्रभावित करने के लिये अनेक संकल्प विकल्प करता है—कभी साक्ष्य रूप से, कभी निष्क्रिय रूप से। इसलिये संकल्प विकल्प पाप पुण्य, हार जीत, व्यक्ति समाज, आशा निराशा, बहिर्जगत् मनोजगत्, सभी आपस में संपर्क होकर यथार्थ के क्षेत्र में आते हैं। यथार्थ केवल अंधकार नहीं है वह अंधकार में से फूटनेवाले प्रकाश और प्रकाश पर विभक्त हुए अंधकार, दोनों का बोध है। प्रेमचंद ने ठीक ही लिखा है—'यथार्थ-वाद का यह आशय नहीं है कि हम अपना दृष्टि को अंधकार की ओर ही केंद्रित कर दे। अंधकार में मनुष्य को अंधकार के सिवा और सूझ ही क्या सकता है? वेगक चुटकियाँ लेना, यहाँ तक कि नश्वर लगाना भी कभी कभी आवश्यक होता है, लेकिन दैहिक व्यथा चाहे नश्वर से दूर हो जाए, मानसिक व्यथा सहानुभूति और उदारता से ही शांत हो सकती है। किसी को नीचे समझकर हम उसे ऊँचा नहीं बना सकते, बल्कि उसे और नीचे गिरा देंगे। कायर यह कहने से बहादुर न हो जाएगा कि तुम कायर हो। हमें यह दिखाना पड़ेगा कि उसमें साहस, बल और धैर्य—सब कुछ है, केवल उसे जगाने की जरूरत है। साहित्य का संबंध सत्य और सुंदर से है, यह हमें न भूलना चाहिए।' ^१

इन उद्धरणों का प्रयोजन यह दिखाना है कि प्रेमचंद के उपन्यासों की यथार्थ चेतना ही उनकी मूल शक्ति है। उनके पूर्ववर्ती उपन्यासकार यथार्थ को गहराई से नहीं पकड़ सके और शिल्प भी नहीं सँवार सके। प्रेमचंद ने यथार्थ को पहचाना और मुख्यतः उसे ही अभिव्यक्ति देना अपने उपन्यास का लक्ष्य समझा। यथार्थ क्या है? यथार्थ व्यक्ति का भी होता है, समाज का भी। अर्थात् एक पूरा का पूरा समाज एक विशेष ऐतिहासिक परिधि में एक विशेष प्रकार की बनावट में जोता है, उसकी कुछ सामान्य विशेषताएँ होती हैं, कुछ सामान्य प्रश्न होते हैं, सामान्य संघर्ष होते हैं, सामान्य जीवनमूल्य होते हैं, सामान्य सांस्कृतिक धरातल होता है, सामान्य विश्वास, सामान्य महत्ताएँ और हीनताएँ होती हैं। व्यक्ति इस समाज का या अखिल सृष्टि का एक सदस्य है, अतः उसमें बहुत सी सामान्यताएँ यानी कि एकरूपताएँ प्राप्त होती हैं, किंतु व्यक्ति व्यक्ति के अपने भी कुछ सत्य होते हैं जिन्हें वही जोता है। सामाजिक जीवन को इन व्यक्तिगतों की विशेष परवाह नहीं होती, किंतु व्यक्ति का जीवन इन सत्तों के आधार पर बहुत कुछ बनता बिगड़ता है, अर्थात् व्यक्ति के जीवननिर्माण में उसके निजी सत्तों का बड़ा हाथ होता है। इसलिये व्यक्ति को हम मात्र सामाजिक जीवन की यांत्रिक इकाई के रूप में नहीं

देख सकते, उसे समाजविशेष का प्रतिनिधि मानते हैं, उसके अंतर्मन में अंतर्निहित उसकी विशिष्टताओं को, उसके बाहरी व्यक्तित्व के भीतर निहित उसके भीतरी व्यक्तित्व को देखना भी हमारे लिये (विशेषतया साहित्यकार के लिये) अनिवार्य होता है। तभी यथार्थ का व्यापक और सच्चा स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। इसी को प्रेमचंद ने एकता में अनेकता और अनेकता में एकता कहा है। इन दो प्रकार की यथार्थ चेतनाओं को अलग अलग ढंग से आधुनिक काल के दो मनीषियों (मार्क्स और फ्रायड) ने आत्यंतिक मुखरता प्रदान की। साहित्य में मार्क्स के अनुयायियों ने सामाजिक यथार्थ को विशेष महत्ता प्रदान कर व्यक्ति के अंतर्मन के एकांत सत्त्यों को उपेक्षित सा कर दिया। दूसरी ओर फ्रायड के अनुयायियों ने व्यक्ति के एकांत सत्य को ही चरम सत्य मानकर उसी के एकांत विश्लेषण में अपने को प्रवृत्त किया और व्यक्ति को विराट् जीवनप्रवाह से काटकर जैसे अलग कर दिया। हिंदी के सबसे पहले यथार्थवादी उपन्यासकार होकर भी प्रेमचंद ने यथार्थ को बहुत ही सही रूप में परखा। उनका यथार्थबोध न तो प्रकृतिवादियों की तरह मनुष्य को पाशव वृत्तियों का शिकार मात्र मानकर अश्लीलता और विकृत नग्नता के उद्घाटन में कृतकृत्यता अनुभव करता है, न वह मनोविश्लेषणशास्त्रियों की तरह व्यक्ति के एकांत सत्य को चरम सत्य मानकर जनजीवन निरपेक्ष साहित्य की रचना में प्रवृत्त होता है और न उग्र समाजवादियों की तरह व्यक्ति को सामाजिक जीवन की एक यांत्रिक इकाई मानकर सामाजिक जीवन को एक विशेष प्रकार की समाजवादो दृष्टि से प्रस्तुत करता है। प्रेमचंद किसी भी वाद की एकांगिता से पीड़ित न होकर अपने पूरे युग और समाज को उसकी समस्त जटिल वास्तविकता के साथ पकड़ लेना चाहते थे। इसलिये एक ओर वे सामाजिक यथार्थ को उसके विविध स्वरूपों में प्रस्तुत कर रहे थे, दूसरी ओर विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों और संस्कारों में पले व्यक्तियों को मानसिक गहराइयों में पैठकर मनसत्त्यों का उद्घाटन कर रहे थे। अर्थात् प्रेमचंद ने यथार्थ के दोनों आयामों—सामाजिक और व्यक्तिगत—को उभारा और उभारा ही नहीं, उत्कर्ष दिया। इसलिये यथार्थ निरूपण के क्षेत्र में प्रेमचंद का महत्व केवल ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं है, स्थायी साहित्यिक मूल्यों की दृष्टि से भी है।

जब हम कहते हैं कि प्रेमचंद ने अपने युग और समाज को सच्चाई से देखा परखा है तो हमें उस युग और समाज के बुनियादी सत्त्यों की ओर दृष्टिपात कर लेना चाहिए जो जीवन की बनावट के मूल में निहित थे। प्रेमचंद का उपन्यास-लेखन-काल उर्दू में तो सन् १९०४ से ही शुरू होता है किंतु हिंदी में सन् १९१८ से 'सेवासदन' के प्रकाशन काल से प्रारंभ होता है। अंत होता है १९३६ में—उनकी मौत के साथ। यह युग राष्ट्रीय और सामाजिक उथल पुथल का युग था। यह संक्रांति काल था दो प्रकार की संस्कृतियों का, दो प्रकार के मूल्यों का। साथ ही साथ संघर्ष काल था साम्राज्यवाद से राष्ट्रवाद का, सामंती सभ्यता से महाजनी सभ्यता का, सामंती और महाजनी दोनों सभ्यताओं से शोषित किसानों और मजदूरों की शक्तियों का। राजनीतिक क्षेत्र में उथल पुथल मची थी। पराधीन भारत साम्राज्यवादी ब्रिटिश राज्य से मुक्त होने के लिये तड़प रहा था। कांग्रेस उसकी तड़प, आकांक्षा और प्रयत्नों का सक्रिय रूप थी। कांग्रेस का नेतृत्व गांधी जी के हाथ में था जो सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह के शस्त्र लेकर राजनीति में आए थे। गांधी जी के इन शस्त्रों का मूल्य राजनीति के लिये ही नहीं था, पूरे जीवन के लिये था, अतः जीवन का हर क्षेत्र गांधी जी से प्रभावित हुआ। सत्य, अहिंसा का स्वाभाविक

परिणाम यह था कि सशस्त्र क्रांति या हिंसात्मक क्रांति के बदले राजनीति में सत्याग्रह, समझौता, निवेदन, सहयोग आदि को प्रमुखता मिली हुई थी, लेकिन कांग्रेस के भीतर उग्रवादियों का भी एक दल था जो रह रहकर जोर मारता था और सन् ३० के बाद तो कांग्रेस के भीतर से ही विद्रोही तत्व उभरने लगे थे जो समाजवाद को ओर उन्मुख होने लगे थे। कहने का अर्थ यह है कि ब्रिटिश शासन के अत्याचार, दमन, दुर्व्यवस्था, भेदभावमूलक नीति के कारण देश तबाह हो रहा था। अकाल था, बीमारियाँ थीं, आपसी कलह था, टैक्सों की वृद्धि थी, जनता में भय और त्रास व्याप्त था। अंग्रेजी शासन के मन में भारतीय जनता के हित और विकास के लिये तनिक भी चिंता नहीं थी। शिक्षा दीक्षा का प्रयोजन ऐसे क्लकों और कर्मचारियों को पैदा करना था जो उनकी ओर से भारतीय जनता में काम कर सकें। अंग्रेजी शिक्षा दीक्षा का कार्य चंद भारतीय लोगों में शेष जनता के प्रति रुझान का भाव भरना था। इन विषम परिस्थितियों के बीच कांग्रेस के नेतृत्व में भारतीय जनता स्वाधीनता के लिये संग्राम कर रही थी। अंग्रेजों ने एक काम किया कि उन्होंने पहली बार राजनीतिक दृष्टि से समूचे भारत को एक किया। स्वाधीनता आंदोलन ने इस एकता का लाभ उठाया और समूचे भारत की जनता में राष्ट्रीय स्वाधीनता की चेतना जगा दी। यह एक अद्भुत एकता और जनक्रांति थी।

सामाजिक क्षेत्र में कई वर्गों की आपस में टकराहट हो रही थी। सामंतवादी समाज और महाजनी समाज की आपस में टकराहट तो थी ही, साथ ही सामंतों यानी जमींदारों और किसानों, पूँजीपतियों और मिल मालिकों की आपस में टकराहट हो रही थी। पूँजीवादी यानी महाजनी सभ्यता उदित हो रही थी, जमींदारी प्रथा भी देश में थी ही। महाजनी सभ्यता सामंती मूल्यों को निस्सार सिद्ध कर रही थी। जमींदारी प्रथा वास्तव में सामंती सभ्यता का ही एक अंग है। महाजनी सभ्यता के नाते शहरों में कल कारखाने कायम हो रहे थे और सामंती रूढ़ियाँ चरमराकर टूटने को हो रही थीं। छूआछूत, जाति पाँति आदि का भेदभाव धीरे धीरे समाप्त हो रहा था। सामंतकालीन अभिजात भावना खोखली सिद्ध हो रही थी। धर्म की महत्ता और देशी रियासतों के राजे महाराजों की महत्ता नई सभ्यता और साम्राज्यवाद को आने से रोक नहीं सकी, उसको निस्सारता प्रमाणित हो गई। अब तक देश को जो संपत्ति राजों, सामंतों और जमींदारों के हाथों में केंद्रित थी वह अब शहरों के उद्योगपतियों के हाथों में आने लगी। इस प्रकार इन दोनों के बीच एक टकराहट दिखाई पड़ती है। किंतु हमारे देश में स्वदेशी पूँजी का विकास नहीं हो सका। पराधीन देश में जो पूँजी विकसित हुई थी वह मुख्यतः विदेशी थी, इसलिये हमारे देश में महाजनी सभ्यता के परिणामस्वरूप वह उत्साह और मुक्ति का आनंद लक्षित नहीं हुआ जो इंग्लैंड आदि पश्चिमी देशों में पूँजीवाद के आने पर लक्षित हुआ था। विदेशी पूँजीवाद को विदेशी साम्राज्य की शक्ति प्राप्त थी और यह साम्राज्य सामंतों, जमींदारों से उनकी भूमि की मालगुजारी लेकर अपने को और विदेशी पूँजीवाद को अधिक मजबूत बना रहा था। जमींदार मध्यस्थ था यानी वह किसानों से भूमिकर लेता था और सरकार को भूमिकर देता था। इस प्रकार किसानों से इतना लगान लेता था कि वह स्वयं भी मीज कर सके और सरकार को भी दे सके। प्रकारांतर से किसान अपने खून से जमींदारों और साम्राज्यवादी सरकार तथा सरकार की गोद में पलते हुए पूँजीवाद इन सबको सोंच रहे थे। किसानों का सोचा संबंध जमींदारों से था, किंतु सरकारी अहंकार भी प्रायः किसानों के

पास आया ही करते थे और तरह तरह से इन्हें परेशान करते थे । इनकी हड्डियों से पैसे निचोड़ते थे । किसानों का शोषण करने के लिये और भी अपशक्तियाँ विद्यमान थीं । महाजनो सभ्यता का बृहद् रूप शहरों में था, मगर छोटे छोटे साहूकारों और ऋणदाताओं के रूप में देहातों में भी कुछ छटा दिखा रहा था । ये छोटे छोटे बनिये और सूदखोर महाजन किसानों को ऋण के जाल में उलझाते थे, उनके घर द्वार नोलाय करारते थे, उनके अनाज खलिहान से तोलवा लेते थे । इसके अलावा धर्म भी उनका शोषण कर रहा था । किसान अपनी अज्ञाता और अशिक्षा के कारण सबका जुलम सहते हुए भी खामोश थे । उनके मन में असंतोष था लेकिन उसे उभार नहीं पाते थे क्योंकि धर्म का एक रूढ़, डरावना रूप उनके सामने था । वे धर्मभीरु थे और धर्म अपनी मानवीय महत्ता खोकर गरीब इंसान को शिकंजे में जकड़नेवाला अधविश्वास और रूढ़ि मात्र रह गया था । इसी धर्म ने किसान को इतना सहिष्णु और कुंठित बना दिया था कि वे हर जुलम को अपने पाप का फल मान लेते थे और जमींदार को, पंडित को, पुरोहित को, शोषक प्रथाओं को धर्म के नाम पर सिर मथे ओढ़े हुए थे । पंडितों का धर्म किसानों का खून चूसने का धर्म था, इसीलिये 'गोदान' में पंडित दातादोन जीवन भर तो होरी का खून चूसता ही है, मरने पर भी गोदान कराकर धनिया को रहो सहो कमाई चूब लेता है और वह भी धर्म के नाम पर । किसान अपनी पोड़ाओं से परेशान होकर 'मजूर' होते जा रहे थे । गोदान का गोबर इसी दिशा को ओर संकेत करता है, 'पूस की रात' कहानो का हलकू भी मजूरी के जीवन को किसान जीवन से अच्छा कहकर मानी इसी सत्य को व्यक्त कर रहा है ।

पूँजोपति और मजदूर भारत में ये दो नये वर्ग बनने लगे थे । महाजनो सभ्यता के परिणामस्वरूप यह नया वर्ग विभाजन अस्तित्व में आया था । मजदूर वर्ग किसानों के समान ही शोषित था । शहरों के गंदे वातावरण में उनका जीवन कोड़ों को तरह बिलबिला रहा था । इस वातावरण में इनको अपनी समस्याएँ थीं, मगर ये किसानों को अपेक्षा अधिक जागरूक थे, इनके संगठन थे, इनके संगठनों का नेतृत्व करनेवाले पढ़े लिखे नेता थे । ये किसानों के समान अपने मालिकों के निकट संपर्क में नहीं थे । किसानों के मन में अपने शोषक मालिकों के प्रति संपर्कजन्य मुरोवत का भाव विद्यमान था या रूढ़ धर्म ने उन्हें यह सिखाया था कि उनके मालिक ईश्वर के प्रतिनिधि और अन्नदाता हैं । मजदूरों के मन में अपने मालिकों के प्रति यह मुरोवत का भाव नहीं आ सकता था । स्वयं महाजनो सभ्यता ने धर्म के रूढ़ स्वरूप को तोड़कर प्रत्येक व्यक्ति के विकास और महत्ता का स्वर मुखर किया था । महाजनो सभ्यता में बाजार का मुख्य स्थान था । बाजार का अर्थ है लेन देन, यानी चीजों की महत्ता का आकलन उनके बाजार मूल्यों द्वारा होने लगता है । मिल मालिकों और मजदूरों के संबंधों में धर्म का स्थान नहीं था, एक स्पर्धा का भाव था—स्पर्धा यानी बाजार की स्पर्धा । पूँजोपति बाजार में मजदूरों के श्रम को कम कर उससे अधिक से अधिक मुनाफा पाने का प्रयत्न कर रहा था; दूसरी ओर मजदूर अपना श्रम बेचकर उससे जीवन जीने की पर्याप्त सुविधा पाना चाहते थे । तनाव यहीं पैदा होता था, हड़तालें होती थीं, तोड़ फोड़ होती थी, मगर गांधी जी के सत्याग्रह के सिद्धांत के नाते हड़तालें प्रायः शांतिपूर्ण ढंग से ही होती थीं । सभाएँ होती थीं, साम्राज्यवादी सरकार मजदूरों पर गोलियों पर गोलियाँ दागती थी । जमींदार और पूँजोपति जैसे अभिजात वर्ग या उच्च वर्ग तथा किसान और मजदूर जैसे निम्न वर्ग के अतिरिक्त एक वर्ग और था—वह था

मध्य वर्ग । मध्य वर्ग की अपनी समस्याएँ थीं । वह उच्च वर्ग के स्तर पर आने का स्वप्न-कल्पी था, परन्तु उसका आर्थिक घरातल निम्न वर्ग से बहुत ऊँचा नहीं था । उच्च वर्ग के पास अपनी इच्छाएँ पूरी करने के पर्याप्त साधन थे, उसके पास शक्ति थी, प्रभुता थी, उसका जीवन-स्तर बहुत ऊँचा था । निम्न वर्ग की आमदनी मध्य वर्ग की अपेक्षा कम थी, किन्तु एक तो निम्न-वर्गीय परिवार के सारे सदस्य (औरत हो या मर्द) अर्थ उपार्जन में भाग लेते हैं, दूसरे उनकी आकांक्षाएँ और आवश्यकताएँ सीमित होती हैं । अतएव वे अपनी गरीबी की स्थिति में भी अधिक असंतुष्ट और मनसा रुग्ण नहीं दिखाई पड़ते । किन्तु मध्यवर्गीय परिवारों में कमानेवाले पुरुष होते हैं, पुरुषों में भी सभी नहीं कमाते । जिसे नौकरी मिल पाती है वही कमाता है, शेष लंबा परिवार उसको आमदनी पर निर्भर रहता है । औरतें तो एक प्रकार से निष्क्रिय ही रहती हैं । कितनी भी औरतें परिवार में हों, बस घर के भीतर का सीमित कार्य वे देखती रहती हैं । उच्च वर्गों की भीड़ो नकल करनेवाले मध्यवर्गीय परिवारों की स्त्रियों को तो घर के भीतर आमोद प्रमोद करना, सस्ती बिलासिता में ग्रस्त रहना ही जीवन का उद्देश्य प्रतीत होता है । चूँकि मध्यवर्गीय परिवारों की आर्थिक स्थिति खोखली होती है और उनकी इच्छाएँ उच्चवर्गीय लोगों की तरह उच्च होती हैं, एक मिथ्या मान संमान आर वड़प्पन का बोध उन्हें ग्रस्त किए रहता है, अतः इन परिवारों में प्रदर्शन, खोखले दिखावे का बड़ा स्थान होता है । आर्थिक अभाव, ऊँचे अरमान, वड़प्पन की मिथ्या भावना, मिथ्या प्रदर्शन, इन सारे चक्रों में पिसते हुए मध्य वर्ग को अपनी अनेक जटिल समस्याएँ हैं । मध्यवर्गीय व्यक्ति ऊँचे वर्गों के व्यक्तियों के मानसिक घरातल से अपने मानसिक घरातल को कम नहीं समझता । यह सत्य भी है । मध्य वर्ग का बौद्धिक और मानसिक स्तर उच्च वर्ग के स्तर से नीचे नहीं होता । मध्य वर्ग का बुद्धि-जीवी संवेदनशील व्यक्ति जब देखता है कि उससे कम बुद्धिशाली तथाकथित उच्चवर्गीय लोग सुख सुविधाओं में डूबे हुए हैं, अच्छे स्तर की जिंदगी जी रहे हैं, तो उसके मन में असंतोष पैदा होता है, निरंतर एक अशांति और अतृप्ति का भाव उसे भीतर से झकझोरता रहता है परन्तु वह कुछ कर नहीं पाता । वह न तो मजदूरों की तरह अपने संगठन बनाकर कोई क्रांति कर पाता है और न उच्चवर्गीय सुख सुविधा के स्तर तक पहुँच पाता है । अतएव वह कुंठा का शिकार होता है, मानसिक रोगों से ग्रस्त होता है । वह न ऊपर को उठ पाता है, न नीचे आकर संगठित मजदूरों के साथ मिलकर क्रांति ही कर पाता है । वह अपेक्षाकृत अन्य वर्गों के पुराने जीवनमूल्यों से अधिक चिपका रहता है । वह चाहे या न चाहे अपनी सामाजिक मर्यादा सुरक्षित रखने के लिये प्रचलित सड़ी गली सामाजिक, धार्मिक मान्यताओं को उसे ओढ़ना ही पड़ता है । इसीलिये हम पाते हैं कि धर्म, परंपरा, नारी पुरुष के संबंधों से संबंधित जीवनमूल्यों के क्षेत्र में जितनी घुटन मध्य वर्ग में है उतनी कहीं नहीं । दहेज समस्या, विधवा समस्या, विवाह समस्या (बाल विवाह, वृद्ध विवाह समस्या), परिवार में नारी की दयनीय स्थिति की समस्या, शान शीकृत की समस्या आदि अनेक समस्याएँ मध्य वर्ग को विशेष रूप से पीड़ित कर रही हैं । वेश्याजीवन की समस्या को भी मध्य वर्ग को ही एक समस्या मान सकते हैं । इन समस्याओं को हम प्रेमचंद के 'सेवासदन', 'निर्मला' और 'गबन' में बड़ी तोव्रता से उद्घाटित होते हुए पाते हैं ।

प्रेमचंद के समय के भारत का यह राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक चित्र प्रस्तुत करने

का उद्देश्य उस काल के समूचे यथार्थ को एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करना था । कहा गया है कि प्रेमचंद यथार्थवादो कथाकार थे । यथार्थ को उन्होंने बड़े व्यापक सामाजिक परिवेश में स्वीकार किया था । अतः हम देखेंगे कि प्रेमचंद के कथा साहित्य में तत्कालीन भारत को यथार्थ चेतना के प्रायः समस्त आयाम उद्घाटित हुए हैं । यदि हम सूक्ष्मता से विश्लेषण करें तो पाएंगे कि वर्तमान काल का सारा जीवनमूल्य अर्थ पर ठहरा हुआ है । प्राचीन काल का भारतीय जीवन-मूल्य धर्म पर आधारित था अर्थात् जीवनमूल्यों का निर्णय धर्म करता था—भले ही मध्य काल में उसका रूप विकृत हो गया था और धर्म के नाम पर पापाचार होने लगे थे फिर भी धर्म भले या बुरे रूप में जीवनमूल्यों के तौर पर स्वीकृत था । आधुनिक काल में वैज्ञानिक भौतिकवादी चेतना के जागने पर तथा महाजनो सभ्यता के अस्तित्व में आने पर धर्म जीवनमूल्यों का निर्णायक नहीं रहा । वह क्रमशः विकृत तो हो ही गया था, मध्य काल से ही यह अपने आंतरिक मूल्य को छोड़कर कर्मकांड, बाह्याचार, अंधविश्वास रूढ़ि और निर्जीव मान्यता के रूप में शेष रह गया था । उसके पोछे मानव को स्थूल प्रयोजनों से ऊपर उठाकर उदात्त भाव-भूमिका पर प्रतिष्ठित करने की जो शक्ति थी, वह चुन गई थी । आधुनिक काल की भौतिकवादी दृष्टि ने धर्म के इस जर्जर, रूढ़ और बाह्य विधानबद्ध रूप को चुनोती दो । आधुनिक काल के प्रारंभ में दोनों का संघर्ष बड़े तोवर रूप में सामने आता है । भौतिकतावादो दृष्टि में जीवन-मूल्यों का निर्माता अर्थ है । अधिक संबंध ही हमारे समाज में तरह तरह के निर्णय कर रहे हैं । उत्पादन के साधनों के आधार पर समाज के संबंध बन रहे हैं और इन संबंधों के आधार पर ही हमारी सभ्यता, संस्कृति विकसित हो रहा है । धर्म का अंकुश हट गया है, अर्थ का अंकुश प्रधान हो गया है । 'धर्म, दान, शील, सत्य, निष्ठा', संयुक्त पारिवारिक जीवन को निस्वायं एकता आदि के स्थान पर महाजनो सभ्यता का पत्रा मंत्रबूत होता जा रहा था जिसमें प्रेम, न्याय, भ्रातृप्रेम, पारिवारिक स्नेह आदि सभी कुछ धन को तुला पर तुलने लगा या, धोखा-घड़ी, झूठ, खुशामद और बाह्याडंबर हो जिसमें सांसारिक उन्नति के साधन बन गए थे । पारिवारिक जीवन, शिक्षालय, अदालत, कचहरा और दफ्तर कोई भी इस महाजनो सभ्यता के संक्रमण से अछूते न बचे थे ।'

प्रेमचंद ने इस संक्रमण को भली भाँति पहचाना था । वे निश्चय ही विचारों और संस्कारों से मूल भारतीय आदर्शों के पोषक थे परंतु एक यथार्थवादो कलाकार की हैसियत से समाज में व्याप्त पुराने नए मूल्यों के संघर्षों, पुराने जर्जर मूल्यों के विघटन और नए भौतिकवादी मूल्यों की उत्तरोत्तर प्रतिष्ठा को आँख से ओझल नहीं कर सकते थे । प्रश्न कलाकार की रूचि अरुचि का नहीं था, प्रश्न उसकी ईमानदारी का था । प्रेमचंद जो ने बड़े ही स्पष्ट रूप से धर्माधारित मूल्यों को विघटित और अर्थवादो मूल्यों को प्रतिष्ठित होते हुए देखा । उनको 'कफन' कहानो में इस यथार्थ का बड़ा तोखा स्वरूप दिखाई पड़ता है जहाँ बाप बेटे अपने घर की बहू के कफन के पैसे से मिठाइयाँ खाते हैं और शराब पीते हैं । प्रेमचंद के उपन्यासों में समस्याएँ तरह तरह की हैं, तरह तरह के वर्ग और समाज चित्रित हैं किंतु सबके मूल में मानो आर्थिक समस्या हो अंतःसलिला की भाँति बहती रहती है ।

प्रेमचंद ने यथार्थवादो कलाकार की धर्मिता तो निबाही ही है साथ ही साथ वे अपनी रूचि

अरुचि से भी निस्मंग नहीं हो सके हैं । यथार्थ को ज्यों का त्यों स्वीकारना यथार्थवादी कलाकार के लिये पहली शर्त है, किंतु वह अपने निर्णयों से, मूल्यों के सापेक्षिक विश्लेषणों और उनकी महत्ताओं के निर्धारणों से सदैव अपने को मुक्त नहीं कर पाता । मुक्त करना चाहिए भी या नहीं, यह एक चर्चास्पद विषय है किंतु यह सत्य है कि बहुत से कलाकार मुक्त नहीं हो पाते । टी०एम० इलियट तो आत्मा की अभिव्यक्ति को नहीं बरन् आत्मा से मुक्ति को ही कला मानता है । खैर, प्रेमचंद ने समस्याओं को उनके सही रूप में देखा है, यथार्थ के जटिल स्वरूप को पूरी सच्चाई के साथ पहचाना और चित्रित किया है किंतु वे इस अर्थवादी संस्कृति के हिमायती नहीं थे । मूलतः वे उस भारतीय संस्कार के थे जो सेवा, त्याग, परोपकार, संतोष, सत्याचरण आदि विशेषताओं का पुंजीभूत रूप है । प्रेमचंद देख रहे थे कि भारतीय समाज अपनी ये विशेषताएँ खो चुका है । जो कुछ बचा है इनका विकृत रूप है । नए काल में इनका विघटन हो रहा है । पश्चिम से आई हुई भौतिकवादी अर्थमूला संस्कृति ने इन प्राचीन मूल्यों के अवशेषों को छिन्न भिन्न कर दिया है किंतु यह संस्कृति वास्तव में कोई नया उदात्त मानवीय मूल्य स्थापित करने के स्थान पर अर्थोत्पादन की अदम्य लालसा, भौतिक सुख समृद्धि की अपार तृष्णा, दान, त्याग सेवा के स्थान पर असीम धनसंचय की जघन्य भूख और इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये लूट खसोट, घूसखोरी, बेईमानी, असत्याचरण, ढोंग, फरेब आदि साधनों को स्वीकृति देती हुई दिखाई पड़ो । परिणाम यह हुआ कि मनुष्य (और सच पूछिए तो मनुष्यों का एक वर्ग) ऊपर ऊपर से समृद्ध होता गया, भीतर भीतर से रिक्त, दरिद्र और हीन । प्रेमचंद ने संक्रांतिकालीन मूल्यों के संघर्षों को पहचाना ही नहीं, निर्णय के अधिकार को भी अपने पास सुरक्षित रखा । इसलिये उन्होंने विघटित होते हुए तत्कालीन जर्जर भारतीय मूल्यों को ठोकर मारी और स्थापित होते हुए भौतिकवादी मूल्यों के भी खोखलेपन को चोरकर रख दिया किंतु साथ ही साथ उन्होंने मानव की उन मूल भावनाओं के प्रकाश को भी इस अंधकार और विखराव के भीतर से उजागर किया जो भारतीय मनोपा के चिंतन मनन और आचरण का सुंदर परिणाम रही है । सेवा, त्याग, सहानुभूति, प्रेम, सत्याचरण आदि भारतीय विशेषताओं को प्रेमचंद बार बार अपनी कृतियों में ध्वनित करते हैं । इन विशेषताओं के अभाव में मानव की समस्त भौतिक जययात्रा ही निष्फल सिद्ध हो जाएगी । प्रेमचंद ने इस सत्य को बड़ी बारीकी से पकड़ा था कि मानवीय विशेषताएँ आज के तथाकथित बड़े लोगों में अवशिष्ट नहीं रह सकी हैं । तथाकथित बड़े लोग तो पद, यश, धन की लिप्सा में बुरी तरह पीड़ित होकर दुहरा जीवन जो रहे हैं । बाहर महानता का स्वाँग करते हैं, भीतर से वे अत्यंत स्वार्थी, गंदे और घृणित लोग हैं । प्रेमचंद जो हर समय इन तथाकथित बड़े लोगों का ऊपरी चोंगा भरी सभा में उतारकर उन्हें नंगा कर देते हैं और तथाकथित छोटे लोगों (जो जड़ भौतिकवादी सभ्यता के सोने चाँदी के ईंट पत्थर के बीच घिरकर जड़ नहीं हो गए हैं, जो ऊपर से अभी भी गरीब और उपेक्षित हैं) के हृदय के भीतर बहती सेवा, त्याग, प्रेम और सत्य की ज्योति को उनकी बाहरी गंदगी, अज्ञानता और लघुता के बीच से प्रकाशित कर देते हैं । मानवता की वास्तविक ज्योति इन हृदयों में बची है, ऐसा प्रेमचंद कहना चाहते हैं । प्रेमचंद की यह कला यथार्थ-पात्र-निरूपण और मानव-मूल्य-स्थापन दोनों दृष्टियों से बड़े महत्व की है । इन पात्रों के माध्यम से जो मानव मूल्य स्थापित होते हैं वे बड़े ही कलात्मक और यथार्थवादी होते हैं

किंतु प्रेमचंद इन मानव मूल्यों की स्थापना के लिये एक और उपाय अस्तित्व पर करते हैं— उपन्यासों के अंत में कल्पित आदर्शवादी समाधानों की स्थापना। ये उपन्यासों के अंत में जो समस्याओं का सुखद समाधान उपस्थित करते हैं वह पीड़ित मानवता के प्रति उनके मन की पीड़ा तथा उसका समाधान खोजने की आकुलता का परिचायक हो सकता है, किंतु यथार्थ की दृष्टि से हलका लगता है। यथार्थ का इतना गहन चित्र उपस्थित करने के पश्चात् जब उपन्यासकार पात्रों के हृदयों को बदलकर सारी समस्याओं को एक कल्पित समाधान के आश्रय में बिठा देता है तो लगता है कि कुछ अवास्तविक हो गया है, उपन्यास का यथार्थ सौम्य संत बन गया है। यथार्थवादी कलाकार कभी भी अनैतिहासिक सत्यों को कला पर नहीं लादता। ऐसा करने से कला अपना प्रभाव खो देती है। प्रेमचंद के प्रायः सभी उपन्यासों में (‘गोदान’ को छोड़कर) अंत में दुष्ट क्रूर पात्रों को सहृदय बनाया गया है और सबके सहयोग से एक ऐसे वातावरण की सृष्टि की गई है जहाँ सभी लोग हिल मिलकर प्रेम से, सहानुभूति से रह सकें। इतिहास ने यह सिद्ध किया है कि प्रेमचंद का समाधान बहुत यथार्थ नहीं था क्योंकि उन्होंने भविष्य की कल्पना की थी, उसे देखा नहीं था।

‘सेवासदन’ (१९१८) प्रेमचंद का पहला उपन्यास है। यद्यपि इसके पहले वे ‘प्रेम’ नामक उपन्यास लिख चुके थे तथापि वह इनके उर्दू उपन्यास ‘हमखुरमा व हमसबाव’ का अनुवाद है जिसमें हिंदू समाज की एक बहुत बड़ी समस्या—विधवा समस्या—को चित्रित किया गया है। उपन्यास-कला की दृष्टि से यह बहुत महत्व का उपन्यास नहीं है, दूसरे, यह इनके उर्दू उपन्यास का अनुवाद है इसीलिये ‘सेवासदन’ को ही इनका पहला महत्वपूर्ण उपन्यास मानना ठीक है। ‘प्रेम’ कला की दृष्टि से सही, प्रेमचंद की प्रवृत्ति स्पष्ट करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यानी यह ज्ञात होता है कि प्रेमचंद शुरू से ही सामाजिक समस्याओं को लेकर चले थे। ‘सेवासदन’ उपन्यासकला और समस्या की पकड़ तथा चित्रण दोनों दृष्टियों से पहला परिपक्व उपन्यास है।

प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में तत्कालीन भारत के प्रायः सभी वर्गों की सभी प्रकार की समस्याएँ उठाई हैं। मध्य वर्ग और निम्न वर्ग तो अपने समस्त परिवेश के साथ अंकित हैं ही, उच्च वर्ग भी काफी मात्रा में आया है। प्रेमचंद ने समाज की विभिन्निकाओं को स्वयं भोगा था, अभाव के कटुतम रूपों को जिया था, जीने के लिये स्वयं जीवन भर संघर्ष किया था। अतः वे जानते थे कि गरीबी क्या होती है, दुःख क्या होता है, संघर्ष क्या होता है। अनुभव की आँख ने इनके कथा साहित्य को सच्चाई और प्रखरता प्रदान की है। साथ ही साथ वे सामाजिक संघर्ष के योद्धा भी थे। इसलिये उन्होंने मध्य वर्ग और निम्न वर्ग की समस्त पीड़ाओं और पीड़ाओं में उभरती उनकी मानवीय ज्योति और अंधकार दोनों को देखा था। तीसरी बात यह थी कि उनके पास युगदर्शन था। अपनी यथार्थवादी दृष्टि से वे समस्याओं के असली स्वरूप को पहचान लेते थे। उनके समाधान में वे आदर्शवादी हो उठते थे, यह दूसरी बात है। युगीन यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण ही वे हर वर्ग के असली स्वरूप और उसकी समस्याओं का सही विश्लेषण कर लेते थे। यह आकस्मिक नहीं है कि प्रेमचंद ने अपने साहित्य में पीड़ित नारी के दर्द को सबसे अधिक उभारा है। यह लेखक की मानवतावादी दृष्टि तो है ही, साथ ही साथ यह घोर सत्यवादी दृष्टि भी है। जो पीड़ित वर्ग हैं वे तो पीड़ित हैं ही, उन पीड़ित वर्गों की नारी स्वयं उनसे भी पीड़ित है। इस प्रकार वह दुहरे रूप में पीड़ित है।

‘सेवासदन’ की समस्या मध्यवर्ग से संबंधित है। कहा जा चुका है कि आज की बहुत सी सामाजिक समस्याओं के मूल में अर्थवादी मूल्य काम कर रहा है। अतः देखा जा सकता है कि इन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक प्रश्नों के मूल में आर्थिक समस्या ही है। ‘सेवासदन’ में वेश्याजीवन को एक सामाजिक संदर्भ में देखा गया है। वेश्याजीवन पुरुष के लिये एक लुभावनी चीज रही है परंतु यथार्थवादी कलाकार ने इस लुभावनी चीज के नीचे छिपी नारीजीवन की गहनतम प्रतारणा, अवमानना को उद्घाटित कर उन मूल कारणों पर प्रकाश डाला जो हमारे मध्यवर्गीय स्त्रीसमाज को वेश्या बनने के लिये विवश कर देते हैं और लेखक ने हमारे पुरुष-समाज के रंग बिरंगे नकाब पहने हुए तमाम धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक पुण्यपुरुषों को भरी सड़क पर नंगा कर दिया और उन सामाजिक कुरीतियों पर तेज रोशनी डाली जो हमें ऊपर से शरीफ और नीचे से जानवर बनाए हुए हैं। आर्थिक विपमता समाज का सबसे बड़ा अभिशाप है। वही अन्य समस्याओं को बुनती हुई दीखती है। ‘सेवासदन’ में ‘सुमन’ का दारोगा पिता ईमानदार नहीं रहने पाता क्योंकि उसे ‘सुमन’ की शादी में दहेज देना है। सुमन जैसी सुंदरी शीलवान कन्या की भी सुपात्र के साथ शादी नहीं हो सकती, क्योंकि पिता के पास पैसे नहीं हैं। पैसे क्यों नहीं हैं क्योंकि पिता ईमानदार है। दहेज देने के लिये पैसे चाहिए। सुमन के पिता कृष्णचंद्र घूम लेते हुए पकड़े जाते हैं और उनको जेल जाना पड़ता है। उनका कोई भी उच्च मानवीय मूल्य उनका सहायक नहीं होता। उनकी सारी अर्जित श्री ध्वस्त हो जाती है। सुमन एक दरिद्र अपात्र के साथ व्याही जाती है। अपात्र पति की ताड़ना, संशय के दंश और कुछ सुमन की मानसिक प्रतिक्रियाओं ने उसे वेश्या बनने को मजबूर किया। पति गजाघर द्वारा निकाल दिए जाने पर वह निराश्रित हो गई और समाजसुधारक पं० पद्मसिंह के यहाँ आश्रय खोजने गई। पंडित जी उसे आश्रय देने का साहस न कर सके। आश्रय मिला उसे भोली वेश्या के यहाँ। समाज का मजाक देखिए कि नारी को निराश्रित कर देनेवाले, उसे ताड़ित करनेवाले लोग भद्र हैं, कुलीन हैं और उसे आश्रय देनेवाली वेश्या अभद्र है, गई गुजरी है। विडंबना का रूप यहीं समाप्त नहीं होता, और भी उलझता है। पुरुष अपनी इन नारियों को ताड़ित करते हैं और जब ये नारियाँ वेश्याएँ बन जाती हैं तो छिपकर उनका पाँव पखारने को तैयार रहते हैं। सामाजिक दृष्टि से जिन वेश्याओं को ये हीन समझते हैं उन्हीं को अकेले में अपने ऊपर ओढ़ने को तैयार रहते हैं। ऐसा लगता है जैसे नारी एक प्रतारणा से दूसरी में, दूसरी से तीसरी में और फिर चौथी, पाँचवीं में चलती रहती है। एक प्रतारणा से छूटती है तो दूसरी में फँस जाती है। प्रेमचंद ने नारीजीवन के इस तीखे सत्य को प्रस्तुत किया है। ‘सेवासदन’ में पद्मसिंह के रूप में मानो स्वयं प्रेमचंद जी कहते हैं—‘हमें उनसे (वेश्याओं से) घृणा करने का कोई अधिकार नहीं है। यह उनके साथ घोर अन्याय होगा। ये हमारी ही कुवासनाएँ, हमारे ही सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएँ हैं जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण किया है। यह दालमंडी, हमारे ही कलुषित जीवन का प्रतिबिंब, हमारे ही पैशाचिक अधर्म का साक्षात् स्वरूप है। हम किस मुँह से उनसे घृणा करें। उनकी अवस्था बहुत शोचनीय है। हमारा कर्तव्य है कि हम उन्हें सन्मार्ग पर लावें, उनके जीवन को सुधारें।’

‘सेवासदन’ में नारीजीवन की प्रतारणा का रूप तब और भयंकर हो उठता है जब वह

अपनी समस्त पवित्रता, सुंदरता और गुणधर्मिता के बावजूद अपने परिवारवालों के दोषों के कारण ठुकरा दी जाती है। सुमन की बहन शांता का विवाह हो रहा है मगर दरवाजे पर से बारात लौट जाती है जब यह मालूम पड़ता है कि वह सुमन की छोटी बहन तथा घूसखोरी के अपराध में जेल काटनेवाले कृष्णचंद्र की बेटी है। व्यक्तित्व की इतनी बड़ी अवमानना कितनी भयंकर है, घातक है। समाज की नैतिक शक्ति और चितनक्षमता कितनी गई गुजरी है कि एक ओर तो कृष्णचंद्र को घूस लेने को, सुमन को वेश्या होने को मजबूर करती है, दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व में अत्यंत सुंदर और पवित्र शांता को बहन और पिता के संबंधों के नाते त्याज्य और उपेक्षणीय समझती है। असंगतियों, अशक्तियों और जर्जर जीवनमूल्यों से ग्रस्त समाज 'सेवासदन' में मूर्तिमान हो उठा है, सबके मूल में आर्थिक विषमता है।

'सेवासदन' के पश्चात् 'प्रेमाश्रम' (सन् १९२२) आया। यद्यपि इन दोनों के बीच 'वरदान' नामक छोटा सा उपन्यास लिखा गया किंतु वह विशेष महत्व का नहीं है। 'प्रेमाश्रम' तत्कालीन समाज के जिस दूसरे सत्य को लेकर चला है वह सत्य है किसानों का जीवन। किसानों और जमींदारों के आपसी संबंधों ने किसानों के जीवन में अनेक प्रकार की समस्याएँ पैदा कर दी थीं। सच पूछिए तो इन समस्याओं के मूल में भी आर्थिक विषमता ही थी। जमींदारों प्रथा ने भूमि का ऐसा असंतुलित विभाजन कर दिया कि किसी के पास हजारों बीघे खेत हैं और कोई खेत हीन। इस विषमता का परिणाम था जमींदारों और किसानों के बीच आर्थिक असंतुलन। एक ओर सुख सुविधाओं का अंबार, दूसरी ओर दुःखों और असुविधाओं का भयंकर चोत्कार। विडंबना तो तब भयंकर हो उठती है जब इस विषमता को धार्मिकता का, न्याय का, अधिकार का जामा पहनाया जाता है और गरीब किसान अपना नादानी और धर्मनिरुद्धता के कारण इस अत्याचार को बरदाश्त कर लेते हैं। प्रेमचंद ने इस उपन्यास में आर्थिक विषमता के ऊपर आरोपित न्याय, अधिकार और धर्म के चोंगे को उतार फेंका और सच्ची वस्तुस्थिति का विश्लेषण करते हुए मानवीय न्याय और अधिकार की बात उठाई। प्रेमचंद की यह मानवतावादी दृष्टि सामाजिक यथार्थ पर आधारित है और सामाजिक यथार्थ यह है कि जमीन सबकी है। सभी यहाँ पैदा होते हैं। यह जमीन किसी के नाम लिखी हुई नहीं है, सभी इसके मालिक हैं और सच्चे अर्थों में तो इसका मालिक ईश्वर है जिसने इसे बनाया है या किसान है जो इसकी सेवा करता है। राजा तो केवल कर लेने का अधिकारी है क्योंकि वह देश की रक्षा करता है। किंतु राजा ने इस जमीन को जमींदारों के बीच बाँट दिया है। जमींदार बीच के एजेंट हैं जो किसानों से सरकारी कर तो वसूलते ही हैं, अपने भोग विलास के लिये उनसे तरह तरह की सेवाएँ लेते हैं और पैसे वसूलते हैं। प्रेमचंद इस सत्य को नंगा करके सामने रखते हैं और सामाजिक चेतना की आँच घघकाते हैं। ये जमींदार अपने स्वत्वों पर जान देते हैं, कर्तव्य से अनभिज्ञ हैं, किसानों की नंगी हड्डियों की नींव पर महल खड़ा करते हैं।

प्रेमचंद ने इस विभीषिका को भी बहुत स्पष्ट रूप से पहचाना कि यह संघर्ष केवल किसानों और जमींदारों का नहीं है बल्कि समस्त सत्ताधारी वर्ग और गरीब निरीह किसान प्रजा का है। वास्तव में व्यक्ति नहीं, संस्थाएँ इस विभीषिका के मूल में हैं। संस्थाएँ जब तक समाप्त नहीं होतीं, दूसरी सामाजिक व्यवस्थाएँ नहीं स्थापित होतीं, तब तक शोषितों और शोषकों के ये संबंध चलते रहेंगे। और सभी शोषक संस्थाओं का मूल स्रोत है विदेशी शासन। ये सारी

शोषक संस्थाएँ स्वार्थ के स्तर पर एक दूसरे की सहायक हैं। सभी बारी बारी से एक दूसरे की मदद से किसानों को चूसती हैं। इसलिये 'प्रेमाश्रम' में जमींदारों के अत्याचार के साथ पुलिस-वालों के जुल्म, रक्षा के नाम पर तैनात अफसरों और उनके अधीनस्थ कर्मचारियों के अंधेर, साहूकारों की ठगी, वकीलों की स्वार्थपरायण क्षुद्रताओं और न्यायाधीशों के अन्यायों को जोड़ दिया गया है। प्रेमचंद की पैनी दृष्टि इस बात को पहचानती है कि एक ओर स्वार्थपरायण शोषक वर्ग चालाक हैं, पढ़े लिखे हैं, धूर्त हैं और स्वार्थ के स्तर पर एक हैं तो दूसरी ओर किसान भोले भाले हैं और छोटे छोटे स्वार्थों के लिये आपस में फूट पैदा कर लेते हैं। किंतु प्रेमचंद इसे भी स्पष्ट करते हैं कि किसानों की दरिद्रता, उनकी नादानी, आपसी फूट, ये सभी वर्तमान शासन द्वारा जान बूझकर पैदा किए गए हैं ताकि उनके रक्त और मांस पर शासन निश्चित भाव से प्रतिष्ठित रहे।

प्रेमशंकर आधुनिक चेतनासंपन्न (साम्यवादी चेतनासंपन्न) युवक है जो किसानों के लिये अपने अधिकार छोड़ देता है और ग्रामसेवा में जीवन व्यतीत करने का फैसला कर लेता है। यह पात्र सामान्यतः अस्वाभाविक लगता है किंतु उस काल की राष्ट्रीय चेतना और उभरते हुए समाजवादी विचारों के आलोक में देखें तो पाएँगे कि सामान्य रूप से प्रेमशंकर भले न दिखाई पड़ता हो किंतु वह निश्चित रूप से एक प्रकार की नई चेतना के रूप में विद्यमान था—यानी प्रेमशंकर के माध्यम से तत्कालीन सत्य का एक और आयाम उद्घाटित होता है जो भविष्य की संभावना मालूम पड़ता है।

रंगभूमि (१९२५)

रंगभूमि राष्ट्रीय उपन्यास है। इसमें एक विराट् राष्ट्रीय मंच पर उसकी बहुआयामी परिस्थितियों और चेतना को उपस्थित किया गया है। राष्ट्रीय स्तर पर तत्कालीन भारत की अनेक राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक समस्याएँ थीं। 'रंगभूमि' में इन सारी समस्याओं के संश्लिष्ट रूप को प्रस्तुत किया गया है। ये समस्याएँ एक दूसरे में से निकलती हैं, एक दूसरे को काटती हैं और एक ऐसा जाल बुनती हैं जिसमें सामान्य जन फँसकर तड़प रहा होता है। प्रेमचंद ने हमेशा राजनीतिक लड़ाई को आम आदमी से जोड़कर देखा। उन्होंने उस समय यह बात अच्छी तरह पहचान ली थी कि जो लड़ाई आम आदमी से कटी हुई है वह सही मायने में बड़े लोगों की लड़ाई है, देश की लड़ाई नहीं है और बड़े लोग इस लड़ाई के परिणामस्वरूप प्राप्त होनेवाली स्वाधीनता का सुख खुद ही भोगेंगे और आज यह बात सच हुई।

'रंगभूमि' का समय वह समय है जब हमारे देश में विदेशी सत्ता का बोलबाला था। इस विदेशी शासन में एक ओर देशी रियासतें थीं, राजे और सामंत थे, दूसरी ओर पूँजीवादो वर्ग की संरचना हो रही थी। पूँजीवाद का एक देशी रूप था, एक विदेशी। दोनों में टकराहट थी। किंतु आम आदमी या मजदूरों या सामंतवाद के विरुद्ध सत्ता इस पूँजीवाद को समर्थन देती थी। इस प्रकार देशी रियासतों और उनकी प्रजा, जमींदारों, सामंतों और किसानों, पूँजीपतियों और मजदूरों के बीच विषमता तथा तनाव व्याप्त था। शोषण का भयानक दौर चल रहा था। देशी रियासतों की हालत बदतर थी। राजे निहंयत भोगी और क्रूर थे, उनके यहाँ सुंदर राज्य-व्यवस्था नहीं थी अतः प्रजा एक ओर उनके शोषण से परेशान थी, दूसरी ओर उनकी भोग-प्रवृत्ति और अकर्मठता से उत्पन्न अराजकता तथा अव्यवस्था से। प्रेमचंद ने अपनी कथा को

राजस्थान के एक रियासत तक खींचकर इसी सत्य की अभिव्यक्ति करनी चाही है।

देश में कांग्रेस का नेतृत्व था। स्वाधिकारप्राप्ति का आंदोलन चल रहा था। गांधी जी के नेतृत्व में प्रजा में एक बहुत बड़ी शक्ति तरंगित हो उठी थी। सत्य अपना पूरा मूल्य चाहता है। सत्य के घरातल पर पूरा देश एक होने लगा। पुरुषों के साथ नारियाँ भी संग्राम में कूद पड़ीं और भारतीय जीवन का रंगमंच एक अद्भुत उत्साह और सक्रियता से भर उठा। स्वाधिकार की प्राप्ति का साधन था—सत्य, अहिंसा, आत्मबल। इसीलिये सत्ता या उन्माद के विरुद्ध चलनेवाला आंदोलन असहयोगात्मक और अहिंसात्मक था। रोष व्यक्ति के प्रति नहीं, क्रूर सत्ता और व्यवस्था के प्रति था। इसे बदलने के लिये आत्मबल, कुरबानी, प्यार आदि सात्विक वृत्तियों का सहाग लिया जा रहा था। गांधी जी हृदयपरिवर्तन में विश्वास रखते थे। 'रंग-भूमि' का सूरदास गांधी जी के बहुत निकट दिखाई देता है। वह गांधी जी की तरह ही बड़ी से बड़ी शक्ति से लोहा लेता है। वह अपने मानवीय अधिकारों और सत्य के लिये मर मिटता है लेकिन किसी के प्रति उसके मन में मैल नहीं है। वह जीवन को संसार के मंच पर खेला जानेवाला एक खेल समझता है। खेल में तो हार जीत लगी रहती है, हारने में विषाद क्या और जीतने में उल्लास क्या? क्या सच्चाई और ईमानदारी से खेलनेवाला अपना कार्य कर चलता है। अधर्म से खेलकर जीत ही गए तो क्या हो गया और धर्म से खेलकर हार ही गए तो क्या? लेकिन अच्छे ढंग से खेल खेलने के लिये और उसमें सफलता प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक होता है कि अपने दिल को संघटित किया जाए। यह संघटन केवल वाणी से नहीं होता बरन् खेल के नायक के चरित्र और कर्मों से होता है। सूरदास ऐसा ही खेल नायक है। वह बार बार कोशिश करता है कि उसके गाँव के लोग अपने सही अधिकारों के लिये संघटित होकर लड़ाई लड़ें। वह सबको प्रभावित करता है, उन्हें संघटित भी करता है किंतु प्रतिपक्ष द्वारा दिया गया प्रलोभन या भय उसकी टीम को बार बार विघटित करता है। संघटित और विघटित होते चलने का द्वंद्व उस समय के पूरे देश के संदर्भ में सही है। सत्ता और व्यवस्था गांधी जी के नेतृत्व में अपने अधिकारों के लिये संघटित होती हुई जनता में संप्रदाय पद, प्रलोभन, पद आदि अस्त्रों से फूट पैदा करती थी। लोग जुड़ जुड़कर खंडित होते थे, खंडित हो होकर जुड़ते थे। गांधी जी के समान सूरदास अपने प्रतिद्वंद्वियों के भीतर अपनी छाप छोड़ता है। वह अपने अधिकारों की लड़ाई में हार जाता है और मर जाता है किंतु कभी वह न्याय और सत्य का साथ नहीं छोड़ता। उसके प्रतिपक्षी खिलाड़ो अन्याय और असत्य के पक्षधर हैं, उनके पास अपार ताकत है, संपत्ति है, फरेब है, धोखाधड़ी है। वे सभी संघटित हैं किंतु वे सारे प्रतिपक्षी खिलाड़ो बलार्क महेंद्रकुमार, जान सेवक उसकी जिजीविषा, उसकी संघर्षक्षमता और उसकी सत्यप्रियता के आगे नतमस्तक हो उठते हैं और अपनी जीत को भी हार और सूरदास की हार को भी उसकी जीत समझते हैं।

राजनीतिक लड़ाई में सामान्य जन के साथ साथ कुछ सामंत लोग भी शामिल थे। प्रेमचंद की विशेषता है कि उन्होंने बिना किसी वाद के आग्रह के लोगों के वर्गीय चरित्र की बहुत अच्छी पहचान उभारी है। इस पहचान में कहीं दुराग्रह नहीं झलकता। वे पूरी मानवीय सद्भावना से अपने पात्रों को उभारते हैं और बिना कटु हुए उनकी कमजोरियों को उभार देते हैं। सामंत एक विशेष प्रकार का बाहरी आकर्षण लिये होता है। उसमें राजकीय वैभव का दर्प होता है,

संपन्नता की शक्ति होती है, सभ्यता और संस्कृति का एक संस्कार होता है, मूल्यों, आदर्शों के प्रति एक आग्रह होता है लेकिन भीतर छल, भय, कायरता और अहंनिष्ठता छिपी होती है जो किसी विशेष संदर्भ में उभर आती है। भरतसिंह, विनय और महेंद्रकुमार सामंती समाज के प्रतिनिधि हैं। तीनों ही स्वाधीनता आंदोलन से जुड़े हुए हैं। तीनों ही अपने अपने ढंग से बहुत देशभक्त, आदर्शवादी और जीवट के व्यक्ति लगते हैं किंतु भरतसिंह देशभक्ति छिप छिपकर करना चाहते हैं और उतनी ही दूरी तक करना चाहते हैं जितनी दूर तक वह उनके लिये खतरा न बने। वे अंग्रेज सरकार से मिलनेवाले सुविधाओं का छिन जाना सहन नहीं कर सकते, इसलिये विनय को भी खुलेआम स्वाधीनता आंदोलन में कूदने से मना करते हैं अर्थात् प्रेमचंद ऊपर ऊपर से इतना सशक्त और आकर्षण दीखनेवाले सामंत के भीतर की जर्जरता, कायरता और लोभ को सहज भाव से उभार देते हैं। विनय बहुत ही क्रांतिकारी पात्र दीखता है—संपन्न घराने का नवचेतनासंपन्न एक युवक। वह बहादुर है, उदारचेता है, दूसरे धर्म की लड़की सोफिया को बिना किसी भेद भाव के मन से अपनाता है। देशी रियासतों की दुर्दशा का अध्ययन करने के लिये और उससे लड़ने के लिये राजस्थान जाता है किंतु प्रेमचंद यह पहचानने में भूल नहीं कर सके कि आखिर यह अहंनिष्ठ राजकीय परिवार का है और इसके भीतर उस परिवार का गहरा संस्कार बाकी है। वह राजस्थान की देशी रियासत में सोफिया की रक्षा के लिये भय से उन विद्रोहियों पर गोली चला देता है जिनका साथ उसे देना चाहिए था। यहीं से उसका अधःपतन शुरू होता है। कुछ देर के लिये सँभलता है, फिर गिर पड़ता है, फिर सोफिया सँभालती है और फिर वह अपने मूल संस्कार में लौट आता है। जब सूरदास के नेतृत्व में एक जबरदस्त आंदोलन छिड़ा होता है तब वह कायर बनकर घर में बैठा होता है। फिर दूसरों द्वारा प्रेरित किए जाने पर जाता है किंतु उसमें वह सजीवता नहीं दिखाई पड़ती जो शुरू में दिखाई पड़ी थी। महेंद्रकुमार कट्टर आदर्शवादी हैं किंतु वे अपनी पत्नी के प्रति बहुत अनुदार हैं और अंततोगत्वा जनसंघर्ष के विपरीत जान सेवक का साथ देते हैं। प्रेमचंद प्रकारांतर से यह कहना चाहते थे कि देश के रंगमंच पर इस तरह के बड़े घरानों के जो नेता आ धमके हैं, वे मूलतः जनजीवन से नहीं जुड़े हैं और सच्चा स्वराज्य इनके माध्यम से नहीं मिल सकता। इनका त्याग भीतर का नहीं होता, बनावटी होता है। इनका विद्रोह भी उसी सीमा तक होता है जिस सीमा तक इनको सुविधाएँ खतरे में न पड़ें। ये वास्तव में लड़ाई में सहायक न होकर बाधक होते हैं।

इसी क्रम में कौंसिल के सदस्य आते हैं। कौंसिल के सदस्य भारतीय जनता के हितों के लिये कौंसिल में जाते थे किंतु वे सरकार की हानि में ही मिलते थे और यदि विरोध में कुछ कहते भी थे तो उनकी वाणी में सत्य की घटक नहीं होती थी। उसका प्रभाव नहीं पड़ता था। मूलतः सभी सदस्य सरकार की सदाशयता में विश्वास करते थे। अंत में गांगुली जैसे सच्चे सदस्यों का मोहभंग हो जाता था।

राजनीतिक परिदृश्य के साथ साथ सामाजिक परिदृश्य भी चित्रित किया गया है। उसके अनेक प्रश्न, समस्याएँ और चेतना के आयाम उद्घाटित किए गए हैं। सोफिया और सुहागो के माध्यम से नारीशोषण की समस्या उठाई गई है। सुहागो निम्नवर्गीय परिवारों में सटाई जानेवाली नारी की प्रतिनिधि है और सोफिया पूँजीवादी मनोवृत्ति के लोगों द्वारा शोषित नारी

की प्रतीक है। सोफिया को स्वयं उसका पूजोपासी बाप अपने उद्योग धंधे के विकास के लिये साधन बनाना चाहता है, उसकी इच्छा और प्रकृति के प्रतिकूल उसे उस अवांछित व्यक्ति के साथ बाँधना चाहता है जो सत्ता का प्रतीक होने के कारण, उसको लाभ पहुँचा सकता है। किंतु नारीशोषण के विरुद्ध आवाज भी उठाई गई है। स्वयं सोफिया अपने पिता के निर्णयों की अवहेलना करके विनय को अपने साथी के रूप में वरण करना चाहती है। सुभागी के संदर्भ में सूरदास नारीशोषण के विरुद्ध आवाज उठाता है। जाति पाँति, मिथ्या धर्म कर्म के प्रति असंतोष व्यक्त किया गया है। उच्च वर्ग की उच्चता और निम्न वर्ग की निम्नता के सिद्धांत को खंडित किया गया है। एक ओर उच्च वर्ग के तमाम लोगों के छोटे कर्मों का चित्रण किया गया है तो दूसरी ओर सूरदास, सुभागी, बनवासियों और चमारों के मानवीय उच्चताओं से युक्त कर्मों का विधान किया गया है। जाह्नवी, इंदु, जान सेवक, सोफिया, सूरदास, मिठुआ, भरतसिंह, विनय, ताहिर अली, माहिर अली के माध्यम से पोटियों का अंतर भी उपस्थित किया गया है। संयुक्त परिवार विघटन की ओर जा रहे हैं। इस विघटन के पीछे नई शिक्षा भी है, स्वार्थ की टकराहट भी है, अहं का तनाव भी है। माँ बाप से बेटे बेटों को (जान सेवक तथा श्रीमती जान सेवक से सोफिया और प्रभु सेवक की), पति से पत्नी की (महेंद्र से सुहागी की, महेंद्र से इंदु की), भाई से भाई की (ताहिर अली से माहिर अली की) टूटन उपस्थित कर पारिवारिक विघटन की शुरू होनेवाली प्रक्रिया का बड़ा जीवंत चित्रण किया गया है।

यथार्थ के आर्थिक पहलू के चित्रण में तो प्रेमचंद सिद्धहस्त भी हैं। उन्होंने गाँवों की, रियासतों की, ताहिर अली की आर्थिक विपन्नता का बड़ा जीवंत चित्रण किया है और उसे तथा उसके मूल स्रोत को आमने सामने तानकर न केवल आर्थिक अभाव को एक बृहत्तर संदर्भ दिया है वरन् सामान्य जन के विरुद्ध खड़ी ताकतों की पहचान कराकर उसके प्रति असंतोष और विद्रोह की सही भूमिका निश्चित की है।

यथार्थ के सांस्कृतिक पक्ष को उसके अन्य पक्षों की सापेक्षता में ही उठाया गया है। एक ओर मानवता के आधार पर अनेक धर्मों के पारस्परिक विलय की आहट सोफिया और विनय के प्रेमसंबंधों के माध्यम से उभारी गई है तो दूसरी ओर धर्म के नाम पर होनेवाले आर्थिक शोषण की विसंगति पर व्यंग्य किया गया है। जान सेवक की पत्नी और पिता दोनों भी परम धार्मिक ईसाई हैं किंतु उनकी धार्मिकता के नीचे उनकी आर्थिक लिप्सा की कुरूपता बहती रहती है।

दरअसल 'रंगभूमि' एक उपन्यास है। वह राष्ट्रीय जीवन के विविध पहलुओं का अलग अलग दस्तावेज नहीं है वरन् इन विविध पहलुओं से बने हुए संश्लिष्ट राष्ट्रीय जीवन का दस्तावेज है। यह दस्तावेज तथ्यों का ही नहीं है वरन् मानवीय अनुभवों, अंतःसंबंधों तथा मूल्य-चेतना का है। राष्ट्रीय जीवनगत संपूर्णता और संश्लिष्टता की सृष्टि के लिये आवश्यक है कि एक केंद्रवर्ती कथा भी निमित्त की जाए। यह केंद्रवर्ती कथा ही अपने विकासक्रम में जीवन के अन्य पक्षों का प्रतिनिधित्व करनेवाली कक्षाओं से जुड़ती चलती है, सघनता और फैलाव प्राप्त करती चलती है। 'रंगभूमि' के केंद्र में पांडेपुर गाँव है, इस गाँव के माध्यम से मुख्य समस्या उभरती है औद्योगीकरण की। गाँव का केंद्रवर्ती पात्र सूरदास है जो स्वभावतः पूरे उपन्यास का नायक बन गया है। जान सेवक अपने कारखाने के सिलसिले में उस गाँव को खाली कराकर

हथियाना चाहते हैं और सूरदास इसका विरोध करता है। यही केंद्रबिंदु पूरे उपन्यास में संघर्ष बनकर छा जाता है और राष्ट्रीय समस्याएँ इससे जुड़कर एक बहुआयामी यथार्थ की सृष्टि करती हैं। 'रंगभूमि' में यथार्थ को इतनी गहरी पहचान के बावजूद प्रेमचंद अपनी पूर्व आदर्श-वादिता से मुक्ति नहीं पा सके हैं। किंतु एक बात ध्यान देने की है कि 'रंगभूमि' में आदर्श निष्कर्षों में नहीं है, वह केवल पात्रों में अवस्थित है और वह भी सीधे रूप में नहीं बल्कि समन्वय के रूप में। सूरदास स्वयं यथार्थ और आदर्श का समन्वित रूप है। वह सामान्य व्यक्ति अपनी अटूट जिजीविषा, सत्यनिष्ठा और संघर्षक्षमता में आदर्श है किंतु दैनिक जीवन की तमाम छोटी छोटी बातों और अपने पेशे की हरकतों में अति सामान्य है। सोफिया का चरित्र अपनी सद्-वृत्तियों के कारण आदर्श लगता है (अथार्थ बिल्कुल नहीं), वह विनय और प्रभु सेवक दोनों को राह दिखाता है। वह अभिशर्मा के साथ रहती है, विनय की प्रेरणा है किंतु अंत में एक कमजोर व्यक्ति की तरह आत्महत्या कर लेती है। विनय और इंदु भी यथार्थ और आदर्श के समन्वित रूप हैं। किंतु रानी जाह्नवी तो राजपूती आदर्श की प्रतिमा सी दीखती हैं। वास्तव में 'रंगभूमि' में आदर्श और यथार्थ का तनाव दिखाई पड़ता है। यह तनाव सपाटता उभारने के स्थान पर जटिलता और घनत्व भरता है। दोनों अलग अलग नहीं हैं, एक दूसरे में घुसे हुए हैं।

निष्कर्षों के रूप में ऐतिहासिक परिणति ही सामने आती है। सूरदास मरता है, गाँव की भूमि छिन जाती है, कारखाना बन जाता है, गांगुली का कौंसिल से मोहभंग होता है, भरत अंतर्मुखी हो उठते हैं। लेकिन निष्कर्षों की इस ऐतिहासिक परिणति के साथ प्रेमचंद कुछ पात्रों का हृदयपरिवर्तन दिखाने से अपने को नहीं रोक सके। मिथुआ का हृदयपरिवर्तन होता है। सूरदास के कट्टर विरोधी उसकी प्रशंसा करते नहीं थकते। उसकी शवयात्रा में अनेक बड़े बड़े लोग शरीक होते हैं, उसकी मूर्ति का निर्माण होता है।

कायाकल्प (१९२६)

चक्रधर एम०ए० है। उसके पिता बज्रधर उससे कोई सरकारी नौकरी करवाना चाहते हैं किंतु चक्रधर समाजसेवा में प्रवृत्त होता है। पिता के बहुत कहने पर जगदीशपुर के दीवान की कन्या मनोरमा को ट्यूशन पढ़ाने लगता है। मनोरमा चक्रधर को चाहने लगती है। मुंशी बज्रधर तहसीलदार बन जाते हैं। जगदीशपुर की विधवा रानी देवप्रिया भोग विलास में जीवन बिताती हैं। एक दिन अपने को देवप्रिया का पूर्वजन्म में पति बतानेवाला एक राजकुमार वहाँ पहुँचता है और रानी विशाल सिंह को राज्य देकर राजकुमार के साथ चली जाती है। विशाल सिंह के राज्यतिलक के लिये जबरदस्ती चंदा वसूल किया जाता है और प्रजा में चारों ओर हाहाकार मच जाता है। चक्रधर विशाल सिंह से शिकायत करता है तो उसे डाँट पड़ती है। अत्याचार के बढ़ने पर घास के मजदूर राज्य के मजिस्ट्रेट और पुलिस पर हमला बोल देते हैं। यद्यपि चक्रधर समझा बुझाकर मजदूरों का गुस्सा शांत कर देता है और खुद चोट खाकर मजिस्ट्रेट की रक्षा करता है किंतु उसे उलटे मजदूरों को भड़काने के जुर्म में जेल भेज दिया जाता है। विशाल सिंह मनोरमा से शादी करता है और मनोरमा के कहने पर चक्रधर बरी कर दिया जाता है।

आगरा के सांप्रदायिक दंगे के सिलसिले में चक्रधर वहाँ जाता है। इस दंगे में यशोदानंद मारे जाते हैं और उनकी धर्मपुत्री यशोदा को मुसलमान उठा ले जाते हैं और मुसलमानों के

नेता ख्वाजा साहब की सहायता से लौटा दी जाती है। चक्रधर के माता पिता इसीलिये यशोदा के साथ छूत छात का व्यवहार करते हैं। इस व्यवहार से छूठकर चक्रधर यशोदा को लेकर इलाहाबाद चला जाता है। उसे एक पुत्र होता है जिसका नाम रखा जाता है शंखधर। मनोरमा की बीमारी की खबर पाकर चक्रधर जगदीशपुर लौट आता है और मालूम पड़ता है कि यशोदा विनाल सिंह की बेटी है। वह राज्य का एक हिस्सा पाकर सुख में डूब जाती है और चक्रधर उदास उदास सा रहता है। फिर वह एक देहाती की जान लेने के अफसोस में कहीं निकल जाता है। उसे खोजने उसका बेटा जाता है और जब उससे मिलकर लौटता है तब रानी देव-प्रिया मिलती है। मालूम पड़ता है कि शंखधर देवप्रिया का पूर्वजन्म का पति था। शंखधर शरीर त्याग देता है। जगदीशपुर में देवप्रिया फिर राज्य करने लगती है लेकिन अब उसने वासना त्याग दी है।

इस उपन्यास में समाजसेवा, राज्य के अत्याचार, विलास, सच्चे प्रेम आदि के वे विविध संदर्भ और आयाम तो उद्घाटित किए ही गए हैं जो प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों में भी अन्य रूपों में आए हैं, दो नए आयाम भी चित्रित किए गए हैं—(१) हिंदू मुसलिम दंगा और (२) पुनर्जन्म की धारणा। हिंदू मुसलिम दंगे के जटिल चरित्र का सहो विस्फेपण करते हुए लेखक ने अपनी मानवीय संश्लेषणवादी दृष्टि से उनमें सीमनस्थ स्थापित करने का प्रयत्न किया है। हिंदू मुसलमानों के दंगों के पाछे सत्ता की क्या दूषित राजनीति है और इन दोनों संप्रदायों के उन्मादी लोगों में झूठे धर्म के नाम पर लड़ने की कैसी सनक है यह तो चित्रित किया ही गया है, हिंदुओं की उस पवित्रतावादी रूढ़ मनोवृत्ति का भी पर्दाफाश किया गया है जो एक बार मुसलमानों के यहाँ जोर जबरदस्ती चली गई अपनी ही बहू बेटी को घर से निकाल देना चाहती है। साथ ही चक्रधर के माध्यम से हिंदुओं में उभरती उस प्रगतिशील चेतना की भी पहचान की गई है जो इन बेहूदा रूढ़ियों की परवाह न कर साहस के साथ इस प्रकार की लड़कों को अपना लेती है। पुनर्जन्म की कथा उपन्यास को कमजोर बनाती है। वह उपन्यास की यथार्थ-वादी प्रकृति से मेल नहीं खाती।

निर्मला (१९२७)

उदयमानु लाल अपनी बेटी निर्मला की शादी अच्छे कुल में योग्य आदमी से करना चाहते रहे किन्तु उनकी आकस्मिक मृत्यु से यह सपना पूरा नहीं हो सका और निर्मला की शादी एक तीन बच्चों (मंशाराम, जियाराम और सियाराम) के वृद्ध बाप बकोल तोताराम से कर दी जाती है। यहीं से सारी समस्या पैदा होती है। तोताराम की बहन रुक्मिणी निर्मला को डाँटती फटकारती रहती है, इससे घर की अशांति बढ़ जाती है। मंशाराम अच्छा लड़का है। उससे निर्मला का मेल जोल देखकर बाप को संदेह होता है और बाप उसे बोडिंग हाउस भेज देता है। वहाँ उसकी मृत्यु हो जाती है। जियाराम अपने भाई के प्रति अत्याचार की प्रतिक्रिया में उड़ड़ हो जाता है और एक दिन निर्मला के आभूषण चुराता है और भेद खुल जाने पर आत्महत्या कर लेता है। तीसरा लड़का सियाराम, साधू बनकर घर से निकल भागता है। उसकी खोज में तोताराम निकल जाता है। संयोग से निर्मला की दोस्ती उस औरत से हो जाती है जिसके डाक्टर पति से निर्मला के बाप ने उसकी सगाई की थी। एक दिन अपनी पत्नी की अनुपस्थिति में डाक्टर निर्मला के साथ दुर्व्यवहार करने की चेष्टा करता है। यह सुनकर उसकी पत्नी

आत्महत्या कर लेती है। उसके बाद निर्मला भी बीमार होकर मर जाती है और उसकी चिता में आग लगाने के समय तोताराम एकाएक हाजिर हो जाता है।

इसमें दहेज और अनमेल विवाह की समस्या उठाई गई है। अर्थात् भाव से निर्मला की शादी बूढ़े से कर दी जाती है। हमारे समाज का यह एक जाना पहचाना परिदृश्य है। यह घटना कितनों की जिदगी बरबाद करती है। आर्थिक विपन्नता सामाजिक विषमता की जड़ है। वह संबंधों और मूल्यों को भी तोड़ती है। बाप बेटे के प्रति ईर्ष्यालु हो जाता है, घर का वातावरण इतना दूषित हो जाता है कि बेटे उड़्ड हो जाते हैं, चोरी करने लगते हैं, घर से भाग खड़े होते हैं और जान पर जान जाने लगती है। कितनी ही सपनों भरी जिंदगियाँ तबाह हो जाती हैं। प्रेमचंद ने इस सामाजिक समस्या के बीच निर्मला को उपस्थित कर उसकी मानसिकता का अच्छा उद्घाटन किया है साथ ही तोताराम के माध्यम से मध्यवर्गीय व्यक्ति की विसंगतियों का, उसकी कथनी और करनी के बीच के फासले का, उसकी उपहासास्पद नकली ताकतों का उद्घाटन किया है।

‘गवन’ (१९३१) मध्यवर्गीय जीवनयथार्थ को व्यक्त करनेवाला सशक्त उपन्यास है। मध्यवर्गीय जीवन की असंगतियों और मनोवैज्ञानिक सत्यों का बड़ा हो तोखा बोध इसके द्वारा व्यक्त हुआ है। रमानाय मध्यवर्गीय युवकों का प्रतिनिधि है। मध्यवर्ग के युवक की रंगीन आकांक्षाओं का उसकी आर्थिक कमजोरियों और व्यक्तिगत असमर्थताओं के साथ भीषण संघर्ष दिखाया गया है। रमानाय व्यक्तिगत रूप से काफी अशक्त है, पढ़ लिख नहीं सका है, दूसरे उसमें व्यक्तित्व की दृढ़ता, सत्यनिष्ठा आदि भी नहीं हैं, तीसरे वह एक ईमानदार औसत पिता का बेटा है। इन सबके बावजूद वह मिजाज से बड़ा शौकीन है, उसकी इच्छाएँ रंगीन हैं, वह अपने व्यक्तित्व के खोखलेपन और आर्थिक विपन्नता को बाह्याडंबर से ढकना चाहता है। बाह्याडंबर के लिये भी पैसे तो होने चाहिए। उसके अभाव में वह मित्रों से कोट, टाई माँगकर पहन लेता है और एक झूठी मर्यादा का शव कंधे पर लादे लादे घूमता है। वास्तव में मध्यवर्ग का सारा संघर्ष यहीं केंद्रोद्भूत है। रमानाय जीवन भर उच्च आकांक्षा और आर्थिक तथा व्यक्तित्वगत होनताओं के संघर्ष से पीड़ित रहता है। उसके इस संघर्ष को तब रूप में दिखाने के लिये लेखक को अपनी ओर से प्रयास नहीं करना पड़ा है। पात्र स्वयं एक बार उसमें उलझकर अपने अशक्त आडंबरप्रिय संस्कारों के कारण अनेक विषम परिस्थितियों में उलझता जाता है, छूटने के बजाय और फँसता जाता है और इस प्रकार पूरे उपन्यास में रमानाय की आत्मप्रवचना से उत्पन्न परिस्थितियों और परिस्थितियों से उद्बुद्ध प्रवचनाओं का सुंदर संघर्ष दिखाया गया है।

जालपा के संस्कार रमानाय के संघर्ष को और भी तीव्र करते हैं। जालपा में बचपन से ही गहनों की आसक्ति का संस्कार पैदा हो गया था। खास तौर से हार की उसे विशेष भूख थी। शादी में हार पाने की उसे आशा थी। किंतु निराश होना पड़ता है। रमानाय अपने घन की बड़ी बड़ी डींगें हाँकता है, अतः जालपा का हारप्रेम बढ़ता ही जाता है। मध्यवर्गीय नारी की मनोकांक्षा उसमें मूर्तिमान हो उठी है इसलिये वह बार बार हार के लिये पति से कहती है। किंतु मध्यवर्गीय नारीत्व के साथ साथ उसमें चिरंतन नारीत्व भी वर्तमान है जो वर्गीय संस्कारों

के नीचे सोया हुआ है। पति की सुखसुविधाओं में शरीक होकर आनंद करना नववधुओं के लिये बड़ा सहज व्यापार है। किंतु जब उन्हें घर की असलियत मालूम पड़ती है तो वे वास्तविकता के अनुकूल अपने को बना लेने में सबसे आगे होती हैं और सारा सुखविलास छोड़कर सेवा-त्याग-तपस्या में लीन हो जाती हैं। जालपा तभी तक हार के लिये ज़िद करती है जब तक जानती है कि उसका पति पैसेवाला है। जब उसे वास्तविकता का बोध होता है तो अपने सारे गहने बेचकर पति की इज़्जत बचाती है और सेवा त्याग से न केवल अपने घर को, बल्कि समाज को भी ज्योतिषित करती है। जालपा में मध्यवर्गीय नारी की युवतीसुलभ आकांक्षा (आभूषणप्रेम, भोगविलास की प्रवृत्ति, ऊँचे समाज की नारियों में मिलने जुटने और उनसे स्पर्धा करने की इच्छा, यानि ऊपरी चमक दमक को ही जीवनमूल्य मान लेने की आसक्ति) के साथ नारी की समस्त पीड़ा, अभाव, सत्यनिष्ठा, निश्चयशक्ति, सेवा, त्याग और सहानुभूति है। रमानाथ सत्य से असत्य पर पहुँचता है। जालपा असत्य से सीधे सत्य तक पहुँचती है। उसका मनोबल अधिक जाग्रत और निर्विकल्प है। रमानाथ अपने कमजोर मनःबल के कारण जीवन के ऊपरी मूल्यों को हाँ पकड़ने के लिये अशक्त रूप से यहाँ वहाँ बहता रहता है, कभी कभी उसे सत्य की ज्योति मिलती है तो उसके विकल्प की आँधी में बुझ जातो है।

कहा जा सकता है कि 'गवन' मनोवैज्ञानिक छवि से भरपूर उपन्यास है। रमानाथ जैसे सामान्य पात्र को लाकर अंतर्द्वंद्व का जो माभिक अंजन प्रेमचंद 'गवन' में कर सके हैं वह उनके अन्य उपन्यासों में उपलब्ध नहीं होता। अंतर्द्वंद्व सामान्य पात्र में ही अधिक होता है जो संकल्प विकल्प के घात प्रतिघात में रास्ता नहीं पाता। रमानाथ मध्यवर्गीय युवक की समस्त सामाजिक और मानसिक स्थितियों का प्रतिनिधि होने के नाते संकल्प विकल्प का पुंज है। उसका व्यक्तित्व कमजोर परंतु सजोव है। मध्यवर्गीय युवक समाज में अपनी झूठी प्रतिष्ठा कायम करने के लिये बाहर तो अभिनय करता ही है, अपने घर में भी अभिनय करता है। वह प्रेम को भी उसके मूल में नहीं पकड़ता। प्रेम को हृदय का व्यापार न मानकर चमक दमक का व्यापार मानता है। इसीलिये रमानाथ अपनी पत्नी के सामने अपने वास्तविक रूप को नहीं खोलता। समझता है कि जालपा का प्रेम उसके रुपये पैसे, शान शोकेत से है। वह डरता है कि उसको वास्तविकता खूँज जाने पर जालपा का प्रेम उसके लिये कम हो जाएगा। इसलिये वह सचाई का सहारा न लेकर रंगीन फरेब रचता रहता है और वह स्वयं धीरे धीरे उसमें उलझता जाता है। घर से भागने पर भी उसे यही चिंता है कि जालपा क्या सोचती होगी? उसका प्रेम कम हो गया होगा। वह चाहता है कि वह कुछ अर्जित कर ले तो शान से जालपा के सामने जाए। किंतु वह अर्जित करने के बदले मातर को रही सही संरक्ति भी खोता जाता है और उधर जालपा का प्रेम सारा बाह्याडंबर फेंककर हृदय के रस में जगता हुआ, वियोग की आँच में तपता हुआ निखरता है और ऐसा निखरता है कि वह सामाजिक मंगल की भूमिका पर प्रतिष्ठित हो जाता है। पतिप्रेम मानवप्रेम तक प्रसारित हो जाता है।

इस मुख्य समस्या के साथ अन्य समस्याएँ भी जुड़ी हुई हैं। रतन और उसके पति वकील साहब उच्चवर्गीय जीवनसत्त्यों को प्रस्तुत करते हैं, खटिक देवीदीन और उसकी पत्नी निम्न वर्ग के प्रतिनिधि हैं। लेखक ने इन दोनों वर्गों के जीवनसत्त्यों को परस्पर गुंथा है और उनके सपेक्षिक जीवनमूल्यों को उद्घाटित किया है। लेखक ने वर्गीय जीवनसत्त्यों के भीतर प्रवाहित

मानवीय पीड़ा और सौंदर्य की समान धाराओं को भी उद्घाटित किया है। दर्द के स्तर पर रतन, जालपा, जोहरा एक हैं।

गबन में राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं का स्थान स्थान पर अच्छा उद्घाटन हुआ है। उच्च वर्ग के लोगों और नेताओं में मनोबल की कितनी होना है, कितनी असंगतियाँ हैं, कितना दिखावा है, जीवन के वास्तविक मूल्यों को पकड़ कितनी कम है, यह सत्य देवोदीन खटिक की बातों से स्पष्ट होता है। रतन के पति के मरने के बाद तथ्याकथित बड़े लोगों का प्रतिनिधि उसका भतीजा कितना विपाक्त आचार दिखाता है, यह उस वर्ग के बढ़पान के नीचे बहती क्रूरता और अमानवता का परिचायक है।

प्रेमचंद जो के उपन्यास मूलतः सामाजिक समस्याओं के उन्हास हैं और 'गबन' भी इसका अपवाद नहीं है, किंतु मूल सौंदर्य उसके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की शक्ति में है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की सी अंतर्मुखता, नायक के स्थान पर गामान्य व्यक्ति की प्रतिष्ठा करने की प्रवृत्ति और अंतर्द्वंद्व एवं मन की जटिलता से कथामूत्रों की उत्पत्ति, ये सारी विशेषताएँ 'गबन' में दिखाई पड़ती हैं। अतः 'गबन' का प्रेमचंद के उपन्यासों में अपना अलग व्यक्तित्व है।

कर्मभूमि (१९३२)

अमरकांत बनारस के सेठ समरकांत का बेटा है। बाप व्यापारी है और बेटा समाजसेवी। इसलिये दोनों में पटती नहीं है। अमरकांत में और उसकी सीतेली बहन नैना में खूब प्रेम है। अपनी दूसरी पत्नी के मरने के बाद घर को आबाद करने के लिये समरकांत अमरकांत को शादी सुखदा से कर देता है। सुखदा को अपनी विधवा माँ से बहुत बड़ा संपत्ति मिलनेवाली है। वह भी अमरकांत को समझाती है कि वह पिता के कार्यों में हाथ बँटाए किंतु अमरकांत डा० शांतिकुमार के साथ ग्रामसेवा में लीन रहता है। सुखदा की उदासीनता देखकर सकीना की ओर आकृष्ट होता है जिससे घर में अशांति पैदा होती है। एक दिन अमरकांत घर छोड़कर सेवा करने के लिये निकल जाता है और चमारों के एक गाँव में रहने लगता है। पति के जाने के बाद सुखदा को होश आता है और वह पति के आदर्शों पर चलना चाहती है। डाक्टर शांतिकुमार आदि के सहयोग से सुखदा शहर में अछूतों के लिये एक मंदिर खुलवाना चाहती है। आंदोलन असफल हो जाता है। जिस गाँव में अमरकांत सेवा कर रहा है वह गाँव एक महंत जी की जमींदारी में आता है। वे बहुत बड़े शोषक जमींदार हैं। अमरकांत के नेतृत्व में लगानबंदी का अहिंसात्मक ढंग से आंदोलन चलता है। उसका मित्र सलीम उस इलाके में सरकारी अफसर नियुक्त होकर आता है और वह सरकारी आदेश पर अमरकांत को गिरफ्तार करता है। उस ओर शहर में जो मंदिर के लिये आंदोलन चल रहा है उसमें और भी कई लोग शामिल हो जाते हैं और सभी गिरफ्तार होकर उसी जेल में जाते हैं जिसमें अमरकांत रखा गया है। समरकांत भी जेल जाते हैं। अंत में सरकार झुक जाती है और लगानबंदी का फैसला करती है।

यह उपन्यास भी बहु आयामी है। इसमें राजनीतिक चेतना के मूल स्वर के साथ सामाजिक और आर्थिक चेतना के कई स्वर गूँथ दिए गए हैं। अमरकांत समाजसेवक है। वह समाजसेवा के ऊपरी रूप से होता हुआ बुनियादी रूप तक पहुँच जाता है। वह जाने अनजाने चमारों के गाँव में पहुँच जाता है और वह जैसे पहचान जाता है कि सेवा के प्रथम हकदार ये ही हैं

और सेवा का अर्थ केवल सामाजिक भेदभाव दूर करना नहीं है बल्कि उन्हें आर्थिक शोषण से मुक्ति दिलाना है। और यही सेवा राजनीतिक रूप ले लेती है और सत्ता से टकराती है। वह गांव एक महंत साहब की जमींदारी में आता है। महंत साहब (जो धर्म के भी रक्षक माने जाते हैं) बहुत बड़े शोषक हैं और उनके शोषण को संरक्षण मिलता है सरकार से। अमरकांत अहिंसक ढंग से लगानबंदी का आंदोलन चलाता है और अपने ही अफसर मित्र द्वारा गिरफ्तार किया जाता है। प्रेमचंद गांधी जी की तरह अहिंसावादी आंदोलन के समर्थक थे। इस राजनीतिक आंदोलन के साथ साथ अमरकांत के अपने शहर में उसकी पत्नी सुखदा, डा० शांति-कुमार आदि के नेतृत्व में अछूतोंद्वारा का सामाजिक आंदोलन चलता है। वह आंदोलन सामाजिक व्यवस्था से तो लड़ता ही है अंततोगत्वा सरकारी ताकत से भी टकराता है और उसमें भाग लेनेवाले लोग गिरफ्तार होकर उसी जेल में आते हैं जिसमें अमरकांत हैं। इस प्रकार एक बात स्पष्ट होती है कि प्रेमचंद समाज के यथार्थ को एकायामी रूप में नहीं देखते थे, वे यथार्थ की पहचान उसकी सारी पतों और आयामों के साथ करते थे। वे यह भी मानते थे कि सामाजिक या राजनीतिक समस्याएँ अलग अलग नहीं हैं, एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं और समस्या का केंद्र-बिंदु अर्थ की समस्या है जिसकी पहचान हुए बिना कोई समाज की संरचना को ठीक ढंग से पहचानने का दावा नहीं कर सकता। प्रेमचंद की शिल्पगत सीमाओं की उपस्थिति यहाँ भी है। संयोगवाद और हृदयपरिवर्तनवाद यहाँ भी है किंतु समस्या की सही समझ और कुछ सशक्त चरित्रों (अमरकांत, सुभद्रा, सकोना) के कारण यह उपन्यास बहुत सशक्त हो उठा है।

गोदान (१९३६)

यह प्रेमचंद का ही नहीं, हिंदी का श्रेष्ठ यथार्थवादी उपन्यास है। यह मार्क्सवादी सिद्धांत से परिचालित न होकर भी समाज के तत्कालीन संश्लिष्ट यथार्थ को उभारने में बहुत सफल हुआ। लेखक इस उपन्यास में अपने प्रिय पात्रों को भी वस्तुवादी दृष्टि से चौरता चला जाता है और ये पात्र अपनी समस्त विसंगतियों के साथ साकार हो उठते हैं। उनकी विसंगतियाँ, मानवीय कमजोरियाँ और परिस्थितिगत विवशताएँ, उन्हें और मानवीय रूप देकर उन्हें पाठक की सहानुभूति से जोड़ती हैं। प्रस्तुत उपन्यास में लेखक का आदर्शवादी सपना टूट गया है, वह यथार्थ का द्रष्टा रह गया है। इसलिये वह न तो अंत में कोई समाधान लादता है या उसकी ओर संकेत करता है और न तो किसी वर्गीय भावना से पात्रों को उठाता गिराता है। यह सच है कि किसानों की चूसनेवाली अनेक शोषक शक्तियाँ अमरबेल की तरह उनसे लिपटी हैं मगर उनकी धर्मभीरुता या आपसी स्वार्थभावना भी इसके लिये कम जिम्मेदार नहीं है। लेखक की दृष्टि बिना किसी रियायत के किसानों की इन सीमाओं की ओर बराबर लगी रही है।

कहा जा चुका है कि प्रेमचंद मार्क्सवादी न होकर भी यथार्थ के इस बहुत बड़े सत्य को पहचानते थे कि हमारे सामाजिक संबंध आर्थिक आधारों पर बने हैं। आर्थिक विषमताओं के कारण ही यह सामाजिक विषमता है। वे इस गहन सत्य को पहचान गए थे कि सामाजिक संबंधों के निर्माण और नियंत्रण में धर्म का हाथ नहीं रहा यद्यपि वह फूटे ढोल की तरह अब भी गले पड़ा है। धर्म के ठेकेदार चालाक लोग—पंडे, पुरोहित, व्यापारी, व्यवसायी, जमींदार आदि इस फूटे ढोल को अपढ़ धर्मभीरु लोगों के गले मढ़ देते हैं और वे बेचारे इसे ढोते फिरते हैं।

‘गोदान’ की कथा का केंद्र है होरी नामक किसान का जीवन । होरी अपने समस्त गुण दोष, अभाव और शक्ति के साथ भारत का सच्चा किसान है । उसका अपना व्यक्तित्व है जो उसे भीड़ से अलग करता है फिर भी वह किसानों का प्रतिनिधि है । उसकी एक छोटी सी आकांक्षा है कि उसके यहाँ गाय आए । यों वह गरीबी का शिकार है ही किंतु यह छोटी सी आकांक्षा उसे कितनी विडंबनाओं और परेशानियों के भवजाल में फिगती है । भारतीय किसान की जीविका खेती है, जिसका मूल आधार है गाय । गाय किसान की संपत्ति भी है और धर्म-प्राण भारतीय जनता की पूज्य माँ भी । कितनी भयंकर विपमता है कि कृषिप्रधान देश भारत का एक किसान गाय रखने की एक छोटी सी इच्छा लेकर इतना तड़पे, मानो कि वह कोई साम्राज्य पाना चाहता हो और धर्मप्राण भारतीय लोग इस आकांक्षा की पूर्ति में बाधक बनें और जीवित गाय का सुख उठाने से वंचित कर मरी गाय का सारा अभिशाप उसके गले मढ़ दें और धार्मिक अनुष्ठान के लिये उसे विवश कर अपने आर्थिक कसाव में कस दें और फिर सारी बात अर्थ पर आकर ठहर जाय । जो हाँ, होरी के साथ ऐसा ही होता है । वह भोला के यहाँ से गाय प्राप्त करता है, किंतु अपनी आकांक्षा के बदले भोला की एक दूसरी आकांक्षापूर्ति के मूल्य पर । वह अघेड़ भोला की शादी कराने का वायदा करता है । इस गाय का मूल्य है एक जीवित स्त्री गाय की कुरबानी । दोनों ही गायें हैं, किसी के खूँटे से बाँध दो, नहीं नहीं कर सकतीं । गाय को देखकर पूरे गाँव के हृदय में ईर्ष्या की आग जल जाती है । इस गाँव के साहूकार झिगुरीसिंह की दृष्टि गाय पर है । होरी उनके पास कर्ज लेने पहुँचता है तो वे गाय का प्रस्ताव करते हैं । होरी परिवार बहुत पसोपेश में है । अंत में वह गाय न पहुँचाने का निश्चय करता है किंतु उसी रात को होरी का सबसे छोटा भाई हीरा चुपके से गाय को जहर दे देता है ।

जहर देता है कौन, अभिशाप झेलता है कौन । गाय की संदिग्ध मृत्यु की सूचना पाकर थानेदार आता है । झिगुरीसिंह होरी को समझाते हैं कि इसे कुछ दे दिवाकर मामला टालो । और झिगुरी होरी को श्ट से तीस रुपये दे देते हैं किंतु चनिया आकर सारा खेल बिगाड़ देती है । गाँव की शोषक शक्तियों के मन में एक नई गाँठ बँध जाती है । सभी बदला लेने की सोचते हैं । वे इसका बदला लेते हैं गर्भवती कुनिया के होरी के घर में आ जाने पर । यह अंतर्जातीय संबंध था । पंचायत बैठती है और होरी पर दंड लगता है । इसी दंड में वह अपना लगभग सारा अनाज झिगुरीसिंह की चौपाल में पहुँचा आता है तथा नकद दंड भरने के लिये अपना मकान गिरवी रख देता है । होरी की व्यथा गाथा का कहीं अंत नहीं है—कर्ज और दुःखों की एक लंबी शृंखला है । अनेक घटनाएँ घटती हैं जो उसे निरंतर तोड़ती जाती हैं, उसे एक अघेड़ के हाथ अपनी बेटी भी बेचनी पड़ती है, खेत बेचने पड़ते हैं, फिर भी गाय की इच्छा उसके मन से नहीं हटती । वह गाय के लिये ही जो तोड़ मेहनत करता है और इसी इच्छा को लिए दिए मर जाता है ।

होरी की इस व्यथापूर्ण संघर्षमय जीवनगाथा में कई बातें उभरती हैं । किसान देश और समाज के अर्थ उत्पादन का मूल साधन है । इस मूल साधन का लोग अपने अपने स्वार्थ के लिये प्रयोग करते हैं । इस जीवित साधन को वास्तव में अपड़, अंधविश्वासी और धर्मभीरु बनाकर निर्जीव साधन बना दिया गया है । पर नहीं, निर्जीव साधन को कोई पीड़ा तो नहीं होती, किंतु निर्जीव साधन की तरह काम करनेवाला किसानवर्ग अपने हिस्से में जो पीड़ा, अभाव, अपमान

और उपेक्षा प्राप्त करता है उसे भोगने से उसकी मुक्ति कहाँ ? किसान को घेरनेवाली शक्तियाँ हैं जमींदार, अफसर, पटवारी, गाँव का साहूकार, पुरोहित, पुलिस। और विडंबना यह कि ये सारी शक्तियाँ किसान के साथ अपना आर्थिक संबंध रखती हैं किंतु ओढ़े रहती हैं धर्म, मर्यादा, नीति, कानून, पाप पुण्य और दया-करुणा-सहानुभूति का रामनामी दुपट्टा। अनपढ़, गँवार, अंधविश्वासी, धर्मभीरु किसान धर्म के दुपट्टे को झटककर उनके नंगेपन के ठीक आमने सामने नहीं आ पाता। वह भीतर भीतर महसूस अवश्य करता है किंतु उसका अहसास भी बहुत संक्रांत होता है—उसमें धर्मभीरुता तथा आर्थिक चेतना का बोध मिला जुला होता है। आर्थिक चेतना का बोध स्पष्ट होने पर भी वह इन शोषक शक्तियों के विरुद्ध कुछ नहीं कर पाता क्योंकि वह मजदूर है, गरीब है, उसे फिर उन्हीं के पास जाना है, उन्हीं से छुटकारा पाने के लिये, उन्हीं से कर्ज लेने के लिये। इस तरह वह विवशताओं की पत-दर-पत में अपने को लपेटता जाता है। इसलिये इन शोषकों की धार्मिक विसंगतियों और आर्थिक प्रवृत्ति को समझते हुए भी उनके विरुद्ध वह कुछ कर नहीं पाता। हाँ, अपने समान लोगों में वह जरूर शुद्ध दुनियादारी पर उतर जाता है। परिस्थितियों से विवश किए जाने पर वह घोर दुनियादार बन जाता है किंतु धर्म का भय उसके भीतर छाया रहता है। होरो जगह जगह ऐसा आचरण करता है—वह अपने भाई से छिपाकर बाँस बेचता है, बेटी बेचता है। किसान होरा के रूप में गाय को जहर देता है, भोला के रूप में बुढ़ौती में शादी करना चाहता है। उसमें (छोटे पैमाने पर हो सही) दिखावे की भावना, ईर्ष्या द्वेष आदि सभी कुछ है, वह बुरी तरह अंधविश्वासों और रूढ़ियों का शिकार है, धर्मभीरुता उसकी नस नस में है। अतः कहा जा सकता है कि अंध-विश्वास, रूढ़िपालन, धर्मभीरुता आदि भी उसके शोषक तत्व हैं और सब पूछिए तो ये सारे शोषक तत्व जीवंत शोषक तत्वों—जमींदारों, साहूकारों आदि के विराट् षड्यंत्र के ही अंग हैं। भारतीय किसान होरी के रूप में इन समस्त मिले जुले षड्यंत्रों का शिकार बनता है और गाय बाँधने की एक छोटी सी इच्छा लिए निरंतर अभाव और यातना को अनेक विषम घाटियों से गुजरता हुआ जीवन समाप्त कर देता है।

भारतीय किसान अपनी आर्थिक और सामाजिक सोमाओं के साथ साथ अपनी शक्तियों और संभावनाओं को भी उजागर करता हुआ आया है। वह बहुत संवेदनशील, मानवीय तथा क्षमाशील है। शोषक शक्तियाँ ऊपर से सभ्य हैं, भीतर से पत्थर। पैसा ही उनका जीवनमूल्य है। पैसे के मूल्य पर वे किसी को क्षमा नहीं कर सकतीं और दुहाई देती हैं बड़ी बड़ी नीति और धर्म की। किंतु होरो गाय मारनेवाले को भी क्षमा कर सकता है, अनधिकार रूप से घर में आई झुनिया को भी जगह दे सकता है गोरे वह जानता है कि इसके लिये उसे बुरे परिणाम भुगतने पड़ेंगे। वह अपने विवशतावश किए गए अपराधों के लिये पश्चात्ताप की आग में जलता है। ओरों के लिये उसके भीतर दया धर्म है, दुख दर्द है।

प्रेमचंद ने भारतीय किसान को बहुत विश्वस्त रूप से उभारा है किंतु यह किसान कोई रूढ़-स्वरूप-प्राप्त या ठहरा हुआ किसान नहीं है बल्कि वह नए युगसंदर्भ में बदल रहा है। उस बदलाव, उस संक्रांति की पहचान भी 'गोदान' में बहुत गहराई से व्यंजित हुई है। होरी अपने जीवन के अंतिम दिनों में किसानों छोड़कर मजदूर बन जाता है। अब पंडित दातादीन और होरी के संबंध सामंती नहीं रहे, वे मालिक और मजदूर बन जाते हैं। होरी का बेटा गोबर

गाँव छोड़कर शहर जाता है। कमाने के लिये वह भी वहाँ मजूर बनता है। विस्थापित किसान मजूर के रूप में स्थापित हो रहा है। किसान की यह नई पीढ़ी मजूर होकर अधिक निश्चित, निर्भीक, समझदार, उग्र और धर्म के आतंक से मुक्त होती जा रही है, वह आर्थिक संबंधों की अधिक सफाई से समझ रही है, उसे धर्म करम की चाशनी में नहीं पागती। इसलिये वह अपने अधिकारों की अधिक समझती है तथा शोषकों के शोषण को सहायता के रूप में न लेकर शोषण के रूप में ही लेती है। गोबर का व्यवहार इन सारे सत्यों को उजागर करता है। इतना ही नहीं, संयुक्त परिवारों के टूटने का जो सत्य है वह भी पत्नी को लेकर शहर जाते हुए गोबर के आचरण से व्यक्त होता है। माँ बाप के साथ पुत्र के नए संबंधों की ओर भी संकेत है। किंतु यह संक्रांतिकाल है, अभी तक मजूर में किसानी संस्कार और मजूरी संस्कार का द्वैत वर्तमान है, इसलिये गोबर भी इस संक्रांति से ग्रस्त है। वह पितृविद्रोही (पिता को कायर और दबू समझनेवाला) गोबर अंत में अपने पिता के प्रति बहुत सोमनस्यपूर्ण हो उठता है, उसे आर्थिक सहायता देने का वचन देता है।

अपने काल और देश के फलक पर चित्रित भारतीय किसान 'गोदान' में अपनी समूची समस्याओं, राग विराग, शक्ति सीमा तथा संक्रांतियों के साथ उभरा है इसलिये इसे एक महाकाव्यात्मक उपन्यास कहा गया है। होरा और धनिया इसके वैलैसिक चरित्र हैं—दोनों साथ साथ जीते हुए एक दूसरे के सुख दुःख के साथी हैं, किंतु दोनों के अपने अपने स्पष्ट व्यक्तित्व हैं। किसान जीवन से एकदम संपृक्त तो नहीं किंतु उसे कहीं न कहीं स्पर्श करनेवाली शहरी जीवनकथा भी ली गई है। इससे गाँव और नगर की जीवनसभ्यता का वैषम्य तो उभरता ही है, साथ ही साथ वे आपस में कहीं न कहीं सूक्ष्म संबंधसूत्रों से जुड़ती हुई नजर आती हैं यद्यपि ये संबंधसूत्र अपरिहार्य नहीं दीखते। इसलिये इसे 'गोदान' के कथानकगठन का कमजोर अंश माना गया है। फिर भी वह अपने आपमें अपने जीवन की सच्चाई लिए हुए है। रायसाहब, मिल मालिक खन्ना, डा० मालती और प्रोफेसर मेहता के वर्गीय जीवनसत्त्वों को बड़ी सच्चाई से उभारा गया है। अभिजात वर्ग अपनी ऊपरी सभ्यता के नीचे कुलूप है, नंगा है, अपने पारिवारिक संबंधों में भी कुलूप है, जमींदार की शक्ति पूंजीपति के हाथ में आ गई है, वह अपने ताम शम के नीचे आर्थिक दृष्टि से खोखला हो गया है। अभिजात वर्ग कायर है, उसका रागरंग ऊपरी है। इस तरह प्रेमचंद ने सामाजिक जीवन के समस्त रूपों और संबंध-सूत्रों को चित्रित कर समूचे युग के संश्लिष्ट व्यक्तित्व को मूर्तित करना चाहा है। इस प्रयास में वे सफल हुए हैं। सचमुच ही 'गोदान' अपने युग का श्रेष्ठ यथार्थवादी उपन्यास है।

आक्षेप किया गया है कि प्रेमचंद के उपन्यासों में (हाँ, 'गोदान' में भी) मनोवैज्ञानिक गहराई का अभाव है। वे परिस्थितिसापेक्ष मनोविज्ञान का चित्रण करते हुए आगे बढ़ते हैं, पात्रों के भीतर पैठकर उनके अचेतन मन की पतों को नहीं खोलते। यह आरोप ठीक है किंतु देखना होता है कि क्या प्रेमचंद के उपन्यास केवल अचेतन मन की गहराइयों में उतरने के लिये लिखे गए हैं? स्पष्ट है कि ऐसा नहीं है। फिर भी 'गोदान' जैसी श्रेष्ठ कृति में मन के आवतों की कमी नहीं है। यह केवल बहता ही नहीं, परिस्थितियों और प्रसंगों के संदर्भ में मन के गहरे भँवर में उतरता भी है और बार बार मन के अचेतन स्तर को भी छूता है किंतु एक बात ध्यान देने की होती है कि अचेतन मन की जितनी गहरी पतें दुहरा जीवन जीनेवाले पढ़े लिखे, सभ्य

दोखनेवाले लोगों में होती हैं उतनी निश्छल, सहज जीवन जीनेवाले तथा कम पढ़े लिखे लोगों में नहीं होतीं। 'गोदान' का केंद्रविंदु किसान है इसलिये लेखक का मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासकारों की तरह किसान के अंतर्श्वेतन में घुसना स्वाभाविक नहीं था। किंतु मूल बात यह है कि मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन प्रेमचंद की प्रकृति और उद्देश्य के बाहर की चीज थी और ऐतिहासिक दृष्टि से इस काम को अभी आगे होना था।

विश्वभरनाथ शर्मा कौशिक को प्रेमचंदपरंपरा का ही लेखक माना जाता है। प्रेमचंद की तरह ही वे अपने उपन्यासों में सामाजिक जीवनयथार्थ को चित्रित करते हैं, उन्हीं की तरह वे समस्याओं को किसी आदर्शत्मक समाधान की परिणति तक ले जाते हैं उन्हीं की तरह वर्णनात्मकता, व्याख्याओं और सूक्तियों का सहारा लेते हैं, उन्हीं की तरह सामाजिक घटनाओं या परिस्थितियों के संघात में अपने चरित्रों का विकास करते हैं लेकिन वे प्रेमचंद को गहराई नहीं पा सके हैं। प्रेमचंद चाहे कोई समस्या लेते हों, चाहे समस्याओं का जाल, उन्हें जीवनयथार्थ की गहरी जटिलताओं से गुजारते हैं। उन्हें अपने समय की बहुत गहरी पहचान है उसकी बुनियाद की भी और उसकी व्याप्ति की भी। सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन-यथार्थ के परस्पर जकड़े हुए संक्रांत रूप को उभारने में उन्हें अद्भुत सफलता मिली है लेकिन कौशिक जी के उपन्यासों में समस्याएं इकट्ठे ढेर में आई हैं। इन उपन्यासों में न तो चरित्र या सामाजिक यथार्थ संबंधी गहराई है और न संश्लिष्ट व्याप्ति ही।

भिखारिणी (१८२६)

नंदराम देहात के एक अच्छे जमींदार का इकलौता बेटा था, अपढ़ था। वह अपने गाँव की एक लड़की सोना से प्रेम करता है। उससे शादी करना चाहता था किंतु उसके पिता राजी नहीं हुए। वह सोना के साथ भाग गया। अपने एक मित्र के यहाँ कुछ दिन रहा फिर वहाँ से कलकत्ते चला गया। वहाँ एक छोटी मोटी नौकरी लगे। इस बीच उसे एक लड़की पैदा हुई। लड़की का नाम यशोदा (जस्सो) रखा गया। लड़की पैदा होने के पाँच बरस बाद सोना मर गई और वह अपनी बेटो के साथ भोख माँगने लगा। एक दिन ये भोख माँगते माँगते कानपुर के रईस रामनाथ के यहाँ पहुँच गए। रामनाथ ने जस्सो को देखा और उसपर रोज़ गए। उन्होंने इन भिखारियों से कहा जब तुम्हें जरूरत पड़े मेरे यहाँ चले आना।

कुछ दिनों बाद बेटो के आग्रह पर नंदराम भोख माँगना छोड़कर रामनाथ के यहाँ नौकरी करने लगा। जस्सो को घर के लोग बहुत प्यार करने लगे और धीरे धीरे रामनाथ और जस्सो का प्रेम गाढ़ा बनता गया। एक दिन रामनाथ के मित्र के आग्रह पर नंदराम ने अपनी जीवनकथा सुनाई और रामनाथ तथा उनके मित्र ब्रजकिशोर बाबू को बहुत खुशी हुई। उन्हें कुछ संभावना बनी कि अब रामनाथ और जस्सो का विवाह हो सकता है। नंदराम के एक दोस्त ने नंदराम के माता पिता को नंदराम के जीवित होने और कानपुर में होने की सूचना दी। वे तो अब पश्चात्ताप की आग में जल हो रहे थे, आकर नंदराम और जस्सो को घर ले गए। रामनाथ और जस्सो विरह की आग में तपने लगे। रामनाथ पढ़ने के लिये इलाहाबाद गया, वहाँ से जस्सो के घर गया। उन दोनों के मिलन को नंदराम ने देख लिया लेकिन जब रामनाथ ने अपना इरादा व्यक्त किया तो उनका मन साफ हो गया। रामनाथ और नंदराम दोनों ही जानते थे कि उनके माता पिता यह विवाहसंबंध स्वीकार नहीं करेंगे। रामनाथ ने

प्रस्ताव रखा कि वह जस्सो के साथ भाग जाय लेकिन संकोचवश जस्सो ने स्वीकार नहीं किया । बाद में रामनाथ की शादी हो गई । वह अपने परिवार के साथ सुख में रहता हुआ बकालत करने लगा लेकिन जस्सो ने विवाह नहीं किया । जब लोग सुनते थे कि वह भिखारिणी रह चुकी है तब विदक जाते थे और जस्सो ने तो यों ही विवाह न करने को ठान ला था । और अंत में नंदराम ने जस्सो की सलाह पर अपनी सारी जायदाद किसानों को बाँट दी और फिर भिखारी हो गए । हरिद्वार में रामनाथ की भेंट जस्सो से हो गई । जस्सो के व्यवसाय से रामनाथ आहत हो गए और दोनों फिर अलग हो गए ।

जाहिर है कि इस कथा में प्रेम की सपाटता है । कहा जा सकता है कि इसमें नारी के प्रेम के आदर्श को दिखाया गया है । पुरुष तो शादी करके सुखी हो लेता है किंतु नारी अपने प्रेम-पात्र के विरह में अपना सारा भौतिक सुख लुटाकर भिखारिणी बन जाती है । इसमें सामाजिक समस्या के नाम पर केवल एक ही चीज है, वह है गरीब अमीर या दो भिन्न जातियों के बीच विवाह की समस्या । दो युवा हृदय एक दूसरे को मानवीय स्तर पर चाहते हैं किंतु जाति और पैसा दोनों के बीच दोवार बनकर खड़े हो जाते हैं । इसका परिणाम यह होता है कि या तो ये बिछड़ जाते हैं या इन्हें अपने साहसिक निर्णय के लिये अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं । नंदराम और सोना निर्णय लेकर भाग खड़े होते हैं किंतु इसके फलस्वरूप वे यहाँ वहाँ भटकते हैं, कष्ट भोगते हैं । सोना मर जाती है तब बाप बेटी को भिखारी बनना पड़ता है । दूसरी ओर रामनाथ और जस्सो के बीच जाति की दोवार आ जाती है और वे एक नहीं हो पाते । इसके फलस्वरूप रामनाथ सुखी होकर भी सुखी नहीं हो पाता और जस्सो तो फिर भिखारिणी हो बन जाती है ।

इस समस्या के प्रति लेखक की दृष्टि स्पष्ट नहीं है । वह इसे समस्या के रूप में न लेकर घटना के रूप में ही लेता है । इसीलिये नंदराम बाद में अपने कृत्य पर बार बार पछताता है । वह अपने कृत्य को गलत साबित करता है और सोचता है कि उसके इस कृत्य से ही सोना और जस्सो भिखारिणी बनीं, उसके माँ बाप इतने दुःखी हुए । यह किसी समस्या के प्रति लेखकीय दृष्टिकोण को धूमिल करता है । जस्सो और रामनाथ के व्याह के संबंध में भी समस्या नहीं, घटना ही उठती है । दोनों के बीच जो जाति की दोवार उठती है उसे तोड़ने का प्रयत्न किसी ओर से नहीं होता । दोनों ओर बुजुर्गों की मरजो की कल्पना करके एक नए घटनाक्रम को जन्म दे दिया जाता है और इसी का परिणाम यह होता है कि रोमानो ढंग से जस्सो को फिर भिखारिणी बना दिया जाता है । पाठक इस कथा में घटनाओं के आकस्मिक विधान या सहज विधान से उत्पन्न चमत्कारों में कथारस तो पा सकता है किंतु वह जीवनदृष्टि नहीं पा सकता जिसे वह प्रेमचंद में पाता है ।

लंबे लंबे सपाट विवरणों, स्फोट और सपाट मानसिक व्याख्याओं से बनो हुई यह कहानी न तो सामाजिक यथार्थ के स्तर पर, न मनोवैज्ञानिक यथार्थ के स्तर पर किसी गहरे द्वंद्व या तनाव की पहचान उभारती है ।

माँ (१९२६)

‘माँ’ उपन्यास में एक आदर्श माँ को प्रस्तुत किया गया है । वह आदर्श माँ अभाव में पलकर भी अपने पुत्र को योग्य बनाती है । तीस वर्षीया सावित्री नाम की एक महिला संतान-

विहीन होने से दुःखी थी। उसे चिंता थी कि उसके पति चालीस साल के हो गए हैं कहीं मर गए तो उनकी सारी संपत्ति का उपभोग पति के भाई भतीजे करेंगे। पत्नी की चिंता को देख-कर पति ने घासीराम नाम के एक गरीब आदमी के तीन वर्षीय पुत्र श्यामनाथ को गोद ले लिया। घासीराम की पत्नी सुलोचना ने अपना पुत्र देना नहीं चाहा लेकिन लालची पति ने पुत्र को दे दिया। घासीराम सावित्री के पति ब्रजमोहन के यहाँ अच्छी तनखाह पर मुनीम बन गए और घासीराम के बड़े और शरारती लड़के शंभू के पढ़ने का सारा खर्चा ब्रजमोहन देने लगे। शंभू अपनी माँ सुलोचना के योग्य निर्देश में निरंतर अच्छा बनता गया। पढ़ने में उसका मन लगता गया और इधर समृद्ध सावित्री के फूड़-लाड़ पार से श्यामनाथ बिगड़ता गया और जवान होकर पढ़ाई लिखाई से विरक्त होकर अपने बुरे मित्रों के संसर्ग में पड़कर वेश्यागामी हो गया। श्यामनाथ के वेश्यागामी मित्रों में गोकुल भी था जो शंभू और श्यामनाथ का बहनोई था। श्यामनाथ को अपनी चिंता तो नहीं ही थी अपनी बहन की भी चिंता नहीं थी। बिगड़ने साथी विश्वनाथ की प्रेरणा से श्यामनाथ और गोकुल उसके साथ एक विधवा वेगम के यहाँ जाने लगे जिसकी दो जवान बेटियाँ थीं। शंभू को जब ये बातें मालूम हुईं तो अपने अपनी माँ सुलोचना और श्यामनाथ के धर्मपिता से ये बातें कहीं। दोनों ब्रह्म चिंतित हुए। फिर शंभू ने अपने एक मित्र राधाकृष्ण को सहायता से श्यामनाथ और गोकुल दोनों को वेश्यागामिता और लंपटता से छुटकारा दिलाया। लेकिन जब गोकुल की आँख खुली तो उसकी पत्नी गम में घुट घुटकर मर चुकी थी। शंभू डिप्टी कलक्टर बनकर आगरे जा रहा था। उसके बाप घासीराम बहुत खुश थे लेकिन माँ को खुश नहीं हुई। उसे यह लगा कि यदि शंभू आगरे चला गया तो श्यामनाथ और गोकुल का उद्धार नहीं होगा। माँ के लिये बेटे के इतने बड़े पद की अपेक्षा अपने छोटे बेटे और दामाद का उद्धार ज्यादा महत्वपूर्ण था। वह शंभू से यह पद जवाइन करने से मना करती है किंतु जब उसकी नियुक्ति कानपुर में होती है तो जवाइन करने की अनुमति दे देती है क्योंकि कानपुर से लखनऊ आसानी से आया जा सकता है और उद्धार के लिये चल रही कार्यवाही को आगे बढ़ाया जा सकता है लेकिन संयोग से शंभू के कानपुर जाने से पहले ही ये दोनों लड़के अपनी भूल अनुभव कर लेते हैं और ठीक रास्ते पर आ जाते हैं।

यह उपन्यास भी अपने यथार्थबोध, संरचना और प्रभाव में सामान्य हो है। 'भिखारिणो' की तरह ही इसमें भी कोई चरित्र ऐसा नहीं है जो बहुत संद्विष्ट हो और जो लेखक की विशिष्ट चरित्र-निर्माण-क्षमता का प्रमाण देता हो। पात्र बहुत उतरलो मानसिकता से गुजर जाते हैं। माँ का चरित्र भी जीवंत नहीं बन पाया है। कुछ वेदना, कुछ सहनशीलता, कुछ विवेक के तत्वों से जिस माँ की रचना की गई है वह सामान्य हो है, वह कहीं अपनी शक्ति से झकझोरती नहीं, गहरे उतरती नहीं। इसी प्रकार कुछ चालू समस्याओं को ले लिया गया है। कुछ बिगड़ल लड़के किस प्रकार वेश्यागामी हो उठते हैं, वेश्याओं के परिवेश में क्या क्या सामान्य हरकतें होती हैं, इन सबका सतही चित्रण हुआ है। कुल मिलाकर कोई बात नहीं उभरती। लेखक क्या कहना चाहता है? वह 'माँ' का चरित्र उभारना चाहता है या वेश्यागामिता के दोष दिखाकर युवा पीढ़ी को इससे रोकना चाहता है या गोद लेने की प्रवृत्ति को भर्त्सना करना चाहता है, कुछ भी तो साफ नहीं होता। लगता है वह कुछ रोचक घटनाओं का जाल बिछाकर उसमें यह सब कुछ उलझा देना चाहता है। संरचना संबंधी जो सीमाएँ 'भिखारिणी' में हैं वे यहाँ भी हैं।

सामाजिक यथार्थ की परंपरा में आनेवाले इस युग के अन्य उल्लेखनीय उपन्यास हैं— 'कंकाल', 'तितली' (जयशंकर प्रसाद), 'कल्याणी' (मन्नन द्विवेदी), 'लाल पंजा' (दुर्गाप्रसाद खत्री), सखाराम (मदारीलाल गुप्त), 'घंटा', 'दिल्ली का दलाल', 'चंद हसीनों के खतूत', 'बुबुआ की बेटी', 'शराबी' (पांडेय बेचन शर्मा उग्र), 'हृदय की प्यास', 'अमर अभिलाषा' अथवा 'बहते आँसू' (चतुरसेन शास्त्री), 'भाई', 'मंदिरदीप', 'सत्याग्रह' (ऋषभचरण जैन), 'लगन', 'संगम', 'प्रत्यागत', 'कुंडलीचक्र', 'प्रेम की भेंट' (वृंदावनलाल वर्मा), 'राम रहीम' (राधिका-रमणप्रसाद सिंह), 'विदा', 'विजय' (प्रतापनारायण श्रोवास्तव), 'मनोरमा' (चंडीप्रसाद हृदयेश), 'गोद', 'अंतिम आकांक्षा' (सिधारामशरण गुप्त) ।

'कंकाल' (१९२९) और 'तितली' (१९३४) प्रेमचंद युग के दो अत्यंत चर्चित सामाजिक चेतना के उपन्यास हैं। इन्हें इस काल की रूमानी धारा के अंतर्गत समाविष्ट किया गया है इसलिये इन की चर्चा यहाँ नहीं होगी। इसी प्रकार उग्र और ऋषभचरण जैन के उपन्यास सामाजिक यथार्थ से जुड़े होकर भी अपनी प्रवृत्ति के कारण प्रकृतिवादी उपन्यासों के अंतर्गत आते हैं। चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से जुड़े होकर भी नग्नताचित्रण के कारण प्रकृतिवादी उपन्यासों के करीब पहुँच जाते हैं। शेष उपन्यासों में जो कुछ विशिष्ट हैं, उनकी चर्चा यहाँ की जा रही है।

'कल्याणी' (१९२०) में बाल विवाह, वृद्ध विवाह, अशिक्षा, कुशिक्षा, पारस्परिक वैमनस्य आदि के दुष्परिणाम चित्रित किए गए हैं। और इस प्रकार लेखक ने इन कुप्रवृत्तियों से ग्रस्त समाज को उसका असली रूप दिखाकर उसे दुष्परिणामों से आगाह किया है और उन कुप्रवृत्तियों को छोड़ देने की जैसे चेतावनी दी है।

'सखाराम' (१९२४) में आर्थिक अभाव और उसके प्रभावों को दिखाया गया है। निधनता के कारण व्यक्ति भूख की हो यातना नहीं सहता, अपमान भी सहता है। अपने ही सामने अपनी संतानों का विनाशदृश्य देखता है। अपनी कन्या को अभिगापित होते देखता है। लेखक को आदर्शवादी दृष्टि अंत में पात्रों का सुधार करती है।

'लगन' (१९२७) में दहेज प्रथा की समस्या है। पुत्र का बाप दहेज के अभाव में बारात लेकर लौट जाता है किंतु नई चेतना का पुत्र अपनी होनेवाली बधू को चाहता है और बधू भी चाहती है। दोनों के साहस से दोनों का मिलन होता है और दहेज प्रथा पर एक चोट लगती है। 'संगम' (१९२७) में डाकू जीवन की मूल समस्या का चित्रण है और उसके माध्यम से ग्रामजीवन में उभरती हुई विषमता का उद्घाटन किया गया है। 'प्रत्यागत' (१९२७) में सामाजिक, धार्मिक और सांप्रदायिक विषमताओं, कुरूपताओं तथा टकराहटों का चित्रण है। 'कुंडलीचक्र' (१९३२) में ग्रामसमाज में व्याप्त कुरीतियों, अज्ञानजन्य मान्यताओं, भूतप्रेत में विश्वासों आदि का चित्रण है। साथ ही पूनो तथा अजित जैसे पात्रों के आदर्श प्रेम और तर्जन्य आत्मविश्वास, त्याग और साहस का उद्घाटन कर एक आदर्श की भी स्थापना की गई है। 'प्रेम की भेंट' (१९२८) ग्रामजीवन की कुछ समस्याओं के बीच एक असफल प्रेमकथा का विधान करनेवाला उपन्यास है। कई पात्रों के बीच उलझा हुआ प्रेम उनके पारस्परिक ईर्ष्याद्वेष के कारण आहत होता चलता है। इस टकराहट के बीच सरस्वती प्रेम, त्याग और

विश्वास की प्रतिमूर्ति बनकर उमरती है और भारतीय स्त्री के उज्ज्वल चरित्र को उजागर करती है ।

‘राम रहीम’ (१९३६) के कथ्य को समझने के लिये भूमिका में दिया गया लेखकीय वक्तव्य बहुत उपयोगी है—‘मैंने रोजमर्रे की एक दिलचस्प कहानी का एक टुकड़ा लेकर धर्म और समाज के तमाम कच्चे चिट्टे खोलकर रख देने की कोशिश की है । मैंने भारतवर्ष के अंतर्गत इस युग के अत्याचार को, इस युग की पुकार को, दो जीती जागती स्त्रियों के जीवन पर प्रस्फुटित करने का प्रयास किया है । यहाँ अध्यात्म के साये में श्रृंगार है, फैशन का दामन थामे दर्शन है । इसीलिये वास्तविकता की सादी जमोन पर नैतिकता की किनारी टँकी है—यथार्थवाद के मौसम में आदर्शवाद के छोटे हैं ।’ दरअसल इस उपन्यास में लेखक ने बेला और बिजली नामक दो स्त्रियों के माध्यम से भारतीय नारी की धर्मपरायणता, त्यागमयता, तज्जन्य यातना तथा पश्चिमी संस्कार में पली स्त्री की धर्मविमुखता, भोगप्रवृत्ति और भोजमस्ती का चित्रण कर दोनों को विरोधी मान्यताओं का उद्घाटन किया है और प्रकारांतर से भारतीय समाज द्वारा अपनी ही धर्मपरायण स्त्रियों पर किए जानेवाले अत्याचारों का चित्रण कर उसे सावधान किया है । कहीं ऐसा न हो कि भारतीय स्त्रियाँ अपने ऊपर किए जानेवाले अत्याचारों से तंग आकर पश्चिमी ढंग का भोग-विलास-युक्त तथा धर्मविरोधी जीवन अपना लें ।

‘विदा’ (१९२८) उपन्यास में भी भारतीय सभ्यता का समर्थन और पश्चिमी सभ्यता की आलोचना की गई है और इसका भी माध्यम स्त्रियाँ ही हैं । इसमें स्त्रियों के त्याग और सेवामय जीवन को आदर्श माना गया है तथा पुनर्विवाह का विरोध किया गया है । चूँकि इसमें दो सभ्यताओं की टकराहट दिखाई गई है अतः इसमें भारतीय और पश्चिमी दोनों ही वातावरणों की गूँज है, बल्कि यों कहा जाय कि पश्चिमी वातावरण को उसकी पूरी रंगोनी और खोखलेपन के साथ प्रस्तुत किया गया है और भारतीय वातावरण को उसकी आंतरिकता के साथ । इस समय तक के लेखकों से स्वदेशगौरव का मोह छूटा नहीं था और वे प्रायः पश्चिमी सभ्यता को उसके एकांगी रूप में ही व्यक्त करते थे । एक स्थान पर इस उपन्यास की एक पात्र लज्जावती कहती है ‘सती ही एक आदर्श पतिभक्त नारी दिखाई देती है । और बहन, एक तुम हो, जो देवोमय स्वामी को पाकर भी प्रसन्न नहीं होते हो ।.....बहन यह तुम्हारा कुसूर नहीं है, उस पश्चिमी शिक्षा और आदर्श का है जो तुम्हें दी जा रही है ।’

‘विजय’ (१९३६) में विधवा समस्या उठाई गई है । सुशिक्षित कुमुदलता बाल विधवा है । वह अपने ज्ञान के बल पर विधवाविवाह का समर्थन करती है, विधवाओं की यातनामयी स्थिति का विधान करती है किंतु लेखकीय आदर्शवादी दृष्टि इसका समर्थन नहीं करती । इस प्रकार के हर मानवीय पहलू को पश्चिमी सभ्यता से जोड़कर विरोध करने की प्रवृत्ति इस काल में विद्यमान थी और एक प्रकार से भारतीय आदर्श के नाम पर रूढ़ियों और अमानवीय परंपराओं का समर्थन करने का संस्कार बाकी था, जैसे सारे भारतीय आदर्शों का निर्वाह करने का दायित्व नारी के ही कंधों पर आ टिका हो ।

‘मनोरमा’ (१९२८) का भी स्वर आदर्शवादी है और कथा के केंद्र में दो विरोधी प्रवृत्तियों की स्त्रियाँ हैं जो त्यागवादी और भोगवादी दृष्टियों का विरोध प्रकट करती हैं । मनोरमा

प्रलोभनों से आकृष्ट होकर पथभ्रष्ट हो जानेवाली और विधवा शांता अनेक प्रलोभनों के फंसे काटकर अपने धर्मपक्ष पर चलनेवाली नारी है। हृदयेश अपने कथ्य में विशिष्ट न होकर भी अपनी कवित्वमय शैली के कारण कुछ विशिष्ट हो उठते हैं। यह विशिष्टता उपन्यास के संदर्भ में कितनी सार्थक या कितनी निरर्थक है यह और बात है।

‘गोद’ (१९३२) की कथा के केंद्र में किशोरी नामक युवती है। उसको कथा हिंदू समाज की अमानवीय रूढ़ मान्यताओं, धर्म के नाम पर अपनाई गई क्रूर क्रियाओं आदि का पर्दाफाश करती है। हमारे समाज में यदि किसी स्त्री का अपहरण हो जाय तो उसे पतिता मानकर उसके परिवार के लोग भी नहीं अपना पाते। माँ बाप भी वात्सल्यपीडित होने के बावजूद समाज के डर से या अपने रूढ़ धार्मिक संस्कारों के नाते उसे अपनाने में हिचकते हैं। यही समस्या इस उपन्यास में उठाई गई है। किशोरी का विवाह शोभाराम से होनेवाला था। वह मेले में खो गई। स्वयंसेवकों ने उसे उसकी विधवा माता कौशल्या के यहाँ पहुँचा दिया। समाज उसे स्वीकार करने से कतराने लगा। शोभाराम के बड़े भाई ने उसे अपने घर की बहू बनाने से इंकार कर दिया। फिर वही असहानुभूति और यातना का लंबा सिलसिला चला। लेखक की आदर्शवादी दृष्टि ने अंत में शोभाराम का विवेक जाग्रत कर दिया और शोभाराम ने किशोरी से चुपचाप विवाह कर लिया। शोभाराम के बदलाव में लेखक ने उपयुक्त परिस्थितियों का विधान कर उसे अधिक विश्वसनीय बनाने का प्रयत्न किया है।

‘अंतिम आकांक्षा’ (१९३४) में एक निम्नवर्गीय घरेलू नौकर रामलाल को केंद्रीय पात्र बनाकर हमारे समाज की अनेक सामाजिक और धार्मिक विसंगतियों का पर्दाफाश किया गया है। रामलाल अत्यंत मानवीय पात्र होने के बावजूद निम्नवर्गीय होने के कारण अपने अच्छे कर्मों के लिये समाज से उपेक्षा और प्रतारणा ही पाता है। गांधीवादी प्रभाव में होने के कारण लेखक उसे कहीं आरोपित नहीं करता। वह रामलाल को उसकी समूची घुटन के साथ प्रस्तुत करता है किंतु उससे विद्रोह के स्थान पर सेवा और समर्पण ही कराता है और इस रूप में समाज पर उसके प्रभाव को ढालकर समाज को बदलने की आकांक्षा रखता है।

ऐतिहासिक उपन्यास (१९१८-१९३६)

शशिभूषण सिंहल

हिंदी उपन्यास के विकास में मुंशी प्रेमचंद की देन मील के पत्थर के समान सुस्पष्ट है। इसीलिये हिंदी उपन्यास का इतिहास प्रेमचंद को केंद्र में रखकर मोटे तौर पर तीन खंडों में विभाजित किया जाता है। ये खंड हैं—(१) प्रेमचंद पूर्व; (२) प्रेमचंद कालीन; (३) प्रेमचंदोत्तर। यहाँ प्रेमचंद कालीन (सन् १९१८-१९३६) हिंदी ऐतिहासिक उपन्यास का इतिहास प्रस्तुत किया जा रहा है। दृष्टि तथा शिल्प के आधार पर उल्लेखनीय प्रेमचंद के उपन्यास 'सेवासदन' का प्रकाशन सन् १९१८ में हुआ था। सन् १९३६ में प्रेमचंद का अंतिम (पूर्ण) उपन्यास 'गोदान' प्रकाशित हुआ। प्रेमचंद ने स्वयं कोई ऐतिहासिक उपन्यास नहीं लिखा था, किंतु उनकी कला के प्रभाव से ही तत्कालीन हिंदी ऐतिहासिक उपन्यास का संस्कार हुआ है। प्रेमचंद के उपन्यास संबंधी दृष्टिकोण का यथास्थान उल्लेख किया जाएगा।

इस युग में ऐतिहासिक उपन्यास को परिपक्वता वृंदावनलाल वर्मा के हाथों प्राप्त हुई है। वर्मा जी की देन को विधिवत् समझने के लिये उनके पूर्वकालीन हिंदी ऐतिहासिक उपन्यास की प्रवृत्ति का प्रासंगिक उल्लेख आवश्यक है। प्रेमचंद पूर्व ऐतिहासिक उपन्यासकारों में सर्वप्रथम किशोरीलाल गोस्वामी हैं। रचनापरिमाण की दृष्टि से भी ये अपने युग के अग्रणी उपन्यासकार हैं। इस युग के प्रतिनिधि ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में इन्हें स्वीकार कर, इनकी रचनाओं की प्रमुख विशेषताओं पर संक्षेप में प्रकाश डालना यहाँ अनोछ है। गोस्वामी जी ने अपना सर्वप्रथम ऐतिहासिक उपन्यास सन् १८९० ई० में प्रतापनारायण मिश्र की प्रेरणा से रचा था। यह 'हिंदोस्थान' (जिसके संपादक स्वयं प्रतापनारायण मिश्र थे) के ७ अक्टूबर, १८९० के अंक में छाना प्रारंभ हुआ और परवर्ती अंकों में समाप्त हुआ। इसका प्रथम पुस्तकाकार संस्करण सन् १९०४ में हुआ। गोस्वामी जी ने अन्य बारह ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे। 'हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी' में रंगपुर (बंगाल प्रांत के अंतर्गत) के कुमार नरेंद्रसिंह और कृष्णनगर की राजकन्या कुसुमकुमारी के साहस, धैर्य और प्रेम की कथा है। इस कथा के द्वारा

१. किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक उपन्यासों के शीर्षक तथा प्रकाशनविवरण के लिये डॉ० गोपाल राय द्वारा लिखित 'हिंदी उपन्यास कोश' (खंड १)—सन् १८७०-१९१७-प्रथम संस्करण, सन् १९६८, प्रकाशक, ग्रंथ निकेतन, पटना, देखिए। प्रेमचंद युगीन उपन्यासों के विवरण के लिये सन् १९६९ में इसी प्रकाशन से प्रकाशित 'हिंदी उपन्यास कोश' (खंड २)—सन् १९१८-१९३६—द्रष्टव्य है। डॉ० गोपाल राय ने संपादन कार्य विधिवत् निष्ठापूर्वक किया है।

—किशोरीलाल गोस्वामी के प्रमुख नौ उपन्यासों के विवेचन के लिये देखिए डॉ० कैलाश-प्रकाश के शोधप्रबंध 'प्रेमचंद पूर्व हिंदी उपन्यास', सन् १९६२, हिंदी संसार, दिल्ली, के पृ० २०५ से २४७।

उपन्यासकार ने नवाब सिराजुद्दौला (सन् १७५६-५७) के समय के अव्यवस्थित एवं क्षुब्ध बंगाल का चित्र उपस्थित करना चाहा है ।

पूर्वपीठिका—इतिहास (अतीत) उद्घोषन मात्र

ऐतिहासिक उपन्यास की रचना के लिये, उसमें वर्णित गतयुगीन वातावरण, कथा तथा पात्रों का प्रामाणिक चित्रण अपेक्षित है । गोस्वामी जी को उपन्यास में इन तीनों तत्वों की विधिवत् अवतारणा की चिंता नहीं रही है । 'तारा' (सन् १९०२) उपन्यास की भूमिका में उन्होंने स्पष्ट घोषणा की है कि उनका उद्देश्य आर्यों के यथार्थ गौरव का गुणकीर्तन है । इस उपन्यास में, उन्होंने आवश्यकतानुसार इतिहास की जटिल घटनाओं की उपेक्षा कर, कल्पना का आश्रय लिया है । वे लिखते हैं—'इसलिये हमने अपने बनाए उपन्यासों में ऐतिहासिक घटना को 'गौण' और अपनी कल्पना को मुख्य रखा है और कहीं कहीं कल्पना के आगे इतिहास को दूर ही से नमस्कार भी कर दिया है ।' वस्तुतः इतिहास गोस्वामी जी के लिये मात्र एक चौखटा है, जिसके रंगीन घेरे में वे जीवन संबंधी अपना दृष्टिकोण संजोना चाहते हैं । उन्हें ऐतिहासिक तथ्यों तथा ऐतिहासिक प्रवृत्तियों को हृदयंगम कर प्रस्तुत करने की चिंता नहीं है, और न उनमें यह क्षमता ही है । उनके उपन्यासों में अतीत का आभास भर देने का प्रयत्न रहा है । वे प्रायः ख्यात काल अथवा ख्यात पात्रों को केंद्र बनाकर, उनके चारों ओर कल्पित कथाचक्र रचते हैं । उपयुक्त वातावरणसृष्टि की उन्हें चिंता नहीं रहती और वे पात्रों के ऐतिहासिक रूप की उपेक्षा कर, उनसे मनमाना काम ले लेते हैं । उदाहरणार्थ, उनका उपन्यास 'सुलताना रजिया बेगम वा रंगमहल में हलाहल' (दो खंड, क्रमशः सन् १९०४ तथा १९०५ में प्रकाशित) विचारणीय है । रजिया बेगम का मध्यकालीन रुढ़िवादी युग में शासिका होना महत्वपूर्ण घटना थी । उसके व्यक्तित्व में वे कौन सी विशेषताएँ थीं, जिनके बल पर वह बड़े बड़े सिद्धहस्त राजनीति एवं कूटनीति विशारदों पर आधिपत्य स्थापित कर सकी, इस अनिवार्य पक्ष की लेखक ने सहज ही उपेक्षा कर दी है । वह उसे चरित्रहीना, विलासिनी पात्र, याकूब के शब्दों में 'फाहिशा' के रूप में चित्रित करना, अपना उद्देश्य समझता है । इसी प्रकार, दारा ('तारा वा अन्नकुलकमलिनी'—उपन्यास 'तारा' का द्वितीय संस्करण, प्रकाशन सन् १९१४-१९१५) के उदार व्यक्तित्व की उपेक्षा कर, उसे स्वैर तथा अव्यक्त दर्ज का जिद्दी, खुदगर्ज, बेमुरोबत, चित्रित करने में गोस्वामी जी का मन अधिक रमा है । उन्होंने आनो रुचि और उद्देश्य की पूर्ति के लिये, इतिहासप्रसिद्ध घटनाओं को पृष्ठभूमि में डालकर या उनकी उपेक्षा कर, कल्पनाविलास को उपन्यासों का उपजीव्य बनाया है ।

गोस्वामी जी के उपन्यासों में 'इतिहास' (अतीत) उद्घोषन का कार्य करता है । इस उद्घोषन से वे, कथा में गति, पात्रों में प्रामाणिकता तथा वातावरण में रंगीनी लाने का प्रयत्न करते हैं । उनका उद्देश्य इतिहास का विश्लेषण करना तथा उसके मानवीय, सामाजिक रूप को उभारना नहीं है, बल्कि उसका रंग देकर, आभास देकर, अपनी मान्यताओं को स्थापित करना है । गोस्वामी जी हिंदू 'सनातन धर्म' के कट्टर अनुयायी एवं समर्थक थे । वे हिंदू जाति के पतन का कारण मुस्लिम शासन के कुप्रभाव को मानते थे तथा आर्यसमाज को नवीन विचार-धारा को भी प्रायः अहितकर पाते थे । अपनी धारणा के प्रतिपादन के लिये, उन्होंने भारतीय इतिहास के मध्ययुग से उपन्यासों की कथाएँ जुटाईं तथा अपने पूर्वग्रह के अनुसार घटनाओं एवं

पात्रों का चित्रण किया। इस पूर्वाग्रह के कारण वे इतिहास के साथ न्याय करने में असमर्थ रहे हैं। इतिहास, संप्रदायविशेष का उत्कर्ष अथवा कुछ व्यक्तियों का गौरववृत्त मात्र नहीं है, यह मानव जाति के विकास की गाथा है। इसमें मनुष्य का समाजसापेक्ष जीवन रहता है, जो अनेक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि तत्वों के अनवरत संघर्ष और विकास की देन है। गोस्वामी जी के उपन्यासों में चित्रित जीवन, व्यक्तियों की प्रेमभावना तथा उनकी क्षुद्र महत्वाकांक्षाओं के क्षेत्र तक सीमित है। उनके उपन्यासों का जीवन समाजधारा से विच्छिन्न तथा एकांतिक है। उसमें यथार्थ दृष्टि का अभाव है और कल्पना को उत्तेजना, प्रचार की गंध तथा शिक्षण की आतुरता है। फलस्वरूप, उनके उपन्यास जनसाधारण के सहज जीवन तथा लोकजीवन की अनिवार्य छाप से वंचित हैं। मानवजीवन के सहज विकास को हृदयगम करने की असामर्थ्य के कारण गोस्वामी जी ने अपने उपन्यासों में 'भाग्य के खेलों' का उद्घाटन किया है। भाग्य का आश्रय ले लेने पर, उन्होंने घटनाओं और पात्रों की मनमानी रीति से विकसित होने पर विवश किया है। उनके उपन्यास घटनावैचित्र्य तथा अस्वाभाविक चरित्रचित्रण से अनेक स्थलों पर रँग गए हैं।

गोस्वामी जी ने नारी के चरित्रचित्रण पर विशेष ध्यान दिया है। उनकी नारी संबंधी धारणा पर रीतिकालीन मनोवृत्ति की छाप है। उनको नारी सहज मानवी की अपेक्षा, पुरुष की भोग्या एवं एक उत्तेजक आकर्षण के रूप में अधिक चित्रित हुई है। उस स्त्री के प्रति पुरुष मात्र का आवेग है और उसके चारों ओर रोमांचकारी पड़्यों का जाल बिछ गया है। गोस्वामी जी के चेतन उपदेशक ने स्त्री पुरुष के कुत्सित कर्मों की तीव्र आलोचना की है, किंतु उनके कथाकार के अवचेतन ने विषयवस्तु के रूप में इन्हीं को ग्रहण कर लिया है। एक विज्ञ आलोचक के शब्दों में—'गोस्वामी जी के उपन्यासों को पढ़ने से ऐसा लगता है कि उनका सनातनी वैष्णव उपदेशक भले ही स्त्रियों के कुत्सित कर्म की मौखिक निंदा करता हो, किंतु उनका रसिक हृदय स्त्रियों के रूप यौवन, हाव भाव, प्रेम क्रोड़ा तथा हासविलास के खुले वर्णन में अधिक परितृप्ति मानता था।'^१

उपदेशक, प्रचारक गोस्वामी जी की दृष्टि एकांगी है। अपना उद्देश्यपूर्ति में साधक पात्र उन्हें प्रिय हैं और मार्ग के बाधक पात्रों के प्रति उन्हें तीव्र वितुष्णा है। ये पात्र मानव कम हैं, सत् अथवा असत् के प्रतीक अधिक हैं। असत् के गृहित रूप को निरंतर उभारने के कारण उनके उपन्यासों का वातावरण वितुष्णामय हो गया है। वितुष्णा के आवेग ने उन्हें कुतूहल और रोमांच से रंजित कर दिया है किंतु साथ ही वे स्फूर्तिशून्य वन अवसाद से ओतप्रोत हो गए हैं।

प्रेमचंदपूर्व युग में किशोरीलाल गोस्वामी के अतिरिक्त गंगाप्रसाद गुप्त तथा जयरामदास गुप्त ने क्रमशः छह तथा नौ ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। अन्य इतिहासाश्रित कथाओं और उपन्यासों की संख्या साठ से ऊपर बैठती है। ये सब रचनाएँ या तो गोस्वामी जी के ढर्रे की हैं, अथवा नितांत ऐतिहासिक इतिवृत्त से आपूर्ण हैं। इनमें कलात्मकता के संस्पर्श का भी अभाव है।

१. शिवनारायण श्रीवास्तव, हिंदी उपन्यास : ऐतिहासिक अध्ययन, संवत् २०१६, सरस्वती मंदिर, वाराणसी, पृ० ४१।

प्रेमचंद युग में ऐतिहासिक उपन्यासों की संख्या लगभग उन्नीस है। यदि भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' (सन् १९३४) को भी ऐतिहासिक उपन्यासों में गिना जाए तो इनकी कुल संख्या तीस बैठती है। इनका एक वर्ग भारतीय मध्यकाल के मुस्लिम शासकों के शासनकाल से संबंधित है। ऐसे उपन्यासों में मुसलमानों की सत्तालोलुपता, कामुकता तथा हिंदू पात्रों की वीरता एवं उत्सर्गभावना का मुख्यतः चित्रण हुआ है। इनमें कलात्मकता कम है, इसी लिए कालांतर में ये भुला दिए गए हैं। संक्षेप में इनका विवरण इस प्रकार है—

१. वीरवाला (प्रकाशन सन् १९२१) लेखक, लक्ष्मीसहाय माथुर 'विशाद'। सोलह पछों के इस उपन्यास में चिन्नीड की राजकुमारी प्रभावती के देशप्रेम, त्याग और वीरता की कथा है।

२. शाहजादा और फकीर तथा उमरा की बेटी (सन् १९०२) रायसाहब रघुवर प्रसाद द्विवेदी। इसमें दो कथाएँ हैं। एक में, शाहजहाँ के प्रतद्वंद्वी गहग्या तथा दक्खिन्ना द्वारा उसके विरोध में किए गए प्रयत्नों का वर्णन है, दूसरी में, शाहजहाँ के प्रतिपक्षा लादो खाँ की वीर पुत्री जहाँनारा की वीरता की कथा है।

३. सूर्यास्त (सन् १९२२) गोविंदवल्लभ पंत। महाराणा प्रताप के जीवन की घटनाएँ।

४. नरेंद्रभूषण (सन् १९२५) मातासरन मालवीय। बाबर का हिंदू राजाओं द्वारा विरोध।

५. प्रेमपथिक (सन् १९२६) रामचंद्र मिश्र। शिवाजी तथा अन्य मराठा सरदारों की वीरता।

६. पतन (सन् १९२७) भगवतीचरण वर्मा। अतिलौकिक घटनाओं से भरपूर। अपराध और बलात्कार प्रधान। कथा में बाजिद अली शाह का नाम जोड़ा गया है।

७. मुगलद्वार रहस्य उपनाम अमृत और विष (सन् १९२८) रामकृष्ण शुक्ल। नूरजहाँ के शासनकाल के दाँव पेंच; हिंदुओं के विरुद्ध पद्धत्यंत्र; मुसलमानों की कामपिपासा।

८. वीर बादल (सन् १९२९) जगदीश झा विमल। गेरा और बादल की वीरता।

९. अमर सिद्ध राठौर (सन् १९२९) विश्वनाथ सिंह पोखरैल।

१०. केन (सन् १९३०) कृष्णानंद गुप्त। कालिंजर राज्य के पास के गाँव में कुर्मी युवक घोरज और अहोर युवती जमुना के प्रेम का चित्रण। इसी काल में यवनराज महमूद का भारत पर आक्रमण होता है।

११. दिल्ली की शाहजादी (सन् १९३३) रामप्यारे त्रिपाठी। औरंगजेब तथा शिवाजी का संघर्ष; शिवाजी और रोशनआरा का तथाकथित प्रेम।

१२. विस्मृत सम्राट् (सन् १९३६) ब्रजनंदन सहाय। नूरजहाँ तथा खुर्रम का सत्ता के लिये संघर्ष। बहुत थोड़े समय के लिये खुसरू का पुत्र दादिरबख्श गद्दी पर रहता है, खुर्रम के प्रभावशाली होते ही वह राजगद्दी से उतार दिया जाता है।

शेष उपन्यास अन्य युगों अथवा अन्य देशों से संबंधित हैं। कुछ अन्य सर्वथा अप्राप्य हैं। इनकी सूचना निम्नलिखित है—

१. स्वदेश की बलिबेदिका (सन् १९२३) लेखक—'एक देशभक्त'। लेखक ने उपन्यास में अपना वास्तविक नाम नहीं दिया है। संभवतः ब्रिटिश-शासन-युग में स्वदेश प्रेम की चर्चा करते हुए लेखक ने वास्तविक नाम प्रकट करना निरापद न समझा हो।

२. सुरसुंदरी (सन् १९२३) मुरलीधर वर्मा । अप्राप्य ।

३. सुहराव कस्तुर (सन् १९२४) रामनाथ पांडेय । पुत्र सुहराव तथा पिता कस्तुर के द्वंद्व की सुप्रसिद्ध कथा ।

४. जादूगर (सन् १९२५) गौरीशंकर शुक्ल ।

५. तुर्क रमणी (सन् १९२५) तुर्की के मुस्तफा कमालपाशा की एक प्रेम कथा ।

६. बंगाल की बुलबुल (सन् १९२८) जमनादास मेहरा ।

७. बैरागढ़िया राजकुमार (सन् १९३०) राजा चक्रधर सिंह । मुख पृष्ठ पर लिखा है— 'सचित्र ऐतिहासिक उपन्यास' किन्तु यह ऐतिहासिक उपन्यास है नहीं । इसमें गौड़ जाति के प्रजाप्रिय राजकुमार की कथा है ।

८. मायाचक्र (सन् १९३०) राजा चक्रधर सिंह । राजकुमार हीरासिंह का उर्वशी के प्रति प्रेम, मार्ग जो बाधाएँ तथा मिलन । सूफी काव्य परंपरा के ढंग पर उपन्यास लिखा गया है ।

९. राजपूत रमणी (सन् १९३२) ईश्वरीप्रसाद उपाध्याय । अप्राप्य ।

१०. प्यासी तलवार (सन् १९३६) अप्राप्य ।

११. लखनऊ रहस्य (प्रकाशन काल का उल्लेख नहीं; संभवतः सन् १९३६) लेखक श्रीकृष्ण हसरत ।

१२. शरणवत्सल हुम्नरी (संभवतः सन् १९३६) चौधरी शिवनारायण लाल ।

१३. सच्चाई चंद्रगुप्त लेखक, महावीर प्रसाद, गहमरी । अप्राप्य ।

उक्त उपन्यासों की कथाएँ विविध विगत प्रकरणों से संबंधित हैं । अब केवल पाँच उपन्यास उल्लेखनीय हैं—

१. गढ़ कुंडार—वृंदावनलाल वर्मा । इस उपन्यास की रचना १७ अप्रैल से १७ जून तक सन् १९२७ ई० में हुई थी । इसका सर्वप्रथम प्रकाशन सन् १९३० में हुआ था ।

२. बिराटा की पछिनी—वृंदावनलाल वर्मा । (रचनाकाल सन् १९३० से १९३३; सर्वप्रथम प्रकाशन सन् १९३६) ।

३. खवास का ब्याह (सन् १९३०)—चतुरसेन शास्त्री । यह उपन्यास बाद में 'पूर्णाहुति' नाम से भी छपा है ।

४. प्रभावती (सन् १९३६)—सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' । काव्यकुंजेश्वर महाराज जयचंद के शासनकाल में सामंतों का पारस्परिक विग्रह । उपन्यास की शैली काव्यात्मक अधिक है, यह ऐतिहासिक गद्यकाव्य जैसा बन पड़ा है ।

५. चित्रलेखा (सन् १९३४)—भगवतीचरण वर्मा ।

'प्रभावती' उपन्यास कम, काव्य अधिक है । अपने इस असंतुलन के कारण कविवर निराला का यह एक मात्र ऐतिहासिक उपन्यास विस्मृत हो गया है । 'खवास का ब्याह' उपन्यास, परवर्ती काल में चतुरसेन शास्त्री द्वारा रचित अन्य महत्वपूर्ण उपन्यासों की तुलना में हलका है, फिर भी यह उनकी मूल रचनाप्रवृत्ति का परिचायक होने के कारण विचारणीय है । 'चित्रलेखा' को ऐतिहासिक उपन्यास स्वीकार किया जाए, अथवा नहीं, यह प्रश्न विचारणीय है । इस युग की मूल उपलब्धि वृंदावनलाल वर्मा के सुप्रसिद्ध उपन्यास 'गढ़ कुंडार' तथा 'बिराटा

की पत्नी' है। इन अंतिम चार उपन्यासों पर यथास्थान सविस्तार चर्चा की जाएगी।

इतिहास की चकाचौंध

चतुरसेन की इतिहास विषयक धारणा तथा उनके तत्संबंधी दृष्टिकोण के क्रमिक विकास के अध्ययन के लिये, उनका सर्वप्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'खवास का ब्याह' ('पूर्णाहुति') विचारणीय है। लेखक हिंदू राजाओं के गतकालीन शौर्य पर मुग्ध है। पुरातन शौर्य के वर्तमान ध्वस्त चिह्नों को देखकर, उसे अतीत के गौरव गान की प्रेरणा मिलती है। वह लिखता है— 'आज से एक हजार वर्ष पूर्व दिल्ली का कुछ और ही रंग था। पृथ्वी की संपदाएँ किस प्रकार वीरवर भोगा करते हैं, और नर नाहर किस भाँति जिया करते हैं, यह बात आज के गुलाम और नामद हिंदू भूल गए हैं, परंतु उस समय जगत् में बोरता ही सार था, बोरता का राज्य और उसकी प्रतिष्ठा थी।' उसकी दृष्टि इतिहास की चकाचौंध (ग्लेमर) पर केंद्रित है। इतिहास पुरुषों के उत्थान पतन की गाथा उसे भाती है। देशसेवक, राजा, सामंत, मंत्री, योद्धा, पंडित, सुंदरी—ये सब उसके वर्ण्य विषय हैं। उसकी टकटकी इतिहास के ऊँचे टीलों, वैभवसरिता तथा उसके किनारे चमत्कारमयी चमचमाती बालू पर लगी है। मैदान, पेड़ पौधे, घास फूस के सरल साधारण जीवन दृश्य, उसकी दृष्टि से ओझल रहते हैं। उसने उपन्यास में सार्वजनिक सहज जीवनधारा को चित्रित करने का प्रयत्न नहीं किया है।

'खवास का ब्याह' युद्ध की कथा है। इस विध्वंसकारी युद्ध का कारण राजाओं का मिथ्या-भिमान, उनकी स्वार्थलिप्सा तथा नारी का अतुल सौंदर्य है। राजा जयचंद की पुत्री संयोगिता पर मुग्ध होकर पृथ्वीराज कन्नौज पहुँचता है और कौशल एवं शौर्य का परिचय देकर, उसे ले भागता है। अनेक मुठभेड़ों तथा युद्धों में दोनों पक्षों के असंख्य योद्धा काम आते हैं। भीषण सर्वनाश के उपरांत पृथ्वीराज संयोगिता को घर लाकर, उससे विधिवत् विवाह कर लेता है। इस अवसर पर, बीती विसार कर, जयचंद अपने पुरोहित के हाथ हाथी, घोड़े, रत्न स्वर्ण के ढेर पृथ्वीराज को भेंट कराता है। विवाह जैसे जीवन के साधारण व्यापार को लेकर हुई सार्वजनिक जीवर्न एवं संपत्ति की अपूर्ण हानि पर उपन्यासकार कहीं भी खेद प्रकट नहीं करता। वह रस ले लेकर संयोगिता के सौंदर्य, पृथ्वीराज के शौर्य, योद्धाओं की प्राणहानि तथा विवाह के ऐश्वर्य प्रदर्शन का वर्णन करने में अपने कर्तव्य की इतिथी समझता है। घटनाओं के औचित्य-अनीचित्य पर विचार करने का उसे अवकाश नहीं है।

चतुरसेन का इतिहास संबंधी दृष्टिकोण आलोचनात्मक विश्लेषणात्मक नहीं है। उन्होंने 'पृथ्वीराज रासो' को 'खवास का ब्याह' उपन्यास का आधार बनाया है। वे उपन्यास के 'दो शब्द' में स्वीकार करते हैं कि रासो प्रामाणिक रचना नहीं है, किंतु फिर भी उन्हें ग्राह्य है। कारण, 'रासो का वर्णन सत्य हो या असत्य, मैं तो उसके प्रसादगुण पर मोहित हूँ। इस ग्रंथ में वीर और शृंगार रस का जो प्रबल प्रवाह बहाया गया है, उसकी समता अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।'—रस का स्रोत इतिहास, उन्हें प्रिय है। उनकी दृष्टि में इतिहास का अर्थ, ऐश्वर्य है, चकाचौंध है, गरिमा है। वहाँ जीवन की स्वाभाविक गति नहीं, कृत्रिम चमत्कार का आवेग है। उनके पास सबलता दुर्बलता के सरल सामंजस्य नहीं है। वे प्रबल, प्रचंड हैं और उनमें

१. 'पूर्णाहुति' (खवास का ब्याह)—तृतीय संस्करण १९६० ई०, जब प्रकाशन, कबीर चौरा, वाराणसी, पृ० २।

देवत्व या दानत्व का अंश प्रधान रहता है। चतुरसेन को साधारण मनुष्य में रुचि नहीं है, और न वे, उसे कुछ कहने योग्य पाते हैं। उनके पात्रों के पारस्परिक संघर्ष का रूप स्थूल है, उनमें अंतर्द्वंद्व का अभाव है। चतुरसेन की घटनाओं का आकर्षण, उनमें निहित पड्यंत्र, पराभव, त्याग बलिदान तथा शौर्य तत्व के चमत्कार पर निर्भर है। चमत्कार प्रदर्शन के फेर में, उन्होंने उपन्यास में अनेक स्थलों पर अलौकिकता का आश्रय ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ, युद्धभूमि में पृथ्वीराज के योद्धा कान्ह का कबंध सहस्रों सैनिकों से भीषण युद्ध करता है। उपन्यास की शैली, चित्रण की नहीं, वर्णन एवं परिगणन प्रधान है। ऋतु वर्णन, शकुन अपशकुन, नगर वर्णन, रंगशाला वर्णन तथा सौंदर्य वर्णन के प्रकरण इस कथन के प्रमाण हैं। पृथ्वीराज के विवाह के समय आयोजित भोज के विवरण में लेखक ने पूरे दो पृष्ठ व्यय किए हैं और अपने स्मरण में कोई मिठाई, भोजन, फल, तरकारी या अचार अनुलिखित नहीं छोड़े हैं। लेखक भोजन की अति दीर्घ सूची तथा ढेरों ढेर मात्रा से चमत्कृत करना चाहता है, किंतु उससे अवकचा कर पाठक, भोज का कल्पित स्वाद लेना तो दूर रहा, यदि अश्वि और अजोर्ण अनुभव करने लगे तो आश्चर्य नहीं।

उपन्यास—मानव चरित्र का चित्रमात्र

ऐतिहासिक उपन्यास में इतिहास संबंधी व्यवस्थित दृष्टि तथा समुचित उपन्यास कला, इन दोनों तत्वों का निर्वाह अपेक्षित है। इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए, इस युग में, सर्वाधिक देन बृंदावनलाल वर्मा को है। उपन्यास कला में वर्मा जो प्रेमचंद से प्रभावित हैं। अतः प्रेमचंद को उपन्यास संबंधी चारणा का अति संक्षेप में विश्लेषण यहाँ प्रासंगिक जान पड़ता है। प्रेमचंद से पूर्व उपन्यास में मुख्यतः कथा वर्णन रहता था। पात्रों के स्वतंत्र व्यक्तित्व निरूपण तथा कथा एवं पात्र में कार्य-कारण-संबंध स्थापित करने पर उपन्यासकारों का ध्यान नहीं रहता था। प्रेमचंद ने अपने निबंध संग्रह 'कुछ विचार' के निबंध 'उपन्यास' में मत व्यक्त किया है— 'मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।' इस सूत्र के विश्लेषण से प्रेमचंद की उपन्यास संबंधी चारणा स्पष्ट होती है, साथ ही, विवेचन युग में बृंदावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों की उपन्यास कला समझ पाने में सहायता मिलती है।

मनुष्य के चरित्र के मूल में उसका व्यक्तित्व या आपा रहता है। आया मनुष्य को व्यक्ति बनाता है और उसे विशिष्टता प्रदान करता है, अन्यथा मनुष्य केवल पुतला मात्र बनकर रह जाता है। मनुष्य अपना व्यक्तित्व बोध प्राप्त करते समय, निज अस्तित्व को अन्य से पृथक् करके पहचानना सीख लेता है। मनुष्य का 'अहम्' मूलतः जन्मजात है, किंतु उसके संवर्धन में अन्य तत्व भी कार्य करते हैं। ये तत्व व्यक्ति के पैतृक संस्कारों तथा उसकी सामाजिक परिस्थितियों में निहित रहते हैं। मनुष्य के इस 'अहम्' अथवा आपे का उद्घाटन लेखक उपन्यास में, जिस विधि से करता है, उसको चरित्र चित्रण की संज्ञा दी जाती है।

उपन्यासकार चरित्र चित्रण के अंतर्गत पात्र के चरित्र पर 'प्रकाश' डालता है और उसके 'रहस्यों' को खोलता है। इस प्रक्रिया में, पात्र का आपा, सामाजिक भूमि पर रहकर, विकसित होता है। पात्र के अंतःकरण का उद्घाटन करने के लिये उपन्यासकार उसकी 'कथनी' से ही संतोष न करके उसकी 'करनी' का भी परिचय देता है। पात्र के वचन और कर्म से,

उसके मन की संगति भी, उपन्यासकार स्थापित करता है। पात्र के ऐसे त्रिमुखी उद्घाटन के लिये, उसे उपन्यासकार विभिन्न परिस्थितियों के बीच से गुज़ारता है। उपन्यास में, परिस्थितियों में पड़कर, पात्र व्यक्तित्व के विविध पक्षों का परिचय देता है और उसकी चारित्रिक विशेषताओं के परिणामस्वरूप घटनाओं का विकास होता है। इस प्रकार, घटना तथा चरित्र के परस्पर घात प्रतिघात से उपन्यास की कथा विकसित होती, रची जाती है।

प्रेमचंद की उपन्यास संबंधी उक्त परिभाषा में 'चित्र' शब्द का प्रयोग विशेष सार्थक है। इसका अर्थ, जीवन की 'प्रतिकृति' नहीं, 'अनुकृति' है। पात्रों के चरित्र के चित्र प्रस्तुत करते समय उपन्यास जीवन दृश्यावली से कुछ दृश्य चुनकर उपन्यास में संकलित करता है। जीवन दृश्यों का चयन, संकलन, उपन्यासकार अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के अनुसार करता है और चुने हुए दृश्यों को अनुभूति एवं कला से सजा सँवार कर, 'चित्र' का रूप प्रदान करता है। 'चित्र' शब्द द्वारा जीवन दृश्यों के चयन, परिवर्धन के द्योतन के साथ उपन्यास में निहित व्यवस्था का बोध भी होता है। उपन्यासकार इन चित्रों को सुयोजित क्रम में पिरोता है और ये सब, उपन्यास के सुनिश्चित 'अंत' की ओर उन्मुख होते हैं। 'चित्र' का अर्थ है—प्रादि, मध्य और अंत की कड़ियों में बँधे हुए जीवन का किसी समस्या या चरित्र के माध्यम से कलात्मक उद्घाटन। मानव जीवन का ऐसा सुव्यवस्थित सुयोजित रूप उपन्यास को कहानी है। इस संपूर्ण विवेचन के निष्कर्ष रूप में वृंदावनलाल वर्मा के 'कहानीपन' संबंध में विचार उद्धरणिय हैं। वे लिखते हैं—कहानी में पात्र पहले आते हैं। परंतु कहानी पात्रों के चरित्र चित्रण के साथ घटनाओं को गुत्थो भी चाहती है। इन दोनों का समन्वय जब हमें किसी प्रेरक, स्फूर्तिदायक परिणाम पर पहुँचाता है, तब हम अवश्य कह सकते हैं कि कहानी में पूरा 'कहानीपन' है।^१

इतिहास—त्रिगत और वर्तमान का संवाद

'गढ़कुंडार' की रचना प्रेरणा का रोचक प्रसंग वृंदावनलाल वर्मा की इतिहास विषयक धारणा को स्पष्ट करमे में सहायक है। अपने प्रदेश बुंदेलखंड की खुला गोद में भ्रमण करने का उन्हें चाव था ही। शिकार का व्यसन भी साथ लग गया। इस वहाने उन्हें प्रकृति के घनिष्ठ संपर्क में आने का पूरा अवसर मिला। एक रात को जंगलों में बेतवा नदी के किनारे वे शिकार के लिये झाड़ी की ओट लिए बैठे थे। हलकी बयार की सनसनाहट और ऊपर से धुंधली सी चाँदनी। प्रकृति की विशाल गोद में, दूर चाँदनी में, कुंडार का प्राचीन निर्जन गढ़ झाँई मार रहा था। ऐसी हृदयस्पर्शी बेला में वर्मा जी के हृदय में कल्पना और विचारों की आँधी सी आ गई। कितना प्राचीन है यह किला, न जाने कितने दृश इसने देखे होंगे! कैसा वैभव रहा होगा यहाँ! किंतु आज तो कुछ भी शेष नहीं! हृदय में टोस उठी और उनकी विश्लेषणात्मक वृत्ति करवटें लेने लगीं। वर्मा जी इस प्रसंग में स्वयं लिखते हैं—'प्राचीन में कुछ बहुत अच्छा था, कुछ बुरा। बुरे के हम शिकार हुए। अच्छे ने हमें सर्वनाश से बचा लिया। क्या वर्तमान और भविष्य के लिये हम प्राचीन से कुछ ले सकते हैं? प्राचीन की गलतियों से बच सकते हैं। वर्तमान का हर एक क्षण भूत और भविष्य में परिवर्तित होता रहता है। कोई किसी से अलग नहीं। इन्हें भली भाँति देखो, परखो और संश्लेषण की विधि अपना कर पढ़ो। बुंदेलखंड के इतिहास और भूगोल से परिचित था ही, बहुत सी परंपराएँ भी हाथ लग गई थीं। निम्न

१. देखिए पत्रिका 'समालोचक' (आगरा) का यथार्थवाद विशेषांक, फरवरी, १९५९ ई०।

किया कि वर्तमान की समस्याओं को लेकर प्राचीन में रम जाओ और उपन्यास के रूप में जनता के सामने अपनी बातों को रख दो ।' इसी उधेड़ बुन में रात्रि कट गई । शिकार का कार्यक्रम जहाँ का तहाँ रह गया । प्रातः तक एक उपन्यास की रूपरेखा मस्तिष्क में खिच गई और ठीक दो महीने में उनका सर्वप्रथम ऐतिहासिक उपन्यास 'गढ़कुंडार' सामने आया ।

ऐतिहासिक उपन्यास और जीवन प्रवाह

इतिहास के माध्यम से जीवन का अन्वय कर उसे उपन्यास का रूप प्रदान करते हुए बर्मा जी ने ऐतिहासिक उपन्यास को नवीन अभिप्राय दिया है । उन्होंने अपने उपन्यासों के लिये सामग्री भी जीवन प्रवाह से अपनाई है । यह केवल इतिहास ग्रंथों से उपलब्ध नहीं हो सकती । इतिहासकारों की दृष्टि में नगण्य या उनके द्वारा उपेक्षित सूत्रों को एकत्र कर उनके आधार पर कथा रचना में अन्य प्रासंगिक स्रोतों से बर्मा जी ने स्वभावतः सहायता ली है । 'गढ़ कुंडार' तथा 'विराटा की पद्मिनी' की कथाओं से संबंधित सामग्री के विषय में इतिहास मूकप्राय है । बर्मा जी की ऐतिहासिक कथाओं के प्रमुख स्रोतों को, संक्षेप में इस प्रकार गिनाया जा सकता है

१. इतिहास—उपन्यासकार को अपने जादशों और उद्देश्य पर खरी उतरने वाली कथा के जो सूत्र इतिहास से मिले हैं, उन्हें उसने ग्रहण कर लिया है । ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा का पूरा प्रयत्न किया गया है । हाँ, जहाँ इतिहास से उद्देश्य पूर्ति में धक्का पहुँचता है, वहाँ उसकी तर्क बुद्धि सजग हो गई है । वह विदेशी या उनसे प्रभावित इतिहासकारों द्वारा तोड़े मोड़े तथ्यों को संभावना और तर्क की कसीटी पर कसता है । उस विषय पर, विभिन्न मतों की दृष्टि से विश्लेषण कर, परंपराओं तथा किंवदंतियों के प्रसंग में भी विचार करता है । इन सब के आधार पर यदि उसकी कल्पना को पुष्टि तथा तर्क बुद्धि को तुष्टि हो जाती है, तो ठीक है, अन्यथा, ऐतिहासिक तथ्यों को ज्यों का त्यों रख देना उसे वांछित है ।

२. स्थानीय इतिहास—अनेक रोचक, शिक्षाप्रद एवं कुतूहलप्रद घटनाएँ तथा व्यक्तित्व, केवल राष्ट्र के उत्थान पतन के दृष्टिकोण से लिखे गए इतिहासों के द्वारा उपेक्षित होने के कारण अंधकार विष्टित अवस्था में यत्र तत्र दबे पड़े हैं । जिलों के भूगोल, इतिहास आदि संबंधी विवरणों को प्रस्तुत करके बाड़े 'गजेटियरों' तथा गाँवों की दस्तूरदेहियों में ऐसे सूत्र प्रायः मिल जाते हैं । इन व्योरो को इतिहास से भिन्न स्तर पर रखने के लिये 'स्थानीय इतिहास' की संज्ञा देना उचित होगा । 'गढ़ कुंडार' तथा 'विराटा की पद्मिनी' की मुख्य कथाओं के सूत्रों को इसी स्रोत से संचित किया गया है ।

३. अवशिष्ट वातावरण—(परंपरायें, किंवदंतियाँ, पुराने भवनों के खंडहर, स्मारक चिह्न, आदि) बर्मा जी के उपन्यासों का संबंध बुंदेलखंड से है । बुंदेलखंड के आज के वातावरण में भी एक विशेषता है—उसमें पुरातन की गंध । इस भूखंड में अनेक वीर राजा, सरदार और सामंत हुए हैं । पहले यहाँ राज्य थे और अंग्रेजी शासनकाल में अनेक रियासतें थीं । रियासतों के साधारण निवासी आधुनिक सभ्यता से अभी बहुत प्रभावित नहीं हो पाए हैं । वे अपने पुरखों के स्थान में बसे हुए पुरातन परंपराओं की पैतृक संपत्ति की भाँति हृदय कोश में संजोए चले आ रहे हैं । वे निर्बल हैं, अपढ़ हैं, और आज के युग की दृष्टि में पिछड़े हुए भी, किंतु उनकी गाँठ में है राजा सामंतों और बुंदेलखंडी साधारणजन के शौर्य, स्वामिभक्ति, देशप्रेम और स्वाभिमान की

‘सनक’ की अनगिनत कथाएँ। इस संपत्ति के प्रति उनके अंतरतम में आस्था और विश्वास है। बर्मा जी ने इन कथाओं से अपने उपन्यासों की जीवनी शक्ति प्रदान की है।

बुंदेलखंड में यत्र तत्र बिखरे हुए ऐतिहासिक भवनों, चिह्नों और मूर्तियों के भग्नावशेष भी महत्व की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। भग्नावशेषों के समोपवर्ती स्थलों के निवासियों के पास उनसे संबंधित जनश्रुतियों और किंवदंतियों का भरा पूरा खजाना है। यही नहीं, निर्जन खंडहरों की जीर्ण ऊँची नीची दीवारें, आकाश से आँख मिचौनी करती टूटी फूटी छतें, ध्वस्त बुर्जे, उनमें विचरते वन्य पशु, पास बहते नदी नाले, टोरियाँ, पहाड़ियाँ और वन भावुक कथाकार के कान में अपनी मूक भाषा में बहुत कुछ कह जाते हैं। इस वातावरण में पहुँच कर कथाकार की उर्वर कल्पना यदि बीते युग के सजीव, साकार स्वरूप का पुनर्निर्माण कर पाए, तो क्या आश्चर्य! कुंडार के गढ़ तथा बिराटा की पद्मिनी के शिला पर अंकित पगचिह्न से उपन्यासों की कथाओं में बहुत कुछ संकलित किया गया है।

४. बीती घटनाएँ—हमारे आस पास के संसार में आए दिन अनेक घटनाएँ घटित होती रहती हैं। उनमें बहुत सी, मानव जीवन को कुछ संदेश देती हैं। ये मनुष्य को कुछ सिखाती हैं, उसका मनोरंजन भी करती हैं। जनजीवन के महत्व की ये घटनाएँ इतिहास में लिखी नहीं गईं, और न कभी लिखी ही जाएंगी, पर ये कथाकार की कल्पना को उद्धोस करने के साथ उसे कथारूपी प्रतिमा के निर्माण के हेतु ठोस मट्टी भी प्रदान करती हैं। कथाकार उस मिट्टी को जहाँ तहाँ से बटोर कर, काट कर, तराश कर निराला सुगठित रूप प्रदान करता है। ऐसी घटनाएँ अनुभूत सत्य होने के साथ कोरी कल्पना से अधिक मनोरंजक हैं। किसी ने ठीक कहा है कि तथ्य कल्पना से बढ़कर अद्भुत होता है।

बर्मा जी ने विभिन्न स्थलों और विभिन्न कालों की असंबद्ध घटनाओं को, आवश्यकतानुसार, एक लड़ी में गुंथ कर सुयोजित माला का रूप दिया है।

५. लोककथाएँ—जन समुदाय के हृदय में समाई हुई ये कथाएँ जीवन के सत्य का प्रतीकात्मक विधि से उद्घाटन करती हैं। कथाओं को मनोवैज्ञानिक एवं तर्कसंगत रूप प्रदान करने पर वे आधुनिक पाठक को भी ग्राह्य हो जाती हैं।

६. कल्पना—बर्मा जी कोरी कल्प को महत्व प्रदान नहीं करते। फिर भी वे इतिहास, स्थानीय इतिहास, अवशिष्ट वातावरण, बीती घटनाओं तथा लोककथाओं से संचित सामग्री को सजाने सँवारने और उन्हें शृंखलाबद्ध एवं सोद्देश्य रूप प्रदान करने में कथाकार सुलभ कल्पना का प्रयोग करते हैं। कल्पना उनके हाथों कुम्हार की मिट्टी का नहीं, बरन् प्रायः उसकी काट छाँट करने वाली डोरी का कार्य करती है। कुछ कल्पनाएँ उन्हें विशेष रूप से प्रिय हैं, उन्हें (जैसे प्रेम कथाएँ) वे किसी न किसी रूप में उपन्यासों में ला सजाते हैं।

(गत) युग चित्रण

अब हम ‘गढ़ कुंडार’ तथा ‘बिराटा की पद्मिनी’ की कतिपय विशेषताओं पर सविस्तार विचार करेंगे। ‘गढ़ कुंडार’ में वृंदावनलाल बर्मा ने बाह्य प्रकृति की चिर नवीन भूमि पर युगानुकूल मानव प्रकृति को सक्रिय दिखाया है। मनुष्य की मनोवृत्ति ही उसकी नियति है, इस मूल आशय की उपन्यास की विविध कथाओं में सूक्ष्म आवृत्ति हुई है। आवृत्ति ने कथा को नाटकीयता दी है, और कथा के उर्वर सूत्र दूर तक खिंच कर पाठक को अपने प्रभाव की जकड़ से छूटने नहीं देते।

‘गढ़ कुंडार’ की मुख्य कथा तेरहवीं शताब्दी के अंत की है। इसमें खंगार राजा के हाथ से बुंदेलों के हाथ कुंडार राज्य जाने की विशेष घटना है। इसका मूल कारण जातिभेद तथा बुंदेलों से खंगारों के विवाह का अमान्य प्रस्ताव है। इस घटना का उल्लेख ‘झांसी गजेटियर’ में मिलता है। कथा अब से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व की है। इस दीर्घ अंतर्गत में युग कहीं से कहीं जा पहुँचा है। फिर भी, जातिभेद और सामाजिक संकीर्णता की समस्या आज तक हमारे समाज पर छाई हुई है। समस्या की यह कड़ी गत युग और आज के युग को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कहीं न कहीं बाँधती है।

ऐतिहासिक उपन्यास हमारे आज से भिन्न, दूर गत काल की एक नई दुनिया खड़ा करता है। उसकी सफलता की पहली शर्त है कि आयोजित दुनिया विश्वसनीय और सजीव हो, तभी उसकी कथा और पात्रों में पाठक का मन रम पाता है। इस दृष्टि से ‘गढ़कुंडार’ की सफलता अपूर्व है। इसके प्रारंभिक केवल ५८ पृष्ठों में ही पात्र और परिस्थिति के संक्षिप्त चित्रों द्वारा समूचा युग हमारी कल्पना में खड़ा कर दिया गया है। युग के अंतर्गत काल विशेष की प्रकृति, नगर भवन, राजनीतिक दशा, सामाजिक व्यवस्था, लोगों की मनोवृत्ति आदि तत्व आ जाते हैं।

‘गढ़ कुंडार’ की मुख्य कथा इतिहास प्रसिद्ध है। इसका सारांश उपन्यासकार ने उपन्यास के ‘परिचय’ में आरंभ में ही दे दिया है। कथा सूत्र से अवगत हो जाने पर भी पाठक उपन्यास को आद्योपांत रुचि पूर्वक पढ़े बिना नहीं रहता। कथा के ढाँचे में उपन्यासकार ने मनोरम कल्पना का योग देकर उसे आकर्षण का विषय बराबर बनाए रखा है। कल्पना के अंतर्गत सजीव युग चित्र, स्पष्ट व्यक्तित्व वाले उत्साहयुक्त विविध पात्र तथा प्रेम एवं शौर्य की रोचक घटनाएँ हैं। मुख्य कथा में दिखाया गया है कि एक ओर प्रेम की ललक है, जो परिस्थितिबश उग्र लालसा का रूप धारण कर विवेक खो बैठो है। प्रत्युत्तर में जाति पाँति की दुर्लभ बाधा है। फलतः पड़्यंत्र और सर्वनाश होता है।

उपन्यास में वर्मा जी ने जातिभेद की समस्या के विश्लेषण और उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति के लिये एक ही आशय की एकाधिक कथाओं द्वारा अभिव्यक्ति की तकनीक का आश्रय लिया है। इस प्रकार जातिविरुद्ध प्रेम करने वालों की तीन कथाएँ उपन्यास में समानांतर प्रवाहित होती हैं। मुख्य कथा में खंगार नागदेव का बुंदेला हेमवती के प्रति एकांगी असफल प्रणय है। इसी के साथ असफल प्रणय की दूसरी कथा अग्निदत्त की है। अग्निदत्त ब्राह्मण है और नागदेव की बहिन खंगार मानवती से प्रेम करता है। यहाँ प्रेम उभयपक्षी है, किंतु बाधा जातिभेद की ही है। इस समस्या को दूसरी कथा में, नए रूप में, पुनः रखकर उपन्यासकार आवृत्ति द्वारा आशय के प्रभाव को घनीभूत करना चाहता है। आशय की आवृत्ति में यदि कुछ नयापन और ताजगी होती है तो, इससे कथा में नाटकीय प्रभाव उत्पन्न होता है।

नागदेव और अग्निदत्त की कथाओं में एक महत्वपूर्ण तत्व और भी उभारता है। ये बताती हैं कि मनुष्य परिस्थितियों, मुख्यतः सामाजिक व्यवस्था से घिरा हुआ है। इनमें परिस्थितियों में

१. देखिए ‘झांसी गजेटियर’ (यूनाइटेड प्रॉविसेज आगरा व अवध के गजेटियर्स का चौदहवाँ खंड—संकलन कर्ता एवं संपादक डी० एल० ड्रेक तथा ब्रॉकमैन, आई० सी० एस०), पृष्ठ १८८-१८९।

घिरे रहकर भी स्वभाववश उसमें कभी कभी आवेग भी आता है । आवेग और परिस्थिति में संगति न बैठने पर, आवेग ही व्यक्ति के भीषण परिणाम का कारण बनता है । दूसरे शब्दों में, मनुष्य की प्रकृति ही उसकी नियति है । ऐसी नियति की भीषण गाथा 'गढ़ कुंडार' है ।

आवेग और व्यवस्था के प्रचंड द्वंद्व में नागदेव और अग्निदत्त सब कुछ भूलकर, नष्ट करते और नष्ट होते हैं । परिवेश से ऊपर उठकर, उसकी समस्या को समझने सुलझाने या खुलकर उसे चुनौती देने की क्षमता उनमें नहीं है । मूलतः वे परिवेश से बंधे हैं, उसी से पोड़ित हैं और उसी से टकराकर नष्ट हो जाते हैं । तात्पर्य है, प्रेम के आवेग में ये दोनों युगीन जातिगत संकीर्णता को अनदेखा करने का दंभ भरते हैं, किंतु उनका यह वैचारिक स्वातंत्र्य केवल उनके आवेग की पूर्ति के लिये है, और वहीं तक है । वे जातिगत संकीर्णता से, तह में, कहीं ऐसे बंधे हुए हैं कि उसे पहचानने और वैचारिक घरातल पर नकारने की मनःस्थिति में नहीं आ पाते । वे दूसरों की गतिविधि के प्रति उदार नहीं हो पाते ।

आवेग और परिस्थिति की टकराहट में सर्वनाश होता है । ऐसी बात नहीं कि आवेशग्रस्त व्यक्ति अपने आप ही बिलकुल समझ ही न पाता हो । आवेशाकुल व्यक्ति के भीतर एक द्रष्टा रहता है, चाहे उसे अंतरात्मा, ईश्वर या निस्संग चेतना कुछ बूझें । बीच बीच में इस द्रष्टा की आवाज भी उठती है । अत्यधिक आवेगशील व्यक्ति के जीवन में भी ऐसे क्षण आते हैं । उदाहरणार्थ, हेमवती के हरण की योजना से पूर्व नाग में जो हिचकिचाहट है, वह इसी द्रष्टा की पुकार है । ऐसे ही प्रेम में निराश और अपमान से क्रोधांध अग्निदत्त जब कुंडार विनाश के पड्यंत्र में प्रवृत्त होता है, वह एकांत में रोता है । यह पीड़ा और कुछ नहीं, अग्निदत्त के 'द्रष्टा' का धीमा स्वर है । द्रष्टा के स्वर पर आवेग का स्वर उभरता है । यह नियति की विडंबना नहीं तो, और क्या है ! विनाश अवश्यभावी है ।

दिवाकर की, तीसरी, प्रेमकथा में भी जाति वैषम्य है, किंतु दिवाकर 'द्रष्टा' के स्वर को पहचानता है । वह आवेग को परिस्थिति से टकराने नहीं देता, वरन् परिस्थिति की बेदी पर अपने आवेग को अर्पित करता है । फलतः संयोगवश, परिस्थिति ही उसके अनुकूल हो जाती है । मानो द्रष्टा ने जागरूकता का पुरस्कार उसे दिया है । इस कथा में दिवाकर कायस्थ और अग्निदत्त की बहिन तारा ब्राह्मण है । प्रेमी प्रेमिका का कठिन परिस्थितियों के बीच भी मिलन होता है । दिवाकर बंदो है, तलघरे में अचेत है । तारा कुंडार के घमासान से किसी प्रकार निकलकर उसकी रक्षा करती है । परिस्थिति की सीमाओं से ऊपर उठकर दिवाकर और तारा का संयोग होता है और प्रकृति इस परिणय की साक्षी है । मानो उपन्यासकार अदृश्य में बैठा प्रेमी युगल को दोनों हाथों से आशीर्वाद दे रहा है ।

हिंदी के प्रारंभिक ऐतिहासिक उपन्यासों में अतीत के नाम पर कल्पना का प्रयोग अधिक होता था । यह कल्पनालोक वर्तमान से पलायन तथा मतप्रचार के लिये उपन्यासकारों द्वारा रचा जाता था । इस क्षेत्र में 'गढ़ कुंडार' का प्रकाशन उल्लेखनीय घटना थी । इसे उस समय का सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास कहा गया था । इसी प्रकार, उनका दूसरा उल्लेखनीय उपन्यास 'बिराटा की पद्मिनी' है । इन दोनों उपन्यासों में बर्मा जी ने ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा करते हुए कल्पना से उन्हें सजीव बनाया और इतिहास तथा वर्तमान के अंतःसंबंध को सूक्ष्मता

से उजागर किया है। भारतीय मध्ययुग के मूल तत्वों की उन्हें असाधारण पहचान है। उनके उपन्यासों में यह युग अनायास रमा रहता है और इसके भीतर से ही कथा, पात्र तथा उपन्यास की मूल दृष्टि सहजता से उभरती है। बाद में वर्मा जी ने अपने अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना के आधार पर विशेष ख्याति अर्जित की। फिर भी, वर्मा जी के ऐतिहासिक रोमांस और उनकी मूल दृष्टि को पहचानने के लिये उक्त दो प्रारंभिक उपन्यास ही यथेष्ट हैं। यदि वर्मा जी ने अपने जीवनकाल में केवल यही दो उपन्यास लिखे होते, तो भी हिंदी ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में अपनी विशेषताओं के कारण ये रचनाएँ सदैव उल्लेखनीय रहतीं।

(गत) युगीन प्रश्न, आधुनिक संदर्भ में

इन उपन्यासों में रीतिकालीन शृंगार और प्रेमवर्णन की परिपाटी से हटकर नारी पुरुष के सहज आकर्षण की ऊष्मा और संवेदना को नया रूप दिया गया है। इनके रचनाकाल में अंग्रेजी काव्य के स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज्म) की प्रेरणा से हिंदी काव्य में छायावाद उत्कर्ष पर था। छायावाद में प्रकृति, नारीसौंदर्य, संस्कृति तथा मानवता के प्रति दृष्टि में ताजगी है। वर्मा जी ने इस धारा से प्रेरणा ली होगी। फिर भी वे उपन्यासकार थे। उपन्यासकार यथार्थ के निकट स्वभावतः रहता है। उसकी धारणा भावुकता की नहीं, संवेदनशीलता की होती है। वर्मा जी ने प्रकृति, अतीत, सौंदर्य, प्रेम और शौर्य को इन उपन्यासों का आधार बनाया ही है, पर स्वच्छंदतावादी दृष्टि के साथ आधुनिकता को भी कौशलपूर्वक संयुक्त किया है। आधुनिकता का अर्थ है, जीवन की गति को जागरूकता और तटस्थता से पहचानना। वह जीवन पर 'क्यों और कैसे' के प्रश्नचिह्न लगाकर उसमें निहित सार्थकता को खोजती है तथा परंपरा या परिपाटी के नाम पर ढोए जानेवाली निरर्थक रूढ़ियों के भार को उतार फेंकती है।

'गढ़ कुंडार' के बाद 'बिराटा की पद्मिनी' में वर्मा जी ने नारी के दिव्य सौंदर्य तथा प्रणय के उदात्त रूप को चित्रित करते हुए युगीन प्रश्नों (अवतार, दासीपुत्र, राष्ट्ररक्षा आदि) को गहराई से उभारा है। ये प्रश्न हमारे आज के जीवन से कहीं अविच्छिन्न हैं। वर्मा जी ने व्यंजना द्वारा पाठकों को इन पर विचारने की प्रेरणा दी है। आज से पचास वर्ष पूर्व उपन्यास का रचनाशिल्प भिन्न था। कथा वर्णनात्मक शैली में ही कही जाती थी। वर्मा जी ने उन सीमाओं में रहते हुए भी कथा में नाटकीयता उभारी है। अब हम 'बिराटा की पद्मिनी' का विश्लेषण विवेचन कर उक्त विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे।

'बिराटा की पद्मिनी' में सीधे, कथा में प्रवेश है। कथा के अंतर्गत पात्रों की गति और उनके विचारों की आपसी टकराहट है। उपन्यास के सभी, विशेषकर आरंभिक परिच्छेद आकार में छोटे हैं। इन कारणों से उपन्यास में वर्णनात्मकता की अपेक्षा नाटकीयता अधिक आ गई है। नाटकीयता से हमारा तात्पर्य है—प्रखर अभिव्यक्ति। उपन्यास में नाटकीयता लाने के लिये उपन्यासकार भाववस्तु को रूप और गति में परिणत करता है। भाव या विचार अमूर्त हैं। इन्हें दृष्टिगोचर करने के लिये चेष्टा या गति से संपन्न किया जाता है। वस्तुतः आकार और गति एक दूसरे से सर्वथा पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं। आकार से गति निकलती है और गति में वस्तु का रूप उभरता है।

बीती बात को उपन्यासकार सुनाता है। नाटकीय स्थल पर बीती बात में भी वर्तमान बांध उत्पन्न किया जाता है। गति के कारण चित्रण में तात्कालिकता उभर आती है। स्थिति में

निहित दो प्रतिकूल पक्षों के परस्पर संघर्ष के घनीभूत होने पर उपन्यास की गति वेग पकड़ती है। यह संघर्ष स्थूल या सूक्ष्म, दोनों प्रकार का हो सकता है। संघर्ष जितना सूक्ष्म और अलक्षित होगा, पाठकों की संवेदना को उतना ही अधिक प्रभावित करेगा। संघर्ष के कारण स्थिति में तनाव और असमंजस का तत्व आ जाता है। उपन्यासकार चित्रण शैली में संक्षिप्तता तथा सांकेतिकता लाकर प्रभाव की गूँज पैदा करता है।

‘विराटा की पद्मिनी’ के प्रारंभ में ही दीखता है कि दलीपनगर का राजा नायक सिंह दरबारियों सहित विक्रमपुर आया हुआ है। राजा बीमार है और सनकी प्रकृति का है। दरबारियों में, सेनापति लोचन सिंह की निर्भीकता उग्रता की सीमा को छूती है। लोचन सिंह की बेलाग बातों के कारण दरबार के वातावरण में अलक्षित तनाव की स्थिति रहती है।

लोचन सिंह के साथ राजा का दासीपुत्र कुंजर सिंह पालर गाँव में प्रचलित देवी के अवतार युवती कुमुद के दर्शन करने जाता है। देवी के दर्शन के अवसर पर मुस्लिम सैनिकों से लोचन सिंह के बतवड़ाव के कारण छोटी मुठभेड़ हो जाती है। राजा की सनक, लोचन सिंह की उग्रता तथा देवी के अपूर्व सौंदर्य के कारण उपन्यास के प्रकरण एकदम गति पकड़ लेते हैं। पूरे प्रसंग में देवी का कोमल, मोहक तंतु ऐसे ढंग से व्याप्त है कि गति में खिंचाव या कर्कशता नहीं आ पाती।

मरणासन्न राजा के दलीपनगर लौटने पर राज्य के उत्तराधिकारी का प्रश्न परिस्थिति को सूक्ष्म तनाव से भर देता है। उपन्यास के आरंभिक चौदह परिच्छेद अनायास खिंच जाते हैं। कुछ आगे चलकर राजा के अंतिम क्षणों में कूटनीतिज्ञ जनार्दन शर्मा पड्यंत्र रचकर, राज्य से दासीपुत्र कुंजर सिंह को वंचित कर दरिद्र ठाकुर देवी सिंह को राजा बनाता है। अब दलीपनगर राज्य के उत्तराधिकार के विवाद से, और कुमुद (देवी) की रूपकीर्ति से आकृष्ट लोलुप कालपी के नवाब अलीमर्दान के उसे प्राप्त करने के प्रयत्नों के सूत्रों से उपन्यास स्वतः खुलता चला जाता है।

‘विराटा की पद्मिनी’ के उत्तरार्ध का अंतिम अंश युद्धों की छाया में बीतता है। बेतवा नदी के एक ओर रामनगर की गढ़ी तथा विराटा हैं; वहाँ से तोपें आग उगल रही हैं। दूसरी ओर, कालपी के नवाब अलीमर्दान और दलीपनगर की सेनाएँ आपस में लड़ती हुई बनों और गड्ढों में दूर दूर तक बिखरी हैं। युद्ध रह रहकर चलता रहता है, अनेक बार रातों के अधियारे में जोर पकड़ता है। बंदूकें चलाते, तलवार भाँजते और तैर कर नदी पार करते सैनिक अपनी गतिविधि की छाप पाठकों के मन पर बरबस छोड़ जाते हैं। सेनाओं की व्यूहरचना, सैनिकों की तत्परता और सेना नायकों की सूझ बूझ देखते बनते हैं। मध्यकालीन युद्धपद्धति के नक्शे बर्मा जो के दिमाग में बड़े साफ हैं। नक्शों के व्योरे स्थितिचित्रण की नाटकीयता के कारण सजीव बन पड़े हैं। उपन्यास के इस अंश को पढ़ते समय पाठक इनमें रमता ही नहीं, मानों इनमें भाग लेने लगता है। कभी उसका हृदय आशंका से धड़कता है, और कभी उल्लास से उछालें लेने लगता है।

कहा जा चुका है, ‘विराटा की पद्मिनी’ की कथा के दो मुख्य बिंदु हैं। एक है, दलीपनगर का राज्याधिकार, ‘दासीपुत्र’ कुंजरसिंह को न मिलना। दूसरा है, ‘देवी’ कुमुद के हरण और रक्षण के प्रयत्न। कुंजर और कुमुद के प्रणयवश परस्पर निकट आने के कारण दोनों बिंदु एक

सूत्र होकर उपन्यास में आद्योपांत छा जाते हैं। इनके माध्यम से उपन्यासकार ने युग की मनोवृत्ति का चित्रण करते हुए उसका औचित्य की कसीटो पर सूक्ष्म अन्वय किया है।

दलीपनगर की राजगद्दी राजा के दासोपुत्र कुंजरसिंह को न दी जाकर, अन्य साधारण सन्निय देवीसिंह (शुद्ध बूंदेला रक्त) को मिलती है। युग की मान्यता ऐसी हो है। मान्यता के मूल में जाति, विवाह तथा वर्ग संबंधी धारणाएँ कार्य करती हैं। राजा का पुत्र, किसी अन्य जाति या वर्ग की स्त्री से उत्पन्न होने पर समाज द्वारा स्वीकृत पुत्र नहीं है। विवाहिता न होने के कारण वह स्त्री, स्त्री न होकर दासी है; और उसका पुत्र, राजपुत्र नहीं है, पुत्र भी नहीं है, केवल दासीपुत्र है। यौन संबंधों में राजा मनमानी बरत सकता है। उसकी विवाहिता अविवाहिता कितनी ही स्त्रियाँ होना समाज की दृष्टि में क्षम्य है। वह भोग्या के रूप में कितनी हो दासियाँ रखने में समर्थ है। उसकी जाति और पदमर्यादा पर आँच नहीं आती। किंतु उसकी भोग्या दासी, दासी ही रहती है। सारी अवमानना उसकी संतान, दासीपुत्र को भोगनी पड़ती है। दासीपुत्र, पिता राजा के कृत्य या कुकृत्य का जीता जागता प्रमाण है। वह राजा और दासी के बीच पदमर्यादा में त्रिशंकु की भाँति अटका हुआ दासीपुत्र है। इसी कारण शूर और उदात्तचरित्र कुंजरसिंह की विचित्र स्थिति है। न वह राजकुमार है, और न ही साधारण जन। साधारण जन देवीसिंह ही उससे अच्छा है।

कुंजरसिंह के निराश मन को अवलंब मिलता है कुमुद के रूप में। कुमुद कुंजर के सूने जीवन में निराला आकर्षण बनकर आती है। कुमुद का अभिनव चरित्र उपन्यास की उल्लेखनीय देन है। वह सुंदर ब्राह्मण कन्या है; स्वयं को साधारण नारी कहती और अनुभव करती है। अवतार के रूप में स्वीकृत हो जाने के कारण उसके स्वभाव में गहन गंभीरता आ गई है। कुमुद के व्यक्तित्व में नारीत्व और देवत्व मिलकर आपस में कुछ ऐसे डूबते उतराते हैं कि उन्हें अलग करके पहचानना कठिन है। वर्मा जी ने इस व्यक्तित्व को ऐसी मोहक गरिमा दी है कि पाठक इसके क्षोभे रहस्य के असमंजस में खोया रहता है।

आधुनिक दृष्टि से भी अवतार संबंधी धारणा उपेक्षणीय नहीं है। विशेष आत्मबल वाला व्यक्ति विशेष, जिसके हृदय में दूसरों के लिये उदारता है, और जो निज दुःखों को धैर्यपूर्वक झेल सकता है, वह अवतार नहीं तो और क्या है ! वह अपनी असाधारण क्षमताओं के कारण साधारण जन से भिन्न है, और उससे कहीं बड़ा है। अवतार का आत्मबल और उसका सेवाभाव, आकर्षण केंद्र बनकर, जन मन को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट करता है। अवतार अकेला नहीं होता। उसके साथ असंख्य अनुयायियों का बल होता है। अवतार दुःखी समाज को त्राण देने आता है। उसके नेतृत्व से समाज को सुख शांति मिलती है। वह कभी कभी लोगों को परम सत्ता के अस्तित्व के प्रति आश्वस्त करने के लिये अलौकिक क्षमता का भी आभास देता है। फिर भी, सबके दुःख, सब की पीड़ा को अपनी करुणा से हलका करता हुआ अपना दुःख स्वयं चुपचाप झेलता है। वह अपने संकट को वहन करते हुए साधारण इन्सान ही दीखता है।

‘बिराटा की पत्थिनी’ कुमुद पर विचार करें तो उक्त विशेषताएँ उस पर घटती हैं और सबे ‘अवतार’ सिद्ध करती हैं। वह अनुपम सुंदरी है, उदार है, गंभीर है और दर्शन मात्र से लोगों को शान्ति देनेवाली है। मार काट और अरक्षा के उस युग में लोकमानस को उसके दिव्य

व्यक्तित्व से विश्वास का संबल मिलता है। वह उसे देवी रूप में पाकर दुःखों को भूलता है, संकटों से जूझने और उन्हें झेलने का बल पाता है। उपन्यास में, अनेक स्थलों पर कुमुद के मुख से अनायास निकली बातें अंततः सत्य सिद्ध होती हैं। फिर भी है वह हाड़ मांस से बनी साधारण नारी ही। उसका हृदय प्रणयभाव को पहचानता है। वह जीवन के अनिवार्य दुःख को मूक भाव से, किंतु अडिग आत्मविश्वास से झेलती है। वह अपने विषय में किसी भ्रम में नहीं है, गोमती से कहती है—‘हममें तुममें वह अंश वर्तमान है। जब मनुष्य की देह धारण की है तब उसके गुण दोष से हमलोग नहीं बच सकते।’

कुमुद अपनी गरिमा से नारीत्व को देवीत्व में परिणत करती है। नारीत्व आक्रामक बर्बरता के कारण उसके जीवन का अभिशाप बन गया है। प्राणों की बलि देकर ही वह आत्म-संमान की रक्षा कर पाती है। प्रश्न उठता है कि इस त्रासदी का उत्तरदायी कौन है। वास्तव में, इस भीषण घटना का उत्तरदायी हमारा तत्कालीन समाज है। वह जाति पंक्ति के झगड़ों से जर्जर है और क्षुद्र स्वार्थों की संकीर्ण बेड़ियों से जकड़ा हुआ आत्मरति में लीन है। उसमें बल है, पौरुष है, किंतु अविवेक के कारण समुचित आत्मबल का अभाव है। फलतः वह लोलुप बर्बर से नारी रूपी अपनी शोभा और मान की रक्षा करने में असमर्थ है। इस संबंध में, एक क्षुब्ध पात्र की टिप्पणी बड़ी सटीक है। दास पुत्रों की चर्चा के प्रसंग में उसका कथन है—‘मुझे तो कोई वास्तविक क्षत्रिय नहीं दिखलाई देता। क्षत्रियत्व की डींग मारने वालों में क्षत्रिय का कोई भी लक्षण बाकी है? अपने को क्षत्रिय कहनेवाला कौन सा मनुष्य दुर्बलों को सबलों से, पतितों को उत्थितों से, पीड़ितों को पीड़कों से, निस्सहायों को प्रपन्नों से बचाने में अपने को होम देता है? मैं तो यह देख रही हूँ कि क्षत्रियत्व की डींग मारनेवाले अपने अहंकार की शंका को बढ़ाने और परपीड़न के सिवा कुछ नहीं करते।’ अवतार को क्षमता और पोषण अपने अनुयाइयों से ही प्राप्त होता है। अनुयाइयों की दुर्बलता से अवतार भी दुर्बल हो जाता है।

कुंजरसिंह जन्म से दासीपुत्र होने का दंड भरता है। यह दैन समाज की है, उसका पौरुष इस अभिशाप के आगे ऊना सिद्ध होता है। इसी प्रकार, कुमुद ने किसी का कुछ नहीं बिगाड़ा है। उलटे, उसने लोगों को स्नेह और सात्वता दी है। बदले में, उसका समाज उसे अपेक्षित आरक्षण देने में असमर्थ है। कुमुद और कुंजर का विनाश समाज की, युग की विडंबना का दुष्परिणाम है। युगीन विषम परिस्थितियों की चपेट में आए सत् के निरर्थक नाश की कसक उपन्यास में पाठक के मन को कचोटती रहती है।

‘विराटा की पद्मिनी’ का एक आकर्षण कुंजर और कुमुद का प्रणय प्रसंग है। प्रतिकूल परिस्थितियों में इसका संयत विकास पाठक के मन को अभिभूत कर लेता है। कुंजर कुमुद का नाम सुनते ही उसके प्रति सहज उत्सुक हो जाता है और प्रथम दर्शन में मन उस पर वार देता है। वह अपनी परिस्थिति से पीड़ित है। कहीं सहारा न मिलने पर कुमुद के निकट रहने और प्राणोत्सर्ग करने में जीवन को धन्य समझता है। कुमुद प्रत्युत्तर में कुछ कहती नहीं, किंतु उसका अनकहा कहे से अधिक अर्थ ध्वनित करता है। उसके मृदुल धीर गंभीर व्यवहार का छीना रहस्य संपूर्ण प्रकरण को निराले संमोहन में बांध लेता है। वह भावी से अवगत है। नियति से मानो मन ही मन समझौता कर चुकी है। वह विचलित नहीं है। वह कुंजर के प्रणय

को अस्वीकार नहीं करती, और न ही अपने गूढ़ मनोभाव को मुखर होने देती है ।

‘विराटा की पद्मिनी’ की कथाएँ विभिन्न कालों से उठाकर एक सूत्र में गूँथ दी गई हैं । कुमुद की कथा ऐतिहासिक है, लगभग सन् १७०० की । विराटा गाँव (परगना तहसील मोंठ, जिला-झाँसी) की दस्तूरदेही, मिसिल बंदोबस्त, सन् १८६२ में, इस घटना का उल्लेख है । उर्दू में लिखा हुआ है, ‘विराटा में दाँगी जाति की ‘पद्मिनी’ थी । नवाब कालपी के हमले की वजह से उसे बेतवा नदी में समाधि लेनी पड़ी ।’ उसके पैर के चिह्न पक्के बने हुए हैं । इसी कथा में दतियाराज्य की राज्यप्राप्ति संबंधी संवर्ष की कथा वर्मा जी ने ला मिलाई है । कुंजर सिंह आदि पात्र उसी प्रसंग की देन हैं । यह घटना कुमुद के पचपन वर्ष बाद की है । कुमुद और कुंजर सिंह के मध्य प्रणयसंबंध स्थापित कर दोनों घटनाओं को घुला मिला दिया गया है ।^१

वृंदावनलाल वर्मा के अमर उपन्यासों ‘गढ़ कुंडार’ तथा ‘विराटा की पद्मिनी’ के विस्तृत विवेचन द्वारा यह स्पष्ट करना है कि इस युग में उन्होंने हिंदी ऐतिहासिक उपन्यास को कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से सुदृढ़ भूमि पर स्थापित किया है । इसके बाद ही हिंदी ऐतिहासिक उपन्यास के उत्कर्ष का काल आता है । वर्मा जी ने प्रकारांतर से मानो सिद्ध किया है कि सामाजिक उपन्यास में प्रायः सामयिक समस्याओं को स्थान मिलता है । उन समस्याओं का कालांतर में हल हो जाने पर, वह उपन्यास पुराना पड़ने लगता है । किंतु, ऐतिहासिक उपन्यास पर यह बात कम लागू होती है । इसमें जीवन को कुछ ऐसे ढंग से प्रस्तुत किया जाता है कि वह गत युग का होते हुए भी वर्तमान से संपृक्त होता है । ज्यों ज्यों काल बीतता है, प्रत्येक युगखंड उस कथा से अपनी प्रासंगिकता खोजकर, उसकी व्याख्या या पुनर्व्याख्या करता चलता है । इस दृष्टि से, उनके उपन्यासों में जीवन को जिस दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है, तथा जो प्रश्न उठाए गए हैं, वे आज लगभग आधी शताब्दी बीतने पर भी पुराने नहीं पड़े हैं, प्रत्युत विगत और वर्तमान के मध्य जीवंत संवाद स्थापित किए हुए हैं ।

ऐतिहासिक उपन्यास के प्रकार

भगवतीचरण वर्मा का सुप्रसिद्ध उपन्यास ‘चित्रलेखा’ भी यहाँ विचारणीय है । अभी तक इसे प्रायः दर्शनप्रधान सामाजिक रचना के रूप में आलोचकों ने ग्रहण किया है । फिर भी, इतिहास से यह कहीं न कहीं जुड़ा होने के कारण, ऐतिहासिक उपन्यास के अंतर्गत उपेक्षणीय नहीं है । यदि हम मानकर चलें कि सुनिश्चित ऐतिहासिक आधार पर रचे गए उपन्यास ही ऐतिहासिक उपन्यास हैं—उनमें सुदूर विगत कालविशेष की घटनाओं, पात्रों तथा वातावरण का समवेत रूप से प्रामाणिक चित्रण होना चाहिए—तो प्रेमचंदकालीन तथा प्रेमचंदोत्तर काल के ऐतिहासिक उपन्यास की संज्ञा से अभिहित अधिकांश रचनाएँ इस वर्ग से बहिष्कृत हो जाएंगी । अतः हिंदी से सभी प्रकार के अतीतकालीन (अतीत काल से संबंधित) उपन्यासों को अध्ययन परिधि में लाने के लिये सभी को ऐतिहासिक उपन्यास की संज्ञा दी जानी आवश्यक है । ऐतिहासिक उपन्यास के अंतर्गत, मुख्य रूप से, निम्नलिखित प्रकार के उपन्यास आ सकते हैं—

१. अधिक विस्तृत विवेचन के लिये देखिए, पुस्तक ‘उपन्यासकार वृंदावनलाल वर्मा’—लेखक, डा० शशिभूषण सिंहल । प्रकाशक, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा । सन् १९६० ।

(क) केवल अतीत का आभास प्रस्तुत करनेवाले उपन्यास : ये प्रायः ख्यात काल अथवा ख्यात पात्रों को केंद्र बनाकर, उनके चारों ओर कल्पित कथा चक्र बुनते हैं। उपयुक्त वातावरण-सर्जन की इनमें चिंता नहीं की जाती, और ये पात्रों के ऐतिहासिक स्वरूप की उपेक्षा कर उनसे मनमाना काम ले लेते हैं। कहा जा चुका है, किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास इसी प्रकार के हैं।

अतीत का आभास देनेवाले ऐसे उपन्यास भी हैं, जिनके कथापात्र तो कल्पित होते ही हैं, किंतु जिनका वातावरण युगविरुद्ध न होते हुए भी आंशिक, अपूर्ण तथा कथा एवं पात्राश्रित-मात्र होता है। 'चित्रलेखा' उपन्यास इसी प्रकार का है। इसकी विशेषताओं पर आगे सविस्तार विचार किया जा रहा है।

ऐतिहासिक उपन्यास की संज्ञा से अभिहित रचनाओं के शेष प्रकारों के विवेचन से पूर्व यहाँ उल्लेखनीय है कि इन सबमें ऐतिहासिक वातावरण का समुचित सर्जन एवं उसकी सुरक्षा का तत्त्व होना अनिवार्य है।

शेष, ऐतिहासिक वातावरण से युक्त, उपन्यासों के प्रकार ये हैं—

(ख) ऐतिहासिक वातावरण मात्र प्रस्तुत करनेवाले उपन्यास—(इन सभी प्रकार के उपन्यासों के उदाहरण प्रेमचंद युग में उपलब्ध नहीं हैं। अतः पञ्चम युग के उपन्यासों से उदाहरण देकर अपना मतव्य स्पष्ट किया जा रहा है।) इनमें ऐतिहासिक कथा तथा पात्रों का प्रयोग नहीं होता। यशपाल का 'दिव्या' और रांगेय राघव का उपन्यास 'मुर्दों का टीला' इस कोटि में आता है।

(ग) केवल ऐतिहासिक पात्रों के आधार पर रचे गए उपन्यास—इनमें ऐतिहासिक वातावरण रहता है, कथा कल्पित होती है। केवल एक या एकाधिक पात्र इतिहास संमत होते हैं—उदाहरण, 'वैशाली की नगरवधू' (चतुरसेन शास्त्री), 'विराटा की पद्मिनी' (वृंदावनलाल वर्मा), 'बाणभट्ट की 'आत्मकथा' (हजारीप्रसाद द्विवेदी) आदि।

(घ) ऐतिहासिक कथा के आधार पर रचित उपन्यास—इनमें ऐतिहासिक वातावरण होता है तथा कथा अथवा कथांश भी ऐतिहासिक होता है किंतु पात्र कल्पित हो सकते हैं। वृंदावनलाल वर्मा का उपन्यास 'टूटे काँटे' इस कोटि का है। इसमें मुख्य कथा, नर्तकी नूरबाई और सिपाही मोहन की है। ये दोनों पात्र तथा इनका वृत्त कल्पित है किंतु पृष्ठभूमि में चलनेवाला, नादिरशाह के भारत पर आक्रमण का प्रकरण ऐतिहासिक है। 'गढ़ कुंडार' भी इस कोटि का उपन्यास है। इसकी कुछ कथा तथा कुछ पात्र ऐतिहासिक हैं।

(च) ऐतिहासिक वातावरण, कथा तथा पात्र से युक्त उपन्यास—इन्हें शुद्ध या पूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास की भी संज्ञा दी जाती है। इसमें उपन्यासकार कलाकार सुलभ कल्पना का यत्र तत्र आश्रय लेता है किंतु, मूल रूप से, ऐतिहासिक सूत्रों से बंधकर चलता है। वृंदावनलाल वर्मा का 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', सत्यकेतु विद्यालंकार का 'चाणक्य' उपन्यास इसी प्रकार के हैं।^१

१. हिंदी ऐतिहासिक उपन्यास के स्वरूप एवं प्रवृत्ति के विस्तृत विवेचन के लिये देखें 'हिंदी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ' (डा० शशिभूषण सिंहल) विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, १९७० ई०।

उपन्यास और अतीत का भीना उपयोग

‘चित्रलेखा’ में सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य तथा महामति चाणक्य का उल्लेख हुआ है। चित्रलेखा का प्रेमी, सामंत बीजगुप्त सम्राट् के अधीन है। उपन्यास में सम्राट् और मंत्री चाणक्य के अतिरिक्त अन्य पात्र ऐतिहासिक नहीं हैं, और न उपन्यास की कथा ही ऐतिहासिक है। इसमें युग का प्रासंगिक एवं आंशिक वातावरण चित्रण भी है।

कहा जा चुका है, युगानुकूल वातावरण का चित्रण, ऐतिहासिक उपन्यास का सर्वप्रथम एवं अनिवार्य लक्षण है। वातावरण का तत्त्व उपन्यास में बड़ा सूक्ष्म तथा बहुव्यापक है। जिस प्रकार ब्रह्म संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त है और बाह्य चक्षुओं को दृष्टिगोचर नहीं होता, कुछ कुछ इसी प्रकार, वातावरण संपूर्ण उपन्यास में सहज रमा रहता है, किंतु सूक्ष्म निरीक्षण के बिना लक्षित नहीं होता। कह सकते हैं, उपन्यास में पात्रों के कथोपकथन तथा क्रियाकलाप को छोड़कर शेष सामग्री देश काल अथवा वातावरण से संबंध रखती है। हम ध्यान दें तो पाएँगे कि पात्रों के कथोपकथनों की भाषा तथा उनमें व्यंजित उनकी मनोवृत्ति युग की छाप से अछूती नहीं रह सकती। इसी प्रकार पात्रों के क्रियाकलाप में भी युग की झलक रहती है। वातावरण के अंतर्गत, कथा के सभी बाह्य उपकरण, उसकी योजना में सहायता करनेवाले पात्रों के आचार विचार, रीति नीति तथा रहन सहन, प्राकृतिक पीठिका और परिस्थिति आ जाते हैं। वातावरण सृष्टि में योग देनेवाले विभिन्न तत्वों का स्पष्ट वर्गीकरण करना तनिक कठिन है। फिर भी विषय विवेचन की सुविधा के लिये उसके प्रमुख तत्व, संक्षेप में, प्रस्तुत किए जा रहे हैं। ये इस प्रकार हैं :

(क) स्थल की भौगोलिक स्थिति—प्रकृति तथा भूखंड, नगर, ग्राम। अतीत का चित्रण करते समय उपन्यासकार कथा के घटनास्थल की ऐसी प्राकृतिक विशेषताओं को ध्यान में रखता है।

(ख) राजनीतिक व्यवस्था—नीति, कूटनीति। शासनव्यवस्था, न्याय, युद्धप्रणाली। अर्थनीति, आर्थिक व्यवस्था, व्यापार प्रणाली।

(ग) सामाजिक व्यवस्था—जाति व्यवस्था, पारिवारिक व्यवस्था, जीवन व्यवस्था (विभिन्न आश्रम), सामाजिक व्यवहार एवं संबंध। सामाजिक संस्कार, रीति नीति। खान पान, वेश-भूषा, रहन सहन। सामाजिक मनोवृत्ति।

(घ) धार्मिक मान्यता—देवी देवता, विभिन्न मत, पूजन विधि, यज्ञ, बलि आदि।

(ङ) मनोरंजन प्रणाली—क्रीड़ा, व्यंग्य विनोद, उत्सव विधि।

(च) जीवन मूल्य—कला साहित्य, शिक्षापद्धति।

(ज) लोक जीवन तथा लोक विश्वास।

‘चित्रलेखा’ से वातावरण संबंधी जो तथ्य प्राप्त होते हैं, उनका मुख्य स्रोत नायिका चित्रलेखा का नर्तकी जीवन है। उसके आश्रय से तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति इस प्रकार स्पष्ट होती है—पाटलिपुत्र के समाज में विधवाएँ शारीरिक संयम से जीवन व्यतीत करती हैं। उनके संयम-च्युत होने पर उनका गृह से बहिष्कार हो जाता है। विधवा के पुनर्विवाह की अनुमति समाज नहीं देता। समाजच्युत ‘पतिता’ नारी नर्तकी अथवा वेश्या का व्यवसाय ग्रहण कर सकती है। नर्तकी वर्ग में ऐसी शिष्याओं को विधिबद्ध शिक्षा दी जाती है। नर्तकी के सौंदर्य और उसकी

कला पर मुग्ध पुरुष समाज उसे हृदय दे सकता है, उससे निश्चय मनोरंजन कर सकता है। नर्तकी उत्सवों के अवसर पर उच्च कुलों में जाती है और अपनी कला का प्रदर्शन करती है, किंतु वह कुलीन नारी समाज में आदर नहीं प्राप्त कर पाती। पुरुष 'समाजच्युत' नर्तकी से विवाह नहीं कर सकता। नर्तकी से उत्पन्न संतान उसकी वैधानिक संतान नहीं होती, वह उसकी संपत्ति की उत्तराधिकारी नहीं है।

चंद्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में पाटलिपुत्र ऐश्वर्यसंपन्न नगरी है। क्षत्रियों का जीवन उत्थास में बीतता है, और ब्राह्मण का धर्म त्याग और विराग है। ब्राह्मण और योगीजन जनरव से दूर एकांत में ध्यानरत रहते हैं। समाज में गुरु-शिष्य-परंपरा ज्ञान के प्रदान आदान के लिये प्रचलित है। गुरु शिष्यों को उपदेश देने के अतिरिक्त उन्हें जीवन का साक्षात् अनुभव कराके उन्हें पूर्ण बनाते हैं। यज्ञों में बलिदान होता है और बौद्ध भिक्षु उस प्रथा का विरोध करते हैं। सामंत समाज में प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं, उनको नियुक्ति राज्याज्ञा द्वारा होती है। समाज में संपत्ति के आधार पर वर्गभेद है। धनिकों में परस्पर ही विवाह संबंध होते हैं। पुत्र न होने पर, व्यक्ति की संपत्ति पर पुत्री का अधिकार नहीं होता। ऐसी स्थिति में संपत्ति का उत्तराधिकारी व्यक्ति का दत्तक पुत्र हो सकता है।^१

'चित्रलेखा' के विविध प्रसंगों से जो वातावरण सूत्र संचित किए गए हैं, वे उपन्यासकार ने कथारचना के हेतु अनायास उपस्थित किए हैं। उपन्यास का कथ्य नर्तकी का अथवा सामंत का जीवन नहीं है। इस संबंध में जो चर्चा आई है, वह पात्रों और परिस्थिति के स्पष्टीकरण मात्र के निमित्त है। उपन्यासकार का उद्देश्य, मानवजीवन को विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्व के आलोक में देखना है। अतः उपन्यास दर्शन प्रधान है और तर्क वितर्क का आगार बन गया है। उपन्यास में प्रतिपादित तर्कों, मान्यताओं को प्रत्यक्ष करने के हेतु प्रतीक रूप में कथा चलती है। जीवन संबंधी चिर प्रश्नों पर केंद्रित होने के कारण कथा मानो कालनिरपेक्ष है। वह देश और परिस्थिति के ऊपर असंलग्न भाव से अग्रसर होती है। इस कारण 'चित्रलेखा' का कथानक अतीत के युग विशेष से बँधा होने पर भी यथेष्ट वातावरण सृजन नहीं कर पाता। उपन्यास में युगानुसार व्यापक सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक मान्यताओं का चित्रण नहीं हुआ है। ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रायः जीवनसंबंधी समस्याएँ विशिष्ट युग की होती हैं और उपन्यासकार उन्हें सर्वकालिक रूप में प्रस्तुत करता है। 'चित्रलेखा' में जीवन संबंधी जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, वह अतीत में रखा जाने पर भी युगविशेष का नहीं है। वह दृष्टि ऐतिहासिक की अपेक्षा सांस्कृतिक अधिक है। उपन्यास में वातावरण की सृष्टि समाज के माध्यम से होती है। 'चित्रलेखा' में चिर प्रचलित सामाजिक, धार्मिक मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लगाकर, व्यक्तियों की आत्मपरक दृष्टि से उन्हें निरखा परखा गया है। उपन्यास का चिंतन समाजविच्छिन्न होने के कारण 'चित्रलेखा' में, न समाज अधिक स्थान पा सका है और न वातावरण तत्व।

१. द्रष्टव्य 'चित्रलेखा' (बीसवीं आवृत्ति, संवत् २०२२ वि०, लीडर प्रेस, इलाहाबाद) के पृष्ठ क्रमशः १०, ११, ६२, ६३, ७०, ७३, ७८, ६८, ५ से ८, १७६ से १७७, १३९, १६७ तथा १६६।

‘चित्रलेखा’ उपन्यास की असाधारण लोकप्रियता के मुख्य कारण चार हैं—

- (१) उपन्यास का शिल्पसौष्ठव । इस लघुकाय रचना के कथाविकास में असाधारण नाटकीयता है और अप्रत्याशित मोड़ है ।
- (२) उपन्यास के तीनों मुख्य पात्र, चित्रलेखा, बीजगुप्त और कुमारगिरि, प्रबल और प्रखर हैं । उनका पारस्परिक द्वंद्व और उनकी मानसिक उलझनें रोचक तथा मार्मिक हैं ।
- (३) उपन्यास की पृष्ठभूमि अतीतविषयक होने के कारण रचना में गरिमा आ गई है । यदि ‘चित्रलेखा’ का यही प्रेमत्रिकोण आधुनिक युग में दिखाया जाता, तो उसका आकर्षण कम हो जाता ।
- (४) उपन्यास दर्शन प्रधान है । इसमें मानव जीवन की विभिन्न मौलिक समस्याओं पर लेखक ने पात्रों द्वारा नितांत नवीन दृष्टि से चिंतन कराया है । उनका ऊहापोह तथा स्थापनाएँ, पारंपरिक विचारधारा को चुनौती देनेवाली और ताजगी देनेवाली हैं ।

उपन्यास में प्रस्तुत चिंतनप्रकरण मुख्य रूप से, क्रमशः इस प्रकार हैं—

- (अ) व्यक्ति और समुदाय (बीजगुप्त तथा चित्रलेखा का विवाद)
- (आ) संसार की वास्तविक गति (कुमारगिरि का शिष्य मधुपाल को उपदेश)
- (इ) वासना निग्रह (कुमारगिरि का विशालदेव को उपदेश)
- (ई) जीवन में शांति और सुख का प्रश्न (कुमारगिरि तथा चित्रलेखा का विवाद)
- (उ) धर्म और नीति तथा ईश्वर, अंतरात्मा संबंधी मान्यता (चाणक्य तथा कुमारगिरि का विवाद)
- (ऊ) प्रेम का स्वरूप (चित्रलेखा तथा बीजगुप्त का विवाद)
- (ए) प्रकृति की अपूर्णता तथा उसकी कृत्रिम साधनों द्वारा पूर्ति की अपेक्षा (बीजगुप्त का कथन यशोधरा के प्रति)
- (ऐ) अनुराग और विराग का पारस्परिक संबंध (कुमारगिरि का मानसिक ऊहापोह)
- (ओ) वातावरण का मूल तत्व (बीजगुप्त का कथन यशोधरा के प्रति)
- (औ) प्रेम का वास्तविक स्वरूप और व्यक्ति का कर्तव्य (एक संन्यासी का एक दुःखी युवक तथा बीजगुप्त के प्रति उपदेश)

इन विभिन्न प्रकरणों के अतिरिक्त संपूर्ण उपन्यास, प्रमुख समस्या—‘पाप क्या है, और उसका निवास कहाँ है?’ के शीने आवरण से अनवरत लिपटा हुआ है । उपन्यास के प्रारंभ में, शिष्य श्वेतांक गुरु महाप्रभु रत्नांबर से यह प्रश्न करता है । इस प्रश्न का निश्चित उत्तर देना असंभव नहीं तो, कठिन अवश्य है । प्रश्न दार्शनिक है । दार्शनिक या दर्शन का अर्थ है, जीवन को देखना, गहराई से देखना और उसके मूल तत्वों को पहचानना । जीवन संबंधी यह सूक्ष्म दृष्टि गंभीर चिंतन और व्यावहारिक अनुभव से प्राप्त होती है । इसीलिये रत्नांबर इस दार्शनिक प्रश्न का उत्तर स्पष्ट करने के लिये केवल तर्क का आश्रय न लेकर, शिष्यों को संसार का अनुभव प्राप्त करने भेजते हैं । पाप के अनुसंधान के लिये, उन्होंने क्रमशः जीवन में प्रवृत्ति और निवृत्ति के प्रतीक व्यक्ति, सामंत बीजगुप्त तथा योगी कुमारगिरि चुने हैं, और उन्हें अपने शिष्य श्वेतांक तथा विशालदेव सौंप दिए हैं । उपन्यास के अंत में दोनों शिष्य एक वर्ष का अनुभव प्राप्त कर रत्नांबर से पुनः मिलते हैं । दोनों की पाप संबंधी धारणाएँ भिन्न हैं । एक जीवन में

निवृत्ति को पाप मानता है, तो दूसरा प्रवृत्ति को । लेखक रत्नांबर के द्वारा, जो निर्णय प्रस्तुत करता है, उसका सार इस प्रकार है : संसार में पाप की परिभाषा नहीं हो सकती । संसार में पाप कुछ नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण को विषमता का दूसरा नाम है । मनुष्य कर्ता नहीं है, वह परिस्थितियों का दास है । फिर वह कर्म में पाप अथवा पुण्य का भागी किस प्रकार हो सकता है ? प्रत्येक मनुष्य सुख की कामना करता है । विभिन्न व्यक्तियों के सुख के केंद्र भिन्न होते हैं । उन्हें पाने के लिये मनुष्य जो कुछ करता है, 'वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है, और स्वभाव प्राकृतिक है ।'

भगवतीचरण वर्मा ने पाप संबंधी धारणा को, मनुष्य की आत्मपरक दृष्टि का फल माना है । वे पाप की वस्तुगत सत्ता को स्वीकार नहीं करते । मनुष्य का आत्मबल और तज्जन्य संकल्प एवं कार्यशक्ति, उनकी दृष्टि में स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखता । मनुष्य की सहज प्राकृतिक प्रवृत्तियों को वे पाप पुण्य के प्रश्न से परे मानते हैं । वर्मा जो की यह धारणा निर्विवाद नहीं है । 'प्रकृति' मानव जीवन की अंतिम उपलब्धि नहीं है । उपन्यास में ही बीजगुप्त बल देकर कहता है—'प्रकृति असुविधाजनक है, अपूर्ण है ।.....प्रकृति के अपूर्ण होने के कारण ही मनुष्य ने कृत्रिमता की शरण ली है ।' मनुष्य को, जो जन्मजात प्रवृत्तियाँ, इच्छाएँ मिली हैं, वे उसके लिये प्राकृतिक हैं किंतु वह केवल उनके भरोसे नहीं जी सकता । वह पशु की भाँति जीवन में भोक्ता मात्र नहीं, कर्ता भी है । अतः उसने अपनी सुरक्षा और सुखप्राप्ति के लिये कृत्रिम विधान, समाज और सामाजिकता की शरण ली है ।

पाप शब्द, वस्तुतः समाजसापेक्ष है । समाज के अभाव में इस शब्द का अस्तित्व संभव नहीं है । व्यक्ति, यदि रॉबिन्सन क्रूसो (डेनियल डोफो के सुप्रसिद्ध उपन्यास 'रॉबिन्सन क्रूसो' के नायक) की भाँति किसी निर्जन द्वीप में जीवनयापन करता रहे, तो वहाँ किसी 'पर' की अनुपस्थिति में 'पाप' या 'पुण्य' की धारणा नहीं रहेगी । समाज में, 'पर' के हितार्थ, मनुष्य का कर्म अथवा इस उद्देश्य से उसके 'स्व' का विसर्जन पुण्य है, और 'स्व' के अर्थ 'पर' का स्वत्वहरण अथवा परपीड़न पाप है । जहाँ दोनों में से ऐसी कोई स्थिति नहीं है, वहाँ उसका कर्म न पाप है, और न पुण्य । 'हाँ, 'स्व' और 'पर' की स्थितियाँ और सीमाएँ, देश, काल और परिस्थिति पर निर्भर हैं । इसीलिये, किसी भी कर्म पर इस दृष्टि से सुनिश्चित निर्णय दे सकना कठिन है । इस विवेचन की पुष्टि के लिये स्वतः 'चित्रलेखा' से प्रमाण जुटाए जा सकते हैं । रत्नांबर अनुभवप्राप्ति के लिये श्वेतांक को बीजगुप्त के पास छोड़ते समय अच्छे बुरे (पाप पुण्य) की कसौटी अज्ञायास स्वयं दे बैठते हैं—'अच्छा और बुरा—यह सब तुम्हारे सामने आएगा; पर इस कसौटी पर ध्यान रखना कि अच्छे वस्तु वही है, जो तुम्हारे वास्ते अच्छे होने के साथ ही दूसरों के वास्ते अच्छी हो ।' जीवन की गहराइयों में चिंतन द्वारा पैठकर उत्तरोत्तर विकसित होनेवाला पात्र बीजगुप्त, श्वेतांक के हित में यशोधरा तथा सर्वस्व को त्यागते समय, उक्त कथन का चिंतन और कर्म द्वारा उपन्यास में मानो भाष्य करता है । वह सोचता है—'क्या संयम के यही अर्थ हैं—क्या संसार में अपनापन ही सब कुछ है ? तो फिर मनुष्य में और पशु में भेद क्या है । प्रत्येक प्राणी अपने लिये जीवित है—प्रत्येक व्यक्ति ममत्व-भाव से प्रेरित होकर काम करता है । फिर मुझमें और संसार के अन्य प्राणियों में भेद क्या ?' दूसरों के सुख में बाधक होना—केवल अपने सुख की आशा पर, कायरता है, नहीं नोचता है ।'

ऐतिहासिक उपन्यास की प्रौढ़ता का पूर्व चरण

प्रेमचंदयुगीन ऐतिहासिक उपन्यास के विवेचन के उपरान्त स्पष्ट है कि यह विधा इस युग में (प्रेमचंदपूर्व) शैशव से बढ़कर (प्रेमचंदोत्तर) प्रौढ़ावस्था में पदार्पण करने के लिये अग्रसर हो रही है। इस कालावधि में पूर्वकाल की अपेक्षा ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना संख्या घटी है; रचनापरिमाण ने घटकर गुणवत्ता के निखार का रूप धारण कर लिया है। उपन्यास में घटना प्रधानता कम हुई है तथा प्रकारभेदों का विकास हुआ है। प्रेमचंद-पूर्व-युग में ऐतिहासिक उपन्यास की रचना मुख्यतः प्रचार, शिक्षा या वर्तमान से पलायन के लिये हुई थी। इस युग में विगत की वर्तमान के संदर्भ में देखने का प्रयत्न है। भारतीय इतिहास के मध्ययुग की वर्षा विषय बनाकर जो अधिकांश उपन्यास लिखे गए हैं, उनमें कलात्मकता न आ पाने पर भी, वे जीवन की समस्याओं की चुनौती स्वीकार करने की मुद्रा में सन्नद्ध दीख पड़ते हैं।

प्रेमचंदयुगीन ऐतिहासिक उपन्यास में चतुरसेन शास्त्री, वृंदावनलाल वर्मा तथा भगवती-चरण वर्मा की प्रतिभा का उन्मेष हुआ है। 'खवास के व्याह' में इतिहास की चमक पर ध्यान देने का जो लक्षण है, वह आगे चलकर चतुरसेन के 'वैशाली की नगरवधू', 'सोमनाथ' तथा 'वय रक्षामः' जैसे महान् उपन्यासों में सुविकसित हुआ है। इस युग में वृंदावनलाल वर्मा की देन सर्वाधिक उल्लेखनीय है। उनके प्रारंभिक किंतु अमर उपन्यासों 'गढ़ कुंडार' तथा 'विराटा की पद्मिनी' ने हिंदी में ऐतिहासिक उपन्यास को नया अर्थ तथा नवीन दिशा प्रदान की। इन उपन्यासों में इतिहास के प्रति गंभीर दृष्टि, उसके विधिवत् अध्ययन की पद्धति, कथाक्षेत्र की पहचान, लोकजीवन को अपनाने की ललक, प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में मानवप्रकृति को समझने की सहृदयता, विगत और वर्तमान की समस्याओं को एकसूत्र कर आधुनिकता की कसौटी पर परखना, कथापात्रों को जीवन से बाँधकर कलात्मक छवि देना—व्या कुछ नहीं है ! इन उपन्यासों से हिंदी ऐतिहासिक उपन्यास का स्वर्णपथ प्रशस्त होता है। आगे चलकर अपनी इसी प्रतिभा को पल्लवितकर वृंदावनलाल वर्मा ने 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', 'कचनार' 'मृगनयनी', 'टूटे काँटे' तथा 'महारानी दुर्गावती' जैसे अमर कृतियाँ दी हैं, जिनपर हिंदी जगत् को गर्व है। भगवतीचरण वर्मा ने बाद में 'चित्रलेखा' के ढंग का अन्य उपन्यास नहीं लिखा, और न इस प्रयोग को अन्य किसी ऐतिहासिक उपन्यासकार ने अपनाया। 'चित्रलेखा' अपने ढंग का एकमात्र उपन्यास होने पर भी इस युग की उल्लेखनीय देन है। इसका दार्शनिक ऊहापोह तथा शिल्पसौष्ठव आज भी हिंदी साहित्य में चर्चा का विषय है। ऐतिहासिक उपन्यास की दृष्टि से इसमें एक बड़ी बात विचारणीय है। भगवतीचरण वर्मा का उद्देश्य 'चित्रलेखा' में ऐतिहासिक उपन्यास प्रस्तुत करना नहीं था, और न इतिहास को उन्होंने अपनी कला का माध्यम बनाया है। फिर भी अपनी बात कहते हुए उपन्यास में उनके हाथों इतिहास का जो सूक्ष्म युक्तिपूर्ण रीना झीना उपयोग बन पड़ा है, वह बड़ा स्पृहणीय है। उन्होंने 'चित्रलेखा' में इतिहासभूमि को अनायास एक अभिनव आयाम प्रदान किया है। इस युग की उपलब्धियों ने आगे चलकर राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव, हजारीप्रसाद द्विवेदी, अमृतलाल नागर आदि जैसे समर्थ ऐतिहासिक उपन्यासकारों की लेखनी को प्रेरित कर हिंदी का गौरव बढ़ाया है।

रोमानी उपन्यास

शांतिस्वरूप गुप्त

बहुत समय तक रोमांस तथा उपन्यास साहित्य की दो अलग विधाएँ मानी जाती रहीं। दोनों का इतिहास और तात्त्विक विवेचन रोमानी उपन्यास में अंतर्निहित अंतर्विरोध की ओर संकेत करता है। रोमांस का प्राण तत्व कल्पनाविलास है जबकि उपन्यास में साधारण जीवन की अभिव्यक्ति और विश्वसनीय परिस्थितियों के चित्रण पर बल दिया जाता है, 'द नावेल इज ए पिक्चर आव् रीयल लाइफ ऐंड मेनर्स ऐंड आव् द टाइम्स इन क्लिन इट इज रिटेन। द रोमांस, इन लाफ्टी ऐंड एलीवेटेड लैंग्वेज, डिस्क्राइम्स क्लॉट नेवर हैपेण्ड नार इज लाइकली टु हैपेन।' रोमांस में कल्पना का प्राधान्य होता है तो उपन्यास में यथार्थ पर बल दिया जाता है; एक घटनाप्रधान होता है तो दूसरे में पात्रों के चरित्रांकन का महत्त्व अधिक है। उपन्यास की कथावस्तु सुसंगठित होती है जबकि रोमांस की कथावस्तु विश्रुंखलित होती है। पर अंग्रेजी उपन्यास साहित्य का इतिहास बताता है कि बाद में उपन्यास ने रोमांस से बहुत कुछ ग्रहण किया और रोमांस को भी ऐसे कलापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया कि दोनों मिलकर एक हो गए। श्रीमती रेडक्लिफ और वाल्टर स्कॉट की कृतियों में यह सीमा रेखा मिट गई। आज रोमांस उपन्यास में तिरोहित हो गया है। अब जिस रचना में यथार्थ की भूमि पर कल्पना और काव्यमयता का प्रासाद खड़ा किया गया हो, उसे रोमानी उपन्यास की संज्ञा दी जाती है। आज केवल कोरो कल्पना से प्रभावशाली एवं हृदय की रागात्मक वृत्तियों को स्पर्श करने-वाला उपन्यास नहीं लिखा जा सकता; उसमें यथार्थ और आदर्श का पुट भी होता है। बीसवीं शताब्दी का रोमानी उपन्यास न तो लोकजीवन से दूर कल्पना की क्रोड़ा मात्र है और न एकरस दैनिक जीवन का शुष्क व्योरा मात्र; वह इन दोनों से परे की वस्तु है—हृदयग्राही, सरल और पाठक के मर्म को स्पर्श करनेवाली।

रोमानी उपन्यास की मुख्य धुरी प्रेम है। इसमें चित्रित प्रेम प्रायः स्वच्छंद, उदात्त, त्याग भावना से समन्वित और एकनिष्ठ होता है; उसमें तीव्रता और गहराई होते हुए भी वासना का उद्दाम आवेग नहीं होता। उसमें दो प्रेमी हृदयों (प्रायः अविवाहित) के पारस्परिक आकर्षण, अंतर्द्वंद्व और आशा निराशा का चित्रण होता है। प्रणय समस्त वृत्तियों का संचालक है, अतः रोमानी उपन्यास में रागात्मिका वृत्ति की प्रधानता होती है, वह भावप्रधान होता है—घटनाएँ, वातावरण, पात्रों के मार्मिक कथोपकथन सभी भावनाओं को उद्बलित करते हैं। कल्पना का प्रयोग करते हुए भी वह मानव की यथार्थ प्रवृत्तियों का संवेदनशील चित्रण करता है, यथार्थ जगत् के अभावों की मानसिक घरातल पर पूर्ति करता है। रोमानी लेखक का जीवन-दर्शन व्यक्तिवादी होता है, उसकी मान्यताएँ व्यक्तिवादी होती हैं जिनका समाज से विरोध भी हो सकता है। अतः रोमानी उपन्यास के पात्र 'टाइप' न होकर 'व्यक्ति' होते हैं और कभी कभी उच्छ्रंखल, अमर्यादित और विद्रोही प्रतीत होते हैं, पर यदि मानवता की दृष्टि से देखें तो

उनके चारित्रिक सौंदर्य को देख हम मुग्ध हुए बिना नहीं रहते। जार्ज सैनिट्स ने प्रेम और शीर्षोदारता (चिवेलरी) को रोमांस का प्राण कहा था। शीर्षोदारता का एक रूप है अबलात्राण। आज के युग में अबलात्राण का रूप बदल गया है; अब अबला नारी को किसी राक्षस, या राक्षसी वृत्ति के दुर्धर्ष पुरुष के चंगुल से मुक्त नहीं कराया जाता अपितु उपन्यास का नायक नायिका को समाज की रुढ़ियों और अन्य परंपराओं की कारा से मुक्त करता है। सौंदर्य के प्रति ललक रोमानी लेखन की प्रधान प्रवृत्ति है, अतः रोमानी उपन्यास में भी नारी के रूप यौवन के मादक चित्रों के साथ प्रकृति और मानव की अंतर्वृत्तियों के सौंदर्य का चित्रण किया जाता है। रोमानी रूचि के कारण लेखक जिस प्रेम, सौंदर्य, वीरता, संस्कृति का मोहक चित्रण करना चाहता है वर्तमान में उसका अवकाश न देखकर वह स्वर्णिम अतीत की ओर मुड़कर वहाँ उसके दर्शन करता है या उसका आरोपकर, उसे विश्वसनीय बनाकर श्रमपूर्ण सत्य से हमारा तादात्म्यकर आनंद की उपलब्धि कराता है।

शिल्प की दृष्टि से भी रोमानी उपन्यास प्राचीन रोमांस कथाओं से भिन्न है। वह घटना-प्रधान न होकर पात्रों को विभिन्न परिस्थितियों में डालकर उनके आंतरिक पक्ष के उदघाटन पर अधिक बल देता है। कथा के विकास में घटना और पात्र दोनों का समान योगदान रहता है। पात्रों की सृष्टि तथा कथानक के गठन में कथोपकथन की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। अतः कथोपकथन कभी सीधी सरल भाषा में और कभी आलंकारिक काव्यमयी भाषा में पात्रों का आंतरिक परिचय देकर उपन्यास को नाटकीय गति प्रदान करते हैं। उपन्यास में चित्रित वातावरण भी रचना में रागात्मक रोमांटिक प्रभाव उत्पन्न करने में सहायक होता है। रोमानी उपन्यास का उद्देश्य मनोरंजन मात्र नहीं रह गया है; वह सरस, मर्मस्पर्शी प्रणय कथा के माध्यम से पाठक की वासनाओं का परिष्कार और उन्नयन कर कोई मानववादी संदेश देता है, जीवन की नई व्याख्या करता है। यदि ऐसी रोमानी रचना का आधार ऐतिहासिक हो—उसके पात्र, प्रसंग, घटनाएँ और वातावरण इतिहास संमत हों तो उसे ऐतिहासिक रोमांस कहा जाता है।

हिंदी उपन्यास के आरंभिक युग में रहस्य रोमांच एवं स्वच्छंद कल्पना की धारा तिलस्मो, ऐयारी और जासूसी उपन्यासों के रूप में प्रकट हुई थी। कल्पना और आदर्श के ताने बाने से बुने गए रहस्य-रोमांच-युक्त ये उपन्यास मन बहलाव की वस्तु थे, इनमें जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने का कोई प्रयास नहीं किया गया था। इनके लेखकों ने इस पृथ्वी पर ही इंद्रलोक बसाया था। हिंदी उपन्यास में रोमानी प्रवृत्ति का उदय उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में ठा० जगमोहन सिंह के 'श्यामा स्वप्न' से माना जाता है। उसका विकास क्रमशः किशोरीलाल गोस्वामी, ब्रजनंदन सहाय से होता हुआ जयशंकर प्रसाद, 'निराला' और वृंदावनलाल वर्मा तक हुआ। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों में पहली बार केवल प्रेमप्रधान कथानकों का निर्माण हुआ। उन्होंने ऐतिहासिक घरातल पर वीर काव्यों, लोक कथाओं या किंवदंतियों के आधार पर किसी ऐतिहासिक व्यक्ति या काल्पनिक पात्र की काल्पनिक कथा लेकर फेंसी या अनर्गल कल्पना का मनमाना प्रयोग कर पाठकों को रहस्य रोमांस की गलियों में भटकया, अद्भुत, अलौकिक, असाधारण सौंदर्य, भय, आतंक और वीरता की सृष्टिकर पाठकों का सस्ता मनोरंजन किया। ब्रजनंदन सहाय के उपन्यास विशेषतः 'सौंदर्योपासक' भावात्मक उपन्यासों की

श्रेणी में रखे जाते हैं क्योंकि उनमें कथातत्त्व स्वल्प है, गीत वाक्य का सा सूक्ष्म भावना तंतु है और काव्यमय भाषा है। फिर भी स्वच्छंद भावव्यंजना, प्रेम की स्वच्छंद व्याख्या और प्रेम, सौंदर्य आदि के विषय में सुंदर उक्तियों के कारण उसमें रोमानी तत्व भी मिलता है। उसमें एक काल्पनिक प्रणय कथा तो है पर कहानी की अपेक्षा पात्रों (प्रेमी युगल) की विरह वेदना और मिलनोत्कंठा के चित्र ही अधिक मार्मिक हैं। वैयक्तिक अनुभूति की प्रधानता, काव्यमय प्रभाव, प्रणय की व्याख्या एवं विरह मिलन के मार्मिक चित्रों के कारण उसे रोमानी उपन्यास कहा गया है। इस प्रकार १९१८ ई० से पूर्व हिंदी उपन्यासों में रोमानी प्रवृत्ति तो मिलती है पर रोमांस का स्वस्थ रूप १९१८ ई० के बाद की ही कृतियों में उपलब्ध होता है।

१९१८ ई० में प्रेमचंद के आगमन से पूर्ववर्ती काल में पनप रही छिछली रोमांस की धारा रुक गई। प्रेमचंद ने स्पष्ट घोषणा की 'हमें अपने युवकों को प्रणय रहस्यों का पाठ पढ़ाने की, उनके हृदय में आग लगाने की जरूरत नहीं है। हमें देश में उन भावों का संचार करना है जो हमें इस संग्राम में मर्दों की भाँति खड़े होने में सहायक हों।' ^१ यद्यपि काव्य के क्षेत्र में यह काल (१९२०-१९३५ ई०) स्वच्छंदतावाद के चरम उत्कर्ष का युग था पर उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचंद की आदर्शोन्मुख यथार्थवादी प्रवृत्ति के कारण रोमानी उपन्यासों का प्रणयन अधिक नहीं हो पाया। इस काल में रोमानी प्रवृत्ति के दो प्रधान रूप मिलते हैं। एक ओर लेखकों ने सामाजिक उपन्यासों को ही भावपूर्ण एवं काव्यमय बनाकर प्रेयप्रधान सरस कहानियाँ लिखीं; दूसरी ओर राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित हो, भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष पर प्रकाश डालने के लिये लेखकों ने कल्पना के बल पर अतीत भारत के जीवन की झाँकी प्रस्तुत की और प्रणय कथाओं के माध्यम से देश के प्राकृतिक सौंदर्य, शौर्य पराक्रम तथा त्याग बलिदान के रोमांचक चित्र प्रस्तुत किए। ऐतिहासिक घरातल पर कल्पना के सहारे रोमानी उपन्यासों की सृष्टि करनेवालों में वृंदावनलाल वर्मा प्रमुख हैं तो सामाजिक समस्याओं को लेकर लिखे गए उपन्यासों में प्रणय का समुज्ज्वल रूप प्रस्तुत करनेवाले लेखकों में 'प्रसाद', 'निराला', 'उषा-देवी मित्रा' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रेमचंद के समकालीन होते हुए भी जयशंकरप्रसाद रुचि, प्रवृत्ति और मानसिक गठन में प्रेमचंद से बिल्कुल भिन्न थे। वह मूलतः कवि-हृदय-संपन्न रोमानी रुचि के साहित्यकार थे। उनका पहला उपन्यास 'कंकाल' (१९३०) प्रेमचंद के आदर्शवाद से दूर समाज और धर्म की खोखली मान्यताओं को उधार कर रखनेवाला, कटु व्यंग्य द्वारा धर्म और समाज के ठेकेदारों की पोल खोलनेवाला तथा स्त्री पुरुष के प्रेम और विवाह की समस्या पर व्यक्तिवादी दृष्टि से स्वच्छंद विचार प्रस्तुत करनेवाला उपन्यास है। यौवन, प्रेम और सौंदर्य के कवि को रोमानी प्रवृत्ति उनके उपन्यासों में भी झलकती है; उन्होंने संसार को विशेषतः प्रेम की दुनिया को अपने दृष्टिकोण से देखा है और व्यक्तिस्वातंत्र्य की गुहार मचाई है। प्रसाद मधुर और कोमल भावनाओं के चितरे थे; उनकी वृत्ति वेदना, करुणा प्रेम और यौवन के चित्र उकेरने में अधिक रमती थी। यही कारण है कि समाज की सड़ांध को अनावृत्त करनेवाले 'कंकाल' जैसे यथार्थवादी उपन्यास में भी प्रेम के विभिन्न रूपों तथा प्रेमी युगलों के मार्मिक संबंधों का चित्रण मिलता है। मंगल पवित्रता और आलोक से घिरा पाप, दुर्बलताओं से लिपटा हुआ एक दृढ़

सत्य है; विजय व्यक्तिस्वातंत्र्य का अस्वस्थ रूप है जो तीन तीन नारियों के प्रति आकृष्ट होता है पर किसी के प्रति भी पूर्ण समर्पित नहीं हो पाता। प्रसाद के नाटकों के समान ही उनके उपन्यासों के नारी पात्र भी पुरुष पात्रों की अपेक्षा अधिक मोहक हैं। 'कंकाल' की तारा भावनामयी, समर्पणशील हृदय से संपन्न, प्रेमी के प्रति प्रतिक्षण, त्यागमयी, पवित्रता और सहिष्णुता की साकार प्रतिमा सच्ची प्रेयसी है। समाज द्वारा तिरस्कृत ऐसी अपूर्व प्रेयसी अंत में करुण मूर्ति बनकर रह जाती है। घंटी प्रसाद की कल्पना का सजीव पात्र है और उसके माध्यम से एक मुक्त, स्वच्छंद तरुणी की प्रणय गाथा कही गई है। गुर्जरबाला माला की कहानी में वन्यश्री और वन्य जीवन का नैसर्गिक चित्र उपस्थित कर एक काल्पनिक सौंदर्य की सृष्टि की गई है। इस प्रकार प्रणय प्रसंगों, प्रणय के प्रति स्वच्छंदतावादी दृष्टि, व्यक्तिस्वातंत्र्य का समर्थन, भावप्रधान तथा काव्यमय अलंकृत भाषा शैली, प्रकृति की रम्य पृष्ठभूमि, रूप और यौवन के कलापूर्ण चित्र सभी मिलकर 'कंकाल' को रोमानी कृति बना देते हैं। एक ओर नारी का त्यागमय प्रेम तथा सहिष्णुता तथा दूसरी ओर विवाह की नई व्याख्या कृतिकार की रोमानी वृत्ति और स्वतंत्र चिंतन का साक्ष्य है, 'हृदय का संमिलन ही तो व्याह है। मैं सर्वस्व तुम्हें अर्पण करता हूँ और तुम मुझे; इसमें किसी मध्यस्थ की आवश्यकता क्यों—मंत्रों का महत्त्व कितना।'... 'मैं स्वतंत्र प्रेम की महत्ता स्वीकार करता हूँ, समाज न करे तो क्या?' समाज के दलित वर्ग की पीड़ा से अनुत्सल लेखक समाज को चुनौती देता है, 'जिसको तुम पतित कहकर ठुकराते हो, उनको सहानुभूति की दृष्टि से देखो, मालूम होगा कि वे उनसे भी महान् हैं जिन्हें तुम महान् समझते हो।' रोमानी तत्व होते हुए भी 'कंकाल' भावाभिभूत करने की अपेक्षा पाठक के विचारों को अधिक उत्तेजित करता है।

प्रथम दृष्टि में 'तितली' (१९३४) आदर्शवादी रचना दिखती है पर वस्तुतः उपन्यास की नायिका तितली किसी सामाजिक आदर्श से प्रेरित न होकर प्रेमभावना से प्रेरित हो कार्य करती है। अतः वह स्वच्छंदतावादी रचना है। तितली मधुवन तथा इंद्रदेव शैला की कहानियाँ दो प्रणयी युगलों की कहानी हैं। शैला इंद्रदेव की कथा पूर्णतः काल्पनिक है और उनका प्रणय अनेक घटनाओं की सृष्टि करता है। दोनों भावुक हैं, उनके समस्त कार्य भावनाप्रेरित हैं। मधुवन तितली की कथा भी बड़ी मार्मिक एवं करुण है। यौवन के मधुपूर्ण दिन कारागार में बिता शरीर और मन से कलांत मधुवन प्रेम के नीड़ बनजरिया को लीटता है; उधर संसार के अंधड़ में छिन्नभिन्न न होकर तितली अतीत की मधुमय घड़ियों की स्मृति को छिपाए कर्म-संग्राम में जुटी रहती है और अपने देवता की प्रतीक्षा करती रहती है। चौदह वर्ष से बिछुड़े पति से पत्नी का मिलन अत्यंत मार्मिक है। घटनाओं की सृष्टि में तो कल्पना और संयोग से काम लिया ही गया है, चरित्रनिर्माण में भी रोमानी प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। कथा और चरित्रचित्रण दोनों में रोमांस की अंतर्धारा (अंडर करेंट) प्रवाहित है। वातावरण सृष्टि, काव्यमय भाषाशैली, स्वच्छंद पर त्याग से समन्वित एकनिष्ठ प्रेम, नारी की गरिमा—ये सभी विशेषताएँ 'तितली' को रोमानी बना देती हैं; फिर भी वह पूर्णतः रोमानी रचना नहीं है क्योंकि उसमें समाज की कुरूपता का यथार्थ चित्रण भी है और आदर्शवादिता का पुट भी। कुल मिलाकर प्रसाद के इन दोनों उपन्यासों में समाज की यथार्थ समस्याओं के साथ स्वच्छंद-वादी कल्पनापूर्ण घटनाओं का समन्वय है और उसी सीमा तक वे रोमानी उपन्यास हैं।

अधूरा होते हुए भी प्रसाद का 'इरावती' सर्वाधिक रोमानी है। कल्पना के सहारे अतीत को पुनर्जीवित करने के लिये लेखक ने इरावती और कालिंदी जैसे कल्पित पात्रों की सृष्टि कर तथा उपन्यास में रूप, यौवन, सौंदर्य एवं प्रणय की धारा प्रवाहित कर रचना को रसप्लावित बना दिया है। बीच-बीच में युद्ध के प्रसंग, सुरंग, गुप्त खजाने, साहसिकता और प्रतिशोध-भावना उसे रहस्य-रोमांच के वातावरण में लपेट उत्तेजक बना देते हैं।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' छायावादी काव्य के प्रमुख स्तंभ हैं, उनकी वृत्ति आरंभ में रोमानी थी। अतः छायावादकाल में लिखे गए उपन्यास—अप्सरा, अलका, प्रभावती—मूलतः प्रेम कथाएँ हैं। वस्तुविन्यास, पात्रपरिकल्पना, चरित्रांकन, चित्रमय भावपूर्ण शैली, प्रेमसंबंधी दृष्टि एवं नारी पात्रों की त्याग भावना सभी दृष्टियों से ये उपन्यास अपनी मोहकता एवं सरसता में रोमानी हो गए हैं। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने इनके संबंध में लिखा है, 'प्रमुखता केवल भाव की है.... ये रचनाएँ काव्यप्रधान हैं, रोमांटिक हैं।'¹

'अप्सरा' (१९३१) की नायिका वारवनिता की पुत्री होते हुए भी निश्छल, सुरुचिपूर्ण, कला, प्रतिभा और एकनिष्ठ प्रेम की प्रतिमूर्ति है। इन सब गुणों का एक स्थान पर पुंजोभूत होना कल्पना लोक में ही संभव है जिसे कविकल्पना ही निमित्त कर सकती थी। रोमानी कथाओं के समान इस रचना में भी नायक द्वारा नायिका की रक्षा की जाने पर प्रथम दृष्टि में प्रेम होता है, विभिन्न परिस्थितियों में पड़कर नायक नायिका का कई बार मिलन और वियोग होता है और प्रासंगिक कथा के पात्रों—चंदन और तारा की सहायता से अंत में दोनों का मिलन होता है। साहित्यसेवा में अपित जीवन और मानव दुर्बलताओं में झूलता नायक का मन, सौंदर्य के स्वर्ण थाल में स्नेहपूरित हृदय की बाती जलाकर प्रतीक्षारत नायिका, रोमानी कथानक, असाधारण घटनाओं का जाल, नायक नायिका के मन में उठनेवाले विरोधी भावों का भावपूर्ण काव्यमय शैली में चित्रण एवं गीत—सभी रचना को रोमानी बना देते हैं। सामाजिक मान्यताओं को तोड़कर, प्रेम के क्षेत्र में गणिकापुत्री को कुलीन कन्या से भी अधिक गुणवान एवं समर्पण भाव से युक्त दिखाकर मानव स्वच्छंदता की प्रतिष्ठा की गई है। कोमल, मधुर अनुभूतियों की रागात्मक अभिव्यक्ति एवं सौंदर्य के मोहक चित्र भी उसे रोमानी रचना बनाते हैं।

'अलका' (१९३३) कल्पना तथा रोमांस की भूमि से उतर कर यथार्थ की कठोर भूमि पर प्रतिष्ठित रचना है फिर भी विजय और शोभा तथा अजित वीणा के माध्यम से प्रेम का पुट रचना को सरस एवं रोमानी बनाने में सहायता देता है। नाटकीय ढंग से आकस्मिक घटनाओं की सृष्टि, वेशपरिवर्तन और पात्रों का भावनामय आदर्श भी रोमानी तत्वों का निर्माण करता है। 'अप्सरा' की भांति इस रचना में मार्मिक स्थल अधिक नहीं हैं, इसमें भावप्रवणता और काव्यमयता भी अपेक्षाकृत स्वल्प है, प्रेमकथा गौण है और किसान-जमींदार-समस्या प्रधान है, कल्पना के स्थान पर यथार्थ का आग्रह अधिक है तथापि प्रणय कथा एवं सुंदर काव्यमय शैली उसे रोमानी पुट अवश्य प्रदान करते हैं। निराला की 'निरुपमा' (१९३६) में भी कल्पना और यथार्थ का सम्मिलित प्रयोग हुआ है, आदर्श, यथार्थ और स्वच्छंदतावादी तत्वों का मिश्रण हुआ है। कथानक की अधिकांश घटनाएँ लेखक की कल्पना की उपज हैं, अतः वे असाधारण, अस्वा-

१. नंददुलारे वाजपेयी, हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी, पृ० १५०।

भाविक और अप्रत्याशित लगती हैं। कथा का अंत भी विचित्र है। इंग्लैंड से डी० लिट० की उपाधि प्राप्त कर लौटनेवाले युवक कुमार को बूट-पालिश का काम करना पड़ता है। बंगाली शिक्षित युवती निरुपमा उससे प्रेम करने लगती है पर उसका विवाह निश्चित होता है एक अन्य-पुरुष यामिनी बाबू से। विवाह से पूर्व कुमार की शिष्या अपने मित्र की सलाह से पंडित रचती है जिससे यामिनी बाबू का विवाह एक क्रिश्चियन लड़की से हो जाता है और निरुपमा तथा कुमार मिल जाते हैं। निरुपमा के प्रेम में पर्याप्त भावप्रवणता है, नायक नायिका दोनों भावुक हैं, ग्रामीण जीवन का सजीव चित्रण है, अंतर्जातीय प्रेम का समर्थन कर समाज की परंपरागत मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह है, कथानक की सृष्टि काल्पनिक है अतः उसे आंशिक रूप से रोमानी उपन्यास कहा जा सकता है।

‘निराला’ के उपन्यास एक दूसरे से बड़ी समानता रखते हैं—सभी में प्रथम दृष्टि का प्रेम है, प्रणयी युगल का प्रेम तीव्र होते हुए भी मर्यादित और संयमित है, नायिकाएँ अद्वितीय सुंदरी होने के साथ साथ प्रतिभाशालिनी, गौरवमयी, भावुक एवं शालीन हैं। काव्यमय तथा आलंकारिक भाषा शैली उनके सभी उपन्यासों में मिलती है। सभी उपन्यासों में घटनाएँ प्रायः विचित्र, असाधारण तथा नाटकीय ढंग से घटित होती हैं जिन्हें पढ़ते समय पाठक का कौतूहल बना रहता है। लेखक का व्यक्तित्व एवं उसकी विचारधारा अनेक पात्रों के माध्यम से व्यक्त हुए हैं। अतः उनके उपन्यास पूर्णतः रोमानी न होकर भी अनेक स्वच्छंदतावादी तत्वों से परिपूर्ण हैं। नारी-सुलभ प्रेमप्रधान तथा अन्य विषय आनुषंगिक होने के कारण ही उनकी रचनाओं को रोमानी कहा जाता है।

बृंदावनलाल वर्मा सच्चे अर्थों में स्वच्छंदतावादी उपन्यासकार हैं। उनकी सभी रचनाओं में प्रेम, सौंदर्य, वीरता और त्याग के जाज्वल्यमान चित्र हैं और वे भावात्मक तथा काव्यमय भी हैं। उनके उपन्यासों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—सामाजिक भावना से समन्वित और ऐतिहासिक राष्ट्रीय भावना से युक्त उपन्यास। उनके सभी सामाजिक उपन्यासों—प्रेम की भेंट, कुंडली चक्र, लगन आदि में प्रेम कथाएँ हैं। ‘प्रेम की भेंट’ आद्योपांत रोमांस है। ‘लगन’ (१९२७ ई०) उपन्यास दहेज की समस्या से आरंभ होता है परंतु प्रणयी युगल की तीव्र प्रेम भावना, दोनों की उत्कट लगन, प्रिया से मिलने के लिये नायक देवीसिंह की भयंकर परिस्थितियों से साहसपूर्वक टक्कर उपन्यास को एक रोमानी प्रणयकथा का रूप प्रदान करते हैं। नायक का संपूर्ण क्रियाकलाप किसी आदर्श या समाज सुधार की भावना से संचालित न होकर अंतर्भावना, प्रेम भावना से उत्पन्न तीव्र लगन का परिणाम है। अतः वह प्रेमप्रधान रोमानी रचना ही वहीं जाएगी। ग्राम का सीधा सरल वातावरण, प्रकृति का सुरम्य अंचल और उसमें ग्राम युवतियों का झोला व्यवहार, नायक नायिका का अपूर्व साहस एवं अंत में सुखद मिलन उसे रोमानी वातावरण प्रदान करते हैं। नायक का अंतर्द्वंद्व—एक ओर पिता का भय और जातीय मान प्रतिष्ठा का विचार तथा दूसरी ओर प्रिया को पाने की लगन और पत्नी के प्रति कर्तव्य-भावना—विरोधी भावों में यह संघर्ष भी रचना को स्वच्छंदतावादी तत्व प्रदान करता है। इन्हीं विशेषताओं को देखकर प्रेमचंद जी ने उसके विषय में लिखा था, ‘इट इज नाट ए नावल बट ए पोस्टोरल पोएट्री’। हम उसे गोप जीवन से संबंधित रोमांस कह सकते हैं। ‘प्रेम की भेंट’

१. डा० शशिभूषण सिंहल को लिखे गए वर्मा जी के पत्र से उद्धृत, ‘उपन्यासकार बृंदावन-लाल वर्मा’, पृ० २९२।

(१९२८) मन में प्रेम का सागर छिपाए ऐसे प्रणयी युगल की कहानी है जो अपने प्रणय भाव को प्रकट नहीं करते। साहित्यप्रेमी, अत्यंत भावुक एवं स्वाभिमानी युवक धीरज सरस्वती से असीम प्रेम करते हुए भी अपना प्रेम उस पर प्रकट नहीं करता, जीवन भर अंतर्द्वंद्व में ग्रस्त रहता है और केवल विष के प्रभाव से मूर्छित होने पर ही अपने अवचेतन मन की छिपी लालसा को प्रलाप में व्यक्त करता है। एक ओर उजियारी की ईर्ष्या, प्रबल प्रतिहिंसा, वासनायुक्त प्रेम की प्रचंडता तथा दूसरी ओर सरस्वती का सात्विक पवित्र प्रेम, संयम एवं मर्यादाशील आचरण प्रेम के दो स्वरूप चित्रित कर उपन्यासकार रचना को रोमानी तत्व प्रदान करता है। ग्रामीण जीवन और प्रकृति की सुरम्य पृष्ठभूमि, मर्मस्पर्शी रागात्मक वृत्तियों को अंकुश करनेवाली रोचक प्रेम कथा, भावनाओं की घनीभूत तीव्रता, नायक का अंतःसंघर्ष और उससे उत्पन्न मार्मिकता—सभी इसे रोमानी रचना बना देते हैं। समाज द्वारा पीड़ित निराश प्रेमी का कहण अंत, गीत काव्य की सी भावना की तीव्रतम अनुभूति आदि गुण देखकर ही डा० सियारामशरण प्रसाद ने उसके विषय में लिखा है ‘.....प्रेम की तीव्रता, मार्मिकता, प्रभावशीलता को देखकर उक्त पुस्तक को प्रेमपरक साहित्यिक कृतियों में शीर्षतम कोटि में परिगणित किया जाएगा।’

वर्माजी के अन्य सामाजिक उपन्यासों में भी सामाजिक समस्याओं को प्रणय कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। ‘संगम’ (१९२७) में जातिमोह की भर्त्सना की गई है तथा गंगा के साथ रामचरण का विवाह कराकर समाज को पुरानी मान्यताओं के प्रति विद्रोह और नई मान्यताओं का समर्थन किया गया है। ‘कुंडली चक्र’ (१९२८) में भुजबल और अजीत के चरित्रों द्वारा प्रेम के दो रूप—स्वार्थपूर्ण एवं कामवासना से अभिशप्त तथा आदर्श प्रेम—प्रस्तुत किए गए हैं। इस प्रकार वर्मा जी के सामाजिक उपन्यासों में प्रणय कथा प्रधान होने के कारण तथा लेखक की वृत्ति मूलतः रोमानी होने के परिणामस्वरूप उन्हें रोमानी रचनाओं के अंतर्गत ही रखा जाएगा।

उपादेवी मित्रा प्रेमचंद की आदर्शवादो परंपरा की लेखिका हैं; उनके उपन्यास नारीजीवन में प्रेम और विवाह की समस्या का निरूपण करते हैं, अतः उनमें रोमानी तत्व मिल जाना स्वाभाविक है। नारी होने के कारण उन्होंने प्रेमभावना में त्याग वृत्ति का उन्मेष ही चित्रित किया है। नारी की स्वतंत्र सत्ता पर बल देते हुए भी उनकी रचनाओं—वचन का मोल, पिया, जीवन की मुस्कान आदि में वासना और उच्छ्वलता का समर्थन नहीं किया गया है। उनका मत है कि प्रेम की सहज भावना व्यक्तित्व विकास में सहायक होती है। ‘वचन का मोल’ (१९३६) की कजरी आजीवन अविवाहित रहती है—अपने एकनिष्ठ प्रेम के कारण। उन्होंने नारी की वैयक्तिक स्वतंत्रता का प्रतिपादन भी किया है। ‘पिया’ की पपीहरा यह जानते हुए भी उसका प्रिय विवाहित है उससे प्रेम करती है और उसके दांपत्य जीवन को मधुमय बनाए रखने के लिये अपना मूक बलिदान कर देती है। इस प्रकार उपादेवी मित्रा के उपन्यास प्रेम-प्रधान हैं। इनका प्रेम आदर्श प्रेम है जो प्रतिदान नहीं चाहता, नायिकाएँ भावप्रवण, त्याग-मयी नारियाँ हैं जिनके समर्पण में केवल उत्सर्ग छलकता है। उनका अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है पर कहीं कहीं आदर्श का अतिरेक इन पात्रों को असामान्य और अस्वाभाविक बना देता है। सामाजिक मर्यादाओं और वैयक्तिक स्वतंत्रता के बीच संघर्ष होता है, अतः इन रचनाओं में मानसिक द्वंद्व का भी चित्रण है। बंगाली स्वभाव के कारण उपादेवी के उपन्यासों में आदर्श-

बादिता, गलदश्रु भावुकता अधिक है, स्वच्छंदतावाद उतना नहीं उभर पाया है। बीच बीच में गरीबी, भूकंप से पीड़ित सिसकते कराहते व्यक्ति, महामारी, वेश्या जीवन के यथार्थ चित्र हैं। इस प्रकार इन उपन्यासों में यथार्थ, आदर्श, भावुकता और प्रेम की रोमानियत का विचित्र संमिश्रण है। इन्हें विशुद्ध रोमानी कृति नहीं कहा जा सकता। उनमें प्रेम की विषमता और विफलता का ही चित्रण अधिक है। उनका उद्देश्य नारी के अभिशप्त पर त्यागमय जीवन की करुणा का मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत करना ही प्रतीत होता है।

स्त्री जीवन की विषमताओं का विश्लेषण करनेवाले लेखकों में भगवतीप्रसाद वाजपेयी का नाम भी उल्लेखनीय है। इनकी रचनाओं में भी यथार्थ और आदर्श का समन्वय है। रोमानी तत्व आया है कथा के विधान में, पात्रों की असाधारणता और घटनाओं की असंभाव्यता के परिणामस्वरूप। 'अनाथ पत्नी' (१९२८) में घटनाओं की योजना—रजनी को डाक्टर बनाना, उसका तबादला कराकर प्रतिमा की चिकित्सा के लिये उसी नगर में लाना जहाँ सुशील प्रतिमा रहते हैं, प्रतिमा का छत से गिरना, चिकित्सा और दिन रात की सेवा सुश्रुषा के बाद भी मर जाना—सब आरोपित और अस्वाभाविक लगता है। 'त्यागमयी' (१९२९) में ललिता को फाँसी पर चढ़ाकर विजय और एलिस के प्रेम को सफल बनाया गया है। प्रतिमा और ललिता का त्याग उदात्त अवश्य है पर स्वाभाविक न होकर आरोपित, लेखक की इच्छा का परिणाम प्रतीत होता है। स्त्री पात्रों की अपूर्ण आकांक्षा पाठक के हृदय में टीस अवश्य पैदा करती है। कुल मिलाकर उनके उपन्यास रोमानी न होकर आदर्शोन्मुख यथार्थवादी अधिक हैं। सर्वत्र मन की उद्दाम भावनाओं को उदात्त स्तर पर ले जाकर प्रेम के आशय को गंभीर बनाया गया है।

इस काल के अन्य उपन्यास लेखकों में जिन्होंने प्रेम और विवाह, स्त्री पुरुष के संबंधों, वेश्या, दहेज आदि सामाजिक कुरीतियों को आधार फलक बनाकर उनमें रोमानी तत्व की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया—भगवतीचरण वर्मा (तीन वर्ष), चतुरसेन शास्त्री (हृदय की परख, हृदय की प्यास), गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश (प्रेम की पीड़ा), प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' (संन्यासिनी, पाप और पुण्य, पतझड़) के नाम उल्लेखनीय हैं। 'तीन वर्ष' में रमेश सरोज के स्वाभाविक प्रेम को समाज के भय से ठुकराकर भागता अवश्य है पर अंत में सच्चे हृदय की पुकार उसे सरोज के पास खींच लाती है और जीवन के अंतिम क्षणों में वह अपना करुण चुंबन देकर उसे अपना बना लेता है। गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश के 'प्रेम की पीड़ा' (१९३०) में भावुक विद्यार्थी राधावल्लभ एवं निर्मला की असफल प्रेम कहानी पत्र शैली में प्रस्तुत की गई है। चतुरसेन शास्त्री 'हृदय की परख' (१९१८) में अपनी भावुकता प्रधान स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। कल्पना तथा भावना से परिपूर्ण इस रचना में उन्होंने प्रेम को महत्त्व दिया है, 'संसार में अनेक अपराध हृदय के सौंदर्य के कारण होते हैं किंतु निश्चय ही हृदय का सुंदर होना पाप नहीं है।' लेखक की दृष्टि में प्रणयी पात्र अपराध से परे सहानुभूति के पात्र हैं। इस प्रकार प्रणय की महत्ता, तीव्रता और उसके प्रति सहानुभूति एवं करुणा जाग्रत करने के कारण यह रचना रोमानी कही जा सकती है।

रोमानी उपन्यासों की दूसरी धारा ऐतिहासिक रोमांसों के रूप में प्रस्फुटित हुई जिनमें ऐतिहासिक, अर्ध ऐतिहासिक और काल्पनिक पात्रों, प्रसंगों और घटनाओं को आधार बनाकर, डा० सत्येंद्र के शब्दों में 'इतिहास की तीलियों का सहारा भर लेकर जीवन की रंगोनियों में से

शीर्ष की प्रतिष्ठा के लिये मार्ग बनाया जाता है ।' कल्पना का उन्मुक्त विलास, काव्यमय अनुभूति, अतीत के प्रति गौरव भाव, प्राचीन खंडहरों और भग्नावशेषों को देख उठनेवाली पीड़ा तथा कसक और प्रकृति का रम्य अंचल—सब मिलकर पाठक के मन में रोमांच और सिहरन उत्पन्न करते हैं ।

वृंदावनलाल वर्मा हिंदी ऐतिहासिक रोमांस लेखकों में अग्रणी ही नहीं मूर्धन्य भी हैं । उन्हें हिंदी का वाल्टर स्कॉट कहा गया है क्योंकि उन्होंने स्कॉट के समान ऐतिहासिक यथार्थ का काल्पनिक प्रयोग किया है, उनके उपन्यासों में इतिहास का साहित्यिक और रोमांटिक दृष्टि से उपयोग किया गया है । उनका उद्देश्य मर्मस्पर्शी और मनोरंजक कहानी कहना रहा है । अतः कहानी के काल्पनिक विकास में न तो इतिहास को बाध न होने दिया गया है और न किशोरी-लाल गोस्वामी के समान 'इतिहास को दूर से ही नमस्कार किया गया है ।' किसी ऐतिहासिक घटना, प्रसंग या किंवदंती के मिलते ही उनकी कल्पना का द्वार उन्मुक्त हो जाता है; पात्र, दृश्य और घटनाओं की भंड एकत्र हो जाती है और लेखक अपने ऐतिहासिक ज्ञान से उपयुक्त वातावरण का निर्माण कर कथा की अजस्र धारा में बह जाता है ।

वृंदावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक रोमांस भारतीय इतिहास के मध्ययुग से संबंधित हैं और उनका कथाक्षेत्र उनको जन्मभूमि बुंदेलखंड है जिसकी चप्पा-चप्पा भूमि से वह परिचित थे । उनके 'गढ़ कुंडार' (१९२७) में चौदहवीं शती की राजनीतिक उथल-पुथल का चित्रण है, तो 'बिराटा की पद्मिनी' (१९३३) में मध्यकालीन इतिहास की पृष्ठभूमि पर बीरता एवं प्रेम की दर्दभरी कहानी कही गई है । १६ अप्रैल १९२७ की रात को शिकार के लिये गए वर्मा जी ने बेतवा नदी के किनारे एक गढ़ में बैठे हुए पास ही कुंडार गढ़ के ध्वंसावशेष और प्राकृतिक सौंदर्य को देख जिस अतीत की रूपरेखा बनाई, तही बाद में उपन्यास बन गई । बुंदेलखंड की रम्य भयावह प्रकृति पर मुग्ध वर्मा जी के कथाकार मन ने उन खंडहरों में विचरण करते हुए प्रेमी युगलों की कल्पना की और कहीं उनकी रंगीन प्रणय क्रीड़ाओं को तो कहीं युद्धभूमि में होने वाले शीर्ष तथा पराक्रम के कृत्यों को साकार कर दिया । प्रणय की रंगीनी, क्षत्रियों का दर्पभरा शीर्ष, प्रकृति की रम्य पृष्ठभूमि—सब मिलकर 'गढ़ कुंडार' को शुष्क इतिहास से हटाकर रोमांस बना देते हैं । उपन्यास की तीन प्रणय कथाएँ प्रेम के तीन रूपों को भिन्न घरातलों पर प्रतिष्ठित करती हैं । तीनों प्रेमी—नाग, अग्निदत्त और दिवाकर एकनिष्ठ प्रेमी हैं, परंतु एक के प्रेम में एकाधिकार की चाह और वासना है, दूसरे का प्रेम प्रचंड है और जीवन के समस्त उद्देश्यों को आच्छन्न कर लेता है और तीसरे का निष्काम प्रेम गहरा और गंभीर है । प्रेम का उदय, विकास, उसकी प्रतिक्रिया, जीवन के विविध क्षेत्रों में उसका प्रभाव, प्रेम से उत्पन्न मोह, घृणा, क्रोध, प्रतिहिंसा तथा करुण परिणाम, पात्रों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनोभावों का चित्रण विश्लेषण—सभी को लेखक ने बड़ी कुशलता से चित्रित किया है । उपन्यास को पढ़ते समय तत्कालीन राजनीतिक स्थिति—खंगारों के साथ गढ़पतियों और सरदारों के संबंध, दिल्ली के सैयद भाइयों के समय की राजनीतिक स्थिति, राजपूतों के मिथ्याभिमान के कारण परस्पर झगड़े और सामाजिक स्थिति—जाति-पाँति के कठोर बंधन, खान-पान में परहेज, अंतर्जातीय विवाह का निषेध आदि से भी पाठक परिचित हो जाता है । अतः लेखक ऐतिहासिक रोमांस के उपयुक्त बाह्य एवं आंतरिक दोनों प्रकार का वातावरण उपस्थित करने में सफल रहा है ।

लेखक की इस रोमानी प्रवृत्ति का पूर्ण विकास आगे चलकर उनकी 'बिराटा की पद्मिनी' में हुआ। 'गढ़ कुंडार' का उदात्त प्रणय इस उपन्यास में और अधिक निखरा है। दुर्गा का अवतार समझी जानेवाली अद्वितीय सुंदरी कुमुद सबके हृदय में एक ओर श्रद्धा और भक्ति का संचार करती है और दूसरी ओर उनमें शौर्य की भावना जगाती है। उसी से प्रेरणा पा कुंजर जीवन की संपूर्ण आकांक्षाओं को उसके चरणों में समर्पितकर उसकी रक्षा का प्रण लेता है और उसके लिये मर मिटता है। उपन्यास के सभी पात्र रोमानी उपन्यास के अनुरूप असाधारण हैं जो सामान्यतः इस जगत् में नहीं मिलते। कुंजर सदृश निर्भीक और भावुक, लोचनसिंह जैसा दुस्साहसी एवं स्पष्टवादी, रामदयाल जैसा चालाक और धूर्त, गोमती जैसी स्वाभिमानी और कुमुद जैसी सुंदरी और देवी सदृश श्रद्धा भाव जगानेवाली नारी इस संसार में दुर्लभ हैं। प्रकृति सौंदर्य के चित्र भावपूर्ण एवं कवित्वपूर्ण वातावरण की सृष्टि करते हैं तो कुमुद कुंजर के मोन प्रेम में भावुकता की अभिव्यक्ति हुई है और युद्धों की तैयारी, वीरों का उत्साह, युद्ध स्थल के चित्र हमारे मन में उत्साह का संचार करते हैं। उपन्यास का अंतिम दृश्य पाठक को करुणाभिभूत कर देता है और पुस्तक बंद करने पर भी 'उड़ गए फुटवा रह गई बास' गीत के शब्द गूँजते रहते हैं। इस प्रकार 'बिराटा की पद्मिनी' पूर्ण कलात्मक रोमानी रचना है। हिंदी उपन्यास जगत् में सच्चे रोमांस की प्रतिष्ठा करनेवाले वर्मा जी हैं। इतिहास और कल्पना का समन्वय, मानव की मूल वृत्तियों की मार्मिक अभिव्यक्ति, भारत की प्राचीन गरिमामंडित संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष का अनावरण सब मिलकर उन्हें हिंदी ऐतिहासिक रोमांस लेखकों में मूर्धन्य बना देते हैं।

इतिहास के पात्र और प्रसंग चुनकर लिखी गई रोमानी कृतियों में निराला की 'प्रभावती' और भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' भी उल्लेखनीय हैं। 'प्रभावती' (१९३६) के 'निवेदन' में लेखक ने स्वयं उसे 'रोमांटिक' कहा है, और वस्तुतः अतीत का काल्पनिक पुनर्निर्माण, कल्पना का उन्मुक्त विलास, प्रेम तत्व की प्रधानता, भावना का अतिरेक, प्रकृति सौंदर्य के मनमोहक काव्यमय चित्र, साहसिकता, शौर्य एवं त्याग की मनोवृत्तिवाले पात्र तथा उनके कृत्य और उपन्यास की भावप्रवण भाषा शैली सभी मिलकर इसे एक रोमानी रचना बना देते हैं। नारी को आदर्श सती और वीरांगना माननेवाले 'निराला' अपनी इस भावना को साकार करने के लिये भारतीय इतिहास के मध्यकाल की शरण लेते हैं जो अपने शौर्य, पराक्रम, त्याग और अबलानाश के लिये विख्यात है। उनके रोमांटिक कविहृदय ने बीच बीच में इतिहास का सहारा ले कल्पित चित्रों का निर्माणकर इस रोमानी उपन्यास की रचना कर डाली। जयचंद, पृथ्वीराज और संयोगिता के प्रसंग को छोड़ सभी पात्र और घटनाएँ काल्पनिक हैं। मुख्य घटना है—प्रभा देवकुमार का प्रेमाकर्षण, गांधर्व विवाह, विछोह, पुनः मिलन के प्रयत्न तथा अंत में मृत्यु शय्या पर क्षणिक मिलन और रत्ना के लिये प्रभा का त्याग। अन्य पात्र और घटनाएँ इसी कथा को पूर्ण करने में सहयोग देती हैं। स्वच्छंद, तीव्र, एकनिष्ठ आदर्श प्रेम ही रचना का प्राण है। उज्ज्वल नारी पात्रों की प्रधानता एवं प्रेमप्रधान कथानक, समाज, परिवार आदि के बंधनों को तोड़ अजस्र वेग से बहनेवाली स्वच्छंद प्रेमधारा, कष्टों के बीच भी बिचलित न होनेवाला प्रेमी हृदय और प्रेमी के लिये सर्वस्व त्याग करनेवाला भावुक मन, सौंदर्य चित्रण और उसमें प्रयुक्त काव्यमय शैली—'यौवन त्रिभुवन पर विजय प्राप्त करने को समुद्यत होती है।

वाणी शब्द शब्द पर वीणा झंकार करती है। चमत्कार अपना पूर्ण प्रसार पाता है। 'लावण्य बँधकर रह जाता है।' नारी पात्रों का साहस, जीर्ण, पराक्रम, नगर, खाई, दुर्ग, युद्ध, आखेट के चित्रण, राजाओं के रहन सहन और आवास के चित्रों द्वारा ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि सभी रचना को रोमानी उपन्यास की श्रेणी में ले आते हैं।

भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' (१९३४) भी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखी गई काल्पनिक कथा है। यद्यपि पाप पुण्य की समस्या को प्रधान माननेवाले उसे समस्यामूलक उपन्यास कहते हैं तथापि उसमें रोमानी तत्व कम नहीं हैं। चित्रलेखा और बीजगुप्त का प्रेम, समाज द्वारा निर्धारित नैतिकता और सदाचार के परंपरागत मूल्यों को चुनौती, नए मानव मूल्यों का प्रतिष्ठा, चित्रलेखा, बीजगुप्त, कुमारगिरि जैसे व्यक्तिवादी, असाधारण व्यक्तित्व के घनी पात्र, प्रेम पर आधारित कथा—सब उसे रोमानी कृति के निकट ले जाते हैं। यह सच है कि उसमें प्रेम तत्व का विवेचन अधिक है, प्रणय के चित्र न संख्या में अधिक हैं और न रंगीनी में प्रभावपूर्ण तथा बीजगुप्त के प्रेम की मस्ती, उल्लास, उसकी एकनिष्ठता और त्याग की भावना उसे रोमांटिक नायक बनाने के लिये पर्याप्त हैं। उसकी तुलना में तीन व्यक्तियों के प्रति आकृष्ट रूपगविता, अहंकारी और वासना में दुर्बल चित्रलेखा रोमांटिक उपन्यास की नायिका बनने के अयोग्य है। प्रकृति वर्णन के स्वतंत्र प्रसंग, अलौकिक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ जैसे योगी कुमारगिरि का चमत्कार और हिमालय पर्वत की अद्भुत घटना भी उसे रोमानी उपन्यास बनाने में सहयोग देती हैं; पर कुल मिलाकर यह रचना हमारे विचारों को तो उत्तेजित करती है, भावमग्न करने या मर्म को स्पर्श करने में उतनी सफल नहीं हो पाती। अतः कह सकते हैं कि उसमें रोमानी तत्व अंशतः ही विद्यमान हैं।

इस काल में लिखे गए ऐतिहासिक रोमांसों में विश्वंभरनाथ जिज्जा कृत 'तुर्क रमणी' (१९२५), रामचंद्र मिश्र लिखित 'प्रेम पथिक' (१९३६), कृष्णानंद गुप्त प्रणीत 'केन' (१९३०), रामप्यारे त्रिपाठी कृत 'दिल्ली की शाहजादी' (१९३६) भी उल्लेखनीय हैं। 'तुर्क रमणी' में यदि तुर्की मुस्तफा कमालपाशा की प्रेम कहानी है तो 'प्रेम पथिक' में मुगल मराठा संघर्ष की पृष्ठभूमि पर माधव शांता नामक काल्पनिक पात्रों के प्रेम की एकनिष्ठता का चित्रण है। 'दिल्ली की शाहजादी' शिवाजी तथा रोशनआरा के तथाकथित प्रेम पर आधारित काल्पनिक रचना है और 'केन' कालिंजर राज्य के देवलपुर गाँव के कुर्मी युवक धीरज और अहीर युवती जमुना के प्रेम का चित्रणकर अंतर्जातीय प्रेम और विवाह का समर्थन करने के उद्देश्य से लिखी गई रचना है। वस्तुतः वह समस्याप्रधान ऐतिहासिक रोमांस है जिसमें वर्तमान सामाजिक समस्या और समाज सुधार को लक्ष्य बनाकर इतिहास की पृष्ठभूमि पर कथा कही गई है, इतिहास की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इतिहास के सम्यक् अध्ययन का अभाव, अतीत पर वर्तमान के आरोप का दुराग्रह और कलात्मकता एवं सृजनात्मक कल्पना का अभाव इन रचनाओं के सफल रोमांस बन पाने में बाधक है।

इस काल की संपूर्ण रोमानी औपन्यासिक कृतियों का अध्ययन करने के उपरान्त हम देखते हैं कि तीन उपन्यासकार उभरकर सामने आते हैं—प्रसाद, निराला और वृंदावनलाल वर्मा। प्रथम दो रोमानी वृत्ति के कविहृदय उपन्यासकार थे और वर्मा जो कवि-हृदय-संपन्न होते हुए भी मूलतः कथाकार थे। अतः प्रथम दो उपन्यासों में रोमानी कवि का हृदय तो शक्तिता

है पर रोमांस गौण है। प्रसाद जी के उपन्यासों में सामाजिकता अधिक है, समाज के घिनौने अंशों का अनावरण कर उनके विरुद्ध घृणा और आक्रोश उत्पन्न करने का भाव अधिक है, अतः स्वच्छंदतावादी तत्वों का विकास कम हुआ है। निराला के उपन्यासों में सामाजिक पक्ष तो इतना प्रबल नहीं है फिर भी प्रणय कथा मुख्य होने के कारण अन्य स्वच्छंदतावादी तत्व कम उभर पाए हैं। सबसे सफल हैं वृंदावनलाल वर्मा जिन्होंने घटनाओं, प्रसंगों और पात्रों की सृष्टि में कल्पना से काम लिया है, विचित्र संयोगों के सहारे कथा को अंत तक रोचक बनाए रखने में सफलता प्राप्त की है। प्रकृति के रम्य और भयानक दृश्य, खंडहरों में विचरण करने-वाली आत्माएँ, युद्धक्षेत्र में होनेवाले शौर्य और पराक्रम के कार्य, प्रणय के लिये आत्मोत्सर्ग—सब मिलकर उपन्यास में ऐसे रहस्य रोमांच को सृष्टि करते हैं कि एक बार पुस्तक आरंभ करने पर उसे समाप्त किए बिना उठना असंभव हो जाता है। स्कॉट के समान रोमांस और इतिहास का मधुमय परिणय करने में वर्माजी अद्वितीय हैं।

पाठकों की माँग और उपन्यासकारों की रुचि के कारण प्रेमचंदपूर्व उपन्यासों में शिल्प की दृष्टि से घटनावैचित्र्य, घुमावदार प्रसंग, चटपटे संवाद और रहस्यपूर्ण वातावरण ही प्रधान रहे। प्रेमचंद के साथ जब उपन्यासों में समाज का यथार्थ चित्र उकेरना लेखकों का प्रधान लक्ष्य हो गया तो कौतूहल वर्धन के स्थान पर समाज की यथार्थ, वास्तविक स्थिति के चित्रण पर अधिक बल दिया गया; कथ्य में परिवर्तन होने पर भी शिल्प में कोई क्रांतिकारी बदलाव नहीं आया। उपन्यासों में वर्णनात्मक शिल्प ही अपनाया जाता रहा। प्रेमचंद के आदर्शोन्मुख यथार्थवादी उपन्यासों में ही नहीं प्रसाद के यथार्थ की भूमि पर प्रतिष्ठित कल्पनाप्रधान स्वच्छंदतावादी रोमानी उपन्यासों और वृंदावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक रोमांसों में भी वर्णनात्मक शिल्प का प्रयोग होता रहा। 'कंकाल' में घमांडिबर एवं असामाजिक और अनैतिक तत्वों का अनावरण करने तथा हिंदू समाज में नारी की दयनीय स्थिति का परिचय देने के लिये विवरणों का सहारा लिया गया है। लेखक स्वयं पात्रों का निर्माता और भाग्यविधाता है। वह उन्हें जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में डुबाता, तैराता, उतार चढ़ाव देता कथा को आगे बढ़ाता है, साथ ही वह पात्रों की वेशभूषा से लेकर उनके कार्यकलाप और चारित्रिक गुणाव-गुणों का भी परिचय देता चलता है।

इन रोमानी उपन्यासों के वस्तुविधान पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि संपूर्ण कथा खंडों में विभक्त होता है; उपन्यास में मुख्य कथासूत्र के साथ गौण कथासूत्र लिपटते चलते हैं। 'कंकाल' में देवनिरंजन किशोरी की प्रेमगाथा के साथ मंगल तारा, विजय जमुना, घंटी बाधम, श्रीचंद चंदा के रोमांस की कथाएँ जुड़ी हैं। कुछ कथासूत्र कथागठन की दृष्टि से अस्वाभाविक हैं एवं उसे विशृंखलित करते हैं जैसे बाधम, गाला की माँ, श्रीचंद चंदा से संबद्ध कथासूत्र। कुछ घटनाओं की योजना देखकर ऐयारी जासूसी उपन्यासों की याद हो आती है। 'कंकाल' में यमुना की गिरफ्तारी, विजय का पलायन, मंगल की दौड़धूप में तिलस्मी घटना-चक्र का आभास होने लगता है। उपन्यास के अंत से पूर्व अनेक तथ्यों का उद्घाटन भी जासूसी उपन्यासों के समान है। सिद्धांत प्रतिपादन के लिये कथासूत्रों को मनचाहा मोड़ देने के कारण भी शिल्प को आघात पहुँचा है। भगवतीप्रसाद वाजपेयी के प्रारंभिक उपन्यास भी वर्णनात्मक शिल्प के उपन्यास हैं। 'पतिता की साधना' में नंदा के वैधव्य की कष्ट गाथा और संयुक्त

परिवार का चित्रण वर्णनात्मक शिल्प विधि के अनुरूप हुआ है ।

वृंदावनलाल वर्मा के उपन्यासों में एक से अधिक कथासूत्र होते हैं । 'गढ़कुंडार' में नागदेव के प्रेमाख्यान के अतिरिक्त अग्निदत्त और तारा दिवाकर के कथासूत्र बड़े आकर्षक हैं । उनके उपन्यासों में परिस्थितियाँ बड़ी प्रबल होती हैं और वे ही कथावस्तु को दिशा प्रदान करती हैं । वर्मा जी की विशेषता है कि लंबी कथा होने पर भी लेखक का पूर्ण अंकुश उसपर बना रहता है और कथासूत्र कहीं भी विश्रुंखलित नहीं हो पाते । उनकी इसी कुशलता के कारण उनकी तुलना एल्वेजेंडर ड्यूमा से की गई है । उनके उपन्यासों में अधिकांश घटनाएँ पूर्वनियोजित होती हैं और लेखक कुशल सूत्रधार के समान उन्हें सुगठित बनाए रखता है । रोमांस, युद्ध, पड्यंत्र, राजनीतिक उथल पुथल के बीच कथानक को गति मिलती है ।

अधिकांश उपन्यासों के अंत अत्यंत प्रभावपूर्ण एवं हृदयस्पर्शी हैं तथा पाठक के मन में एक ऐसी कसक छोड़ जाते हैं जो बहुत देर तक बनी रहती है । 'कंकाल' के अंत में विजय के शव को फूँकनेवाला भी कोई नहीं है । यह करुण अंत इतना कलापूर्ण और प्रभावपूर्ण है कि पाठक की संपूर्ण चेतना झकझोर दी जाती है । 'विराटा की पद्मिनी' में गीत की अंतिम लय के साथ कुमुद की जीवनलीला समाप्त होने का दृश्य भी पाठक को करुणाविगलित कर देता है ।

कथा के विकास के लिये इन उपन्यासकारों ने तरह तरह की विधियों का सहारा लिया है । प्रसाद ने प्रेमचंद के समान कथा के प्रारंभ में जिस सूत्र को पकड़ा है उसका वह अंत तक निर्वाह करते चले गए हैं । पात्र की प्रतिज्ञा और संकल्प, उसकी आकांक्षा, दुश्चिन्ता, सुझाव आदि द्वारा भावी घटना का संकेत दिया गया है । कथा को वांछित दिशा की ओर मोड़ देने के लिये कहीं नाटकीय एवं आकस्मिक संयोगों का आश्रय लिया गया है तो कहीं पड्यंत्र की योजना की गई है ।

वृंदावनलाल वर्मा के उपन्यासों में युद्ध, आक्रमण और प्रणय प्रसंग कथानक का विकास करते हैं । 'गढ़कुंडार' में भरतपुरा की गढ़ी पर मुसलमानों के आक्रमण की योजना तथा 'विराटा की पद्मिनी' के आरंभ में नायकसिंह तथा मुसलमानों सेना द्वारा युद्ध की तैयारी का वर्णन कथा को विकास देते हैं । पात्रों के संकल्प और भविष्यवाणी द्वारा कथाविकास की पद्धति भी वर्मा जी के उपन्यासों में अपनाई गई है । कथानक के बीच बीच में बाधा उपस्थित कर तथा फिर उसका निराकरण कर कथानक का विकास करने की पद्धति पर्याप्त प्राचीन है । प्रसाद और वृंदावनलाल वर्मा दोनों ने यह पद्धति अपनाई है । नाटकीय घटनाओं और रहस्यपूर्ण प्रसंगों की योजना से कथा में उत्सुकता का संचार किया गया है, उसकी गति तीव्र की गई है ।

यद्यपि अधिकांश रचनाओं में वर्णनात्मक शिल्प अपनाया गया है तथापि कुछ उपन्यासों में विश्लेषणात्मक पद्धति का भी सहारा लिया गया है । इस शिल्पविधि में लेखक पात्र का निर्माता और दर्शक मात्र रहता है । पात्रों की गतिविधि स्वतंत्र होती है और उनका जीवनसंघर्ष, हर्ष-विषाद, मनोद्वंद्व आदि विश्लेषणात्मक पद्धति से प्रस्तुत किए जाते हैं । उपादेवी मित्रा के उपन्यासों में यही विधि अपनाई गई है । इनमें कथा के विवरण नहीं दिए गए हैं, केवल संकेतों से कथा का निर्देश किया गया है और अनेक स्थलों पर पात्रों की मनःस्थिति का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है । 'वचन का मोल' में मनिका के मन में विनय, सरोज और कंजरी के संबंध

में उद्भूत भाव इसी शैली में प्रस्तुत किए गए हैं ।

नाटकीय शिल्प के उपन्यासों का वस्तुविन्यास इच्छाप्रेरित होता है । वह जीवन का चित्र न होकर इच्छा की कल्पना होता है । इस प्रकार के पैटर्न को अंग्रेजी में (हाउ ग्लास पैटर्न) कहा गया है । इसमें पात्र, घटनाएँ और वातावरण पूर्व नियोजित होते हैं और सब कुछ निश्चित सा रहता है । भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' इसी शिल्प का उपन्यास है । महाप्रभु रत्नांबर अपने दो शिष्यों—विशालदेव और श्वेतांक—को जिन व्यक्तियों के पास और जिन परिस्थितियों में भेजते हैं उसका परिणाम पूर्वनिश्चित है । पाप पुण्य की समस्या का समाधान ढूँढ़ने उन्हें पूर्वनिश्चित कार्यक्रम के अनुसार भेजा जाता है जिससे अभीष्ट परिणाम भी निकल सकता था । लेखक की धारणा थी कि पाप पुण्य की कोई निश्चित परिभाषा नहीं है, उसका निर्धारण परिस्थितियों के संदर्भ में हो सकता है । इसी को बताने के लिये संपूर्ण कथा की योजना की गई है । कुमारगिरि, बीजगुप्त और चित्रलेखा के जीवन में जो कुछ होता है वह एक निश्चित पैटर्न पर होता है । उपन्यास का आरंभ भी नाटकीय है और संपूर्ण रचना में परिस्थिति, घटना और चरित्र एक दूसरे के संघात से कथा का विकास करते हैं । पात्रों के कथोपकथन से कथानक का विकास होता है; उसमें गति और प्राण आते हैं । कथावस्तु और पात्रों के कार्यव्यापार में अद्भुत समन्वय है । प्रेम और विवाह, दुःख-सुख, पाप-पुण्य परिस्थिति और व्यक्ति, नारी और पुरुष के संबंधों आदि का विवेचन नाटकीय शिल्प विधि से हुआ है । वैदग्ध्यपूर्ण भावात्मक संवादों द्वारा बीजगुप्त, कुमारगिरि और चित्रलेखा इन प्रश्नों का विवेचन-विश्लेषण करते हैं । उपन्यास के प्रत्येक परिच्छेद की अवतारणा रंगमंच पर नए दृश्यविधान के समान नई परिस्थितियों के साथ हुई है । इस प्रकार इस काल के रोमानी उपन्यासों में केवल 'चित्रलेखा' में नाटकीय शिल्प का सफल प्रयोग मिलता है; अधिकांश उपन्यासों में वर्णनात्मक शिल्प ही अपनाया गया है ।

कथा उपस्थापन के क्षेत्र में भी कुछ नए प्रयोग हुए । प्रसाद जी ने बीती हुई घटनाओं का उल्लेख अथवा उनका स्पष्टीकरण करने के लिये पूर्वदीप्ति (फ्लैश बैक) पूर्वस्मृति और आत्म-कथात्मक अंशों का सहारा लिया है ।

इन उपन्यासों के पात्र अधिकतर अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, और स्थिर हैं । प्रसाद के 'ककाल' का मंगल मध्यवर्गीय दुर्बलता तथा विलासवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है । तारा भारतीय नारी के त्याग, प्रेम और संयम की प्रतीक है । वर्मा जो के पात्र—नागदेव, हेमवती, सोहनपाल आदि अपने युग की प्रवृत्तियों को चरितार्थ करते हैं । ये पात्र रोमांस के अनुरूप त्याग और बलिदान की प्रतिमूर्ति हैं । वर्णनात्मक शिल्पविधि अपनाए जाने के कारण ये पात्र लेखक के हाथों की कठपुतली मात्र हैं, उसके संकेत पर चलते हैं । लेखकों ने इन पात्रों के चरित्र पर वर्णनात्मक विधि से प्रकाश डाला है । कुछ पात्र वैयक्तिक और गतिशील भी हैं । 'गढ़ कुंडार' की तारा काल्पनिक पात्र है पर उसमें वैयक्तिकता है और उसका चरित्र गत्यात्मक (डायनामिक) है । ऐसे पात्रों का अंकन विश्लेषणात्मक विधि से हुआ है । पात्रों के मानसिक घात-प्रतिघात दिखाने और उनके अंतर्द्वंद्व का विश्लेषण करने में लेखकों ने अधिक रुचि दिखाई है । पात्र अंतर्मुखी होकर स्वयं अपने मनोद्वंद्व का विश्लेषण करते हैं । संगीत सी निर्मल और पुष्प सी कोमल कजरी (वचन का मोल) का चरित्र विश्लेषणात्मक विधि से ही उद्घाटित

किया गया है। नाटकीय विधि द्वारा भी कुछ पात्रों का चरित्रांकन किया गया है। 'चित्रलेखा' के पात्र अपने वार्तालाप और क्रियाकलाप से अपनी चारित्रिक विशेषताएँ प्रकट करते हैं और पाठक को दो पात्रों की तुलना करने का अवसर मिल जाता है।

शुद्ध रोमानी उपन्यासों में प्रायः कोई गंभीर समस्या नहीं होती, पर इस काल के जिन हिंदी उपन्यासों में रोमानी तत्व पाए जाते हैं उनमें कोई न कोई सामाजिक समस्या भी अनुस्यूत है। अतः लेखकों ने उस समस्याविशेष पर विचार प्रकट किए हैं। विचार प्रतिपादन दो प्रकार से संयोजित किया गया है—प्रत्यक्ष विधि में लेखक जीवितानुभूत सत्य को स्वयं कहता है और अप्रत्यक्ष विधि में वह उस सत्य को पात्र के माध्यम से प्रस्तुत करता है। प्रसाद और भगवतीचरण वर्मा ने दूसरी विधि अपनाई है। 'कंकाल' में धर्म पर एकाधिकार सत्ता का विरोध और 'चित्रलेखा' में पाप पुण्य की समस्या पर विचार पात्रों के द्वारा ही प्रस्तुत किए गए हैं। 'कंकाल' में विजय पाप की व्याख्या करता है तो 'चित्रलेखा' में बीजगुप्त पाप-पुण्य के प्रश्न पर लेखक के विचार प्रकट करता है।

रोमानी उपन्यासों के लेखक प्रायः कविहृदयसंपन्न थे, अतः प्रसाद, वर्मा, उपादेवी मित्रा आदि ने अनेक स्थलों पर विशेषतः प्रकृति का और प्रेमी हृदय में उठती भाव तरंगों का चित्रण करते समय काव्यात्मक भाषा का प्रयोग किया है। 'गढ़ कुंडार' में बेतवा नदी की जलधारा और 'विराटा की पद्मिनी' में पालर की झील के सौंदर्य का चित्रण काव्यमयी भाषा के सुंदर उदाहरण हैं। बुंदेलखंड के ऐतिहासिक घटनास्थलों, प्राकृतिक दृश्यों, गढ़ों, मंदिरों, पहाड़ियों, कछारों आदि के चित्र पाठक को मध्यकाल में ले जाते हैं जो रोमांस की विशेषता है। साथ ही इनसे रहस्य की सृष्टि होती है और पाठक की कौतूहल वृत्ति जागती है।

सारांश यह कि १९१८-१९३८ के काल में लिखे गए उपन्यासों में विषय और शिल्प दोनों की दृष्टि से रोमानी उपन्यास के अनेक तत्व मिलते हैं फिर भी उनमें रोमांस के तत्व—कौतूहलवर्धक घटनाएँ, प्रणय और शौर्य के प्रसंग, असामान्य चरित्र कम मिलते हैं। सामाजिक समस्याओं के नीचे रोमांस दब गया है। हाँ, बृंदावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक रोमानी उपन्यासों में रोमांस प्रधान है और समस्याएँ गौण।

रोमानी उपन्यासों की धारा वर्मा जी की रचनाओं में तो पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त हुई पर न तो उनके समकालीनों में ही उसका विकास हो सका और न परवर्ती लेखकों ने ही उसमें कोई विशेष रुचि दिखाई। १९३८ ई० के बाद यदा-कदा कुछ रोमानी उपन्यास प्रकाशित होते रहे हैं जैसे यशपाल को 'दिव्या', हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'पुनर्नवा', चतुरसेन शास्त्री एवं राहुल सांकृत्यायन के उपन्यास, पर जो सफलता वर्मा जी को मिली वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसका एक कारण तो आलोच्य काल में हो प्रेमचंद का विराट् व्यक्तित्व और प्रभाव था। प्रेमचंद की आदर्शोन्मुख यथार्थवादी दृष्टि के कारण हिंदी में रोमानी प्रवृत्ति कुंठित होकर रह गई। यह आश्चर्य का विषय है कि जिस युग में स्वच्छंद, कल्पनाशील छायावादी काव्य अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुआ उसी युग में हिंदी उपन्यास स्वच्छंदता की रोमानी गलियों में भटककर यथार्थ की कठोर भूमि पर चला। इसका एक कारण तो यह है कि जहाँ कविता यथार्थ से मुख मोड़ भावना और कल्पना के लोक में विहार कर सकती है वहाँ उपन्यास यथार्थ से जुड़ा होने के कारण ऐसा नहीं कर सकता। दूसरा कारण प्रेमचंद का प्रबल प्रभाव था।

उनके समकालीन चंडीप्रसाद हृदयेश, विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, सियारामशरण गुप्त, प्रताप-नारायण श्रीवास्तव, भगवतीप्रसाद वाजपेयी आदि ने आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से प्रेरित कृतियाँ लिखीं और स्वच्छंदतावाद मुंह ताकता रह गया। १९३६ के बाद भी देश में सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियाँ ऐसी थीं जिनमें समाज के कटु यथार्थ से आँखें मूंदकर लेखक रोमानी, काल्पनिक संसार में विचरण नहीं कर सकते थे। १९३९ का द्वितीय महायुद्ध, विश्वव्यापी परिवर्तन, देश की आर्थिक विपन्नता, राजनीतिक उथल-पुथल, फ्राइड एवं मार्क्स का प्रभाव—इन सबने भी हिंदी उपन्यास को एक ओर सामाजिक यथार्थवाद और दूसरी ओर मनोविज्ञान की ओर मोड़ दिया। एक के प्रभाव में वह अतिशय भौतिकवादी और बाह्योन्मुख हो उठा और दूसरे के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों से प्रभावित हो अंतर्मुखो हो मानव के चेतन-अवचेतन की गहराइयों में डूबने उतराने लगा। सारांश यह कि रोमांटिक धारा हिंदी उपन्यास के इतिहास में उस समय भी पुष्ट नहीं हुई जब उसका उत्कर्ष काल (१९१८-१९३८) था और बाद में तो वह और भी क्षीण होती चली गई।

प्रकृतवादी उपन्यास

मोहनलाल रत्नाकर

प्रकृतवाद (नेचुरलिज्म) यथार्थवाद का ही विकसित रूप है। इसके अनुसार मानव पहले पशु सुलभ था, समय के साथ साथ उसका विकास हुआ और वह सभ्यता तथा संस्कृति के आवरण ओढ़ता चला गया, परंतु मूलतः वह पशु ही है और उसकी पाशविक वृत्तियों का तूफान यदाकदा स्फुटित हो ही जाता है। इस धारा के उपन्यासकार उन्हीं पशविक वृत्तियों को यथार्थ रूप में अंकित करना अपना लक्ष्य समझते हैं। वे जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन करते हैं और उनका अध्ययन दो आधारों पर अवलंबित है—(१) डाविन, स्पेन्सर आदि के पैत्रागति का परिवेश, परिणामवाद आदि से संबंधित सिद्धांतों के आधार पर और (२) मनोविज्ञान के नियतिवाद के आधार पर।

डाविन और स्पेन्सर ने निम्नतम श्रेणी से लेकर जंतुओं के क्रमिक विकास का अध्ययन करके मनुष्य के पूर्व के रूपों का भी निर्णय किया। इस निर्णय से मनुष्य में जो पाशविक प्रवृत्तियाँ अवशिष्ट हैं; उनके कारणों पर भी प्रकाश डाला गया। किंतु डाविन और स्पेन्सर के ये सिद्धांत जीवन-विज्ञान और शरीर-विज्ञान से ही अधिक संबंधित थे। मनोभावों के क्षेत्र में उनका प्रवेश न था। किंतु फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों ने जिस नियतिवाद का सिद्धांत प्रस्तुत किया, उसमें और डाविन के परिणामवाद में बहुत समानता है।^१ मनोवैज्ञानिक नियतिवाद को सभी मतों के मनोवैज्ञानिक मान्यता देते हैं। इसके अनुसार मनुष्य की चित्त वृत्तियाँ बहुत कुछ जन्म से ही नियत हो जाती हैं।^२

प्रकृतवादी कलाकार मानव की आदिम वासनाओं के प्रति विशेष आग्रह रखते हैं और सामाजिक परंपराओं के बंधन को स्वीकार नहीं करते हैं। वे समाज द्वारा निर्धारित मर्यादाओं को छिन्नभिन्न करके मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में ही देखने और दिखाने का प्रयास करते हैं। उनकी दृष्टि मनुष्य की जघन्य अवस्था पर ही प्रायः रहती है। यही कारण है कि प्रकृतवादी कलाकारों द्वारा निर्मित अधिकांश साहित्य, सर्वथा घासलेटी साहित्य है और उसे संमान प्राप्त नहीं हो सका है। यह साहित्य एकांगी दृष्टिकोण अपनाने के कारण दोषपूर्ण है।

प्रकृतवादी प्रत्यक्ष आलोचना नहीं करते। वे ज्ञानार्जन के लिये तटस्थ रहते हैं, अपनी मान्यताओं की अपेक्षा बौद्धिक दृष्टिकोण को प्रथम देते हैं और सामान्यीकृत सिद्धांतों को प्रत्यक्ष रूप से नहीं कहते। वे अपने आदर्शों को उपदेश या तर्क के माध्यम से बाणी भी नहीं देते हैं। उनका प्रयास यही रहता है कि जीवन जैसा है, उसे उसी रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जाए। सामाजिक नरनता दिखाने में उन्हें संकोच नहीं वरन् संतोष होता है।

१. डॉ० गणेशन् : 'हिंदी उपन्यास साहित्य का अध्ययन' पृ० ३६९-३७०।

२. एकाडिंग टु हिम (फ्रायड), मेन हैज इक्वायर्ड, सम ह्वेयर इन हिज फिलोजेनेटिक हिस्ट्री, सर्टेन इन्टेन अनलन्ड स्ट्रुविंग्स, आर अर्ग्स; आर इन्स्टेंक्स।

सी-ब्राउन : साइकोडायनामिक्स आफ एन्मार्मल बीहैबियर, पृ० १५६।

प्रकृतवाद जीवन के पतन में सौंदर्य देखता है, इसी से उसका दृष्टिकोण निराशावादी तथा अस्वस्थ है। वह जीवन के सर्वांगीण रूप की अपेक्षा मृत जीवन, मुरझाते पुष्प और नष्ट होते संसार में सौंदर्य देखता है।^१ वह निम्नस्तरीय प्रवृत्तियों को ही प्रश्रय देता है। प्रकृतवादी कलाकारों के अनुसार कुत्सित सामाजिक प्रवृत्तियों में सुधार नहीं हो सकता। मनुष्य रूप में पशु के सत्य मार्ग पर चलने की आशा नहीं है। इस प्रकार प्रकृतवाद का दृष्टिकोण एकांगी है, वह मानव में पाशविक वृत्तियों को ही देखता है, जीवन के अन्य पहलुओं को वह न देखता है और न समझता है।

प्रकृतवाद एक कलात्मक प्रणाली भी है और उसने वस्तु के समान शिल्प को भी नया रूप प्रदान किया है। इसकी अभिव्यंजना का आधार यथार्थकथन है और यह यथार्थ को उसके पूर्ण नग्न रूप में अंकित करता है। प्रकृतवादी कथाशिल्पी, कथा को प्रत्येक प्रकार की कृत्रिमता से मुक्त कर देता है और एक शृंखलाबद्ध कथा कहना उसके लिये अनिवार्य नहीं है, किंतु जीवन का निरीक्षण आवश्यक है। वह या तो जीवन के विशाल रूप को देखता है या केवल अध्ययन के ध्येय से एक सीमित खंड को ले लेता है। प्रकृतवादी उपन्यास में कथा के पूर्ण होने की आवश्यकता नहीं रहती, किंतु उसमें प्रतिपादित जीवन पूर्ण रहता है।

प्रकृतवादी उपन्यास की अभिव्यंजना सीधी होती है। उसमें कथा की वक्रता एवं चमत्कार नहीं होता। प्रत्येक विचार को मूर्त रूप दिया जाता है। नैतिक पतन को उसी रूप में अंकित किया जाता है और किसी आदर्श की स्थापना नहीं की जाती है। प्रकृतवादी उपन्यासकार भयंकर तथा बीभत्स विषयों को कला की सूक्ष्म रेखाओं से भी प्रकट करते हैं।^२ वे सर्वथा घृणित विषयों को भी सभ्यता का आवरण ओढ़ा कर अभिव्यक्त करते हैं। हत्या और व्यभिचार जैसे विषयों को संतुलित रूप में पाठकों के संमुख रखना, इन लेखकों का ही कार्य है।

प्रकृतवाद का यथार्थ निरीक्षण पर अवलंबित होता है। इस धारा के उपन्यासकार, लिखने से पूर्व वस्तु का सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण करते हैं। उनकी कृतियों में यह सूक्ष्म निरीक्षण सविस्तार अंकित होता है। इससे अनावश्यक विस्तार भी आ जाता है। इनकी यह शैली अनावश्यक होने पर भी यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने के निमित्त महत्वपूर्ण मानी जाती है।

कतिपय प्रकृतवादी उपन्यासों में मानवता का हृदयस्पर्दन भी उपलब्ध होता है। उनमें ऐसे दृश्यों का विधान रहता है, जिनमें पात्रों की मनुष्यता बाणो पाती है। यही कारण है कि ये कृतियाँ विश्व साहित्य में स्थायी महत्व का अधिकार रखती हैं।^३

हिंदी उपन्यास के विकास क्रम में सन् १९१६ से १९३६ तक का समय प्रेमचंद युग के नाम से प्रसिद्ध है। प्रेमचंद के आविर्भाव से हिंदी उपन्यास को एक नया मोड़ मिला। उसके विविध क्षेत्रीय विकास की आधारभूमि निमित्त हुई। इस युग के उपन्यास साहित्य में विविध प्रवृत्तियों का निरूपण देखा जा सकता है। इनमें से यथार्थवादी प्रवृत्ति का एक रूप प्रकृतवादी धारा के रूप में देखा जा सकता है। जिन उपन्यासकारों ने प्रकृतवाद से प्रभावित होकर रचना की है, उनमें पांडेय बेचन शर्मा उग्र, चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन प्रभृति लेखक प्रमुख हैं।

१. 'हिंदी उपन्यास साहित्य का अध्ययन', पृ० ३७८।

२. वही, पृ० ३७७।

३. हिंदी उपन्यास साहित्य का अध्ययन, पृ० ३७६।

हिंदी में प्रकृतवादी प्रवृत्ति को लेकर उपन्यास लिखनेवाले लेखकों के संबंध में भिन्न भिन्न धारणाएँ मिलती हैं। इस प्रवृत्ति को अपनाने के कारण वे प्रशंसा एवं निंदा के एक साथ पात्र बने हैं। उनके उपन्यासों में प्रकृतवाद के कुत्सित रूप को ही अधिक प्रश्रय मिलने से उन्हें नग्नतावादी या घोर यथार्थवादी उपन्यासकार की संज्ञा भी दी गई है। उनकी रचनाओं में प्रकृतवाद की अनेक विशेषताओं का अभाव भी मिलता है। डा० कृष्णलाल के अनुसार, अंग्रेजी के प्रभाव से कुछ लेखकों ने हिंदी में भी प्रकृतवाद का प्रचार किया। चतुरसेन शास्त्री, वेचन शर्मा उग्र, इलाचंद्र जोशी और चंद्रशेखर पाठक इस शैली और पद्धति के प्रसिद्ध उपन्यास लेखक हैं। चरित्रचित्रण की दृष्टि से इन प्रकृतवादियों ने न तो प्रकारविशेष (टाइप) ही दिए और न आदर्श चरित्रों की अवतारणा की, वरन् इनके विपरीत ऐसे चरित्रों की सृष्टि की जो पुकार पुकार कर कहते हैं कि मनुष्य और पशु में कोई विशेष अंतर नहीं, विशेषकर भोग की दृष्टि से वे पशुओं से भी निकृष्ट और नीच हैं।^१ डा० एस० एन० गणेशन के विचार से प्रकृतवादियों और चतुरसेन शास्त्री, वेचन शर्मा उग्र आदि में जो समानता है वह केवल इसी बात में है कि वे प्रकृतवादियों के समान जीवन के निकृष्ट अंगों को देखते हैं और उनकी शैली में भी प्रकृतवादियों के समान खुलापन मिलता है। पर प्रकृतवादियों के विरोधी जो तत्त्व उनमें मिलते हैं, उनकी संख्या और महत्व अधिक हैं।^२

वस्तुतः प्रेमचंद युग के उपन्यासकारों में किसी भी लेखक को शुद्ध प्रकृतवादी कहना कठिन है। पांडेय वेचन शर्मा 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन प्रभृति उपन्यासकारों की औपन्यासिक कृतियों में प्रकृतवादी दृष्टिकोण का प्रभाव ही यत्र तत्र दृष्टिगत होता है। उन्होंने प्रकृतवाद की सभी विशेषताओं को न अपनाकर, केवल दो विशेषताओं को ही मुख्यतः प्रश्रय दिया है। प्रथम विशेषता का संबंध विषय के चयन से है और दूसरी का शैली से। वे प्रकृतवादियों की भाँति जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं करते हैं। उन्होंने मानव जीवन का जो कुछ भी अध्ययन किया है, वह डाविन, स्पेन्सर आदि के सिद्धांतों के आधार पर नहीं किया है। उसका आधार मनोविज्ञान का नियतिवाद भी नहीं है। वे भारतीय जीवन को विविध गतिविधियों को निजी अनुभव, अध्ययन तथा चिंतन के अनुसार प्रस्तुत करते हैं। उनका उद्देश्य वस्तुस्थिति का यथार्थ चित्रण या आलोचना करता रहा है, वे भारतीय सुधारवादी आंदोलनों से भी प्रभावित हुए हैं और उन्होंने अपनी कतिपय सामाजिक कृतियों में समस्याओं के समाधान भी दिए हैं। वे अस्वस्थ मर्यादाओं, परंपराओं तथा प्रथाओं के विध्वंस पर ही बल देते हैं। उन्होंने पाश्विक वृत्तियों के उदात्तीकरण को भी किसी न किसी रूप में प्रश्रय दिया है। कुत्सित जीवन के प्रति घृणा और रोष प्रकट करना ही उनका ध्येय है, जिसमें उन्हें आंशिक सफलता भी मिली है।

उग्र, चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन आदि उपन्यासकारों की औपन्यासिक कृतियों में प्रकृतवाद के विरुद्ध सामान्योद्धृत सिद्धांतों के अनेक दृष्टांत भी मिलते हैं। उनमें उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति भी प्रकृतवाद विरोधी है, वे प्रकृतवाद के नैराश्रय दृष्टिकोण का समर्थन भी नहीं करते हैं। प्रकृतवादी कलाकारों के विपरीत, उग्र प्रभृति लेखकों ने भयंकर तथा कुत्सित विषयों

१. 'हिंदी साहित्य का विकास', पृ० २६७।

२. 'हिंदी उपन्यास साहित्य का अध्ययन', पृ० ३८१।

का उद्घाटन सूक्ष्म रेखाओं से नहीं बरन् स्पष्ट तथा तीखे व्यंग्य बाणों से किया है। डा० गणेशन् के शब्दों में—‘उग्र, चतुरसेन शास्त्री, मन्मथनाथ गुप्त के हाथों में कलम नहीं कुठार है, और कुठार लिए हुए कोई प्रकृतवादी नहीं बन सकता।’^१ वस्तुतः ये लेखक वर्तमान पतन, भ्रष्टाचार, अनैतिकता आदि का चित्रण नग्न रूप में करने के कारण तथा प्रकृतवादियों की भाँति कुत्सित जीवन को प्रतिपाद्य विषय के रूप में ग्रहण करने के कारण प्रकृतवादी उपन्यासकार कहलाए हैं। इन लेखकों ने कथ्य के अनुरूप, अभिव्यंजना शैली भी ग्रहण की है। इनके उपन्यास शिल्प का आधार यथार्थ कथन है और ये यथार्थ को पूर्ण रूप में अंकित करते हैं। ये कथा को प्रत्येक प्रकार की कृत्रिमता से मुक्त कर देते हैं और उसकी शृंखलाबद्धता को आवश्यक नहीं समझते हैं। इनकी अभिव्यंजना शैली प्रकृतवादी प्रभाव को अत्यधिक प्रश्रय देती है। वह नैतिक पतन को उसी रूप में अंकित कर देती है।

सन् १९१६ से १९३६ के बीच निर्मित होनेवाले हिंदी के प्रकृतवादी उपन्यास तत्कालीन भारतीय सुधारवादी आंदोलनों से भी प्रभावित हुए हैं। वे स्वस्थ परंपराओं का समर्थन भी करते हैं। उनके रचयिता अपने भारतीय संस्कारों से प्रेरित होकर ब्रह्मचर्य, सतीत्व आदि आदर्शों का यथास्थान प्रचार एवं प्रसार करने में भी रुचि प्रकट करते हैं। पांडेय बेचन शर्मा उग्र जो इस प्रवृत्ति के सबसे अधिक सबल लेखक माने जाते हैं, वे अपने उस उपन्यास (दिल्ली का दलाल) में, जिसे घोर प्रकृतवादी उपन्यास माना गया है, कहते हैं—‘आदर्श चरित्र, ब्रह्मचर्य और सतीत्व के लिये, विश्वविख्यात भारत के मुख पर, समाज के कलंकी कर्मों की याद से मेरे तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। देश के लोग जो बात बात में भारत भारत चिल्लाते हैं, यदि इस दिशा में भी ध्यान देते, तो आनेवाली पीढ़ी अधिक से अधिक ओज-तेज-मयी होती। तो उनकी सेवाएँ अमर होतीं।’^२ इसी प्रकार चतुरसेन शास्त्री भी अपने उपन्यास ‘अमर अभिलाषा’ में आदर्शवादी विचारों को यथास्थान वाणी देते हैं और सामाजिक उत्थान की कामना करते हैं। वे भी तत्कालीन भारतीय सुधारवादी आंदोलन से प्रभावित हुए हैं। ये उपन्यासकार शुद्ध प्रकृतवादी नहीं बन सके हैं। इनके भारतीय आदर्शवादी संस्कारों ने इन्हें सुधार, नैतिकता आदि की ओर भी आकृष्ट किया है। इनको औपन्यासिक कृतियों में कुत्सित जीवन का नग्न चित्रण तो हुआ, किंतु ये मनुष्य को उसके प्राकृतिक रूप में स्वच्छंद विचरने के लिये खुला न छोड़ सके; मानवीय मूल्यों में अनास्था न प्रकट कर सके।

प्रकृतवादी उपन्यासकार और उनके प्रमुख उपन्यासों का विश्लेषण

१. पांडेय बेचन शर्मा उग्र (१८०० ई० १८६७ ई०)

पांडेय बेचन शर्मा उग्र प्रेमचंद युग के विशिष्ट लेखक और शैलीकार हैं। इन्होंने प्रेमचंद द्वारा प्रवर्तित यथार्थवादी उपन्यास परंपरा को विकसित किया। उसी को आलाचकों ने भिन्न भिन्न नाम दिए हैं। हिंदी जगत में ‘उग्र’ प्रकृतवादी, नग्नतावादी, उग्रवादी, अतियथार्थवादी आदि के रूप में ख्याति एवं कुख्याति प्राप्त करते रहे हैं। डॉ० श्रीकृष्णलाल तथा डॉ० त्रिभुवन सिंह ने ‘उग्र’ को प्रकृतवादी उपन्यासकार माना है। श्री ब्रजरत्नदास, शिवदान सिंह चौहान, डॉ० गणेशन् प्रभृति विद्वानों ने ‘उग्र’ को घोर यथार्थवादी, नग्नतावादी या उग्रवादी लेखक माना है।

१. ‘हिंदी उपन्यास साहित्य का अध्ययन’, पृ० ३७७।

२. दिल्ली का दलाल’, पृ० १६६-१७०।

डॉ० श्रीकृष्णलाल के अनुसार 'उग्र' प्रकृतवादी शैली और पद्धति के प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। उन्होंने ऐसे पात्रों की सृष्टि की है जो पुकार-पुकार कहते हैं कि मनुष्य और पशु में कोई विशेष अंतर नहीं है, विशेषकर भोग की दृष्टि से वे पशुओं से भी निकृष्ट और नीच हैं।^१ डॉ० त्रिभुवनसिंह ने भी प्रायः इसी मत का समर्थन किया है और प्रकृतवादी उपन्यासकारों के अंतर्गत इनका परिचय दिया है। वे 'उग्र' की प्रसिद्ध कृति 'दिल्ली का दलाल' को लक्ष्य बनाकर कहते हैं कि यह उपन्यास शुद्ध प्रकृतवादी शैली का प्रतीक है। इसे हम घोर प्रकृतवादी उपन्यास कह सकते हैं। इस उपन्यास के अंदर जिस नग्न वास्तविकता का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है वह किसी भी श्रेष्ठ साहित्य के लिये बांछनीय नहीं है। अपने इस उपन्यास के द्वारा उन्होंने अनेक कुसूचिपूर्ण पाठकों के हृदय में सम्मानित स्थान अवश्य प्राप्त किया, परंतु इसके लिये उन्हें आलोचकों की कम बौछारें नहीं सहनी पड़ीं।^२ डॉ० चंडीप्रसाद जोशी 'उग्र' के नारी संबंधी दृष्टिकोण को प्रकृतवादी मानते हैं और उनके उपन्यास 'जी जी जी' के आधार पर उन्हें प्रकृतवादी घोषित करते हैं। वस्तुतः 'उग्र' के उपन्यासों में पाशाविक वृत्तियों का यथार्थ निरूपण और उनकी सीधी सादी अभिव्यंजना शैली उन्हें प्रकृतवादी उपन्यासकार बनाती है। उनकी अधिकांश औपन्यासिक कृतियाँ गंहित यथार्थ के उद्घाटन को अपना प्रतिपाद्य विषय बनाती हैं। उसी से प्रेमचंद युग के लेखकों में उनका पृथक् व्यक्तित्व उभरा है। उनकी शैली का सीधापन, स्पष्टता, ओजस्विता तथा सम्मोहन शक्ति उन्हें सभी लेखकों से भिन्न कर देती है। उनका उग्र व्यक्तित्व, जो उनके उपन्यासों के विषय और विधान दोनों में परिव्याप्त है, उन्हें प्रेमचंद परंपरा के उपन्यासकारों से अलग कर देता है।

उग्र प्रेमचंद युग की आदर्शवादिता के विरुद्ध, जीवन के कुत्सित अंगों का चित्रण करके, एक नवीन पथ का निर्माण करते हैं। उनका प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, उनके समकालीन तथा परवर्ती लेखकों पर देखा जा सकता है। उन्होंने हिन्दी जगत को 'घण्टा', 'दिल्ली का दलाल', 'चंद हसीनों के खूतूत', 'बुधुआ की बेटी (मनुष्यानंद)', 'शराबी', 'सरकार तुम्हारी आँखों में', 'जी जी जी', 'कढ़ी में कोयला', 'जूहू', 'फागुन के दिन चार' नामक उपन्यास प्रदान किए हैं। इनमें प्रथम पाँच उपन्यासों का रचनाकाल प्रेमचंद युग है। शेष प्रेमचंदोत्तर युग के उपन्यास हैं। इन उपन्यासों में आलोचनात्मक यथार्थवादी एवं प्रकृतवादी तत्वों की प्रधानता मिलती है। तत्कालीन भारतीय सुधारवादी आंदोलनों का प्रभाव एवं भारतीय सत्कारों से प्रेरित आदर्शवादी प्रवृत्ति, जिसे चाहे आरोपित ही कहें, वह भी कहीं कहीं दृष्टिगत होती है। कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से उग्र के उपन्यास प्रकृतवादी प्रवृत्ति को प्रश्रय देते हैं, फलतः उन्हें प्रकृतवादी उपन्यासों की संज्ञा दी जाती है और उन्हीं के अंतर्गत उनका परिचय भी अपेक्षित है।

दिल्ली का दलाल

आलोच्य उपन्यास सन् १९२७ में लिखा गया। इसमें नरपिशाचों का यथातथ्य चित्रण हुआ है, जो स्त्रियों का कुत्सित व्यापार करते हैं। इस उपन्यास के संबंध में विद्वानों में गंभीर मतभेद मिलता है। डॉ० त्रिभुवन सिंह के विचार से इस उपन्यास के अंदर जिस नग्न वास्तविकता

१. 'हिंदी साहित्य का विकास' पृ० २६७।

२. 'हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद' पृ० ३०१।

का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, वह किसी भी साहित्य के लिये वांछनीय नहीं है। डॉ० सिंह की इस चारणा के ठीक विपरीत मत भी मिलते हैं। उनके अनुसार यह उपन्यास समाज-सुधार की प्रेरणा देता है, इसमें बुराई का समर्थन नहीं, वरन् घोर विरोध किया गया है। इसकी अश्लीलता साधन है, साध्य नहीं। भवानीदयाल संन्यासी के विचार से 'दिल्ली का दलाल' जैसी कृतियाँ हिंदू समाज की वर्तमान अधम अवस्था पर साहित्यिक बम्बार्डमेंट हैं। उग्र ने भले ही इसकी कहानी की कल्पना की हो, किंतु उन्हें (भवानीदयाल संन्यासी) तो उसकी एक-एक बात सच्ची प्रतीत होती है। वे सैकड़ों बहनों की आत्मकहानी सुन चुके हैं, जो बिल्कुल इस प्रकार की घटनाओं से मिलती जुलती हैं। ८० वर्ष तक जो कुली प्रथा प्रचलित रहो, उसमें इससे भी अधिक रोमांचकारी घटनाएँ घट चुकी हैं। स्वयं भारत सरकार इस प्रकार के व्यवसाय से उप-निवेशों के अपने गौरांग बंधुओं को सहायता पहुँचाती रही है। इसी तरह बहका-बहका कर लाखों बहनें उपनिवेशों में भेजी गई। आज भी यह कलंक भारत के माथे से मिट नहीं गया है। आज भी प्रतिवर्ष सहस्रों बहनें बहका कर विधर्मी और वेश्या बनाई जाती हैं और हिंदू समाज टस से मस नहीं होता है। इस प्रकार की साहित्यिक रचनाएँ ही वर्तमान समाज में क्रांति पैदा कर सकती हैं।^१

उपर्युक्त विरोधी मतों से 'दिल्ली का दलाल' को सम्मान और अपमान एक साथ मिला। नैतिकतावादियों ने उसे अश्लील, कुरुचिपूर्ण और उपेक्षित कृति घोषित किया। यथार्थवादियों-प्रकृतवादियों ने उसके प्रतिपाद्य विषय तथा शिल्प की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। वस्तुतः यह उपन्यास स्वस्थ यथार्थवाद की सीमाओं का उल्लंघन करके, प्रकृतवादी प्रवृत्ति को ग्रहण करता है। इसमें पाशविक वृत्तियों के तूफान का यथार्थ निरूपण हुआ है। उपन्यासकार की दृष्टि प्रायः मनुष्य की जघन्य अवस्था पर ही रही है। उसने उन नरपिशाचों के कार्यकलापों का विस्तृत निरूपण किया है, जो सामाजिक परंपराओं के बंधन को स्वीकार नहीं करते हैं और समाज द्वारा निर्धारित मर्यादाओं को छिन्न भिन्न करके, निजी वासनाओं एवं स्वार्थों की पूर्ति कर लेने में रत हैं। ऐसे मनुष्यों को लेखक मूलतः पशु मानता है और उनकी पशुसुलभ प्रवृत्तियों का निरूपण करना आवश्यक समझता है।

'दिल्ली का दलाल' का प्रतिपाद्य विषय व्यभिचारी वृत्तियों एवं मानव जीवन के कुत्सित अंगों का निरूपण कह सकते हैं। 'उग्र' मनुष्य की पाशविक वृत्तियों का वास्तविक रूप पाठकों के सामने प्रस्तुत कर देना चाहते हैं। उन्होंने अपनी अनुभूति को सीधी सादी शैली में अंकित करना आवश्यक समझा है। उससे तथाकथित अश्लीलता या नग्नता का आना स्वाभाविक था किंतु उनके यथार्थ वर्णन तथा मानव जीवन की इन पाशविक वृत्तियों को हम नकार नहीं सकते हैं। संभवतः इसी से प्रेरित होकर लेखक ने स्वयं कहा है कि 'कोई माई का लाल जो हमारे समाज को नीचे से ऊपर तक देखकर, कलेजे पर हाथ रखकर, सत्य के तेज से मस्तक तान कर इस पुस्तक के अकिंचन लेखक से कहने का दावा करे कि तुमने जो कुछ लिखा है, समाज में ऐसी धृंणत, रोमांचकारिणी, काजल काली तस्वीरें नहीं हैं। अगर कोई ही तो सोत्साह सामने आवे, मेरे कान उमड़े, और छोटे मुँह पर थप्पड़ मारे, मेरे होश को ठिकाने करे। मैं उसके प्रहारों के चरणों के नीचे हृदयपावड़े डालूँ। मैं उसके अभिशापों को सिर माथे पर चारण

करूँगा । अपने पथ में कतर व्योत करूँगा । सच कहता हूँ, विश्वास मानिए, सौगंध और गवाहि की हाजत नहीं मुझे ।’^१ इस उपन्यास में वर्णित यथार्थ को मिथ्या कहने का प्रयास दुस्साहस ही है । हमारे समाज में अनैतिकता और व्यभिचार का प्राबल्य है । उसको निरावरण करने और उसके यथार्थ रूप को उद्घाटित करने का अधिकार किसी भी साहित्यकार को है । उग्र ने अपने इसी अधिकार का इसमें उपयोग किया है ।

‘उग्र’ रूप, जीवन के विनाशक नरपिशाचों के उन कार्यकलापों पर किसी प्रकार का कोई आवरण नहीं डालना चाहते, जो भले घर की भोली भाली युवतियों तथा बालिकाओं को बहकाकर, उनसे व्यभिचार करते और कराते हैं । दुराचारी प्रवृत्ति के ये लोग सार्वजनिक मेलों और तमाशों के अवसर पर, भोली भाली युवतियों के भोलेपन का लाभ उठाते हैं । उग्र ऐसे नराधमों को अनावृत करके समाज की आँखें खोलते हैं । वे नारियों के अवैध व्यापार का उन्मूलन चाहते हैं । उनकी यह हादिक इच्छा है कि कुत्सित प्रवृत्तियों के लोग इस नारकीय व्यापार को न कर सकें । भोली भाली नारियों को भ्रष्ट होने से बचाया जाए । वे अब्दुल्ला और संतू जैसे नरपिशाचों की पाशविक वृत्तियों के निरूपणों में समाज का हित देखते हैं । उन्होंने ‘विषस्य विषमोषधम्’ अर्थात् विष की औषधि विष ही है, का अनुसरण किया है । उनकी इस प्रकृतवादी प्रवृत्ति पर तत्कालीन भारतीय सुधारवादी आंदोलनों का प्रभाव भी लक्षित होता है । उसी से वे व्यभिचारी वृत्तियों का यथार्थ वर्णन करके, उनके प्रति विद्रोह एवं घृणा उत्पन्न करते हैं ।

आलोच्य उपन्यास का सृजन वर्णनात्मक शैली में हुआ है । लेखक ने अपने प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप ही उपन्यास के विविध उपकरणों का उपयोग किया है । उसने वर्णनात्मक पद्धति का आश्रय लेकर सामाजिक अनाचार तथा मानवीय कुत्सित वृत्तियों का निरूपण किया है । उसने घटना बाहुल्य, पात्र आधिक्य, लंबे संवाद, भाषणयोजना आदि को प्रश्रय दिया है । उसका कथानक इतिवृत्तात्मकता को प्रधानता देता है । उसने जीवन के घृणित क्षेत्र का चित्रण, विवरणपूर्ण ढंग से बढ़ा चढ़ाकर व्याख्या सहित प्रस्तुत किया है । विषय एवं अवसर के अनुसार उसने कथात्मक, आत्मकथात्मक, अभिनयात्मक आदि अनेक शैलियों को अपनाया है । उसकी भाषा में स्वाभाविकता, अशिष्टता और गत्यात्मकता मिलती है । अशिष्ट शब्दों और गालियों का प्रयोग भी कथ्य के अनुरूप हुआ है । प्रकृतवादी प्रवृत्ति को अपनाने के कारण लेखक ने अभिव्यंजना शैली को स्पष्ट तथा सीधा ही रहने दिया है । उसने प्रत्येक विचार को मूर्त रूप दे दिया है । नैतिक पतन को उसने उसके वास्तविक रूप में अंकित कर देना आवश्यक समझा है । वह वस्तु के समान शिल्प के भी नए रूप को ग्रहण करता है ।

चंद हसीनों के खतूत

यह ‘उग्र’ का बहुचर्चित उपन्यास है । इसे हिंदी की इनी गिनी उपलब्धियों में स्थान प्राप्त है । इसका सृजन सन् १९२७ में हुआ । इसे प्रकृतवादी उपन्यास कहना तो समीचीन नहीं है, किंतु इसपर प्रकृतवादी प्रवृत्ति का कुछ प्रभाव अवश्य देखा जा सकता है । यह जवान, खूब-सूरत दिलों की दर्दनाक दास्तान प्रस्तुत करनेवाला उपन्यास है । इसमें युवावस्था का उन्मुक्त

प्रेम उन्मुक्त शैली में अंकित हुआ है। इस उपन्यास का नायक मुरारीकृष्ण और नायिका नर्गिस, दोनों एक दूसरे को चाहते हैं, अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं। किंतु सामाजिक तथा धार्मिक बंधन उन्हें परस्पर मिलने नहीं देते हैं। उनका सबसे बड़ा अपराध यही है कि वे भिन्न भिन्न जातियों से संबंध रखते हैं। सामाजिक रूढ़िवादिता उन्हें विद्रोहात्मक संघर्ष करने के लिये बाध्य करती है। उपन्यासकार उनके सहज प्रेम को प्रकृति की देन मानकर, उसका यथार्थ वर्णन करता है। वह उन सामाजिक एवं धार्मिक मर्यादाओं को छिन्न भिन्न करने की प्रेरणा देता है, जो नर नारी के सहज स्वाभाविक आकर्षण तथा मिलन में बाधक हैं। नर-नारी के प्राकृतिक रूप का समर्थन और रूढ़िवादी सामाजिक मान्यताओं का विरोध ही उसे अभीष्ट है।

‘चंद हसीनों के खुसूत’ में हिंदी उपन्यास के शिल्प का महत्वपूर्ण विकास हुआ है। यह पत्रात्मक शैली का प्रथम और अन्यतम उपन्यास है। इसके पत्र हिंदी-उपन्यास-साहित्य की अनुपम घरोहर हैं। इसमें भाषा का अटूट प्रवाह, ‘उग्र शैली’ का अद्वितीय तेज और भावात्मकता का तूफान इतना तीव्र और प्रभावोत्पादक है कि वह पाठकों को अपने साथ बहाकर ले जाता है। कथ्य के समान इस उपन्यास का शिल्प भी परंपरा विरोधी तथा स्वच्छंदता का समर्थक है। उसमें यथार्थ मानवीय भावनाओं की बड़ी निर्भीकता तथा स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया गया है।

बुधुआ की बेटी (मनुष्यानंद)

सन् १९२८ में रचित यह उपन्यास, सन् १९५५ से ‘मनुष्यानंद’ के नाम से प्रकाशित होने लगा है। इसमें एक ओर अछूतोद्धार, नारी स्वातंत्र्य आदि का विस्तारपूर्वक विवेचन हुआ है और दूसरी ओर घनश्याम जैसे नरपशुओं की वासनात्मक प्रवृत्ति का यथार्थ निरूपण मिलता है। उपन्यासकार द्वारा चित्रित प्रथम प्रवृत्ति को तत्कालीन समाजसुधारवादी आंदोलनों से प्रभावित और दूसरी प्रवृत्ति को प्रकृतवादी दृष्टिकोण से प्रभावित कह सकते हैं। इसी प्रवृत्ति के अंतर्गत उसने भोलवियों, पीरों और फकीरों के कुत्सित कार्यकलापों का भी यथार्थ निरूपण किया है।

आलोच्य उपन्यास में ‘उग्र’ बुधुआ भंगी और अघोड़ी मनुष्यानंद के माध्यम से अछूतों में जीवन जागरण का मंत्र फूंकते हैं। वे अबोध, पीड़ित और पददलित रघिया को क्रुद्ध सिंहनी के रूप में चित्रित करके, पुरुष जाति को सावधान करते हैं और नारीस्वातंत्र्य का समर्थन करते हैं। इस उपन्यास का घनश्याम विलासी, लंपट, नीच, पतित नरपिशाच है, जो छल, कपट, प्रलोभन आदि से रघिया की अछूत जवानी का सर्वनाश करता है। उसी के माध्यम से ‘उग्र’ प्रकृतवादी प्रवृत्ति को अभिव्यंजित करते हैं।

विवेच्य उपन्यास का घनश्याम पाशविक वृत्ति से प्रेरित होकर ही रघिया से शारीरिक संबंध स्थापित करता है। वह प्रेम का नाटक करके अबोध रघिया को अपने जाल में फँसा लेता है। वह उसके मिथ्या प्रेम तथा प्रलोभनों में फँसकर अपना सर्वस्व उसे सौंप देता है। उपन्यासकार उसकी पाशविक वृत्ति का नग्न चित्रण करता हुआ कहता है—‘घनश्याम भर भर जी उस भोली बालिका की अछूत जवानी, उसके सुंदर ओष्ठों का स्वर्गीय रस, उसकी छाती की अलौकिक हारारत, उसकी अज्ञान हँसी के अनुपम मादक मजे लूटने लगा। उसे केवल कम से कम समय में, अधिक से अधिक सुख लूट लेने की फिक्र थी। उसका वश चलता तो वह मुंह से

लगाकर एक ही घूंट में, यौवन की उस सजीव सुराही को—घट घट, चटपट पी जाता।^१ इस उपन्यास के लियाकत हुसैन, रहमान आदि पात्र भी इसी पाशविक वृत्ति के नरपिशाच हैं, जो भोली भाली हिंदू नारियों को संतान देने का प्रलोभन देकर उनकी इज्जत लूटते हैं। अपनी पाशविक वासना को तृप्त करते हैं। ये नराधम धर्म के नाम पर कुत्सित कार्य करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करते। लियाकत हुसैन इसी प्रकार का धंधा करता है, उसके इस घृणित कार्यकलापों से प्रभावित होकर रहमान कहता है—‘मैं केवल ‘मर्जों’ के लिये ही आपकी खिदमत में हूँ। और आपसे अर्ज करता हूँ कि आप किसी न किसी हूर को चार पाँच दिनों तक बराबर अपने यहाँ रोके रखें। जो खर्च लगेगा मैं उठाऊँगा। कलिया, पुलाव, कोर्मा, मुर्ग, अंडे, दो प्याजा—चार पाँच दिनों तक सारा खर्च मेरा। मगर एक ‘चीज’ दोगे तभी।’^२

आलोच्य उपन्यास का शिल्प, प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप वर्णनात्मक शिल्पविधि को प्रश्रय देता है। उपन्यासकार ने आत्मकथात्मक अभिनयात्मक जादि शैलियों का भी यथास्थान प्रयोग किया है। इस उपन्यास में भी उसकी अभिव्यजना शैली का आधार नग्न यथार्थ ही रहा है। वह व्यभिचारी वृत्तियों को बिना किसी आवरण के चित्रित करने में ही अपनी उपन्यासकला की सार्थकता समझता है।

शराबी

‘शराबी’ उपन्यास का रचनाकाल सन् १९३० है। इसमें शराब के दुष्परिणामों एवं सामाजिक विकृतियों का यथार्थ चित्रण हुआ है। इसकी नायिका जवाहर का पिता पारसनाथ शराब की लत से अपना सर्वनाश कर लेता है। उसका परिवार छिन्न भिन्न हो जाता है। जवाहर अपने शराबी पिता के क्रूर आचरण से घबराकर घर से भाग जाती है और चारों ओर से निराश होकर कुंदन नामक वेश्या की शरण लेती है। इस उपन्यास का नायक मानिक भी सामाजिक असंगतियों का शिकार है, उसी से उसका विवाह होरा से नहीं हो पाता, और वह प्रेम की असफलता से एकांतवासी, नीरस तथा शराबी बनता है।

आलोच्य उपन्यास में ‘उग्र’ एक ओर सुधारवादी आंदोलन से प्रभावित होकर सामाजिक विकृतियों का वर्णन करते हैं और दूसरी ओर प्रकृतवादी प्रवृत्ति से प्रभावित होकर उन पाशविक वृत्तियों का चित्रण करते हैं, जो मानव की आदिम वासनाओं से संबद्ध हैं। होरा का पति इन्हीं आदिम वासनाओं से ग्रस्त है। वह नरपशु कामुक, लंपट और व्यभिचारी है। वह दुष्ट पहले तो होरा के यौवन को निष्ठुरता से मसलता है और उसके बाद वेश्याओं के अड्डे पर जाने लगता है। वेश्या जवाहर के बोटे पर उसकी जीवनलीला समाप्त होती है।

इस उपन्यास का कथानक सामाजिक है। उसे रचना लक्ष्य की दृष्टि से अति यथार्थवादी या प्रकृतवादी कह सकते हैं। उपन्यासकार ने पारसनाथ, जवाहर, मानिक, होरा आदि सभी पात्रों को यथार्थ जीवन से लिया है और उनके द्वारा सामाजिक विद्रूपताओं के साथ साथ उन आदिम वासनाओं का उद्घाटन किया है जो यह सिद्ध करती हैं कि मनुष्य मूलतः पशु है, विशेषतः भोग की दृष्टि से। कथाकार ने घटना, पात्र और स्थिति के अनुरूप भाषा का प्रयोग करके, उपन्यास को शिल्पगत सबलता प्रदान की है।

१. ‘मनुष्यानंद’ (चतुर्थ संस्करण), पृ० १७५।

२. वही, पृ० ४१।

इनके अतिरिक्त उग्र ने 'जी जी जी' और 'फागुन के दिन चार' नाम से दो उपन्यासों की रचना विवेच्य युग के उपरान्त की। किंतु उनके ये उपन्यास भी कथ्य और शिल्प, दोनों दृष्टियों से उनके अन्य उपन्यासों की परंपरा में ही आते हैं। उनमें कोई उल्लेखनीय विकास या परिवर्तन दृष्टिगत नहीं होता।

चतुरसेन शास्त्री

चतुरसेन शास्त्री के उपन्यासों को सामान्यतः दो भागों में विभाजित किया जाता है— सामाजिक उपन्यास और ऐतिहासिक उपन्यास। सामाजिक उपन्यासों की रचना मुख्य रूप से प्रेमचंद युग में और ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना प्रेमचंदोत्तर युग में हुई है। उनके उपन्यासों के नाम हैं—'हृदय की परख', 'हृदय की प्यास', 'खवास का ब्याह', 'अमर अभिलाषा', 'आत्मदाह', 'नीलमणि' वैशाली की नगरवधू', 'आलमगीर', 'सोमनाथ', 'धर्मपुत्र', 'गोली', 'सोना और खून' (चार भाग), 'आभा', 'उदयाम्त', 'लाल पानी', 'बगुला के पंख', 'बिना चिराग का शहर', 'पत्थर युग के दो बुत' आदि। इनमें प्रथम पाँच की रचना प्रेमचंद युग में हुई और शेष की प्रेमचंदोत्तर युग में। प्रेमचंद युग में रचित उनके उपन्यासों में से चार सामाजिक और एक ऐतिहासिक है। सामाजिक उपन्यासों में प्रकृतवादी प्रवृत्ति का प्राधान्य मिलता है। उनके उपन्यास 'उग्र' के उपन्यासों के समीप पहुँच जाते हैं। फलतः उन्हें भी प्रकृतवादी प्रवृत्ति के उपन्यासों में समाविष्ट कर दिया जाता है। उनके कई चरित्र पुकार पुकार कर यह कहते दिखाई पड़ते हैं कि मनुष्य और पशु में कोई विशेष अंतर नहीं है, विशेषतः भोग के विचार से। उसकी आदिम वासनाएँ उसे पशु से भी निम्न स्तर का प्रमाणित करती हैं। वे प्रकृतवादी प्रवृत्ति से प्रभावित होकर जीवन के निकृष्ट अंगों, कुत्सित कार्यकलापों एवं पाशविक वृत्तियों का विस्तारपूर्वक चित्रण करते हैं। प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप अपनी शैली में भी वे प्रकृतवादियों के खुलेपन को महत्व देते हैं। प्रकृतवादी प्रवृत्ति से प्रभावित उनके मुख्य उपन्यासों का विवेचन यहाँ अभीष्ट है।

व्यभिचार

आचार्य चतुरसेन शास्त्री कृत 'व्यभिचार' के संबंध में, विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। कुछ विद्वानों ने इसे उपन्यास की संज्ञा दी है तो अधिकांश विद्वानों ने इसे चिकित्सा संबंधी ग्रंथ या 'भयंकर रचना' के नाम से अभिहित किया है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार 'व्यभिचार' शास्त्री जी का उपन्यास है और इसमें प्रेम संबंधी सामाजिक विकृतियों का निरूपण हुआ है।^१ डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव भी इसे उपन्यास मानते हैं और उनके विचार से, इसमें विकृत प्रेम का रसमय ढंग से वर्णन हुआ है।^२ डॉ० गोपाल राय इस पुस्तक के उपन्यास होने में संदेह प्रकट करते हैं।^३ डॉ० शुभकार कपूर इसे चिकित्सा संबंधी पुस्तक मानते हैं।^४ इन सभी विद्वानों के मतों से हम सहमत या असहमत हो सकते हैं किंतु इतना तो निश्चित है कि

१. 'हिंदी पुस्तक साहित्य', पृ० १०२ तथा ४३६।

२. 'हिंदी उपन्यास', पृ० १९३।

३. 'हिंदी उपन्यास कोश' (खंड २), पृ० २५।

४. आचार्य चतुरसेन शास्त्री का कथा साहित्य (प्रथम संस्करण), पृ० ९२।

यह रचना प्रकृतवादी प्रवृत्ति से प्रभावित है और इसमें उन नरपशुओं की पाशविक वृत्तियों का चित्रण हुआ है, जो उन्हें मूलतः पशु सिद्ध करती हैं। लेखक अनेक व्यभिचारी, दुराचारी एवं वासना के कीड़ों के दृष्टांत देकर उनकी आदिम वासनाओं को अभिव्यंजित करता है। उसकी अभिव्यंजना शैली में प्रकृतवादियों का खुलापन मिलता है। वह घृणित प्रसंगों का रसमय वर्णन करने में रत दिखाई देता है—‘एक सज्जन अपने पड़ोसी की स्त्री पर विजय प्राप्त करने का बखान करने लगे कि किसी तरह पहलू पर नहीं चढ़ती थी। बस, एक दिन जीने में घर पटका—दया प्रार्थना कुछ न सुनी। चलती बार पाँच रुपये पल्ले बाँध दिए, अब कभी कोई उज्र नहीं है।’ इस प्रकार के वर्णनों एवं दृष्टांतों से परिपूर्ण यह रचना कहीं ‘गुप्त व्यभिचार’ और कहीं ‘वेश्या व्यभिचार’ के नाम से काम-वासना के घिनौने रूप को हमारे सामने प्रस्तुत करती है। उससे नरपशु की यथार्थ स्थिति का उद्घाटन होता है।

हृदय की प्यास

यह उपन्यास सन् १९२७ में प्रकाशित हुआ। इसमें एक ओर आदर्श दांपत्य जीवन की कामना की गई है और दूसरी ओर कामवासना की प्रबल प्यास का नग्न चित्रण हुआ है। यह दूसरा चित्रण प्रकृतवादी प्रवृत्ति से प्रेरित है, जिसके अनुसार मनुष्य पाशविक वृत्तियों के वशीभूत होकर पशु सा आचरण करने लगता है। उसका ज्ञान, विवेक तथा सभ्यता क्षीण हो जाती है। उपन्यासकार के अनुसार आधुनिक शिक्षा से उत्पन्न सौंदर्यवासना, अविवेक तथा मतिभ्रम मनुष्य को कभी शांति नहीं दे सकता, उससे मानवहृदय की प्यास बुझने के स्थान पर भड़कती है और वही प्यास अनेक विपत्तियों का कारण बनती है। इस उपन्यास के प्रवीण के हृदय की प्यास कुछ इसी प्रकार की है, वह अपनी पत्नी सुखदा के पावन प्रेम को ठुकराकर, अपने मित्र भगवती की बहू के सौंदर्य को पाने के लिये भटकता है। वह अनुत्तरदायी तथा उच्छृंखल मनुष्य के रूप में हृदय की प्यास बुझाना चाहता है, किंतु उससे वह अपना और भगवती की बहू दोनों का जीवन कलंकित करता है।

आलोच्य उपन्यास में आदर्श दांपत्य जीवन की कामना, भारतीय आदर्शवादी संस्कारों से प्रेरित है, जिसे आरोपित कह सकते हैं। उपन्यासकार के इस आरोपित आदर्श से उपन्यास में निर्जीवता तथा खोखलापन आया है। वह जीवन के यथार्थ से कुछ दूर कल्पनाशीलता के संसार में विचरण करता प्रतीत होता है। उसी आदर्शवादी कामना धिसे पिटे नोति वाक्यों और उपदेशों तक सीमित रह गई है। उसकी लेखनी कुत्सित वृत्तियों के चित्रण में अधिक सशक्त तथा प्रवाहमयी कही जा सकती है। उसका वास्तविक झुकाव प्रकृतवादी प्रवृत्ति की ओर है और उसी के निरूपण में वह अपनी शक्ति व्यय करता है।

इस उपन्यास में प्रवीण के माध्यम से उपन्यासकार मनुष्य की आदिम वासनाओं को वाणी देता है। सभ्यता और संस्कृति के आवरण ओढ़कर भी वह पशु सा आचरण लिए हुए है। उसकी पाशविक वृत्तियों का तूफान उसे पथभ्रष्ट करता है। वह अपने मित्र भगवती की बहू के शारीरिक सौंदर्य को देखकर आसुरी भावों से उन्मत्त हो उठता है। उपन्यासकार के शब्दों में—‘वह विवेकी और सहृदय पुरुष अंत में कुत्सित कार्य करने को भी उद्यत हो गया। उसने कांपते हाथों से बहू की जाकिट के बटन खोल डाले। मूर्च्छित कुलवधू का अत्यंत गोपनीय वह

अंग धीरे-धीरे वस्त्र से बाहर होने लगा, और प्रवीण कायर और उन्मत्त की तरह व्याकुल दृष्टि से उसे मन भरकर देखने की हवस करने लगे स्वच्छ संगमरमर सी छाती पर सेव के समान दोनों स्तन नग्न पड़े थे ।^१ इस प्रकार के वर्णनों में ही लेखक की अधिक रुचि प्रतीत होती है और उसी से उसे प्रकृतवादी उपन्यासकारों की श्रेणी में रख दिया जाता है ।

‘हृदय की प्यास’ उपन्यास शास्त्री जी की उपन्यास कला के विकास का सूचक है । इसकी कथावस्तु, चरित्रचित्रण, संवादयोजना और भाषाशैली में उत्तरोत्तर विकास के चिह्न मिलते हैं । इसकी कथावस्तु अपेक्षाकृत प्रवाहमय तथा सुगठित है । पात्रों के चरित्रचित्रण में अंतर्द्वंद्व और भाषा में भावों को प्रकट करने की शक्ति मिलती है । लेखक के आरंभिक उपन्यासों में यह एक अच्छा उपन्यास कहा जा सकता है ।

अमर अभिलाषा

‘अमर अभिलाषा’ उपन्यास का प्रकाशन सन् १९३३ में हुआ । इस सामाजिक उपन्यास में चतुरसेन शास्त्री विधवा समस्या को विभिन्न कथाओं के माध्यम से उपस्थित करते हैं । भारतीय समाज में विधवाओं की दयनीय स्थिति, उन पर कैसे-कैसे अत्याचार होते हैं ? लेखक ने यह सभी कुछ यथार्थ रूप में अंकित करके, अस्वाभाविक इंद्रियनिग्रह का विरोध किया है । उसके विचार से यदि विधवाएँ वासनाओं का दमन और इंद्रियों का निग्रह करके पवित्र जीवन व्यतीत कर सकती हैं तो अत्युत्तम । किंतु यदि वासनाएँ प्रबल हैं तो उनका विवाह कर लेना उचित ही नहीं, आवश्यक भी है । पुरुष की भाँति नारी में भी आदिम वासनाएँ विद्यमान होती हैं । वह सभ्यता तथा संस्कृति के नाम पर उनका सर्वथा दमन नहीं कर सकती । उसकी पाशविक वृत्तियों का तूफान यदाकदा प्रस्फुटित होकर उसे सामाजिक मर्यादाओं को तोड़ने के लिये बाध्य करता ही रहता है । ऐसी स्थिति में कृत्रिम इंद्रियनिग्रह न तो संभव है और न हितकारी ही है । इस उपन्यास की भगवती एक ऐसी ही नारी है, जो पाशविक वृत्तियों का शिकार हुए बिना नहीं रहती ।

आलोच्य उपन्यास में भगवती, नारायणी, सुशीला, कुमुद, मालती और बसंती नामक ६ विधवाओं की कथन कथाओं का यथार्थ चित्रण हुआ है । इनमें से भगवती के यथार्थ जीवन को प्रस्तुत करने में उपन्यासकार को अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है । वह प्रेमचंदकृत ‘सेवासदन’ की नायिका सुमन से कुछ साम्य लिए हुए है । संभवतः उपन्यासकार ने इसकी परिकल्पना की प्रेरणा प्रेमचंद से ही प्राप्त की है । वह बाल्यकाल से अपनी वासनाओं को नियंत्रित किए रहती है, सामाजिक बंधन और सभ्यता के कृत्रिम आवरण, उसकी आदिम वासनाओं को उभरने नहीं देते किंतु एक दिन उसकी दमित कामवासना का तूफान प्रस्फुटित हुए बिना नहीं रहता । हर-गोविंद उसे मिठाईयाँ और सौंदर्य प्रसाधन भेजता है और वह उन वस्तुओं पर बिक जाती है; अपना शरीर उसे सौंपकर चिरकाल की भूख को शांत करती है । उसकी माँ उसे ‘कुलच्छनी’, ‘कुलबोरनी’, ‘सत्यानासन’ आदि कहकर कोसती है । वह उसके मिथ्या उपदेशों एवं कठोर नियंत्रण को अपने लिये अभिशाप समझकर कह उठती है—‘मैं हाड़ मांस की थोड़ी हूँ, लोहे पत्थर की हूँ । तुम लोग खुशी से जियो, गुलछरें उड़ाओ, और मैं मर जाऊँ ! क्यों डायन तू है, कि मैं ?’^२

१. ‘हृदय की प्यास’, पृ० ६४ ।

२. ‘अमर अभिलाषा’, पृ० २१७ ।

इस उपन्यास का वस्तु विन्यास सुगठित नहीं है। उपन्यासकार ने छह विधवाओं की कथकों को बिना किसी नैसर्गिक संबंध के जोड़ दिया है। उसकी गफलत पात्रों के यथार्थ निरूपण में ही दृष्टिगत होती है। भगवती, बसंती, राजासाहब, हरगोविंद आदि पात्रों का संबंध यथार्थ जीवन से है और इनके माध्यम से मानवीय दुर्बलताओं, दमित कामवासनाओं पाशविक वृत्तियों आदि का सहज स्वाभाविक चित्रण करने में उसकी लेखनी पर्याप्त सफल रही है।

ऋषभचरण जैन

ऋषभचरण जैन ने मुख्यतः सामाजिक विकृतियों, असंगतियों और अभिशापों का चित्रण करने के लिये उपन्यास लिखे हैं। इनके उपन्यासों पर एक ओर प्रेमचंद और दूसरी ओर पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' के उपन्यासों का प्रभाव लक्षित होता है। प्रेमचंद का प्रभाव कम और 'उग्र' का प्रभाव अधिक ग्रहण करने के कारण ये प्रेमचंद परंपरा से पृथक् नग्न परंपरा या प्रकृतवादोपन्यास परंपरा से जुड़ जाते हैं। डॉ० गोपाल राय के अनुसार ये प्रेमचंद युग के उन उपन्यासकारों में हैं, जिन्होंने अपने उपन्यासों में 'उग्र' की तरह समाज के नग्न यथार्थ का वर्णन करने का साहस दिखाया था। समाज में फैले व्यभिचार और कुरीतियों का जिस साहस के साथ इन्होंने उद्घाटन किया, वह अभूतपूर्व था। यही इनकी प्रसिद्धि का कारण भी था और उपन्यासकार के रूप में इनकी मृत्यु का भी। समाज के अनुद्घाटित व्यभिचार कृत्यों को प्रकाश में लाने के जोश में ये भूल गए कि समसामयिकता के चित्रण से कोई उपन्यासकार तत्कालीन पाठकों के बीच चाहे जितना लोकप्रिय हो जाए, उसका व्यक्तित्व स्थायी नहीं हो सकता।^१ निस्संदेह इनमें उच्चकोटि की विधायक प्रतिभा थी, किंतु इन्होंने उसका सदुपयोग नहीं किया। गृहित यथार्थ का चित्रण करने में ही ये मग्न हो गए और उसमें भी संयम खो बैठे; बर्जित विषयों के उद्घाटन में रस लेने लगे और उससे इनकी औपन्यासिक कृतियों में अश्लीलता का समावेश हुआ। उच्चकोटि की प्रतिभा रखकर भी ये उच्चकोटि के उपन्यासकार न बन सके। यही इनके उपन्यास लेखन की सबसे बड़ी सीमा है।

ऋषभचरण जैन ने हिंदी जगत को अनेक उपन्यास प्रदान किए हैं। उनके नाम हैं—'पैसे का साथी', 'वेश्या पुत्र', 'मास्टर साहब', 'दिल्ली का व्यभिचार', 'सत्याग्रह', 'गदर', 'भाई', 'रहस्यमयी', 'भाग्य', 'दिल्ली का कलंक', 'मंदिर दीप', 'तपोभूमि', 'बुरका फ़रोश' (जनानी सवारियाँ), 'चंपाकली', 'भयखाना', 'हिज हाइनेस', 'हर हाइनेस', 'तीन इक्के', 'दुराचार के अड्डे' आदि। इनमें 'हिज हाइनेस' को छोड़कर अन्य सभी की रचना प्रेमचंद युग में हुई है। 'दिल्ली का व्यभिचार', 'भाई', 'रहस्यमयी', 'भाग्य', 'मंदिर दीप', 'तपोभूमि' आदि उपन्यास सामाजिक और 'सत्याग्रह' राजनीतिक उपन्यास हैं। इनके सामाजिक उपन्यासों में प्रकृतवादी प्रवृत्ति का प्राधान्य मिलता है। यहाँ इस प्रवृत्ति के प्रमुख उपन्यासों का विवेचन ही हमारा अभीष्ट है।

दिल्ली का व्यभिचार

इस उपन्यास का प्रकाशन सन् १९२८ में हुआ। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इसके प्रथम

१. 'हिंदी उपन्यास कोश', खंड २, पृ० ४७१।

संस्करण का प्रकाशन काल सन् १९३८ दिया है,^१ जो अशुद्ध है। संभवतः मुद्रण की भूल के कारण सन् १९२८ का सन् १९३८ हो गया है। इस उपन्यास में दिल्ली महानगर में फैले व्यभिचार से संबद्ध १२ कहानियाँ वर्णित हैं। उपन्यासकार की एक 'हीआ कमेटी' के बारह सदस्य हैं और उसका सभापति वह स्वयं है। इस कमेटी के सभी सदस्य दिल्ली महानगर के व्यभिचार से संबद्ध एक-एक कहानी सुनाते हैं। इन्हीं कहानियों के संग्रह से इसे उपन्यास का रूप मिला है। लेखक का मुख्य उद्देश्य सामाजिक अनैतिकता को उसके वास्तविक रूप में अंकित करना है।

'दिल्ली का व्यभिचार' उपन्यास में ऋषभचरण जैन के विचार से सामाजिक व्यभिचार का उत्तरदायी पुरुष समाज है—स्वयं पुरुष जो विवाह करना ही अपना कर्तव्य समझते हैं। ये लोग अपनी जिम्मेदारी को अनुभव नहीं करते हैं, स्त्रियों को ये लोग पत्थर समझते हैं। अपने आप नित्य मजे लूटते हैं और आँख के अंधे यह बल्पना नहीं करते कि अभागिन स्त्री भी हृदय रखती है, उसमें भी वासना है। वह भी उनकी तरह दूसरी जगह जाकर अपना धर्म नष्ट कर सकती है। उपन्यासकार नर नारी दोनों में आदिम वासनाओं को समान रूप में देखना और दिखाना चाहता है। वह पुरुष समाज द्वारा निर्धारित मर्यादाओं को मिथ्या और नारी के प्रति घोर अन्याय मानता है। उसके अनुसार यह पाशविक वृत्ति यदि पाप है तो पुरुष समाज स्वयं इसे क्यों नहीं छोड़ता? वह नारी के प्रति इतना कठोर तथा निर्मम क्यों है?

कथ्य एवं शिल्प दोनों दृष्टियों से यह प्रकृतवादी उपन्यास कहा जायगा। इसमें कुत्सित यथार्थ को सीधी सादी शैली में अभिव्यंजित किया गया है। दिल्ली महानगर के तथाकथित भद्र पुरुषों को निरावरण करना ही लेखक का ध्येय है। उसके अनुरूप उसने उपन्यास के विविध उपकरणों का उपयोग किया है।

रहस्यमयी

इस उपन्यास का प्रकाशन सन् १९३१ में हुआ। यह आत्मकथात्मक शैली में रचित उपन्यास है और इसमें कुत्सित जीवन का रहस्योद्घाटन किया गया है। प्रकाशक के अनुसार 'रहस्यमयी' की कहानी कोई कपोलकल्पित और मनगढ़ंत नहीं है। इसमें उपन्यासकार के जीवन में घटी एक सच्ची, संभव और अद्भुत घटना का रोचक तथा सजीव वर्णन हुआ है। इसकी कहानी कुछ ऐसे लोगों से संबद्ध है जो अपने जीते-जी शिक्षित समाज में आदर और संमान रखते थे और जिन्हें याद करनेवाले आज भी समाज में बहुत सारे हैं।^२ इस उपन्यास में सुखवती देवी, सुंदरलाल आदि पात्रों के माध्यम से सुसंस्थ समाज में होनेवाले व्यभिचार को अनावृत किया गया है। ये पात्र शैतान के अंश हैं और इन महाधूर्त प्राणियों ने अपने आपको समाजसुधार और धार्मिकता के पदों में छिपा रखा है।

'रहस्यमयी' की नायिका सुखवती देवी समाज के सामने 'एक देवी' के रूप में विख्यात है। वह 'लाइट प्रेस' की संचालिका और 'महिला' की संपादिका है। सुंदरलाल उसका सहायक है, उसके सुख-दुःख का साथी है किंतु मूलतः ये महाव्यभिचारी हैं, मानव जाति के नाम पर कलंक हैं। इन्हें पशुओं से भी नीच कहा जा सकता है। सुखवती विवाहिता है, वह अपने पति को

१. 'हिंदी पुस्तक परिचय', पृ० ३८९।

२. 'रहस्यमयी', मुखपृष्ठ, ज्ञान प्रकाशन, दिल्ली।

दिल्ली नगर के कई घनिकों से संबंध जोड़कर, उनसे घन बटोरती है। वह अपनी कामवासना की तृप्ति के लिये अनेक नवयुवकों का जीवन नष्ट करती है। सुंदरलाल इस कार्य में उसका सह-योग देता है, इसी से उसे घन, संमान तथा अधिकार मिलते हैं।

आलोच्य उपन्यास का प्रेरणार्थक, जिसे सुखवती देवी के घृणित, व्यभिचारो तथा पाशविक जीवन का पूर्ण ज्ञान है, उसका रहस्योद्घाटन करता हुआ कहता है—‘देखिए, यह शैतान की नानी एक शस्त्र तो क्या, शायद एक दर्जन पति रखकर भी संतुष्ट नहीं हो सकती। नित्य नए फूलों को तोड़ना, सूँघना और पैरों तले कुचल डालना, यह इस भयानक रमणी का काम है। अब सुंदरलाल से जो इसने सहयोग किया है, तो उसकी पत्नी बनने के लिये या उसे अपना पति बनाने के लिये थोड़े ही, बल्कि उसकी तह में कई भेद हैं।’^१ बना रहे यह सुंदरलाल, इस बदमाश हव्शी की आड़ में, पता नहीं, कितने अछूते जवानों का नाश कर चुकी है। ऐसे ऐसे जुलूम डा चुकी है, तो भी जरा सी वेदना को छाया, अनुताप की रमक, पश्चाताप की जलन मैंने कभी इसके चेहरे पर नहीं देखी। रोज नया शिकार फाँसने की फिर में रहती है।^२ उपन्यास के अंत में देवीशरण नामक एक व्यक्ति, सुखवती देवी की अनाचार लीलाओं से तंग आकर, उसका गला घोट देता है, किंतु समाज के सामने फिर भी वह ‘देवी जी’ ही बनी रहती है। हिंदी के समस्त पत्रों में ‘श्रोमती सुखवती देवी जी’ का मृत्यु समाचार ‘आईसू भरे नेत्रों’ से छपा गया। एक समाज सुधारक कवयित्री ने देवी जी की स्मृति में एक कविता भी लिखी—

‘हा ! लगा तोर यह आज असह्य अनोखा ।

चुन लिया देव ने रत्न सभी से चोखा ॥’^३

ऋषभचरण जैन सुखवती देवी के उपर्युक्त दोनों रूपों का उद्घाटन करके यह बताना चाहते हैं कि वह सभ्यता एवं संस्कृति के नाना आवरण को ओढ़कर भी मूलतः पशु है, उसका यह घृणित आचरण पशुओं के आचरण से भी निम्न स्तर का है। हमारे समाज में ऐसे नर नारियों की कमी नहीं है, उनसे सतर्क रहना अनिवार्य है, उनके पाशविक कार्यकलापों की रोकथाम आवश्यक है। यह सभी कुछ उसी दिशा में संभव है, जब उन्हें निरावरण किया जाए। उनके पतित जीवन का रहस्योद्घाटन करने में लेखक साहस का परिचय दें।

आलोच्य उपन्यास की कथावस्तु बड़ी रोचक, कीतूहलमयी तथा प्रवाहयुक्त है। उसकी घटनाएँ भी सच्ची हो सकती हैं, किंतु उनके वर्णन में लेखक स्वयं रस लेने लगता है। उससे यह उपन्यास सस्ते मनोरंजन की वस्तु बनकर रह गया है। उसके साहित्यिक महत्व को आघात पहुँचा है। उसकी भाषाशैली में एक संमोहन शक्ति ज़रूर है किंतु उसका उपयोग भी लेखक ने नग्न यथार्थ को रसमय बनाने के निमित्त किया है।

मंदिर दीप

ऋषभचरण जैन कृत ‘मंदिर दीप’ उपन्यास का प्रकाशन सन् १९३६ में हुआ। इस सामाजिक उपन्यास में युवकों एवं युवतियों के आदर्श प्रेम और सस्ते प्रेम या वासनात्मक प्रेम का एक साथ निरूपण हुआ है। लेखक के अनुसार उच्च मावभूमि पर आधृत प्रेम जहाँ समाज में सुख शांति तथा पवित्रता का संचार करता है, वहाँ वासनात्मक प्रेम, व्यभिचार का

१. ‘रहस्यमयी’, पृ० ६८-६९।

२. वही, पृ० १२४।

रूप धारण करके, सामाजिक जीवन को कलुषित बना देता है। व्यभिचारी मनुष्य की वासना भयंकर भूख का रूप धारण करके अनेक अबोध युवतियों का जीवन नष्ट करती है। ऐसे नर-पिशाच छलकपट, पड्यंत्र, झूठ आदि का आश्रय लेकर अपनी पाशविक वृत्तियों को क्रियात्मक रूप देते हैं। ये नरपशु सभ्यता के आवरण ओढ़कर अपनी काली करतूतों को प्रायः प्रकट नहीं होने देते। उपन्यासकार उन्हें निरावरण करना आवश्यक समझता है।

‘मंदिर दीप’ में जनककुमार और रानी के माध्यम से यद्यपि सच्चे प्रेम की ज्योति जलाई गई है, किंतु उपन्यासकार की यह आदर्शवादी भावना आरोपित प्रतीत होती है। उसका प्रतिपाद्य विषय वासनात्मक प्रेम को विस्तारपूर्वक चित्रित करना ही है। वह नागरदास जैसे नरपशुओं की आदिम वासनाओं को पाठकों के सामने प्रस्तुत करके यह दिखाना चाहता है कि ऐसे मनुष्य नाम से चाहे सभ्य कहे जाएँ किंतु हैं मूलतः पशु ही। नागरदास व्यभिचारी वृत्ति का नरपशु है, जो रानी जैसी अबोध युवतियों के जीवन से खिलवाड़ करने में अपनी निपुणता प्रकट करता है। वह चालीस वर्ष का एक सभ्य बदमाश है, जो कालेज की लड़कियों को खराब करने के लिये ही पढ़ने का नाटक रचता है। वह अपनी पाशविक भूख और व्यभिचारी वृत्ति को स्वयं स्वीकार करता हुआ कहता है—‘यह मेरी भूख है कमला, जिसे मिटाने के लिये न जाने कितनी चीजों को मैंने चखा और फेंक दिया, और न जाने कितनी अभागि हैं, जिन्हें मैं चखूंगा और मसलकर फेंक दूंगा, लेकिन मेरी यह भूख कब मिटेगी.... जानती हो कमला ?’... सिर्फ मर कर।^१

आलोच्य उपन्यास की रोज का आरंभिक जीवन और नागरदास के जीवन का पूर्ण इतिहास मनुष्य की आदिम वासनाओं को अभिव्यंजित करता है। उपन्यासकार स्त्री पुरुष के संबंधों की स्वतंत्रता का समर्थक तो है, किंतु उसके भारतीय संस्कार उसे शुद्ध प्रकृतवादी नहीं बनने देते। फलतः वह आदर्शवादी विचारों और कुत्सित वृत्तियों का एक साथ वर्णन करता प्रतीत होता है। आज के तथाकथित सभ्य समाज में भी मनुष्य की आदिम वासनाएँ विद्यमान हैं, यही दिखाना उसका आशय प्रतीत होता है। इस संबंध में उसका कथन है—‘हमारे नव्य समाज में एक विचार आजकल जड़ पकड़ता जा रहा है। वह है, स्त्री पुरुष के संबंध की स्वतंत्रता का। हमारे नवयुवकों का एक बहुत बड़ा दल जवान और कुंवारी लड़कियों पर डोरे डालना, उन्हें फुसलाकर चरित्रभ्रष्ट करना, उन्हें तरह तरह के प्रलोभन देकर घरबार, मर्यादा और प्रतिष्ठा को तिलांजलि देने के लिये प्रोत्साहित करना बड़ी भारी बहद्दुरी समझता है।’^२ नागरदास ऐसे ही व्यक्तियों का प्रतिनिधि है। इस नरपशु में पाशविक वृत्तियों का तूफान सा दृष्टिगत होता है। वह अपने कार्यकलापों एवं भ्रष्ट आचरण से यह प्रमाणित करता है कि मनुष्य मूलतः पशु ही है।

‘मंदिर दीप’ उपन्यास की कथावस्तु रोचक, कुतूहलमयी तथा सुगठित है। इसके अधिकांश पात्र यथार्थ जीवन से लिए गए हैं। नागरदास की सृष्टि लेखक की विधायक प्रतिभा का सुंदर उदाहरण है। इस उपन्यास की भाषा अत्यंत प्रवाहमयी तथा समर्थ है। जेनेद्रकुमार के अनुसार ऋषभचरण की कलम के जोर के वे कायल हैं। साथ बहा ले जाने की ऐसी शक्ति कम लिखने-वालों में पाई जाती है।^३ इसमें कुत्सित जीवन का स्पष्ट एवं उग्र शैली में वर्णन हुआ है।

१. ‘मंदिर दीप’, पृ० ३०८-३०९।

२. वही, पृ० ८६।

३. वही, मुखपृष्ठ।

मारकर एक आदमी के साथ दस हजार के आभूषण लेकर भाग जाती है। इसके बाद वह उपन्यासकार ने सांकेतिकता या सूक्ष्मता की अपेक्षा स्थूलता को प्रथम दिया है। उसी से अश्लीलता का समावेश हुआ है।

सारांश यह है कि हिंदी के किसी भी उपन्यासकार को शुद्ध प्रकृतवादी तो नहीं कहा जा सकता, किंतु इस प्रवृत्ति को कई उपन्यासकारों ने अपनाया और विकसित किया। इन लेखकों में पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन प्रभृति लेखक प्रमुख हैं। इन्होंने प्रकृतवादियों के समान ही जीवन के निकृष्ट अंगों का यथार्थ चित्रण किया और उन्हीं के समान शैली का खुलापन अपनाया। ये लेखक भारतीय सुधारवादी आंदोलन से भी प्रभावित हुए हैं, किंतु इनकी मूल प्रवृत्ति प्रकृतवादी ही है और ये नरपशु की पाशविक वृत्तियों के वर्णन में अपनी अधिकांश शक्ति व्यय करते हैं। इनके उपन्यासों की मुख्य सोमा, कलात्मक संयम का अभाव है जिससे उनकी साहित्यिक गरिमा वो आघात पहुँचा है। फलतः इनकी प्रकृतवादी औपन्यासिक कृतियाँ स्थायी महत्व नहीं प्राप्त कर सकी हैं।

सन् १९१८ से १९३६ तक के हिंदी उपन्यासों की शिल्परचना

नित्यानंद तिवारी

हिंदी उपन्यासों की शिल्परचना के इतिहास में सबसे पहले प्रेमचंद का नाम आता है, क्योंकि उनके उपन्यासों के पहले कथा साहित्य का ढाँचा मध्ययुगीन साहित्य रूप 'आख्यान' जैसा ही था। आख्यान को आधुनिक उपन्यास के अर्थ में प्रेमचंद ने ही विकसित किया। प्रेमचंद के उपन्यासों की दुनिया पूर्ववर्ती कथापरंपरा से इतनी अलग है कि वह उसका विकास नहीं लगती; वह एक विस्फोट जान पड़ती है जिसके तत्त्व अंदर अंदर ऐतिहासिक परंपरा में संकलित और घनीभूत हो रहे थे। प्रेमचंद को जो कथापरंपरा मिली थी वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार थी—'हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। कहीं फिसानए अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख्याल की और कहीं चंद्रकांता संतति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत प्रेमरस की तृप्ति; साहित्य का जीवन से कोई लगाव है यह कल्पनातीत था।' (साहित्य का उद्देश्य)। लेकिन 'चंद्रकांता और तिलिस्म होशरुबा को पढ़नेवाले लाखों थे। प्रेमचंद ने इन लाखों पाठकों को 'सेवासदन' का पाठक बनाया। यह उनका युगांतकारी काम था.....प्रेमचंद ने चंद्रकांता के पाठकों को अपनी तरफ ही नहीं खींचा, चंद्रकांता में अरुचि भी पैदा की, जनरुचि के लिये उन्होंने नए मापदंड कायम किए और साहित्य के नए—पाठक और पाठिकाएँ भी—पैदा किए। यह उनकी जबर्दस्त सफलता थी।' (डा० रामबिलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग)।

किंतु यह सफलता प्रेमचंद को किस आधार पर मिली? क्या वह आधार घटनाओं को अति नाटकीयता से अलग मानवीय जीवन और अनुभवों के पहलुओं के संघात के रूप में पहचानना नहीं था? घटनाएँ कथा में बहाना नहीं हैं जिनके माध्यम से मनोरंजन, उपदेश या दार्शनिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाएँ बल्कि वे जीवंत और संगठित संरचनाएँ हैं जिनमें जीवन के कई और परस्पर विरोधी (भी) पहलू होते हैं। पात्र या चरित्र मात्र अच्छे और बुरे होकर नैतिकता अनैतिकता के सिद्धांत नहीं होते वे परिस्थितियों के दबाव झेलते हुए आशा निराशा, आकांक्षा, स्वप्न और भावों विचारों के जटिल संस्थान होते हैं। भाषा कुछ भी व्यक्त करने का माध्यम मात्र नहीं बल्कि जीवन की सच्चाइयों के निशान और अनुभव की तीव्रता और गति के प्रमाण देने में समर्थ ध्वनि संगठन है। ऐतिहासिक संदर्भ में घटना, चरित्र और भाषा की उनकी पहचान इतनी क्रांतिकारी है कि उनकी प्रतिभा एक रचनाकार की नहीं एक सक्रिय और रचनात्मक युग की सामूहिक प्रतिभा की गवाही देती है।

प्रेमचंद के उपन्यासों का विपुल परिमाण जिन कला-समस्याओं को प्रस्तावित करता है वे एक रचनाकार की विशिष्ट समस्या से अधिक एक ऐतिहासिक युग की प्रकृति को व्यक्त करती हैं। मसलन कथानक और चरित्र के स्वरूप की सामान्य समस्याएँ। कथानक घटनाओं की स्पृहा है अथवा घटनाओं में निहित पहलुओं का क्रमसंगठन, चरित्र कथानक के कर्ता मात्र हैं

अथवा संस्कारों, प्रत्यक्ष परिस्थितियों के दबावों तथा मनोभावों के संघात ? ये समस्याएँ 'सेवासदन' के प्रकाशन से पूर्व उठी ही नहीं हैं। यानी 'सेवासदन' हिंदी उपन्यास के विकास में महत्वपूर्ण ऐतिहासिक बिंदु पर स्थित है, सबसे पहले 'सेवासदन' में ही उपन्यास के रूप और गठन संबंधी समस्याओं का सामना करते हुए पठक अपनी पाठचेतना को जीवानुभवों की टकराहट से प्रखर परिवर्तित और परिभाषित करने की आवश्यकता महसूस करता है।

रूप और गठन संबंधी समस्याएँ आधारभूत वस्तुगत सामाजिक वास्तविकता से संबद्ध होती हैं जब कि डिजाइन और तकनीक की समस्याएँ रूप और गठन के मातहत लेखक की व्यक्तिगत रुचि, दृष्टि और कौशल पर बहुत कुछ निर्भर करती हैं। रूप और गठन ऐतिहासिक वास्तविकता को अनिवार्य उपज होते हैं जब कि डिजाइन और तकनीक वैयक्तिक भूमिका में होकर रूप और गठन के ऐतिहासिक ढाँचे को विविधता और समृद्धि प्रदान करते हैं। रूप और वस्तु अनिवार्यतः द्वंद्वात्मक रिश्ते में होने के कारण एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं हो सकते किंतु तकनीकी कौशल यदि फड़ाई से इस द्वंद्वात्मक रिश्ते के मातहत नियोजित नहीं किए जाते तो बहुत कुछ स्वतंत्र हैसियत अख्तियार कर लेते हैं और रूप तथा वस्तु के ऐतिहासिक स्वरूप का अनैतिहासिकीकरण करते हुए उनकी समस्याओं को निरर्थक कर देते हैं। यहाँ एक क्षण के लिये 'सेवासदन' के सामने 'त्यागपत्र' को रखकर हम रूप और गठन की ऐतिहासिक समस्या और डिजाइन तथा तकनीक की अपेक्षाकृत विशिष्ट समस्या का अंतर समझ सकते हैं। प्रेमचंद ने जीवन की स्थितियों और अनुभवों के ठोस रूप पर अपना बलाघात बहुत अधिक दिया है यहाँ तक कि वह उनके दृष्टिकोण निर्धारण का जैसे केंद्रीय तत्व जान पड़ता है। ठोस वास्तविकता ऐतिहासिक सारवस्तु के बिना संभव नहीं है किंतु वह अपनी ऐतिहासिक सारवस्तु के साथ जीवन की सूक्ष्म समस्याओं के पहलुओं को भी समाहित करती रह सकती है। जैनेंद्र का बलाघात जीवन की सूक्ष्म समस्याओं पर है जो नितांत अनिवार्य होने पर ही ठोस स्थितियों का सहारा लेते हैं। यानी उनके लिये ठोस स्थितियाँ मात्र प्रस्थान बिंदु हो सकती हैं जब कि प्रेमचंद के लिये ठोस स्थितियाँ इसलिये ही ठोस हैं कि वे अनेक निर्धारकों और पहलुओं के संघात हैं। किंतु प्रेमचंद के लिये भी ठोस स्थितियाँ प्रस्थान बिंदु हैं तभी तो वे जीवन के अंत में इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि 'अब आदर्श से काम न चलेगा।' यानी प्रत्यक्षानुभूति और धारणा से स्पष्टतर विकास के संदर्भ में ठोस स्थितियाँ प्रस्थान बिंदु हैं किंतु वे स्वयं अपने में भी लक्ष्य को पाने का साधनमात्र नहीं हैं वरन् वास्तविकता का विधान है। जबकि 'सूक्ष्म' (जो मनुष्य की आत्मवादी धारणा को व्यक्त करता है) पर बलाघात ठोस स्थितियों को लीला का विधान बना देता है। इसलिये घटनाओं और चरित्रों को वस्तुगत वास्तविकता के संगठनात्मक अवयवों की अपेक्षा अपने दृष्टिकोण के अनुसार डिजाइन और तकनीकी कुशलता के रूप में इस्तेमाल करने की संभावना बढ़ जाती है। तब उपन्यासकार को एक ऐसी स्वतंत्रता मिल जाती है कि वह अपने विचारों के अनुसार वस्तुगत और वास्तविक दुनिया के समानांतर एक ऐसी मनोरम सूक्ष्म और गंभीर दुनिया खड़ी कर लेता है जिसे समझना अक्सर कठिन हो जाता है। प्रेमचंद को यह स्वतंत्रता हासिल नहीं है।

घटनाओं और चरित्रों के ठोस स्वरूप पर बलाघात प्रेमचंद के उपन्यासों में संगठनात्मक आशय को चरितार्थ करता है। वे घटना, चरित्र, कार्य अथवा सत्य को अनेक और परस्पर

विरुद्ध (भी) पहलुओं के संगठनात्मक रूप के कारण ठोस मानते हैं । इन सबमें परस्पर अंत-विरोधी पहलुओं की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया उन्हें ठोस बनाती है । अर्थात् विषय सामग्री के भीतर रूप (फार्म) और प्रक्रिया के वस्तुगत और गतिशील नियम निहित होते हैं । इन नियमों का संगठनात्मक उपयोग वास्तविकता का कलात्मक प्रस्तुतीकरण है ।

‘सेवासदन’ के प्रकाशन से पहले घटना को ‘ठोस’ रूप में पहचाना ही नहीं गया था । उदाहरण के लिये ‘परीक्षागुरु’ (जो पूर्व-प्रेमचंद उपन्यासों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है) में लाला मदनमोहन के जीवन में घटनेवाली घटनाएँ इसलिये ठोस नहीं हैं क्योंकि लेखक उनके माध्यम से तत्कालीन समाज में जीनेवाले लोगों को कुछ नसीहतें देना चाहता है । और इसी कारण बीच बीच में और कभी बिल्कुल अलग पच्छिदों में नसीहतों के व्याख्यान भरे पड़े हैं । वे घटनाओं के अनिवार्य संदर्भ में नहीं हैं । बल्कि उनके लिये घटनाओं को गढ़ लिया गया है । इसी कारण घटनाएँ सचमुच नाटकीय विधान में न होकर नाटकीय अंदाज में हैं । ऐसा नहीं लगता कि परीक्षागुरु में घटनाओं के भीतर लेखक की कोई सहभागितापरक भूमिका भी है । वह निरीक्षक और निर्देशक जैसा कुछ व्यवहार करता है । लेखक की अपनी बात महत्वपूर्ण है, स्वयं घटनाओं का कोई महत्व नहीं है । इस प्रकार उस उपन्यास में घटनाओं का कोई अपना आंतरिक विधान नहीं है (यानी वे कई पहलुओं के संघात न होकर पहलूहीन तथ्य हों जिनका इस्तेमाल किसी भी उद्देश्य और लक्ष्य के लिये किया जा सकता है) । घटनाओं का अपना आंतरिक विधान जीवंत होता है और अपने उपयोग किए जाने की निर्देशक संभावनाओं को वह स्वयं में धारण करता है; उसकी प्रकृति को पहचाननेवाला कथाकार इन संभावनाओं की उपेक्षा करके अपने दृष्टिकोण और विचारधारा के अनुसार घटनाओं का उपयोग नहीं कर सकता ।

घटना में निहित इन्हीं निर्देशक संभावनाओं को पहचानने के कारण उपन्यास, साहित्य और जीवन के पारस्परिक संबंधों के बारे में बहुत बल देकर बहुत तरह से प्रेमचंद को लिखना पड़ा है । वे कला और साहित्यिक नियमों को बड़ी कड़ाई से जीवनप्रसंगों से संबद्ध करते हैं । यानी किसी रचना के रूपबंधात्मक नियम सिर्फ जीवन की वास्तविक सामग्री से पैदा होते हैं । घटना, कार्य और चरित्र की आयोजना, अभिव्यक्ति के कलात्मक कौशल, जीवन में निहित गतिव्यवस्था के ही प्रतिरूप होते हैं । इसका स्पष्ट अर्थ है कि जीवन और दुनिया लोगों, चीजों, घटनाओं की गड़मड़ सत्ता मात्र नहीं है, बल्कि सौंदर्यात्मक प्रश्नों और विधानों का एकमात्र स्रोत है । प्रेमचंद का समस्त साहित्य इस बात की गवाही देता है कि विचार और भाव उन परिस्थितियों के भीतर से पैदा होते हैं जिनके बीच जीवन जिया जाता है । इस प्रकार विचारों और भावों की ठोस, देशकालबद्ध और तात्कालिक सत्ता होती है । उन्होंने साहित्य को जीवन की सच्चाइयों का दर्पण कहा है । लेखक की सृष्टि में प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर सर्वाधिक बल दिया है । उन्होंने लिखा है ‘साहित्य केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं । हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा.....जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं क्योंकि अब आर-प्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है ।’ साहित्य के खरेपन की जो कसौटी प्रेमचंद ने बताई है वही उनके उपन्यासों की संरचना का मुख्य आधार है । घटना को उसके पहलुओं के विधान में पहचान लेना उसे कला नियमों के अनुशासन में धारणा करना है

उदाहरण के लिये सेवासदन में कृष्णचंद्र के घूस लेने की घटना का एक छोटा विश्लेषण उपयोगी होगा—

‘पश्चाताप के कड़वे फल कभी न कभी सभी को चखने पड़ते हैं, लेकिन और लोग बुराईयों पर पछताते हैं, दारोगा कृष्णचंद्र अपनी भलाइयों पर पछता रहे थे । उन्हें यानेदारी करते हुए पचीस वर्ष हो गए, लेकिन उन्होंने अपनी नियत को कभी बिगड़ने न दिया था । यौवनकाल में भी जब चित्त भोग विलास के लिये व्याकुल रहता है उन्होंने निस्पृह भाव से अपना कर्तव्य पालन किया था । लेकिन इतने दिनों के बाद आज वह अपनी सरलता और विवेक पर हाथ मल रहे थे । उनकी पत्नी गंगाजली सती साध्वी स्त्री थी । उसने सदैव अपने पति को कुमार्ग से बचाया था । पर इस समय वह चिंता में डूबी हुई थी । उसे स्वयं संदेह हो रहा था कि वह जीवन भर की सच्चरित्रता बिलकुल व्यर्थ तो नहीं हो गई ?’

थोड़ा ही आगे चलकर कृष्णचंद्र के मन में यह बात बैठने लगती है कि—‘धर्म का मजा चख लिया, सुनीत का हाल भी देख चुका । अब लोगों को खूब दबाऊंगा, खूब रिश्वतें लूंगा, यही अंतिम उपाय है । संसार यही चाहता है और कदाचित् ईश्वर भी यही चाहता है । यही सही । आज मैं भी वही करूंगा जो सब लोग करते हैं ।’

कृष्णचंद्र ईमानदार सच्चरित्र पात्र है । वह आदर्शवादी है लेकिन आदर्शवादी, ईमानदार और सच्चरित्र होते हुए भी वह प्रामाणिक व्यक्ति नहीं है क्योंकि उसे आमदनी और खर्च का सही अनुपात नहीं मालूम है । लाला श्रोनिवासदास ने ‘परीक्षागुरु’ में प्रामाणिकता पर एक पूरा परिच्छेद ही लिखा है जिसमें आमदनी और खर्च के उचित अनुपात को जानने और उसे बरतने-वाले व्यक्ति को प्रामाणिक माना गया है । ईमानदार और निर्लभ होकर भी कृष्णचंद्र फिजूलखर्च है । यही फिजूलखर्च उसे कमजोर बनाती है उसकी ईमानदारी को खोखला करती है । पचीस वर्ष तक लगातार ईमानदारी बरतने पर भी उसकी ईमानदारी ठोस मानवीय आचरण नहीं है, वह प्रत्ययवादी है क्योंकि बेटे के विवाह में दहेज की समस्या का सामना करते ही उसकी ईमानदारी भहराकर गिर जाती है । यानी वह कोई भी आदर्श या भाव जिसका कोई ठोस परिस्थितिगत आधार नहीं है विकृत होने के लिये अभिशप्त है । इसके अलावा एक दूसरा स्तर यह है कि प्रशासन और सामाजिक परंपराएँ किसी भी व्यक्ति को आदर्शवादी और ईमानदार नहीं बना देने रह सकतीं । कृष्णचंद्र व्यक्तिगत स्तर पर कुसंस्कार, सामाजिक स्तर पर कुप्रथा और प्रशासनिक स्तर पर भ्रष्टाचार का शिकार है और सारी कहानी का स्रोत वही है । कृष्णचंद्र के २५ वर्षों के ईमानदार जीवन में कहीं कहानी नहीं है, कहानी तब शुरू होती है जब उसकी ईमानदारी को परिस्थितियाँ खा जाती हैं । जब कृष्णचंद्र की आदर्शवादी और भाववादी पहचान खत्म हो जाती है तब उसकी कहानी यानी प्रेमचंद की रचना आरंभ होती है । इसका अर्थ यह है कि प्रेमचंद भाव और आदर्श के बीच नहीं परिस्थितियों के बीच अपनी कहानी, अथवा कथाविन्यासों को धारण करते हैं । कृष्णचंद्र की लाचारी, बेईमानी और सजा और इसके बाद फिर घटनाओं का सिलसिला निबलता ही चला जाता है । ये सारी घटनाएँ सामाजिक जीवन के उन पहलुओं को उघाड़ती चलती हैं जिनके लिये बेचैन होने की जरूरत है । प्रेमचंद के उपन्यासों को घटनाप्रधान कहा जाता है और कुछ इस लहजे में कहा जाता है मानो यही वह

कारण हो जिससे जीवन की सूक्ष्मता और गहराई उनके उपन्यासों में नहीं है। देवकीनंदन खत्री के उपन्यास भी तो घटनाप्रधान हैं, क्या उसी तरह की घटनाएँ प्रेमचंद के उपन्यासों में भी हैं ? प्रेमचंद जिन और जिस तरह की घटनाओं की सृष्टि करते हैं वे आधुनिक भारतीय जीवन में यथार्थ के विशिष्ट प्रगंग हैं। 'सेवासदन' की मुख्य समस्या पर विचार करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है, 'हमारे साहित्य में कितने नाटक, कितने उपन्यास नारी के आत्मबलिदान, उसके पतितेवा पर नहीं लिखे गए ? लेकिन कितने लेखकों ने उसकी निस्सहायता, पराधीनता, उसके साथ पशुओं और दासों जैसे व्यवहार पर नज़र डाली थी।' यानी इस तरह से घटनाओं के पहलुओं को पहचानना विचार, भाव और अनुभवों के रूपों में घटनेवाले उत्पात को लक्षित करना था। प्रेमचंद के उपन्यासों की घटनाएँ जड़ सांस्कृतिक सामाजिक परंपराओं और भ्रष्ट प्रशासनिक ढाँचे को तानने और खोलनेवाले प्रसंग हैं। प्रेमचंद ने आधुनिक अर्थ में घटनाओं की पहचान जितने तोखे, सिलसिलेवार और गहरी से कराई है उतनी उनके बाद के 'बहुत गहरी अनुभूतियोंवाले कथाकारों' से संभव न हो सका।

घटनाओं को इसी ठोस रूप में ग्रहण करने के कारण लगता है कि प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में महान् युगांतकारी योगदान किया है। 'सेवासदन' से लेकर 'गोदान' तक भारतीय समाज और व्यक्ति के जीवन में घटनाओं के सच्चे और विविध रूप हमें मिलते हैं। उनके उपन्यासों में घटनाएँ जहाँ अंतर्विरोधी प्रसंगों का विधान निर्मित करती हैं वहीं विविधता को मात्र बदलाव नहीं बल्कि एक रचनात्मक आशय प्रदान करती हैं। जीवन और परिस्थितियों के कोई निश्चित पैटर्न नहीं होते। उसके व्यापार और गति में अंतहीन विविधता होती है। इसलिये जब किसी रचना या रचनाकार में विविधता मिलती है तो वह जीवन व्यवस्था और अंततः विश्व व्यवस्था को प्रतिबिंबित करती है। विविधता अलगाव नहीं है, परिस्थितियों, कार्यों और चरित्रों की गड़बड़ दुनिया नहीं है, वह अनेकता के बीच पारस्परिकता है। जमींदार किसान, साहूकार-मालिक-मजदूर, अफसर मातहत, ब्राह्मण चमार, धर्म पाखंड यानी जीवन और समाज में फैले हुए बहुत से रूपों को प्रेमचंद अपने उपन्यासों का विषय बनाते हैं और ये सभी घटनाओं के रूप में आते हैं। घटनाएँ विभिन्न सामाजिक संबंधों को व्यक्त करती हैं। प्रेमचंद घटनाओं को कलात्मक सामग्री के रूप में इस्तेमाल करते हैं क्योंकि घटनापरक कथाविकास उनके उपन्यासों में प्रतिफलित है। असल में प्रेमचंद जिस जमाने में लिख रहे थे उस जमाने में घटनाओं को उनके यथार्थ प्रसंगों में और समाज के विविध संबंधों में पहचान लेना बहुत बड़ी क्रांतिकारी घटना थी। उनमें विकासमान रचनात्मक विन्यास और आशय निहित थे।

प्रेमचंद के उपन्यासों में घटनाएँ महाजनी समाज के मूलभूत अंतर्विरोधों के पहलुओं को खोलती हैं। (प्रेमचंद किसी भी चीज को पहलूविहीन नहीं मानते) 'ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनंद नहीं, जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनंद स्वतः एक उपयोगितायुक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक ही वस्तु से हमें सुख भी होता है और दुख भी'—सौंदर्य भी और पदार्थों की तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं, उसकी स्थिति भी सापेक्ष है। एक रईस के लिये जो सुख का साधन है, वही दूसरे के लिये दुख का कारण हो सकती है—(साहित्य का उद्देश्य)। इसी लिये घटनाएँ मात्र विषय नहीं, कला विषय हैं। किंतु प्रेमचंद की कला घटनाओं को उनके पहलुओं में धारण करने मात्र में नहीं है व

घटनाओं को कथानक (संगठन सिद्धांत) में विकसित करते हैं । उनकी समस्या घटनाओं को सिर्फ कला सामग्री के रूप में पहचानना और उपयोग करना ही नहीं बल्कि उन्हें संगठित कर कथानक या रूपबंध में विकसित करना भी है । किंतु उनके उपन्यासों के रूपबंध के संगठनात्मक नियम भी घटनाओं में ही निहित हैं । उन्होंने घटनाओं को तथ्य के रूप में नहीं सामाजिक समस्याओं के रूप में धारण किया है । तथ्य के प्रति जिस तरह का रवैया अस्तित्वार किया जाता है उससे ही तथ्य समस्या, सूचना अथवा किसी भाव विचार का बहाना बनता है । ऐसा लगता है प्रेमचंद अपनी औपन्यासिक घटनाओं में स्वयं सहभागी हैं । वे तटस्थ निरीक्षकवाले लेखकीय अंदाज में नहीं हैं । संभवतः इस कारण घटनाएँ मात्र घटनापरक तथ्य न होकर समस्या बन जाती हैं । फिर उस समस्या से उलझने के लिये पूरे परिवेश में उसकी स्थिति, अन्य स्थितियों के साथ उसके अंतर्संबंध, उनकी परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया, उसमें उलझे या उसके विरोध में खड़े लोगों के संघर्ष समझते, चालें यानी गति की एक पूरी आवयविक जटिल दुनिया उभरने लगती है । यही तो विषयवस्तु भी है जिसमें निहित गति और प्रक्रिया को प्रेमचंद धारण कर लेते हैं और क्या वही कथानक नहीं है ? एक तरह से कथानक तो प्रेमचंद-पूर्व के उपन्यासों में भी है क्योंकि घटनाओं, पात्रों, परिस्थितियों और व्यापारों का एक सिल-सिला तो उनमें भी मिलता है किंतु गतिशील कथानक, जिसका जीवंत विवास होता है, उसकी उद्भावना प्रेमचंद ने ही की । चरित्रों स्थितियों और व्यापारों का सिलसिला मात्र उनके उपन्यासों के कथानक को मूर्त नहीं करता । चरित्र, सामाजिक इतिहास और परंपरा से कुछ जीवन नियमों और मूल्यों को ग्रहण करते हैं और प्रत्यक्ष जीवन संग्राम में उनमें से कुछ को ताजे ढंग से अनुभव करते हैं, कुछ को तोड़ते हैं या उनके टूटने अथवा टूटने की पीड़ा झेलते हैं, यानी चरित्र अनुभव और क्रिया की एक गति व्यवस्था में होते हैं । स्थितियों के भीतर ही संभावना के बीज होने के कारण वे ऐतिहासिक गति की संघटक होती हैं और कार्य व्यक्तिगत तथा जातीय व्यवहार पद्धति की अभिव्यक्ति होते हैं । इस प्रकार चरित्र, स्थिति और कार्य ये स्वयं में तो विविध पहलुओं के संघात होते ही हैं किंतु ये परस्पर एक दूसरे की सापेक्षता में ही हो सकते हैं और एक दूसरे के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए विकसित होते हैं, और एक दूसरे को विकसित होने का अवसर देते हैं । चरित्र, स्थिति और कार्य को यह संबंधकल्पना ही कथानक है जिसका एहसास 'सेवासदन' से ही होता है । इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से प्रेमचंद ने ही हिंदी उपन्यास को कथानक दिया ।

कथानक मात्र शिल्पगत और तकनीकी मामला नहीं है जिसे कौशल और कारीगरी से निमित्त किया जाता हो । वह वस्तुगत सामाजिक वास्तविकता के अंतर्विरोधों, अंतःसंबंधों का द्वंद्वात्मक विधान, प्रतिबिंबित करता है इसलिये कथानक उपन्यासकारों की निमिति नहीं होता, बल्कि उसे जीवन और समाज में विद्यमान आधारभूत भौतिक द्वंद्वात्मक व्यवहार से अजित किया जाता है । उसकी सत्ता रचनाकारों की मर्जी पर नहीं बल्कि वस्तुगत होती है । मनुष्य के कार्य, व्यवहार और समस्याएँ उन सभी संस्थाओं (पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, प्रशासनिक, आर्थिक और विचारात्मक आदि) के संदर्भ और संबंध में होती हैं जिनके बीच वह जीता है । व्यक्ति इन संस्थाओं से स्वतंत्र होकर मन मुताबिक जीने और संस्थाओं से संबंध रखने में सिर्फ व्यक्तिगत पसंद और निर्णय का सहारा नहीं ले सकता । व्यक्ति का संस्थाओं

के साथ संबंध और व्यवहार ऐतिहासिक प्रक्रिया में बहुत कुछ वस्तुगत होता है। कथानक, व्यवहार की इस वस्तुगत ऐतिहासिक प्रक्रिया को मूर्त करनेवाला कलामाध्यम है जिसे प्रेमचंद ने सबसे पहले अपने उपन्यासों में व्यक्त किया। प्रेमचंद के औपन्यासिक कथानक पर सपाट, अखबारी और गहरी तथा सूक्ष्म मानवीय अनुभूतियों की जटिलता को वहन करने में अक्षम होने का आरोप लगाया गया है। मैं इसका उत्तर नहीं देना चाहता किंतु यह जरूर कहना चाहूंगा कि इन आक्षेपों को उभारने, लगानेवाली मानसिकता, कथानक या रूपबंध की वास्तविकता और शक्ति से अपरिचित है। कथानक अनुभवों, विचारों और व्यवहारों को कड़ाई से ऐतिहासिक निरंतरता में विकसित प्रतिफलित होने के लिये बाध्य करता है और जो लेखक ऐतिहासिक विकास गति से अलग मानव नियति, भाग्य और सार्थकता को पारिभाषित करना चाहता है उसे कथानक का कलामाध्यम परतंत्र बनाता है; वह उससे स्वतंत्र होना चाहता है और स्वतंत्रता को मूल्य रूप में घोषित करता है। वह लेखक तकनीक और कौशल को प्राथमिक महत्व देकर जीवन की तत्त्व दार्शनिक समस्याओं को निरूपित करता है। उसके लिये तात्कालिक और तत्त्वदार्शनिक का महत्व होता है और तात्कालिक में निहित विकासमान द्वंद्वात्मक संबंध और नियम जो संवेदनों से भिन्न और गहरे होते हैं झंझट या जंजाल लगते हैं। प्रेमचंद का कथानक इस तथाकथित 'झंझट और जंजाल' को बहुत अधिक आत्मसात करता है; इतना अधिक कि उनके उपन्यासों में जीवन और कला में भेद करना कठिन है। विशालता और विविधता सिर्फ परिणामबोधक ही नहीं, वे सौंदर्यात्मक अवधारणाएँ भी हैं जिन्हें प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों के कथानक में मूर्त किया है। विविध स्थितियों, चरित्रों, घटनाओं, कार्यों की योजना में से विशालता रूप ग्रहण करती है।

प्रेमचंद की कथानक संरचना की सबसे बड़ी विशेषता अनुपात संगठन की है। उनके कथानक व्यक्ति के अनुभव की पतं दूर पतं के चित्रण से नहीं बनते। विविध स्वभावी व्यक्तियों, विविध प्रभावी घटनाओं, कार्यों और समाज में विविध प्रकार की भूमिका निभानेवाली संस्थाओं के उन बिंदुओं की पहचान से उनका कथानक उभरता है जहाँ ये सभी परस्पर एक दूसरे के साथ क्रिया प्रतिक्रिया करते हैं। प्रेमचंद उनके पारस्परिक संबंधों को अनुपात में संगठित कर लेते हैं। जीवन में परिस्थितियाँ गड़बड़, सामान्य तथा संवेदन-तीव्र होती हैं। कला में परिस्थितियाँ अनुपात में संगठित होती हैं और वह अनुपात तात्कालिक संवेदना की तीव्रता को द्वंद्व में नियोजित कर देता है जिससे ऐतिहासिक सामान्यीकरण और व्यक्तिगत संवेदन की तीव्रता अपने अंतर्विरोधों में खुलती टकराती हुई अनुभव की एक ऐसी आंतरिक संरचना को उभारती है जो परिणाम में नहीं संभावना में और तीव्र में नहीं गंभीर में प्रतिफलित होती है। दृश्य, घटनाएँ और परिस्थितियाँ प्रकृति और समाज में फैली होती हैं और आमतौर पर लोग उनसे परिचित होते हैं। किंतु उन्हें एक खास अनुपात में रखना और किन्हीं खास बिंदुओं पर बलाघात देना लेखक की अपनी वस्तु होती है और आम लोग उनसे परिचित नहीं होते। इसी बिंदु पर लेखक वास्तविकता के विषय में हमारे बोध को समृद्ध और चेतना को उत्तेजित करता है। अनुपात और बलाघात के द्वारा ही औपन्यासिक कथानक और वस्तु का निर्माण होता है, मात्र घटनाओं, स्थितियों और दृश्यों के द्वारा नहीं। घटनाओं, कार्यों, स्थितियों और चरित्रों को बलाघात और अनुपात में संगठित करने का एहसास प्रेमचंद ने ही कराया। उनके पहले

‘कहते जाने’ की पद्धति और ‘सनसनी’ अथवा शिक्षा के उद्देश्य के अतिरिक्त कथानक के रूप में एक आब्यविक संगठन का सौंदर्यात्मक संतोष और तृप्ति अनुपस्थिति थी ।

अनुपात और बलाघात सर्जनात्मक प्रक्रिया के रूप में तभी चरितार्थ हो सकते हैं जब किसी घटना, स्थिति, कार्य और चरित्र को विशिष्ट और व्यक्तिगत तथ्य और समस्या के रूप में अलग कर लिया जाए । सुमन, मोफिया, सूरदास और होरी जिन घटनाओं और स्थितियों के दुष्ट चक्र में फँसे हुए कार्य करते हैं उनसे वे क्या अलग थलग और बहुत कुछ अकेले होते नहीं चले जाते ? क्या प्रेमचंद उनसे संबंधित, उनके आसपास फँसे और उनके समानांतर चलने होनेवाली घटनाओं स्थितियों और व्यक्तियों को उस अनुपात और बलाघात के साथ प्रस्तावित नहीं करते जिससे मानवीय, नैतिक और संभावनागर्भ सार्थक संघर्ष तथा अनुभव, महाजनी और साम्राज्यवादी व्यवस्था में अकेले, शोषित और असहाय होते चले जाते हैं ? यानी प्रेमचंद ने घटनाओं, स्थितियों और चरित्रों का जंगल नहीं खड़ा किया है बल्कि उन्हें उस अनुपात और बलाघात में संगठित किया है जिससे तत्कालीन और आधुनिक भारतीय समाज की मानवीय नियति, संघर्ष की दिशा और सार्थकता की संभावना प्रस्तावित परिभाषित होती है । इसी बिंदु पर पता चलता है कि नाट्यनुमा घटनाओं का नाटकनुमा संयोजन और घटनाओं में निहित आंतरिक नाटकीय पहलुओं का वास्तविक नाटकीय संगठन और विधान गुणात्मक स्तर पर कितना भिन्न होता है । प्रेमचंद ने सिर्फ किस्सागोई देखनेवाली दृष्टि उनके उपन्यासों की नाटकीय संरचना को संभवतः पहचान नहीं पाती; शायद उनकी राँच किसी परिस्थिति या चरित्र के बारीक चित्रण और मुद्राओं के अधिक से अधिक विवरण में होती है । जो परिस्थिति और चरित्र की पतों को खोलता है उनमें निहित नाटक को कम । लेकिन पतों को खोलनेवाले चित्रण में एक खतरा यह हो सकता है कि परिस्थिति और चरित्र के भीतर निहित नाटक जो जीवन और समाज में निहित शक्तियों को द्वंद्वात्मक विधान में धारण करने के कारण रूपबंधात्मक होता है—धीरे धीरे गलने लगे—और कला रूप की अपेक्षा कला कौशल फलने फूलने लगे । ऐसी ही स्थिति में उपन्यास में स्वायत्त, रहस्यवादी भाव विचार प्रवेश करते हैं और ऐतिहासिक प्रक्रिया में उभरे ‘कला रूप’ पर आक्रमण करते हैं । वे कला और जीवन के विषय में अपने तर्कों की दुनिया खड़ी कर लेते हैं । वे ‘कला रूप’ को तकनीकी मामला बनाकर उसे जीवन से अलग कर देते हैं और जीवन की परिस्थितियों में निहित नाटक दार्शनिक आदर्शवाद पर चिंतन करने का बहाना बन जाता है, अथवा क्षण की सघनता में सारे जीवनार्थ को समेट लेने का बिंदु बन जाता है । ऐसे अवसर पर स्थान और काल की भौगोलिक, ऐतिहासिक भूमिकाएँ अमूर्त धारणाएँ बन जाती हैं । प्रेमचंद का उपन्यासिक रूपबंध स्थान और काल को भौगोलिक, ऐतिहासिक भूमिकाओं में, ठोस स्तर पर धारण करता है, अमूर्त प्रत्ययों में नहीं । इसी कारण विचारों, भावावेगों और व्यवहारों के संगठन में एक तत्कालिक ऐतिहासिक लक्ष्य होता है जो उसे वैधता प्रदान करता है । प्रेमचंद की रूपबंधात्मक प्रतिबद्धता वस्तुतः भौगोलिक और ऐतिहासिक स्थान काल में समस्याओं से घिरे छिदे आदमी की पक्षधरता है । इस संदर्भ में रंगभूमि से एक लंबा उद्धरण देना बहुत प्रासंगिक है । प्रभुसेवक अंतरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त कवि चितक है । वह कुछ दिनों तक सेवादल का नेतृत्व भी कर चुका है किंतु उसको प्रतिभा की वास्तविक कद्र इंग्लैंड ने की । वह भारत के अपने साथियों को पत्र लिखता है—

‘प्रिय बंधुवर, मैं नहीं जानता कि मैं यह पत्र किसे लिख रहा हूँ। कुछ खबर नहीं कि आजकल व्यवस्थापक कोन है। मगर सेवक दल से मुझे अब भी वही प्रेम है जो पहले था। उसकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। आप मेरा कुशल समाचार जानने के लिये उत्सुक होंगे मैं पूना ही में था कि वहाँ के गवर्नर ने मुझे मुलाकात करने को बुलाया। उनसे देर तक साहित्य की चर्चा होती रही। एक ही मर्मज्ञ हूँ। हमारे देश में ऐसे रसिक कम निकलेंगे। विनय (उसका कुछ हाल नहीं मालूम हुआ) के सिवा मैंने और किसी को इतना काव्य-रस-चतुर नहीं पाया। कितनी सर्जीव सहृदयता थी ! गवर्नर महोदय की प्रेरणा से मैं यहाँ आया और जब से आया हूँ, आतिथ्य का अविरल प्रवाह हो रहा है। वास्तव में जीवित राष्ट्र ही गुणियों का आदर करना जानते हैं। बड़े ही सहृदय, उदार, सहनशील प्राणी हैं। मुझे इस जाति से अब श्रद्धा हो गई है, और मुझे विश्वास हो गया है कि इस जाति के हाथों हमारा अहित कभी नहीं हो सकता। कल यूनिवर्सिटी की ओर से मुझे एक अभिनंदन पत्र दिया गया। साहित्यसेवियों का ऐसा समारोह मैंने काहे को कभी देखा था। महिलाओं का स्नेह और सत्कार देखकर मैं मुग्ध हो गया। दो दिन पहले इंडिया हाउस में भोज था। आज साहित्य परिषद् ने निमंत्रित किया है। कल लिबरल एशोसिएशन दावत देगा। परसों पारसी समाज का नंबर है। उसी दिन यूनियन क्लब की ओर से पार्टी दी जाएगी। मुझे स्वप्न में भी आशा न थी कि मैं इतना जल्द बड़ा आदमी हो जाऊँगा। मैं ख्याति और संमान के निदकों में नहीं हूँ इसके सिवा गुणियों की ओर क्या पुरस्कार मिल सकता है ? मुझे अब मालूम हुआ कि मैं क्या करने के लिये संसार में आया हूँ। मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है ? अबतक भ्रम में पड़ा हुआ था। अब से मेरे जीवन का मिशन होगा प्राच्य और पाश्चात्य को प्रेमसूत्र में बाँधना, पारस्परिक द्वंद्व को मिटाना और दोनों में समान भावों को जाग्रत करना। मैं यही व्रत धारण करूँगा। पूर्व ने किसी जमाने में पश्चिम को धर्म का मार्ग दिखाया था; अब वह उसे प्रेम का शब्द सुनाएगा, प्रेम का पथ दिखाएगा। मेरी कविता का पहला संग्रह मैकमिलन कंपनी द्वारा शोध ही प्रकाशित होगा। गवर्नर महोदय मेरी उन कविताओं की भूमिका लिखेंगे। इस संग्रह के लिये प्रकाशकों ने मुझे चालीस हजार रुपए दिए हैं। इच्छा तो यही थी कि ये सब रुपए अपनी प्यारी संस्था को भेंट करता; पर विचार हो रहा है कि अमेरिका की सैर करूँ। इसलिये इस समय जो कुछ भेजता हूँ उसे स्वीकार कीजिए। मैंने अपने कर्तव्य का पालन किया है। इसलिये घन्यवाद की आशा नहीं रखता। हाँ, इतना निवेदन करना आवश्यक समझता हूँ कि आपको सेवा के उच्चादशों का पालन करना चाहिए और राजनीतिक परिस्थितियों से विरक्त होकर ‘वसुधैव कुटुंबकम्’ के प्रचार को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। मेरे व्याख्यानों की रिपोर्ट आपको यहाँ के समाचारपत्रों में मिलेगी। आप देखेंगे कि मेरे राजनीतिक विचारों में कितना अंतर हो गया है। मैं अब स्वदेशी नहीं, सर्वदेशीय हूँ, अखिल संसार मेरा स्वदेश है, प्राणिमात्र से मेरा बंधुत्व है और भौगोलिक तथा जातीय सीमाओं को मिटाना मेरे जीवन का उद्देश्य है। ईश्वर से प्रार्थना कीजिए कि अमेरिका से सकुशल लौट आऊँ।’

आपका सच्चा बंधु

प्रभुसेवक

सोफिया ने पत्र मेज पर रख दिया और गंभीर भाव से बोली—इसके दोनों ही अर्थ हो सकते हैं, आत्मिक उत्थान या पतन । मैं तो पतन ही समझती हूँ ।

विनय—क्यों ? उत्थान क्यों नहीं ?

सोफिया—इसलिये कि प्रभुसेवक की आत्मा शृंगार प्रिय है । वह कभी स्थिरचित्त नहीं रहे । जो प्राणी संमान से इतना फूल उठता है, वह उपेक्षा से इतना ही हताश भी हो जाएगा ।

विनय—यह कोई बात नहीं । कदाचित् मैं भी इसी प्रकार फूल उठता यह तो बिल्कुल स्वाभाविक है । यहाँ उनकी क्या कद्र हुई । मरते दम तक गुमनाम पड़े रहते ।

इंद्रदत्त—जब हमारे काम के नहीं रहे, तो प्रसिद्ध हुआ करें ऐसे विश्व प्रेमियों से कभी किसी का उपकार न हुआ है, न होगा । जिसमें अपना नहीं उसमें पराया क्या होगा ?

सोफिया—सार्वदेशिकता हमारे कई कवियों को ले डूबी, इन्हें भी ले डूबेगी, इनका होना, न होना हमारे लिये दोनों बराबर हैं, बल्कि मुझे तो अब इनसे हानि पहुँचने की शंका है । मैं जाकर अभी इस पत्र का जवाब लिखती हूँ ।

यह कहते हुए नोफिया वह पत्र हाथ में लिए हुए अपने कमरे में चली गई । विनय ने कहा—क्या करूँ, रुपए वापस कर दूँ ?

इंद्रदत्त—रुपए क्यों वापस करोगे ? उन्होंने कोई शर्त तो की नहीं है । मित्रोचित सलाह दी है और बहुत अच्छी सलाह दी है । हमारा भी तो वही उद्देश्य है अंतर केवल इतना है कि वह समता के बिना ही बंधुत्व का प्रचार करना चाहते हैं, हम बंधुत्व के लिये समता को आवश्यक समझते हैं ।

विनय—‘यों क्यों नहीं कहते कि बंधुत्व समता ही पर स्थित है ।’

हिंदुस्तान के लोगों के जीवन में जो ऐतिहासिक स्तर पर वास्तविक नाटक, संकट पैदा कर रहा है क्या उसकी अपेक्षा करके सार्वभौम मानवीय अनुभूति की धारणा को आत्मसात् किया जा सकता है ? सोफिया विश्वबंधुत्व के विरोध में नहीं है किंतु वह उसे प्रसंग के साथ धारण करना चाहती है । प्रसंग के साथ धारण करने में हो तो सारी समस्याएँ हैं । तभी एक दूसरे के अंतर्विरोध, तात्कालिक अनिवार्यता और दूरवर्ती सार्थकता, साम्राज्यवादी छल के रूप में सार्वभौम का इस्तेमाल और देशीय तथा सामयिक संघर्ष की प्रामाणिकता का प्रसंग उभरता है । कैसे प्रसंगहीन ‘विश्वबंधुत्व’ संकीर्ण निहितार्थ में और तथाकथित संकीर्ण हित मानवीय हित की संभावनाओं और पहलुओं में विकसित होता है, हम जान पाते हैं । यह प्रसंगता ही अनुपात तय करती है और सहयोग या संघर्ष में आचरण को संगठित करती है । प्रेमचंद जीवन को घेरनेवाली सभी तरह की परिस्थितियों में सहयोग या संघर्ष की भूमिका प्रसंग से तय करते हैं और उनका आनुपातिक उपयोग अपनी उपन्यास कला में करते हैं । बड़ी महान देश-कालातीत मानवीय धारणा, प्रसंगहीन सहयोग से आततायी, क्रूर और पाखंडी हो सकती है तथा देशकालबद्ध समस्या प्रसंग और अनुपात के कारण देशकालातीत को भी प्रासंगिक, ठोस और मानवीय बनाती रह सकती है । प्रसंग, धारणा को ठोस प्रक्रिया में गतिशील कर देता है । प्रेमचंद प्रसंगों को जिस अनुपात और अनिवार्यता में धारण करते हैं उससे संघर्ष कथा के संगठनात्मक आशय को चरितार्थ करता है । उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट शलकता है कि प्रसंगगत आनुपातिक संघर्ष की प्रक्रिया ही कथानक को और मानवीय वस्तु को धारण कर सकती है ।

इसी कारण 'सेवासदन' से 'गोदान' तक निरंतर 'संघर्ष' संरचनात्मक आशय के साथ औप-न्यासिक विधान को मूर्त करता है। इसी कारण प्रेमचंद के उपन्यासों में 'संघर्ष रोग का लक्षण' (अज्ञेय) मात्र नहीं, विवेक का भी, बल्कि उसका ही लक्षण अधिक है। उनकी औपन्यासिक बनावट में इस विवेक के द्वारा ही आदर्शवादी विचारों और ढाँचों की भूमिका भी निर्धारित होती है। उनकी संघर्षात्मक पद्धति में आदर्शवाद की भूमिका हस्तक्षेप और घुसपैठ जैसी अधिक लगती है क्योंकि धीरे धीरे उसकी ताकत आदर्शवादी ढाँचे को तोड़ डालती है। उसे आदर्श और यथार्थ का समन्वय नहीं मानना चाहिए। उनके क्या साहित्य को, आदर्शवादी और यथार्थवादी शक्तियों का तनाव या अंतर्विरोध मानना चाहिए। यद्यपि प्रेमचंद ने इन दोनों के समन्वय की बात की है लेकिन उनकी रचना का प्रभाव समन्वय में से नहीं, तनाव और विरोध में से उभरता है इस प्रकार उनके रचनात्मक विन्यास का स्वरूप विद्रोही अधिक है। समन्वयवादी अपनी शक्ति का इस्तेमाल विरुद्धों को एक सौम्य बिंदु पर संगठित करके करता है और विद्रोही किसी संगठन के जीवनविरोधी किंतु शक्तिशाली संस्थानों पर निरंतर प्रहार करके अपनी शक्ति की सार्थकता सिद्ध करता है। क्या प्रेमचंद के उपन्यासों में घटनाओं की आयोजना या विन्यास सामाजिक, प्रशासनिक और आर्थिक संगठनों के जीवनविरोधी किंतु शक्तिशाली संस्थानों पर आघात करते हुए नहीं निमित्त हुआ है।

इस प्रकार प्रेमचंद के क्या साहित्य में प्रसंग और अनुपात उस विवेक को उभारते हैं जो सामयिक और सार्वजनिक, भौमिक और सार्वभौमिक को समझाने की सबसे बड़ी मानवीय योग्यता है। इसी बिंदु में प्रेमचंद के प्रासंगिक होते रहने का रहस्य निहित है। मार्क्स का एक कथन है कि 'ग्रीक कला और महाकाव्य किन्हीं सामाजिक विकास के रूपों से संबद्ध हैं, यह समझने में कठिनाई नहीं है। कठिनाई इस बात में है कि उनमें अभी भी सौंदर्यात्मक आनंद मिलता है और कुछ दूर तक सिद्धांतों और अप्राप्य प्रतिरूपों के लिये वे उपयोगी बने हुए हैं' मार्क्स देशकाल बद्ध के भीतर उसी संभावना और विवेक को समझने और आत्मसात करने की कठिनाई की ओर संकेत करते हैं जो आज प्रेमचंद के साहित्य के साथ उपस्थित हो चुकी है। शायद प्रेमचंद के जमाने में भी थी। उन्हें अपने समय के साहित्यिकतावादियों के तमाम आक्षेप कि उनके उपन्यासों में सूक्ष्मता, गहराई और गंभीर कलाविवेक नहीं है, झेलने पड़े थे और वर्तमान युग के भी ऐसे रचनाकार हैं जो प्रेमचंद को 'स्टोर रूम' में रखने की सलाह दे चुके हैं या यह मानते हैं कि अब प्रेमचंद की पढ़ना संभव नहीं रह गया है। लेकिन दूसरी ओर ऐसे लोग भी हैं जैसे रामचंद्र शुक्ल, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी और डा० रामबिलास शर्मा जो प्रेमचंद के कलाविवेक के प्रति आश्चर्य हैं, द्विवेदी जी तो यहाँ तक कहते हैं कि रचनाकार के रूप में वे आधुनिक युग में सिर्फ प्रेमचंद से प्रभावित हैं। और इधर वर्तमान कथाकारों में ऐसे बहुत हैं जो प्रेमचंद से जुड़ना चाहते हैं।

इस परस्पर विरोधी बातों का क्या प्रसंग है? क्या इन्हें व्यक्तिगत खजाना कहकर टाला जा सकता है? ये बातें जीवन और कला के विषय में और उनके पारस्परिक संबंधों के बारे में गंभीर निर्णय हैं। तो क्या प्रेमचंद एक ऐसे अनिवार्य और विवादास्पद बिंदु पर खड़े हैं जिनके प्रक्ष या विप्रक्ष में हुए बिना आज का कथाकार भी अपनी रचनात्मक भूमिका तय नहीं कर सकता?

आज इस प्रश्न से उलझना दुर्निवार हो गया है कि प्रसंग, अनुपात और विवेक कलासंगठन और संरचना के मौलिक तत्व हैं अथवा भाषा की चित्रणशैली की तमाम सूक्ष्म और व्यंजक भंगिमाएँ तथा कौशल ? और इस प्रश्न के पक्ष या विपक्ष में होकर टकराने में प्रेमचंद से अधिक संदर्भवान, आधुनिक युग का और कीन दूसरा रचनाकार है ?

प्रेमचंद का स्पष्ट मत है कि भाषा का इस्तेमाल रचनाशैली को सजीव और प्रभावोत्पादक बनाने के लिये होता है 'उपन्यास की रचनाशैली सजीव और प्रभावोत्पादक होनी चाहिए, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि हम शब्दों का गोरखधंधा रचकर पाठकों को भ्रम में डाल दें कि इसमें जरूर कोई न कोई गूढ़ आशय है ' ' ' जनता उन्ही उपन्यासों को आदर का स्थान देती है जिनकी विशेषता उनकी गूढ़ता नहीं उनकी सरलता होती है ।' निश्चय ही यहाँ प्रेमचंद की गूढ़ता का आशय छद्म गंभीरता और सरलता का तात्पर्य वास्तविकता है ।

भाषा एक ऐसी वस्तु है जिसका वास्तविक और गैरवास्तविक इस्तेमाल होता रहा है । कभी कभी गैरवास्तविक संदर्भों में भाषा का बड़ा प्रभावकारी इस्तेमाल होता है । और जो लोग साहित्यिक संरचना को स्वायत्त भाषिक विधान मानते हैं वे लोग प्रसंगहीन सौंदर्य विधान की हिमायत करते हैं । यह सौंदर्यवाद है जो 'संसार को निहारता है परंतु उससे निर्विकार रहता है ।' ' ' ' वह कभी यह नहीं कहता मेरा सर्वस्व इस संसार में है, मैं ही यह संसार हूँ ।' (अलेक्सेई तोलस्तोय, कला और रचना कौशल, पृष्ठ २०८) । भाषा को आद्यवस्तु के रूप में इस्तेमाल करनेवाला सौंदर्यवादी साहित्य मात्र आस्वाद की वस्तु होता है । क्या प्रेमचंद की घटना, चरित्र और कार्य की आयोजना (यह संगठन ही तो संरचना है) आस्वाद की अपेक्षा गति, संघर्ष और बेचैनी नहीं पैदा करती ? और जो इस बेचैन बनानेवाले साहित्यिक संगठन में रुचि नहीं ले सकता वह जीवन की गतिव्यवस्था के संदर्भ में अपनी रुचि की परिभाषा और उसका निर्माण कैसे कर सकता है ? प्रेमचंद का औपन्यासिक विधान और भाषा साहित्यिक आस्वाद की क्रांतिकारी परिभाषा करते हैं । वह आस्वाद जीवन की परिस्थितियों में अंतर्विरोधी टकराव और उसके फलस्वरूप जीवन की गतिव्यवस्था की ओर रुचि की अभिमुखता है यानी प्रेमचंद की भाषा घटना में निहित अनुपात की गतिशील प्रक्रिया से अर्थ पाती है इसलिये उनकी भाषा स्वायत्त नहीं है ।

प्रसाद और निराला छायावादी कवि होते हुए भी उपन्यासकार के रूप में प्रेमचंद वृत्त में उनके सहयोगी के रूप में उभरते हैं । घटना में निहित वस्तुगत द्वंद्वात्मक वास्तविकता की भूमिका, प्रसंग और अनुपात के संगठन से उभरनेवाला कला विवेक इन दोनों रचनाकारों में भी मिलता है । संघर्ष संरचनात्मक संघटकों में केंद्रवर्ती स्थिति में इन दोनों रचनाकारों के उपन्यासों में भी विद्यमान है । यथार्थ को 'लघुता के प्रति साहित्यिक दृष्टिपात' मानते हुए और उसका विरोध करते हुए भी प्रसाद जी अपने उपन्यासों में लघुता के प्रति दृष्टिपात ही नहीं करते उसकी शक्ति और संभावनाओं का रचनात्मक उपयोग भी करते हैं ।

यहाँ हिंदी साहित्य के इतिहास की एक महत्वपूर्ण समस्या झलकने लगती है । प्रसाद यथार्थवाद के विरोधी हैं और प्रेमचंद छायावादी कविता की कल्पना और देशकालातीत सार-वस्तु के । लेकिन प्रसाद यथार्थवाद के संघटक तत्वों का इस्तेमाल ही अपनी औपन्यासिक

रचनाओं में करते हैं। क्या यह उपन्यास के विभागत अनुशासन का दबाव है? अगर ऐसा हो तो प्रेमचंद ने जो औपन्यासिक रूपबंध को जीवन की वास्तविकता के भीतर से अर्जित किया था उसकी वस्तुगत सत्ता सिद्ध होती है।

यदि छायावादी कविता में से देश कालातीत दार्शनिक रक्षान को थोड़ा परे ढकेल कर उस पर विचार करें तो क्या 'कल्पना' वही भूमिका निभाती हुई लगती है जो प्रेमचंद के उपन्यासों की घटनाओं में निहित आंतरिक 'ड्रामाई तत्व'? (प्रेमचंद का कहना है कि जब तक वे किसी घटना के भीतर ड्रामाई पहलुओं को पहचान नहीं लेते तब तक वे कहानी नहीं लिखते—कलम का मजदूर : प्रेमचंद—मदन गोपाल, पृ० २६६-२६८ में लाहौर के मासिक पत्र 'नैरंगे खयाल' के संगदक के पूछने पर प्रेमचंद का उत्तर) क्या प्रेमचंद-पूर्व के उपन्यासों में घटनाएँ परंपरागत नैतिक अभिप्रायों अथवा तात्कालिक उद्देश्यों की शिक्षा देने का वहाना नहीं है? क्या प्रेमचंद घटना के भीतर के ड्रामाई पहलुओं को पहचान कर और संगठित कर 'घटना' को परंपरागत नैतिक उपदेशों की परतंत्रता से मुक्त नहीं करते? और उसे कलात्मक योग्यता नहीं प्रदान करते? क्या छायावादी कविता में 'कल्पना' भी कुछ ऐसी ही भूमिका निभाती है? क्या कविता में परंपरागत नैतिक अभिप्राय, भाव को जीवन के प्रकृत प्रसंगों के विस्तार और गहराइयों में भटकने और व्याप्त होने के पहले ही उन्हें निश्चयात्मक और असमय प्रौढ़ नहीं बना रहे थे? कल्पना क्या भावों के भीतर निहित संभावनाओं को खोल या मुक्त नहीं कर रही थी? तो क्या 'ड्रामाई तत्व' और 'कल्पना' दोनों ही परंपरागत नैतिक अभिप्रायों के विरोध में एकजुट होकर अलग अलग तरह से घटनाओं और भावों को कलानुशासन में विकसित कर रहे थे? क्या इसी लिये प्रसाद और निराला को प्रेमचंद की ही तरह उपन्यास लिखने में कोई आपत्ति, अरुचि या क्षिप्तक नहीं हुई?

प्रसाद और निराला दोनों के उपन्यासों में प्रेमचंद के औपन्यासिक कलानियमों से मूलभूत अंतर नहीं। अंतर इन रचनाकारों के मिजाज का है। प्रसाद में सब कुछ के बावजूद एक आभिजात्य गरिमा और गीतात्मक तरलता की जलवायु उनके उपन्यासों के प्रभाव को नम बनाती है। कहीं उठकर शांत होती हुई या छूट जाती हुई लय का अवसाद उनके उपन्यासों के मिजाज में व्याप्त है। निराला में घटनाएँ कुछ उद्बुद्ध आकस्मिकता की तरह प्रभाव डालती हैं। यानी दर्शन के ढब में स्वभावगत अंतर के अतिरिक्त प्रेमचंद से कोई बहुत अंतर नहीं है।

इनके अतिरिक्त विश्वभरनाथ शर्मा कौशिक, चतुरसेन शास्त्री, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, प्रतापनारायण श्रीवास्तव आदि सामान्य कोटि के उपन्यासकार हैं। कभी कभी चतुरसेन शास्त्री और उग्र ध्यान जरूर आकर्षित करते हैं किंतु शिल्प-संरचना की किसी उपलब्धि के रूप में इनका असर हिंदी उपन्यास के इतिहास पर नहीं है। प्रकृतवाद के सिलसिले में उग्र जरूर उल्लेखनीय हैं। किंतु वृंदावनलाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में अवश्य प्रभावशाली रचनाकार हैं। उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास को एक विशिष्ट धारा के रूप में प्रस्तावित स्थापित किया। तथ्य को ऐतिहासिक अनुशासन और कलानुशासन के ढंढ में नियोजित कर उन्होंने ही हिंदी उपन्यास में ऐतिहासिक घटनाओं को औपन्यासिक कथानक में विकसित किया।

ऐतिहासिक संदर्भ में वस्तु के साथ साथ शिल्प और संरचना के स्तर पर १९२९ में

प्रकाशित 'परख' के प्रकाशन से पर्याप्त अंतर आता है। दृष्टिकोण और शिल्पसंरचना के इस अंतर का प्रतिनिधित्व सबसे अधिक जैनेंद्र के उपन्यास करते हैं जिसका चरम रूप १९३७ में प्रकाशित 'त्यागपत्र' में उभरता है। जैनेंद्र के उपन्यासों के अतिरिक्त दूसरा उपन्यास 'चित्रलेखा' (भगवतीचरण वर्मा) भी इस अंतर को सघन करता है। १९२९ में ही प्रकाशित इलाचंद्र जोशी का 'घृणामयी' मनोवैज्ञानिक पद्धति में उपन्यास लिखे जाने की शुरुआत अवश्य है किंतु उस पद्धति का संघात हिंदी उपन्यास पर सन् १९४० में प्रकाशित 'संन्यासी' से भी उभरता है। इन उपन्यासों की दुनियाँ प्रेमचंद से बहुत अलग है। प्रेमचंद की औपन्यासिक दुनियाँ कई तरह के लोगों, चीजों, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों, संस्कारों और घटनाओं से भरी हुई दुनियाँ है। उसमें कार्यव्यापार और भावव्यापार इन सभी प्रसंगों के जाल और दबाव में होते और विकसित होते हैं। लेकिन उनके बाद के इन महत्वपूर्ण उपन्यासकारों की औपन्यासिक दुनियाँ में इन प्रसंगों का प्रत्यक्ष दबाव कम हो जाता है। संभवतः इन प्रसंगों का दबाव उनकी सर्जनात्मक धारणा की चरितार्थता में बाधा डालता है। क्या इसी लिये जैनेंद्र अपने पहले उपन्यास 'परख' की भूमिका में 'स्वतंत्रता एक कीमती चीज है' की घोषणा करते हैं? जैनेंद्र जी की इस स्वतंत्रता के और भी पहलू हो सकते हैं लेकिन निश्चय ही वे प्रेमचंद की अनेक प्रसंगों में कसी औपन्यासिक दुनियाँ से स्वतंत्र होना चाहते हैं। वे मानते हैं 'उपन्यास में जैसी दुनियाँ है, वैसी ही चित्रित नहीं होती। दुनियाँ का कुछ उठा हुआ उन्नत कल्पित रूप चित्रित किया जाता है। वह उपन्यास किसी काम का नहीं जो इतिहास की तरह घटनाओं का बखान कर जाता है।'^१ तो क्या जैनेंद्र दुनियाँ के कुछ उठे हुए, उन्नत और कल्पित रूप को चित्रित करने में ही 'स्वतंत्रता' की भूमिका को नहीं रेखांकित करते? उनकी स्वतंत्रता किसी शिकजे को स्वीकार नहीं करती। 'न भापा का शिकंजा है न भाव का' शिकंजे में कस दोगे तो वह नहीं बड़ेगी, लुंज रह जाएगी,—हम उसी को सुंदरता मानने लग जाएँ तो बात दूसरी, पर दुनियाँ की स्पर्धा और दौड़ में वह कहीं की नहीं रह सकती।'^२ दुनियाँ जैसी है उसमें जीने-वाले व्यक्तियों पर परिस्थितियों, संस्कारों और प्रभावों के अनेक शिकंजे होते हैं। प्रेमचंद इस शिकजे में जकड़े आदमी की ही कहानी लिखते हैं भले ही अनेक बार उनके आदर्शवादी संस्कार हस्तक्षेप करें। वे इस शिकंजे में बँधे आदमी को छोड़कर दुनिया का उन्नत कल्पित रूप चित्रित करना नहीं चाहते। उनके भीतर का लेखक भी इन शिकंजों से मुक्त नहीं है।

जैनेंद्र जी ने इस बात की शिकायत अनेक बार की है कि 'प्रेमचंद के उपन्यासों में देश बहुत बिखरा हुआ है और इसी कारण वे विश्व के श्रेष्ठ उपन्यासकारों में नहीं गिने जा सकते।'^३ इस 'देश' का तात्पर्य जीवन की वे तथाकथित स्थूल 'घटनाएँ' हैं जो राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक पराधीनता से पैदा होती हैं और जो तत्कालीन भारतीय व्यक्ति के विशिष्ट प्रसंगों के शिकंजे हैं। क्या ये प्रसंग लेखकीय 'स्वतंत्रता' में बाधा डालते हैं? क्या घटनाएँ बंजर होती हैं? क्या मानवीय स्तर पर उनमें आनुभूतिक अर्थ छविर्वा नहीं होती हैं?

१. परख की भूमिका, पृ० ३।

२. वही।

३. दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रेमचंद शताब्दी समारोह में अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण; फरवरी ३, १९८०।

क्या भावों के ही प्रसंग होते हैं, घटनाओं के नहीं ? यदि घटनाओं के भी मार्मिक प्रसंग होते हैं तो उनमें भावात्मक पहलू क्यों नहीं हो सकते ? और वह उपन्यास जो 'इतिहास की तरह घटनाओं का बखान करता है' ऐतिहासिक घटनाओं के तमाम मानवीय पहलुओं और प्रसंगों को समझे और उनके पारस्परिक संबंधों की व्याख्या किए बिना कोई इतिहास हो सकता है ? क्या इतिहास और उपन्यास (साहित्य भी) का मौलिक उद्देश्य जीवन और मनुष्य को समझना नहीं है ? फिर—क्या इतिहास और उपन्यास का अंतर उनके संगठनात्मक पहलुओं में नहीं है ? जो प्रभाव स्तर पर उनके उद्देश्यों में भी अंतर पैदा करता है, बुनियादी स्तर पर नहीं ?

क्या यह कहा जा सकता है कि देश, घटना और इतिहास के शिकजे से जैनंद्र जी अपने उपन्यासों के पात्रों को स्वतंत्र करना चाहते हैं ? संभवतः उनकी 'स्वतंत्रता' का विशिष्ट और प्रत्यक्ष प्रसंग और अर्थ यही है । अन्यथा वह ऐसी अवधारणा है जो मानवीय परिस्थितियों के प्रसंगों से अलग अपने आप में मूल्यवान है और ठोस प्रसंगों का स्पर्श पाते ही वह मानवीय और अमानवीय कुछ भी हो सकती है । इस प्रकार जैनंद्र जी की स्वतंत्रता का अर्थ है उपन्यास को 'देश', 'घटना' और 'इतिहास' के शिकजे से मुक्त रखना । इससे मुक्त होते ही 'संघर्ष और द्वंद्व' मानवीय स्तर पर अपना अर्थ खोने लगते हैं और उन्हें जंजाल या बवाल से अधिक महत्व नहीं मिल सकता । द्वंद्व और संघर्ष दोनों बहुत सीमित रचनात्मक आशय के लिये इस्तेमाल किए जाते हैं, वरना वास्तविक रचनात्मकता तो आत्मिक स्तर पर उनके निरसन के उपाय खोजने-पाने में है ।

यानी प्रेमचंदोत्तर उपन्यास का अंतर कथा के वर्णन विवरण और संगठन मात्र में ही नहीं बल्कि दृष्टि में भी (या अधिक ही) है जिसकी संक्षिप्त चर्चा उपयोगी होगी । उपन्यास की भूमिका मात्र ही नहीं जैनंद्र का पर्याप्त चिंतनात्मक साहित्य भी है जिसमें उनके चिंतक और रचनाकार का दृष्टिकोण स्पष्ट हुआ है । उनके चिंतन और विचार की प्रकृति भाववादी, देश-कालातीतवादी है ।

वे भागवत शक्ति^१ को संसार का कारण मानते हैं उनके अनुसार प्रेम^२ जीवन के केंद्र में है और दायित्व^३ उस रसवान प्रेमपूर्ण जीवन में कुंठा और विषमता पैदा कर सकता है । उनके

१. 'मेरी प्रतीति है कि जो भागवत शक्ति संसार को चारण कर रहती है इस चारणा में जो निरंतर उत्कर्ष और विकास की ओर बढ़ाती जा रही है वह यही परस्परकर्षण और परस्पर आलंबन की शक्ति ही है, उसी को प्रेम कहते हैं, काम उसमें अंतर्भूत है । इस भागवत शक्ति के प्रति वर्जन इत्यादि का संबंध अहंक्रुत ही हो सकता है और बूंद सागर को हंकार करने लग जाएं तो जो फल होगा वही फल उस अहंकारजन्य वर्जनशीलता का होता है'—परिप्रेक्ष्य—जैनंद्र; अपनी कैफियत नामक निबंध (ड) ।

२. 'प्रेम दायित्व नहीं है किंतु वही है जो एक को अनेक से जोड़ता है । संबंध सब वहीँ से उगते हैं उस प्रेम की अनिवार्यता को लेकर जीवन सृष्ट होता है । कह सकते हैं कि जीव का जीवन प्रेम है । इस तरह सामाजिकता व्यक्ति पर आच्छादन नहीं है उसका सहज विकास और प्रकाश है ।'—वही, पृ० ७१ ।

३. 'दायित्व कुछ ओढ़ी सी चीज है, वह, वह कर्तव्य है जिसमें रस नहीं भी है । ऐसा दायित्व भीतर कुछ दमित घी छोड़ जा सकता है उससे व्यक्तित्व विभक्त बनता है । द्वंद्व उससे

चित्तन ही नहीं उपन्यासों में भी ऐसे चित्तनात्मक प्रसंग पर्याप्त हैं। प्रेमचंद के संदर्भ में विचार करने पर लगता है कि प्रेमचंद जीवन में दायित्व को मूल्यवान् मानकर सर्जनात्मक प्रेरणा प्राप्त करते हैं और उनके समानांतर जैनेंद्र दायित्व के स्थान पर जीवन में सहज को मूल्यवान् मानकर रचनात्मक प्रेरणा पाते हैं, 'जैनेंद्र जीवन के भीतर 'स्वाभाविक' और संभावनीय को चित्रित करना चाहते हैं जिसका संबंध सामान्यतया उपयोगिता से नहीं है। उपयोगितावाले प्रसंग व्यापक चेतना को सीमित करते हैं और देशकालबद्ध होने से उनमें सत्यांश होता है और वे पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। जैनेंद्र के लिये 'समग्र सत्य' एक 'चैतन्य जगत्' है और काम की स्वीकृति से हम उस 'चेतना जगत्' की 'रोकथाम' करने लगते हैं। 'हमारे धार्मिक, नैतिक, सामाजिक आदि प्रयत्न इस तरह अनिवार्य और अमोघ के टक्कर में आ जाते हैं और जीवन की क्षति और क्षय के कारण बनते हैं।' (जैनेंद्र : परिप्रेक्ष्य, पृ० ६)। अर्थात् अनिवार्य और अमोघ 'चैतन्य जगत्' है और समस्त धार्मिक, नैतिक, सामाजिक प्रयत्न उससे टकराते हैं। यह टक्कर जीवन में मूल्य और शक्ति का स्रोत नहीं है बल्कि उस टक्कर और संघर्ष की ऋण भूमिका है।

जीवन में 'चाह' (भौतिक आकांक्षाएँ) की महत्वपूर्ण भूमिका है। 'निरोध' जीवन के विस्तार और विकास की प्रक्रिया को कुंठित करता है। इसलिये 'चाह' और 'निरोध' का परस्पर 'सहयोग' होना चाहिए (परिप्रेक्ष्य : जैनेंद्रकुमार, पृ० ६)। इस प्रकार जैनेंद्र जी 'अनिवार्य अमोघ' (जिसे परम चैतन्य कहा जा सकता है) के साथ संघर्ष तो स्वीकार करते हैं किंतु वह संघर्ष शक्ति का स्रोत न होकर क्षय का कारण है। चाह और निरोध के बीच द्वंद्व और तनाव भी वे स्वीकार करते हैं किंतु वह द्वंद्व और तनाव विषमता और कुंठा पैदा करता है इसलिये वह भी शक्ति का स्रोत नहीं है। वे सहयोग और समन्वय को जीवन में सारवान मानते हैं। सहयोग और समन्वय की दृष्टि जीवन और सिद्धांतों में व्याप्त अंतर्विरोध को उग्र नहीं होने देती और इसी कारण संघर्ष की प्रक्रिया जैनेंद्र की विचारधारा में अर्थवान् नहीं है। जीवन और समाज में व्याप्त अंतर्विरोधों को महत्व देकर और परस्पर उनके संघर्ष से निष्पन्न अर्थ छवियों का चित्रण करना एक बात है और अंतर्विरोधों की टकराहट को क्षयिष्णु मानकर उनमें परस्पर सहयोग और समन्वय करना दूसरी बात। अंतर्विरोधों की स्वीकृति दोनों में है लेकिन एक में उनका पारस्परिक संघर्ष अनिवार्य और सारवान है दूसरी में उनका सहयोग सारवान है। जैनेंद्र के लिये सार की सत्ता सहयोग में है संघर्ष में नहीं। इसी कारण उनके

निकटता तो नहीं, उल्टे कुंठा बनकर गहरे जाता है। स्पष्ट ही इससे समाज में विषमता उपजती है जो समाज के स्वास्थ्य को पनपने नहीं देती।'—वही, पृ० ७७-७८।

१. 'जो तीर की तरह अंतः तक जा लगे, बुद्धि के पटल और जाल को भेदकर मर्म में घुस जाए और हलचल उपस्थित कर दे वह,— विद्वान् चाहे कितना ही उसे पहली कहे, विद्वत्ता उसका मतलब समझने में कितनी ही अकृतकार्य रहे और वहाँ उद्देश्य का कितना ही अभाव दोखे—वह सच्ची चीज है, उपादेय है, और वह जीने और जिलाने के लिये आई है, वह कला है। अर्थ-अर्थी जगत् अपनी उद्देश्यपूर्णता की परिभाषा के घेरे में उसकी उपयोगिता को न बाँध पाए, इसमें अचरज नहीं। प्रत्युत यह तो बिल्कुल स्वाभाविक और संभवनीय है।'—परख की भूमिका, पृ० ४-५।

उपन्यासों में जहाँ संघर्ष की पर्याप्त गुंजाइश है वहाँ भी एक तनाव और द्वंद्व के बाद सहयोग स्थापित हो जाता है। यानी जैनेंद्र की औपन्यासिक संरचना प्रेमचंद के मुकाबले सहयोगी और समन्वयवादी (?) पहचान लिए हुए है। वे जीवन की संघर्षप्रधान मार्मिक परिस्थितियों में कला तत्व नहीं पाते। डा० देवराज ने लिखा—‘जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों का मार्मिक चित्रण जैनेंद्र की कला का सबल पक्ष नहीं है, वह लेखक का लक्ष्य भी नहीं है। उनकी कला का लक्ष्य है, जीवन की झलक मात्र दिखाते हुए पाठक को गहरे आत्मचिंतन में लीन करना।’ (डा० देवराज: प्रतिक्रियाएँ, पृ० ११०)। ‘जीवन की झलक मात्र दिखाते हुए’ अर्थात् जीवन को पृष्ठभूमि, अवसर या बहाना बनाकर जैनेंद्र आत्मचिंतन की समस्याओं में अपनी कलावस्तु की वास्तविक सामग्री पाते हैं। यानी प्रेमचंद ने जो जीवन की घटनाओं में पहलू, प्रसंग और अनुपात खोजकर उन्हें ठोस कला सामग्री के रूप में उपयोग किया था जैनेंद्र में वह झलक मारती हुई, अवसर या बहाना बन जाती है। इसी लिये घटनाएँ प्रसंग और अनुपात में न होकर झलक और सूचना के रूप में आती हैं। उदाहरण के लिये ‘त्यागपत्र’ में मृणाल के अनमेल विवाह की घटना एक सामाजिक समस्या की झलक तो देती है किंतु क्या उस घटना का प्रसंग ‘सुमन’ (सेवासदन) के अनमेल विवाह की घटना के प्रसंग की तरह स्पष्ट है? और क्या सुमन के जीवन में उसके बाद जितनी घटनाएँ घटती हैं वे उसके अनिवार्य परिणाम के कारण आवश्यक और आनुपातिक नहीं हैं? किंतु क्या मृणाल के जीवन में घटनेवाली घटनाएँ मृंखला के अलावा अनुपात में हैं? मृणाल का जीवन घटनाबहुल है लेकिन घटनाएँ प्रभावहीन हैं क्योंकि मृणाल परिस्थितियों और घटनाओं की निर्मिति नहीं, विचार और चिंतन की निर्मिति है। यानी घटनाएँ जैनेंद्र के उपन्यासों में सामाजिक तथ्य से अधिक सामाजिक समस्या का रूप नहीं पातीं। समस्या में प्रक्रिया निहित होती है जिससे रूपबंध निर्मित होता है।

जैनेंद्र में समस्या भंगिमाओं द्वारा प्रस्तावित होती है और उन समस्याओं के वस्तुगत स्वरूप में जितने पहलू होते हैं उनके पारस्परिक अंतःसंबंधों के रचाव में जैनेंद्र की कला का सर्वोत्कृष्ट रूप प्रतिफलित होता है। यहाँ कुछ उद्धरण प्रस्तुत करना आवश्यक होगा—

(१) ऐसी कोई तुम्हारी जबर्दस्ती है?’ (सत्यवान)

‘जबर्दस्ती नहीं तो यों ही....!’ (कट्टो) कह तो गई, पर ऐसी बड़ी बात कहकर ख्याल उसे जरूर हुआ। भला पूछो, इसकी जबर्दस्ती कैसी? उसने भी सोचा—भला सो मेरी जबर्दस्ती कैसी!

‘उसने अपनी भेदीली आँखों से ऊपर देखा। उन आँखों में कातर भाव से लिखा था : मानो तब तक हो जबर्दस्ती है, नहीं तो मैं कौन हूँ?’

×

×

×

... बड़े कड़वेपन के साथ बोली—

‘ओह मैं क्या कह गई! मैं कौन हूँ जो मेरी जबर्दस्ती हो!’—परख, पृ० २३-२४।

(२) ‘....हरी बाबू सत्या को नहीं पढ़ा सकेंगे।’ (श्रीकांत)

‘क्या!’ सुनीति ने हरी की ओर बिना देखे पूछा

‘इन्हीं से पूछो’ सुनीति ने उस ओर देखा।

हरि जाने क्या होने लगा। सुनीता के अधिकार भाव में जैसे ऐसी निःशंकता है कि उसमें आपत्ति उठाने की जगह हरि के लिये भी नहीं है। ‘मैं चाहती हूँ तब भी यह न होगा?’

क्यों जी, अब भी तुम कह सकते हो, 'न होगा ?' अब जरा कहिए तो कि 'न होगा !' यह कहती हुई उन आँखों की ओर देखकर हरि जाने क्या होता गया । उसने कहा 'भाभी, मैंने इनकार तो नहीं किया ।'—सुनीता, पृ० ७४ ।

इन दोनों उद्धरणों में भंगिमा उभरी हुई है और समस्या को प्रस्तावित करती है । कट्टो विधवा है और प्रेम (?) करती है; सुनीता विवाहित है लेकिन कहीं न कहीं हरि के प्रति उसमें अभिमुखता है ।

कट्टो का प्रेम और सुनीता की अभिमुखता दोनों के वास्तविक वस्तुगत कारण हैं किंतु सामाजिक नैतिक परंपरा की दृष्टि से दोनों में अनीचित्य है । दोनों प्रसंग प्रबल हैं । भंगिमा (चाहे आँखों की या शब्द स्वर की) इन दोनों प्रसंगों को तान देती है । वस्तुगत कारणों से उचित और परंपरागत कारणों से अनुचित के तनाव का एक मनोविज्ञान उभर आता है । यह एक ठोस परिस्थिति है जिसके परंपरागत और नवीन, सामाजिक और व्यक्तिगत, वस्तुगत और आत्मगत, कई पक्ष हैं । यह जटिलता जितनी आंतरिक कारणों से है उतनी ही बाह्य कारणों से । यह जटिलता सामाजिक विकास में निहित विविध शक्तियों के संघात से एक ऐसा मनो-विज्ञान पैदा करती है जो ऐतिहासिक सार वस्तु को धारण करती है और संभावनागर्भ होती है । उसमें से कितने जटिल जाले निकल सकते हैं कहा नहीं जा सकता । मकड़ी के जाले झाड़ती हुई सुनीता सोचती है 'ये मकड़ियाँ इतनी जाने कहाँ से पैदा होकर आ जाती हैं ?' और जरा सी तो होती हैं, जाने इतना सारा जाला अपने पेट से कहाँ से निकाल लाती हैं । मारना उसे असह्य था, पर जैसे वह मकड़ी अपनी घिनीनी टाँगों से उसके कलेजे पर से भागी जा रही हो, इस भाँति न मारना और भी असह्य था ।' (सुनीता, पृ० २७) । ऐसे मानसिक जाले ही जैनेंद्र की शक्ति हैं जो प्रेमचंद में नहीं मिलते । जहाँ तक इन जालों का वस्तुगत आधार है वहाँ तक जैनेंद्र के उपन्यासों में 'कथानक' बनता है । (कथानक के लिये घटना आवश्यक नहीं, वस्तुगत ठोस प्रसंग आवश्यक है वे चाहे घटना से, भंगिमा से या भाषिक व्यंजना से किसी से भी पैदा हों) । प्रेमचंद से आगे जैनेंद्र की यह बहुत बड़ी देन है कि वे भंगिमा और भाषिक व्यंजना से कथानक के उभरने का अहसास कराते हैं । इस प्रकार भंगिमा और भाषा (जिसका आधार मनोवैज्ञानिक है) सबसे अधिक संगठनात्मक और संरचनात्मक आशय को जैनेंद्र के उपन्यासों में चरितार्थ करनेवाले उपकरण हैं ।

चाहे कोई मनोवैज्ञानिक धाव हो या दार्शनिक प्रश्न, जैनेंद्र ने विशिष्ट भंगिमा में ही उसे चित्रित किया है । 'उनके उपन्यासों में कम से कम एक पात्र अवश्य दार्शनिक होता है, अथवा कई में थोड़ा थोड़ा दार्शनिकता का अंश मिला रहता है । उस अंश में वे पात्र अपने स्रष्टा के जिज्ञासु अथवा पुच्छाशील मस्तिष्क को पाए रहते हैं । प्रमोद कहता है—'घटनाएँ होती हैं, होकर चली जाती हैं । हम जीते हैं और जीते जीते एक रोज मर जाते हैं । जीना किस हौस से आरंभ करते हैं । पर उस जीवन के इस किनारे आते आते कैसी ऊब, कैसी उकताहट जी में भर जाती है ।' कितने सीधे पर मार्मिक उद्गार हैं । कहीं कहीं जैनेंद्र के वाक्य पेशेवर फिलासफरों को भी लजा दे सकते हैं—'सत्य अहं रूपी नहीं है और जानना सब अहं रूप है । इससे सत्य जाना नहीं जाता' और 'हमारी धारणाएँ हमारी कुठरियाँ हैं । उनमें हमारा ठिकाना है । वे हमें गर्म रखती हैं और अँधेरे में रखती हैं'—'हमारे सारे सगुण विशेषण मानो चोखटे हैं ।

जिनमें हम अपने को और औरों को जड़कर देखने के आदी हैं ।' अपनी सरल व्यंजना से पाठक को छोखा देनेवाले ऐसे उद्गार जैनैद्र में यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं और पद पद पर पाठक आश्चर्य करता है कि इतनी सीधी भाषा में ऐसी कठिन बातें कैसे कही जा सकती हैं । (डा० देवराज : प्रतिक्रियाएँ, पृ० १०४) ।

किंतु भंगिमा मनोवैज्ञानिक हो या दार्शनिक जैनैद्र उन्हें 'प्रसंग' के साथ बहुत कम चित्रित कर पाते हैं अक्सर तो उनका इस्तेमाल हाथ लगे 'अवसर' की भाँति करते हैं । इसी लिये उनके उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक अंश स्वेच्छाचारी होने लगते हैं और पूरे उपन्यास में अनुपात खो देते हैं । प्रसंग और अनुपात खो देने के बाद कथानक कैसे बन सकता है । उनके उपन्यासों में घटनाएँ यदि अस्पष्ट और दिशाहीन हैं तो पात्र भी क्रियाहीन और संकल्पहीन हैं । जैनैद्र अपने पात्रों को सुस्पष्ट व्यक्तित्व नहीं देते, न उनके सुख-दुःख को सुलझे हुए रूप में हमारे सामने रखते हैं—'सच पूछिए तो उनके पात्रों का व्यक्तित्व और उनकी समस्या ही ठीक तरह से समझ में नहीं आती ।' (नंददुलारे वाजपेयी, हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी) । इसका कारण उनका दृष्टिकोण है । उनकी रुचि तात्कालिक और सार्वकालिक जीवन प्रसंगों और अर्थों में है । किंतु इन दोनों के बीच क्रियाशील व्यावहारिक जीवन, ऐतिहासिक समय की अनिवार्यता और विधान में होता है । वह संस्थाबद्ध हुए बिना हो ही नहीं सकता । व्यक्ति और सामाजिक संस्थाओं के संबंध (वे चाहे सहयोगी या विरोधी हों) के बिना क्रियाशील और संकल्पबद्ध जीवन नहीं हो सकता । सभी संस्थाएँ 'सगुण' (जैनैद्र का ही शब्द) होने के कारण चौखटों में होती हैं । तभी तो सामाजिक विकास की नई अंतर्वस्तु धारण करने-वाला व्यक्ति, चौखटों से टकराता है और उन्हें लचीला बनाता या तोड़ कर नए चौखटे बनाता है । जैनैद्र को इन सगुण चौखटों से घबराहट होती है । किंतु मनोवैज्ञानिक तथ्यों (जिनमें बड़ी तीखी सघन तात्कालिकता होती है) और दार्शनिक विचारों को वे ही प्रसंग और अनुपात देते हैं । प्रसंग और अनुपात के बिना मनोवैज्ञानिक तथ्य और दार्शनिक विचार अपने आप में प्रभावशाली, सुंदर किंतु आधारहीन होते हैं । तभी शुद्ध सौंदर्यात्मक प्रश्न पैदा होता है । कला, व्यंजना और चित्रण की बारीकी लिए हुए कथानक से स्वतंत्र होने लगती है, और शिल्प तथा तकनीक कथानक के मातहत होकर नहीं उससे स्वतंत्र होकर अपने करतब दिखाने लगती है । जैनैद्र ने 'परख' की भूमिका में ही इस स्वतंत्रता (स्वतंत्रता की चर्चा पहले की जा चुकी है) और तकनीकी कौशल का बयान किया है—

'मैंने जगह जगह बहानी के तार की कड़ियाँ तोड़ दी हैं । वहाँ पाठकों को थोड़ा कूदना पड़ता है और मैं समझता हूँ, पाठक के लिये यह थोड़ा आयास बांछनीय होता है—अच्छा ही लगता है ।

'कहीं एक साधारण भाव को वर्णन से फुला दिया है, कहीं लंबा सा रिक्त छोड़ दिया है, कहीं बारीकी से काम लिया है, कहीं लापरवाही से; कहीं हल्की धीमी कलम से काम लिया है, कहीं तीक्ष्ण और भारती से । मैं समझता हूँ, यह सब कुछ चित्र में खूबी और असलियत लाने के लिये जरूरी हो पड़ता है । यह कम ज्यादा रंग की शोभा, रंग बिरंगेपन में अधिक स्वाद देती है ।'

जैनेंद्र ने अपने शिल्प और तकनीक के विषय में जो भी लिखा है उसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। किंतु उनका उपयोग कथानक की सापेक्षता में होना चाहिए या निरपेक्षता में ? 'कथानक' उपन्यास की 'संस्था' है; उसकी वस्तुगत सत्ता होती है जो सामाजिक विश्वास और बदलाव के साथ साथ विकसित होता या बदल जाता है। वह मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक ही नहीं सभी तरह की समस्याओं को समाहित कर सकता है किंतु वह किसी भी तरह की समस्या का अवसरवादी इस्तेमाल नहीं पचा सकता। कथानक को प्रायः घटना-शृंखला मान लिया जाता है। लेकिन कथानक कभी घटनाओं में नहीं होता; प्रेमचंद में भी नहीं है। वह जीवन की समस्याओं के विविध, सद्योगी विरोधी, प्रसंगों के आनुपातिक संगठन में होता है। प्रसंग और अनुपात ऐतिहासिक समय में घिरी और पैदा हुई जीवन की समस्याओं में निहित होते हैं जो मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक प्रश्नों को भी प्रासंगिकता और औचित्य देते हैं। हर युग की विशिष्ट समस्याओं के मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक पहलू होते हैं किंतु सार्वकालिक मनोविज्ञान और दर्शन नहीं होता, वह वस्तुगत के साथ साथ गत्यात्मक कला रूप होता है जो वस्तुगत और द्विधात्मक सामाजिक वास्तविकता का प्रतिबिंब होता है। यहाँ जैनेंद्र से प्रेमचंद के उपन्यासों की तरह के कथानक की माँग नहीं की जा रही है; माँग की जा रही है उस तरह के कथानक की जो जैनेंद्र के उपन्यासों में निहित मनोवैज्ञानिक (खास कर) और दार्शनिक समस्याओं से उभर सकता है। किंतु यह तभी संभव है जब रचनाकार अपने युग की मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक समस्याओं से रचनात्मक और क्रियाशील स्तर पर उलझते हुए पूर्णतः संपृक्त लोगों पर भरोसा करे। उन्हें मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक तथ्य न माने बल्कि उनमें मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक समस्याओं से टकरानेवाली प्रक्रिया को अभिव्यक्त होता हुआ पाए। इस प्रक्रिया के बीच और सापेक्षता में बौद्धिक और दार्शनिक चिंतन भी अक्सर ही 'कथानक' को गहरे और सूक्ष्म मानवीय स्पर्दनों, गतियों तथा अर्थ छवियों से समृद्ध करता है। यह सापेक्षता ही जैनेंद्र के उपन्यासों में अनुपस्थित है। 'असली जीवन में चिंतन काफी हद तक (वासनामूलक पक्षपातों को यौक्तिक सिद्ध करने) का रूप होता है। किंतु जैनेंद्र के पात्र अक्सर असली दार्शनिकों की भाँति निरपेक्ष ढंग से सोचते हैं।' (डा० देवराज, प्रतिक्रियाएँ, पृ० १०७)। इसी कारण वे जीवन के प्रति एक निष्क्रिय, विरागी और निःसहाय दृष्टिकोण प्रस्तावित करते हैं जो तत्त्ववादी आत्म साक्षात्कार के द्वारा संघर्ष के निरसन में अर्थवान् होता है। यानी संघर्ष अनिवार्य किंतु बाँझ क्रिया है जिसके निरसन में ही संभावना हो सकती है। संघर्ष, रचनात्मक संगठन का सजीव और सक्रिय आधार न होकर रचनात्मक आशयों को तोड़नेवाली क्रिया है। इसलिये भरसक संघर्ष के अवसरों को बचाकर समाज जैसा है (मानवीय या अमानवीय) उसको मंगलाकांक्षा की जाए। प्रमोद, मृणाल को अपने विवाह में बुलाना चाहता है लेकिन मृणाल नहीं आती—

'बुआ, सच, तुम ब्याह में भी न आओगी ?'

'कैसे आऊँगी ?'

'कैसे क्या होता है ! जाने की तरह आओगी। मैं समाज की बिल्कुल परवाह नहीं करता।'

‘तुम परवाह नहीं करो भाई, तो चल सकता है । लेकिन मैं तो ऐसा नहीं कर सकती कि परवाह न करूँ । मैं समाज को तोड़ना फोड़ना नहीं चाहती हूँ । समाज टूटा कि हम किसके भीतर बनेंगे ? या कि किसके भीतर बिगड़ेंगे ? इस लिये मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में खुद ही टूटती रहूँ ।’ (त्यागपत्र, पृ० ७१-७२)

मृणाल के आने से समाज के परंपरागत नैतिक ढाँचे से संघर्ष अनिवार्य हो जाता और निश्चय ही उस सामाजिक ढाँचे के टूटने की प्रक्रिया आरंभ हो जाती । लेकिन उस तोड़नेवाली संघर्षात्मक क्रिया में जैनेंद्र किसी संभावनात्मक नैतिक अर्थ की प्रतीति नहीं पाते । इसलिये संघर्ष किसी सर्जनात्मक और संगठनात्मक आशय को प्रतिफलित नहीं कर सकता । जैनेंद्र कब किसी पात्र, घटना या स्थिति का कैसा इस्तेमाल कर लेंगे उसकी दिशा और प्रक्रिया स्पष्ट नहीं होती; वे भाषा का खेलवाड़ी उपयोग करते हुए उसकी वस्तुगत शक्ति को खा जाते हैं और उसमें निहित वास्तविकता की जगह करामाती भाषाई जादू भर देते हैं । उनकी कथा तकनीकी कौशल तथा चतुराई से खुलती बढ़ती है और जीवन की सचाइयों के निशान और धाव बहन करनेवाली भाषा की अपेक्षा चमत्कारिक व्यंजक संकेतोंवाली भाषा से लदी रहती है ।

जैनेंद्र की कला उपन्यास के रूपबंध को तोड़ती नहीं, उससे अलग होकर कला की वास्तविक समस्या को करतब में बदल देती है, जैसे मृणाल समाज को तोड़ना नहीं चाहती, उससे अलग होकर खुद टूटती हुई मंगलाकांक्षा करती है । उनकी कला और भाषा का और उनके विचारों और भंगिमाओं का स्वतंत्र वैभव है । यह ऐसी स्वतंत्रता है जिसकी कोई कीमत उन्होंने अदा नहीं की है । जबतक ‘युग विशेष की समस्याओं’ की परतंत्रता और आघात से जकड़न और धाव नहीं धारण किया जाता तबतक किसी भी तरह की स्वतंत्रता का क्या मूल्य है ?

हिंदी उपन्यास में छायावाद की ह्लासोन्मुख प्रवृत्तियों—शक्तियों का प्रतिनिधित्व जैनेंद्र (और कविता में महादेवी) ही करते हैं ।

जैनेंद्र कुमार के उपन्यासों के साथ ही सन् १९३४ में प्रकाशित श्री भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास ‘चित्रलेखा’ को भी प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की विशिष्टता प्रस्तावित करने में एक निर्णायक तथ्य के रूप में स्वीकार किया जाता है । पाप-पुण्य, नैतिक-अनैतिक जैसी संकल्पना को विषय बनाकर यह उपन्यास लिखा गया है । इन संकल्पनाओं को गंभीर और सूक्ष्म मानकर संभवतः उपन्यास को प्रेमचंद के उपन्यासों के मुकाबले अधिक ‘गंभीर, गहरा और सूक्ष्म और मार्मिक अनुभूतियों’ से समृद्ध बनाने की आकांक्षा रही है । जीवन के अर्थ में परिस्थितियों की अपेक्षा संकल्पनाओं की भूमिका अधिक मानी गई; इस बिंदु पर जैनेंद्र और भगवतीचरण वर्मा (चित्रलेखा) एक हैं । उनमें अंतर है तो संकल्पनाओं के उपयोग में । जहाँ जैनेंद्र में आत्म-विद्यावाद है वहाँ भगवतीचरण वर्मा में भावुकतावाद । दोनों ही रोमानी रचनाकार की श्रेणी में आते हैं । जैनेंद्र यदि आत्मिक स्रोतों की खोज में परिस्थिति में निहित अंतर्विरोध और द्वंद तथा संघर्ष के सामाजिक मनोवैज्ञानिक पहलुओं को स्थगित और बेमानी सा बना देते हैं तो भगवतीचरण वर्मा जीवन में भाव महिमा के कारण परिस्थितियों में विद्यमान तीव्र संघर्षात्मक बिंदुओं को धुँधला करते हैं । यद्यपि ‘चित्रलेखा’ में परिस्थितियों के भीतर ही जीवन व्यवहारों और जीवनार्थों को चरितार्थ करने का उपक्रम किया गया है । उसकी उपक्रमणिका में ही इसकी घोषणा नहीं की गई है बल्कि समूचे उपन्यास में परिस्थितियों के भीतर

गिरते उठते पात्रों की कथा कही भी गई है। लेकिन परिस्थितियों और यथाथं घटनाओं को भावुकतावादी दृष्टिकोण से चित्रित किया गया है।

‘चित्रलेखा’ में मामिकता के नाम पर भावुक त्याग और गंभीरता के नाम पर बौद्धिक विचारविमर्श है। गंभीरता और मामिकता तब पैदा होती है जब भाव, परिस्थितियों के अनिवार्य आघात से विषम और विडंबनापूर्ण हो जाते हैं। तभी बौद्धिक विचारविमर्श के भीतर भी वास्तविकता का ताप पैदा होता है। जैनेंद्र और चित्रलेखाकार दोनों के रचनात्मक लेखन में जो बौद्धिक विचारविमर्श की अपेक्षाकृत अधिक प्रवृत्ति मिलती है उससे लगता है कि वे अपने समय की बहुत सूक्ष्म और गहरी समस्याओं से जूझ रहे हैं। लेकिन ये सूक्ष्म समस्याएँ जबतक जीवन को घेरनेवाले तमाम संदर्भों के पारस्परिक अंतःसंबंधों (यानी संगठित कथानक में) न व्यक्त हों तब तक वे रचनात्मक शक्ति की उष्णता नहीं पा सकतीं। ‘चित्रलेखा’ बौद्धिक विचारविमर्श में परिस्थितियों की वकालत करते हुए भी परिस्थिति पर भाव की विजय का आख्यान है; परिस्थितियों से निर्मित भाव की जटिलता का नहीं। चित्रलेखा और बीजगुप्त का त्याग उनके व्यक्तित्व को समृद्ध नहीं करता क्योंकि वह किसी के साथ संघर्ष में नियोजित नहीं है। उसमें आत्मदया और प्रदर्शनपरव्रता है। एक भावुक परिस्थिति में उदारता और त्याग की अपेक्षा वास्तविक स्थितियों में क्रूरता और कामुकता भी अधिक संभावनाग्रह और सर्जनात्मक होती है। क्या भोगी बीजगुप्त के उदार विराग के मुकाबले (चित्रलेखा में ही) कुमारगिरि की क्रूर कामुकता अधिक अर्थसमृद्ध नहीं है? लेकिन उस प्रसंग पर पहुँचते ही लेखक कथा में उसका अंत कर देता है क्योंकि कुमारगिरि के कामावेग में निहित अंतःसंबंधों की जटिल व्यवस्था के साथ लेखक कहानी कहना ही नहीं चाहता; वह तो जैनेंद्रीय स्वतंत्रता में भाव की कहानी कहना चाहता है जिसका उर्वर क्षेत्र बीजगुप्त में है। कुमारगिरि जैविक परिस्थितियों की गिरफ्त में है और जब ये परिस्थितियाँ उसपर सर्वाधिक घातक प्रहार करती हैं तभी उसकी कथा खत्म हो जाती है उसकी आध्यात्मिक और जैविक शक्तियों के संघर्ष की कथा तो इसके बाद आरंभ होती है और तभी सनसनी से अधिक, घटनामात्र से अधिक वह जीवन की मामिक परिस्थिति को व्यक्त कर पाती। क्या ऐसा नहीं लगता कि चित्रलेखाकार गंभीरता और मामिकता के वास्तविक स्रोतों को नहीं पहचानता? क्या वह भावों, विचारों परिस्थितियों और घटनाओं में निहित अंतर्विरोधी और नाटकीय पहलुओं को संगठित करने की अपेक्षा नाटकीय अंदाज या नाटकनुमा बनाकर नहीं चित्रित करता? क्या यह परिप्रेक्ष्य की अस्पष्टता और उलझाव के कारण नहीं है? यानी ‘व्यक्ति’ होने से पहले ही ‘मनुष्य’ और जटिल परिस्थितियों से जूझे बिना ‘मामिकता’ की धारणाएँ लेखक के पास हैं जिन्हें वह चरितार्थ करना चाहता है; परिस्थितियाँ तो बहाना भर हैं।

जहाँ जैनेंद्र आत्मसाक्षात्कार से परिस्थितियों में निहित अर्थ को स्पष्ट कर देते हैं वहाँ चित्रलेखाकार भावसाक्षात्कार से। दोनों ही मनुष्य की तात्त्विक सत्ता (आत्म अथवा भाव) में विश्वास करने लगते हैं और उसी के सहारे जीवन की सार्थकता का उद्घाटन करते हैं। ‘आत्मरूप’ या ‘भावरूप’ मनुष्य आधुनिक चिंतन का मुख्य बिंदु नहीं है। ऐतिहासिक क्रम में विकसित सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक (भी) परिस्थितियों में अपनी भूमिका तय करनेवाला मनुष्य, जो अनेक जटिल संबंधों का संघात है—आधुनिक चिंतन का केंद्रीय

विषय है। इसमें परिस्थितियों के भीतर से मानवीय सार की उद्भावना होती चलती है और उस सार के संबंध में मानसिकता और भाव प्रवृत्तियाँ विकसित और अर्थवान् होती चलती हैं। इस प्रकार 'मनुष्य' तात्त्विक सत्ता से अधिक एक 'गत्यात्मक' सत्ता हो जाता है, जिसकी सार्थकता परिवर्तनों में बने रहने में नहीं, परिवर्तनों से बनते रहने और परिवर्तन के लिये परिस्थितियों से टकराते रहने में है। यानी मानव चेतना के तात्त्विक स्वरूप की अपेक्षा चेतना के तात्कालिक तथ्य जीवन की समझ और व्याख्या के नए परिप्रेक्ष्य प्रस्तावित करते हैं, उन्हीं से कथानक के संगठन और संरचना के उपादान उभरते हैं, जो त्यागपत्र की तरह चित्रलेखा में भी अनुपस्थित हैं।

इस पूरे ऐतिहासिक दौर में प्रेमचंद ने ही सिर्फ उपन्यास के रूपबंध संबंधी समस्याओं का सामना करने का प्रमाण दिया है; शेष सभी तकनीक की समस्याओं को अहमियत देकर, कला के विषय में स्वतंत्र दृष्टिकोण प्रस्तावित करते हैं। इस स्वतंत्र दृष्टिकोण में कला और जीवन का फासला बढ़ता है। कला की सौंदर्यात्मक समस्याओं का सामना जीवन समस्याओं के प्रसंग में न करके कला के स्वायत्त नियमों के प्रसंग में किया जाने लगता है और जीवन तथा कला के पारस्परिक संबंध का विवेक एक दुष्ट तर्क जाल में फँस जाता है। आज भी इस समस्या को ठीक ठीक पहचानने का वास्तविक परिप्रेक्ष्य प्रेमचंद के उपन्यास ही प्रस्तावित करते हैं।

अनूदित उपन्यास

(संवत् १८७५-१८८५ वि०)

शांतिस्वरूप गुप्त

हिंदी के आधुनिक कथा साहित्य के विकास में अनूदित उपन्यास—कहानी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। हिंदी उपन्यास के आरंभ काल में अंग्रेजी और बंगला से अनूदित उपन्यास पढ़कर ही पाठकों के हृदय में उपन्यास साहित्य के प्रति रुचि जाग्रत हुई। जनता की उपन्यास संबंधी माँग पूरा करने तथा स्वयं भी अनूदित उपन्यासों से प्रेरणा पाकर हिंदी लेखक साहित्य की इस नवीन विधा की ओर उन्मुख हुए। अंग्रेजी साहित्य के परिचय के परिणामस्वरूप उत्तर में बंगला तथा पश्चिम में मराठी उपन्यास साहित्य लगभग एक साथ ही उद्भूत हुआ, परंतु भौगोलिक निकटता, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारणों से हिंदी का परिचय मराठी-गुजराती अथवा अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा बंगला उपन्यास से पहले हुआ। फलतः आरंभ में या तो मूल अंग्रेजी उपन्यासों के अनुवाद हिंदी में किए गए अथवा अंग्रेजी उपन्यास से प्रभावित बंगला रचनाओं के अनुवाद हुए। दक्षिण भाषाओं से अनुवाद की प्रवृत्ति तो बहुत बाद में—स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जगी। अपने रिक्त उपन्यास भंडार को संपन्न बनाने के लिये अंग्रेजी और बंगला उपन्यासों के अनुवादों की जो परंपरा एक बार चल निकली, तो फिर उसकी मधुमय रससरिता में निमग्न लेखकों और पाठकों की दृष्टि अन्यत्र जाने में असमर्थ ही रही।

संवत् १९७५ तक दो प्रकार के उपन्यासों के अनुवाद अंग्रेजी, बंगला और उर्दू से हुए थे—प्रथम तो ठगी, जासूसी, ऐयारी, डकैती और हत्या से संबंधित और दूसरे पारिवारिक जीवन और उसकी विभिन्न समस्याओं को लेकर लिखे गए उपन्यास जिनमें सामान्य जनता के गार्हस्थ्य जीवन के बड़े मार्मिक एवं सच्चे चित्र हैं। प्रथम कोटि में 'ठगवृत्तांतमाला' (सं० १९४६), पुलिस वृत्तांतमाला (सं० १९४७), अमलावृत्तांतमाला (सं० १९५१) आदि आते हैं, तो दूसरी कोटि के अंतर्गत 'चतुर चंचला' (सं० १९५०), 'भानमती' (सं० १९५१), 'नए बाबू' (सं० १९५९), 'बड़ा साई' (सं० १९५७), 'देवरानी जिठानी' (सं० १९५८), 'दो बहिन' (सं० १९५९), 'तीन पतोहू' (१९६१) और 'सास पतोहू' जैसी रचनाएँ आती हैं। प्रथम वर्ग की रचनाओं में अद्भुत रम्य तत्व के साथ साथ अश्लीलता की सीमा रेखा को स्पर्श करनेवाली उद्दाम शृंगारिकता भी कहीं कहीं दिखाई देती है। उदाहरण के लिये, बंगला भाषा से अनूदित 'चित्तोर चातकी' लिया जा सकता है। यह पुस्तक चित्तोर के राजवंश की मर्यादा के विरुद्ध समक्षी गई और उसके विरुद्ध आंदोलन ने इतना उग्र रूप पकड़ा कि उसकी सब प्रतिमा गंगा में फेंक दी गई। इसी प्रकार रैनल्ड्स के 'द मिस्ट्रीज आफ द कोर्ट आफ लंदन'—के रामलाल वर्मा द्वारा अनूदित 'लंदन रहस्य' में लंदन के राज परिवारों के गुप्त भेदों, वहाँ के राजकुमारों और राजकुमारियों के गुप्त प्रणय संबंधों, व्यभिचार, षड्यंत्र तथा अन्य अनाचारों का उन्मादक वर्णन मिलता है। इस प्रकार इस युग में वासनापूर्ण और आश्चर्यप्रधान

उपन्यास ही अधिक लोकप्रिय हुए, यद्यपि गंभीर विषय पर भी एकाध उपन्यास अनूदित हुए जैसे मिसेज हैरियट बीचर स्टो के 'अंकल टाम्स केबिन' का श्री कमल द्वारा 'टाम काका की कुटिया', जिसमें गुलामों के साथ निष्ठुर व्यवहार का मार्मिक चित्रण वर दासप्रथा के विरुद्ध उत्क्रांति की भावना उत्पन्न की गई है। आगे चलकर १९१६ ई० में महावीरप्रसाद पोद्दार ने पुनः इसका अनुवाद किया जिसकी प्रशंसा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने निम्नलिखित शब्दों में की,—'इस अनुवाद को हम हिंदी साहित्य का एक रत्न समझते हैं' अनुवादक ने चंडीचरण सेन के बंगला अनुवाद 'टाम काका की कुटीर' को सामने रखकर तथा अंग्रेजी की मूल पुस्तक से कुछ सहायता लेकर अनुवाद किया था। इस काल के प्रमुख अनुवादक थे—रामलाल वर्मा, बाबू रामकृष्ण वर्मा, कातिब प्रसाद खत्री, जिन्होंने 'इला', 'प्रमिला', 'जया' और 'मधुमालती' का अनुवाद किया, बाबू गोपालराम गहमरी जिन्होंने बंगभाषा के गार्हस्थ्य जीवन एवं उसकी दिन प्रति दिन की समस्याओं—सास बहू के झगड़े, भाई भाई के बीच संघर्ष तथा संमिलित कुटुंब की अन्य समस्याओं से संबद्ध उपन्यासों के हिंदी अनुवाद प्रदान किए।

इस काल में एकाध ऐतिहासिक उपन्यास का अनुवाद भी किया गया, जैसे 'दीप निर्वाण'; इसके अनुवादक थे गाजीपुर के मुंशी उदितनारायण लाल और विषय था पृथ्वीराज का समय। दूसरा उल्लेखनीय उपन्यास है—गंगाप्रसाद गुप्त द्वारा अनूदित 'पूना में हलचल'। इन तथाकथित ऐतिहासिक उपन्यासों में भी प्रधानता वल्पना एवं प्रणय चित्रों की है; इतिहास तो गौण है। 'पूना में हलचल', में रामभोली का प्रणय ही प्रधान है तथा वातावरण जिसका ऐतिहासिक उपन्यास में बहुत महत्व है, इतिहाससंमत तो है ही नहीं, अस्वाभाविकताओं से भी पूर्ण है।

संवत् १९७५ वि० तक कुछ प्रसिद्ध बंगला उपन्यासकारों जैसे बंकिम (युगलंगुलीय, राजसिंह, राधारानी), रमेशचंद्र दत्त (राजदूत जीवन-संध्या), चंडीचरण सेन (महाराज नंदकुमार को फांसी), शरत् बाबू हारारणचंद्र रक्षित (बीरब्रतपालन), रवींद्रनाथ ठाकुर (आंख की किरकिरी) आदि के भी कतिपय उपन्यास हिंदीवालों को अनुवाद रूप में उपलब्ध हो चुके थे। इस अनुवाद कार्य में जिन लोगों का योगदान महत्वपूर्ण रहा, वे हैं—पंडित ईश्वरी-प्रसाद शर्मा और पंडित रूपनारायण पांडेय। बंगला के अतिरिक्त उर्दू, मराठी और गुजराती के भी दो एक उपन्यास हिंदी में अनूदित हुए, जैसे उर्दू से गंगाप्रसाद गुप्त का 'पूना में हलचल', मराठी से बाबू रामचंद्र वर्मा द्वारा अनूदित बा० ना० शाह का 'छत्रसाल' तथा हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा अनूदित बा० ना० शाह का ही 'सम्राट् अशोक'।

सारांश यह है कि १९७५ वि० से पूर्व हिंदी में अनूदित उपन्यासों की भरमार रही, पर सबसे अधिक अनुवाद बंगला से ही हुए। हिंदीवालों की अन्य भाषाओं के प्रति उदासीनता को लक्ष्य कर ही आधुनिक मराठी साहित्य के सुविख्यात उपन्यासकार और नाटककार मामा बरेरकर ने लिखा था, 'हिंदीवालों से मेरी एक शिकायत है। उन्हें बंगला के सिवाय किसी दूसरे प्रांत के साहित्य में दिलचस्पी नहीं है।' ^१ बंगला से प्रचुर मात्रा में अनुवाद होने पर भी हिंदी उपन्यास की भाषा, शैली और शिल्प पर जितना प्रभाव अंग्रेजी उपन्यास विशेषतः रेनल्ड्स एवं जासूसी तथा साहसिक उपन्यास और उर्दू फारसी की भाषाशैली का पड़ा, उतना बंगला

का नहीं। हाँ, हिंदी पाठकों की रुचि परिष्कृत करने का श्रेय अवश्य बंगला से अनूदित उपन्यासों को है। जासूसी, तिलस्मी, साहसपूर्ण एवं शृंगारप्रधान उपन्यास निम्न श्रेणी की जनता में ही लोकप्रिय थे, सभ्य और सुरुचिपूर्ण पाठक उनसे घृणा करते थे। ऐसे पाठकों को जब बंगला के सुरुचिपूर्ण उपन्यास अनूदित रूप में मिले, तो ऐसे ही उपन्यासों की माँग बढ़ी और मौलिक उपन्यास लेखकों को ऐसी ही रचनाएँ लिखने की प्रेरणा हुई। तिलस्मी एवं 'जासूसी उपन्यासों' में रुचि रखनेवाले पाठकों की रुचि का संस्कार हुआ, उनकी आँखें खुलीं। इस प्रकार नए पाठक बनाने और जनता की रुचि परिष्कृत करने के अतिरिक्त इन अनूदित बंगला उपन्यासों ने मौलिक उपन्यास के सामने आदर्श प्रस्तुत किया। यदि बंकिमचंद्र चटर्जी ने हमें ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का आदर्श प्रदान किया, तो शरत् और रवींद्र से हिंदी लेखकों को सामाजिक एवं राजनीतिक उपन्यास लिखने की प्रेरणा मिली।

अनूदित उपन्यासों से जहाँ हिंदी उपन्यास साहित्य को लाभ हुआ, वहाँ कुछ हानि भी हुई। बंगला के उत्कृष्ट उपन्यासों को देखकर हिंदी पाठकों को अपनी भाषा के उपन्यास हीन प्रतीत हुए। फल यह हुआ कि हिंदी में मौलिक उपन्यासकार कुछ हतोत्साहित हुए और मौलिक रचना की ओर उतने प्रवृत्त नहीं हुए जितने अनुवाद कार्य की ओर।

संवत् १९७५ वि० के बाद भी हिंदी में अनूदित उपन्यासों का क्रम चलता रहा और सबसे अधिक अनुवाद बंगला भाषा के उपन्यासों के ही हुए। कोई भी साहित्यिक धारा यकायक समाप्त नहीं होती; उसकी गति मंद स्वर पड़ने पर भी कुछ समय तक चलती रहती है। अतः जासूसी एवं चमत्कारपूर्ण उपन्यासों के अनुवाद १९७५ वि० के बाद भी होते रहे। पचकौड़ी दे का 'घटना घटाटोप', 'नील वरुना सुंदरी', नगेंद्रनाथ गुप्त का 'खून', कातिकेय चरण मुखोपाध्याय के 'कापालिक डाकू', 'चांडाल चौकड़ी', 'जासूस की डायरी', 'पिशाचिनी', 'प्रेम निकुंज' तथा प्रियानाथ मुखोपाध्याय के 'आसमानी ताश', 'टिकेंद्रजीत सिंह' इसी प्रकार के उपन्यास हैं। पचकौड़ी दे के 'शोणित तर्पण' को, जिसका अनुवाद चंद्रशेखर पाठक ने किया था, 'सन् ५७ का गदर संबंधी सत्य घटनापूर्ण सचित्र जासूसी उपन्यास कहा गया है। यद्यपि लेखक का उद्देश्य सन् १८५७ के स्वातंत्र्य संग्राम के इतिहास का संक्षिप्त दिग्दर्शन करा देना रहा है, पर जासूसी उपन्यासों जैसा कौतूहल और अद्भुत तत्व भी इसमें पाया जाता है। गोपालराम गहमरी मौलिक उपन्यासकार तो थे ही; उन्होंने बंगला से गार्हस्थ्य जीवन पर आधारित उपन्यासों का अनुवाद करने के साथ जासूसी उपन्यासों का भी अनुवाद किया। इनके द्वारा अनूदित जासूसी उपन्यासों में पचकौड़ी दे का 'मायावी' एवं नगेंद्रनाथ गुप्त का 'खून' उल्लेखनीय हैं। दूसरे उल्लेखनीय अनुवादक हैं श्री रामलाल वर्मा। इन्होंने कातिकेयचरण मुखोपाध्याय के उपन्यास का 'चांडाल चौकड़ी' और प्रियनाथ मुखोपाध्याय के उपन्यास का 'टिकेंद्रजीत सिंह' नाम से अनुवाद किया। विषय, वस्तु और भाषा शैली का अन्यान्याश्रित संबंध है। अतः इन अनूदित उपन्यासों की भाषा में कहीं कहीं चटपटापन मिलता है, फारसी-अरबी के शब्द बहुत कम दिखाई देते हैं, संस्कृत के ऐसे शब्द आए हैं जो हिंदी के परंपरागत रूप में किसी प्रकार का असामंजस्य नहीं उत्पन्न करते। कहीं कहीं मुहावरों का भी प्रयोग मिलता है।

१९७५ वि० तक अनूदित ऐतिहासिक उपन्यासों की धारा अत्यंत क्षीण रही थी। केवल

दो चार ही ऐतिहासिक उपन्यास बंगला एवं मराठी से अनूदित हुए थे, परंतु १९७५ वि० के बाद इस धारा की गति अधिक तीव्र हुई एवं जिन उपन्यासों का अनुवाद हुआ, वे भी अधिक उत्कृष्ट कोटि के थे। इस काल में जिन मूल बंगला लेखकों की कृतियों का अनुवाद हुआ वे हैं— बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, रमेशचंद्र दत्त, राखालदास बंद्योपाध्याय, हाराणचंद्र रक्षित और प्रमथनाथ चट्टोपाध्याय। रवींद्र के भी एक ऐतिहासिक उपन्यास का 'मुकुट' नाम से जनार्दन झा ने अनुवाद किया। इन्होंने राजपूत काल पर विशेषतः लिखा। बंकिम के राजसिंह का विषय (जिसका अनुवाद हिंदी में ठाकुर रामाशोष सिंह ने किया) मेवाड़ के राजसिंह और औरंगजेब का युद्ध है। राजपूतों के शौर्य पराक्रम, इनके बलिदान और त्याग, राजपूत वीरांगनाओं का जोहर और सतीत्वरक्षा के लिये प्राणदान वी उनकी मार्मिक गाथा ही इसमें चित्रित की गई है। इसी प्रकार लक्ष्मीनारायण 'सरोज' द्वारा अनूदित 'दुर्गेशनंदनी' में देश के लिये मर मिटनेवाली राजपूत बाला का प्रशस्तिगान गाया गया है एवं राजपूताने की गौरवगाथा गाई गई है। रमेशचंद्र दत्त के 'राजपूत जीवनसंध्या', 'माधवी कंकण' भी राजपूत काल के इतिहास पर आधारित हैं। ईश्वरीप्रसाद शर्मा द्वारा अनूदित हाराणचंद्र रक्षित के उपन्यास 'वीरव्रतपालन' एवं धर्मनंद द्वारा अनूदित प्रमथनाथ चट्टोपाध्याय के 'राजपूत काल', रामाशोष सिंह द्वारा अनूदित 'राजपूतनंदनी' का विषय भी राजपूतों आन और राजपूतों की शौर्य गाथा है। कमलाप्रसाद राय द्वारा अनूदित राखालदास बंद्योपाध्याय के 'वीर प्रतिज्ञा' में राजपूतों के अमर संकल्प और उसके लिये सर्वस्व बलिदान करने की गाथा प्रस्तुत की गई है। इन ऐतिहासिक उपन्यासों में पृष्ठभूमि केवल ऐतिहासिक है, उन्हें विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। ललित कल्पना और रोमांस के साथ साथ रचना को आकर्षण बनाने के लिये कहीं कहीं इन उपन्यासों में जासूसी पुट भी दिया गया है। चंडीचरण सेन के ऐतिहासिक उपन्यास 'रामेर कि एहे अयोध्या' के ब्रजचंद्र द्वारा किए गए हिंदी अनुवाद 'मानकुमारी' के वक्तव्य में स्पष्ट लिखा है, "....पर साथ ही कहीं कहीं ग्रंथ को रोचक बनाने के हेतु अपनी ओर से भी कुछ विशेष बातें जोड़ दी गई हैं।"

भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग 'गुप्त काल' पर आधारित बंगला उपन्यासों का भी अनुवाद इस काल में हुआ। राखालदास बंद्योपाध्याय का 'शशांक' उत्कृष्ट कोटि का ऐतिहासिक उपन्यास है। उसकी पृष्ठ ऐतिहासिक आधारभूमि एवं उपन्यासशिल्प देखकर ही आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे गंभीर आलोचक एवं विद्वान् ने इसका अनुवाद किया। इसमें अनेक समस्याओं के विजेता, वीर योद्धा नरेंद्रगुप्त का शौर्य, उसकी दूर दृष्टि, संगठन शक्ति एवं तेजस्वी व्यक्तित्व का चित्रण तो है ही, साथ ही तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति का परिचय देने के लिये लेखक ने बौद्धों के षड्यंत्र का भी विशद चित्रण किया है (जिसका अंकन प्रसाद के नाटकों 'अज्ञातशत्रु' आदि में भी मिलता है) कि किस प्रकार ये लोग धर्मांधता के कारण गुप्त साम्राज्य को क्षति पहुँचाने पर तुले हुए थे। लेखक ने संघारामों में होन्वाले धर्मविचार, षड्यंत्र और अनाचारों का भी भंडाफोड़ किया है। यह उपन्यास विशुद्ध ऐतिहासिक न होकर ऐतिहासिक रोमांस है, जिसमें शशांक-चित्रा और वसुमित्र-यूथिका के प्रणय प्रसंगों के चित्रण के साथ साथ यशोधवल और नृसिंहदत्त के साहसिक कृत्यों और चमत्कारपूर्ण प्रसंगों—भविष्यवाणी, शास्त्रा पर बैठ कर आकाश में उड़ना आदि का समावेश भी किया गया है। उपन्यास का अंत भी ऐतिहासिक

रोमांस की तरह करण है। चित्रा का गंगा में कूदकर आत्महत्या करने का प्रसंग हिंदी पाठकों को वृंदावनलाल वर्मा के 'विराटा की पत्नी' में कुमूद के वेतवा में प्राण विसर्जन के प्रसंग की याद दिला देता है। उनका दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास 'करुणा' भी, जिसका अनुवाद रामचंद्र वर्मा ने किया, गुप्त काल को लेकर लिखा गया है, जिसमें हूणों के आक्रमण तथा उसके कारण गुप्त साम्राज्य के क्षय का चित्र प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने बताया है कि इस पतन का कारण हूण आक्रमण के साथ साथ कुमारगुप्त की विलासिता एवं बौद्धों के पङ्क्यंत्र भी थे। अनुवाद के पीछे उद्देश्य था इतिहास का ज्ञान कराना, 'हिंदी पाठकों को इसके पढ़ने से मनो-विनोद की प्राप्ति के साथ साथ सत्य इतिहास का भी बहुत ज्ञान होगा।' उनका तीसरा ऐतिहासिक उपन्यास 'मयूरण' है जिसके अनुवादक हैं वजरंगबली गुप्त। इसमें जहाँगीर के अंतिम समय में पुर्तगालियों के प्रभाव और बंगाल की हीन दशा—लूटमार, आगजनी, धर्म-परिवर्तन आदि का बड़ा मार्मिक चित्रण है। अनुवाद स्वतंत्र है और लगता है कि हम अनुवाद नहीं, एक स्वतंत्र उपन्यास ही पढ़ रहे हैं। शाहजहाँ के समय पुर्तगालियों के प्रभाव को लेकर स्वर्णकुमारी देवी घोषाल ने भी एक उपन्यास लिखा, जिसका अनुवाद मुरारीदास अग्रवाल ने 'हुगली का इमामबाड़ा' नाम से सन् १९३६ ई० में किया।

इधर की ओर के इतिहास पर लिखे गए बंगला उपन्यासों के भी अनुवाद हिंदी में हुए। जिवाजी से संबद्ध रमेशचंद्र दत्त के उपन्यास 'महाराष्ट्र जीवनप्रभात' तथा बंगला के इतिहास पर आधारित उन्हीं का 'बंगविजेता', जिसका अनुवाद गदाधर सिंह ने किया, विशेष उल्लेखनीय हैं। चंडीचरण सेन का मृत्युंजय चौधरी द्वारा अनूदित 'महाराज नंदकुमार को फाँसी', ननीलाल बंडोपाध्याय की रचना का सावित्री देवी द्वारा 'शैल वाला' नाम से अनुवाद और चंडीचरण सेन का ही गणेश पांडेय द्वारा अनूदित 'गंगागोविंद सिंह' भी अत्यंत लोकप्रिय ऐतिहासिक उपन्यास हैं जिनमें ईस्ट इंडिया कंपनी के बंगवासियों पर अत्याचारों तथा भारतीय इतिहास की अत्यंत नृशंसतापूर्ण और लोमहर्षक घटनाओं का हृदयद्रावक चित्रण कर पाठकों के हृदय में राष्ट्रीयता एवं अंग्रेज शासकों के विरुद्ध आक्रोश की भावना उत्पन्न की गई है।

ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त बंगला के सामाजिक राजनीतिक उपन्यासों का भी हिंदी में अनुवाद हुआ। राजनीतिक पृष्ठभूमि पर लिखे उपन्यासों में बंकिम तथा रवींद्रनाथ टैगोर के उपन्यास उल्लेखनीय हैं। बंकिम के 'आनंदमठ' एवं 'द्विपक्ष' तथा रवींद्रनाथ का 'गोरा' उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के बंगाल को हमारे संमुख साकार कर देते हैं। नील की खेती करनेवाले अंग्रेज साहबों का ग्रामीणों पर अत्याचार, पुलिस के अनाचार—झूठी गवाही, झूठे मुकदमें, निरपराध या जरा से अपराधों के लिये लोगों को जेल में ठूसना, तथा देश के लिये 'बंदे मातरम्' का नारा लगाते प्राणार्पण करनेवालों एवं बंगविभाजन के विरुद्ध अभियान करनेवालों का चित्र हमें उस समय की राजनीतिक स्थिति की झलती प्रदान करते हैं। आर० पी० भास्कर ने इसी लिये 'गोरा' को नवीन चेतना का उपन्यास कहा है, 'दे आर मेनीफेस्टेशन शॉफ ए न्यू सोसियोपोलिटिकल ट्रेंड ह्विच बाज ग्रीविंग स्ट्रॉजर डे बाइ डे।' इन उपन्यासों के माध्यम से लेखकों ने राष्ट्र प्रेम का संदेश दिया है।

१. चंद्रधर शर्मा गुलेरी, करुणा, निवेदन, पृ० ६।

२. आर० पी० भास्कर, दि नाविल्स आफ् टैगोर, ५, ९६।

सामाजिक उपन्यासों की इस काल में बड़ी धूम रही। अनेक बंगला लेखकों, लेखिकाओं—शरत्, रवींद्र, चारुचंद्र बनर्जी, निरूपमा देवी, स्वर्णकुमारी देवी, सुरेंद्रमोहन भट्टाचार्य, अविनाशचंद्र दास आदि के सामाजिक उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद हुआ। अनुवादक थे ईश्वरीप्रसाद शर्मा, रामचंद्र वर्मा, घनप्रकाश अग्रवाल, रूपनारायण पांडेय, जनार्दन झा, राम-नाथलाल सुमन, प्रकाशचंद्र सेठी, मल्लिका देवी और सावित्री देवश्र। इन लोगों ने गार्हस्थ्य एवं पारिवारिक समस्याओं पर ही नहीं, समाज की अन्य समस्याओं—नारी की दयनीय स्थिति, विधवा विवाह (दुरंगी दुनिया), रुढ़िवाद, अंधविश्वास, लूआछूत, दहेज प्रथा पर भी लेखनी उठाई। यदि देवीप्रसाद द्विवेदी द्वारा अनूदित प्रभातकुमार मुखोपाध्याय के 'जीवन का मूल्य' में कन्या की दयनीय स्थिति का चित्र है और महादेव साहू द्वारा अनूदित शरत् के 'अरक्षणीया' में हिंदू समाज के विवाह संबंधी विधि विधान की घातक निष्ठुरता का चित्रण है, तो स्वर्णकुमारी देवी के उपन्यासों 'अधखिली कली' और 'टूटी कली' तथा निरूपमा देवी के 'नारी जीवन' में हिंदू समाज में स्त्रियों पर होनेवाले अत्याचारों का हृदयद्रावक चित्रण है। कुछ उपन्यासों में हिंदू नारी का आदर्श प्रस्तुत करते हुए उसके त्याग, ममता, बलिदान एवं मर्यादापालन का उदात्त चित्र प्रस्तुत किया गया है। ऐसे उपन्यासों में शिवनाथ शास्त्री के 'मेज बऊ' का 'आदर्श बहू' नाम से, के० सी० चटर्जी का 'सती गौरव', बंकू बिहारी धर का 'आदर्श चाची', निरूपमा देवी के 'अन्नपूर्णा का मंदिर' एवं 'नारी जीवन', प्रभातचंद्र मुखोपाध्याय का 'पतिव्रता विपुला', योगेंद्रनाथ चट्टोपाध्याय का 'बड़ी बहू', और योगेंद्रनाथ बसु का 'पतिव्रता' उल्लेखनीय हैं। कुछ उपन्यासों में दांपत्य जीवन की समस्याओं को चित्रित कर उनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष समाधान भी प्रस्तुत किया गया है। रवींद्र के 'घरे बाहिरे' में नारी को घर से बाहर सामाजिक कार्यों में कितना भाग लेना चाहिए, इस प्रश्न पर विचार किया गया है, तो उन्हीं के 'उजड़ा घर' में जिसका अनुवाद कमलाप्रसाद राय ने किया हिंदू कुलवधू का आदर्श बताया गया है और चेतावनी दी गई है कि दुश्चरित्र पतिपत्नी के कारण किस प्रकार सारा परिवार विनष्ट हो जाता है। शरद और रवींद्र के उपन्यासों में केवल स्थूल सामाजिक समस्याओं को ही स्पर्श नहीं किया गया, मानव मनोविज्ञान की अतल गहराई में भी उतरा गया है। जिस प्रकार रवि बाबू की 'आँख की किरकिरी' और 'गोरा' में मानसिक घात प्रतिघातों का विशद विश्लेषण है, उसी प्रकार शरत् के लगभग सभी उपन्यासों में। 'शरत् के मानव मनोविज्ञान-ज्ञान की सूक्ष्मता एवं गहराई देखकर आज भी पाठक का हृदय मुग्ध हो जाता है। साथ ही लेखक ने परंपरागत और रुढ़िगत मान्यताओं पर कठोर प्रहार कर हमारी सुषुप्त चेतना को जगाने का सफल प्रयास किया है। 'देवदास' और 'चरित्रहीन' इस दृष्टि से उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। यहाँ रवींद्रनाथ के 'पंचभूत' की चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा यद्यपि माताप्रसाद गुप्त ने 'हिंदी पुस्तक सूची' में इसे उपन्यास कहा है, पर किसी भी कसौटी पर उसे उपन्यास नहीं कहा जा सकता क्योंकि न तो इसमें कथानक ही है और न चरित्र चित्रण ही; केवल प्रतीकार्थ नामवाले पात्रों के बीच विभिन्न विषयों—गद्य और पद्य, स्त्री पुरुष का संबंध, उनका कार्य क्षेत्र, कौतूहल, सौंदर्य, काव्य का अभिप्राय आदि पर सैद्धांतिक चर्चा है। 'सुंदरता की अपेक्षा धूल सत्य है, स्नेह की अपेक्षा स्वास्थ सत्य है और प्रेम की अपेक्षा भूख सत्य है।' जैसे वाक्य हमारे

कथन को पुष्ट करते हैं ।

बंगला से हिंदी में अनुवाद करने का प्रथम कारण तो यह था कि हिंदी का अपना उपन्यास भंडार लगभग रिक्त था और उसे इस कमी को पूरा करना था । इसी लिये कहा गया है 'रिक्त-हस्ता हिंदी ने बंगला के सद्यःपूर्ण भंडार से केवल 'उपन्यास' शब्द ही ग्रहण नहीं किया, उसका बहुत सा उपकरण भी इस लघीयसी को उस महीयसी से मिली ।' चारुचंद्र बनर्जी के अनूदित उपन्यास 'बहता हुआ फूल' की भूमिका में प्रकाशक स्पष्ट लिखता है ".....तबतक हमें अन्य भाषाओं के अच्छे उपन्यासों के हिंदी रूपांतर ही से अपना भंडार भरना पड़ेगा । परंतु खेद तो यह है कि अनुवाद करनेवाले लोग आँख मूंद कर जो पाते हैं, उसी का अनुवाद कर डालते हैं । उपयोगिता की ओर ध्यान ही नहीं देते ।' दूसरे, हिंदी भाषाभाषियों का स्वभाव एवं प्रकृति भावुक होने के कारण वे बंगला की भावुकतापूर्ण कृतियों की ओर अधिक आकृष्ट हुए । महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने भी बंगला के निकृष्ट उपन्यासों के अनुवाद से क्षुब्ध होकर लिखा था 'बंगला के अच्छे उपन्यासों के दर्शन बहुत कम होते हैं, चरित्रनाशक उपन्यासों के ही अधिक' ।^१ इस काल में इसी दोष को दूर करने के लिये बंगला के उत्कृष्ट उपन्यासों की ओर अनुवादकों की दृष्टि गई और उपयोगिता की ध्यान में रख प्रकाशकों ने अविनाशचंद्र दास के 'शांति कुटीर', रवींद्र के 'आँख की किरकिरी', 'गोरा', 'घर और बाहर' (अनुवादक रघुकुल तिलक), चारुचंद्र बंधोपाध्याय के 'दुरंगी दुनियाँ' के अतिरिक्त शरत् के अनेक उपन्यासों के अनुवाद प्रकाशित कराए । अनुवादकों का उद्देश्य यह भी था कि केवल टके कमाने के लिये या केवल सस्ता मनोरंजन करने के लिये ही उपन्यास न लिखे जाएँ, हिंदी के मौलिक उपन्यासकारों को भी उनसे प्रेरणा मिले । श्री रूपनारायण पांडेय शरत् के 'दत्ता' के अनुवाद 'विजया' उपन्यास की भूमिका में लिखते हैं— ".....वे प्रायः ऐयारी, तिलिस्म और इश्क से ही संबंध रखनेवाले होते थे । उनके लेखकों और प्रकाशकों का लक्ष्य संपूर्ण रूप से टके कमाना ही होता था.....जो हिंदी के मौलिक उपन्यास लेखक हैं, वे ऐसे ही उपन्यास लिखकर हिंदी साहित्य के एक आवश्यक और उपयोगी अंग की पूर्ति करें ।"^२ उपन्यास के नए शिल्प के कारण भी बंगला उपन्यास का एकाध अनुवाद हुआ । बंगला रचना 'बारबारी' बारह लेखकों द्वारा लिखी गई थी । हिंदी में तबतक ऐसा कोई उपन्यास नहीं लिखा गया था, रूपनारायण पांडेय ने इसी शिल्पगत नवीनता से आकृष्ट हो उसका 'कमला' नाम से अनुवाद कर डाला ।

इस काल में कुछ उपन्यासों के दुबारा अनुवाद किए गए । इसका एक कारण तो यह था कि वे अत्यंत लोकप्रिय सिद्ध हुए थे और उनकी माँग इतनी अधिक थी कि व्यावसायिक दृष्टि से उनका पुनरनुवाद लाभदायक था । 'बंकिम ग्रंथमाला', 'शरत् साहित्य', 'रवींद्र साहित्य', 'सुलभ साहित्यमाला' आदि के अंतर्गत इन लेखकों की संपूर्ण कृतियों के अनुवाद इसी ध्येय से किए गए । बंकिम के 'आनंद मठ' का तीसरा अनुवाद इसलिये किया गया क्योंकि पहला दुष्प्राप्य था और दूसरे का मूल्य अधिक था । कुछ पूर्ववर्ती अनुवाद भ्रष्ट भी थे । इसी दोष को दूर करने के लिये दुबारा शुद्ध अनुवाद प्रस्तुत किए गए । 'श्रीकांत' के प्रथम पर्व की भूमिका में उसके अनुवादक हेमचंद्र मोदी लिखते हैं, 'अनुवादकर्ताओं में बहुत कम ऐसे हैं जो मूल

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी : उपन्यास रहस्य, सरस्वती, अक्तूबर, १९२२ ।

२. रूपनारायण पांडेय : विजया, वक्तव्य, पृ० ५-६ ।

लेखकों की शैली को अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न करते हैं। वे मूल के साधारण से साधारण वाक्यों को तोड़ कर दो तीन वाक्य बना देते हैं और जगह जगह अपनी ओर से बिल्कुल ही नए वाक्य और शब्द भर देते हैं और इस तरह मूल की अपेक्षा अनुवाद को सजाया कर देते हैं। बीच बीच में जहाँ भाव कुछ गंभीर होते हैं, वहाँ वे अपनी तरफ से उनकी टीका या भाष्य करने से भी नहीं चूकते। शरद बाबू जगह जगह नए साहित्यिक प्रतीकवाद (सिम्बालिज्म) के गंभीर अलंकारों का प्रयोग करते हैं, इसी प्रकार अपने मनोविज्ञान को भाषा के द्वारा, घटनाओं के द्वारा, शब्दों के हेरफेर से प्रकट करते हैं। पर अनुवादकों ने ऐसा नहीं किया।^१ एक बात इस संबंध में यह भी द्रष्टव्य है कि मूल लेखक अत्यंत उदार थे और उन्होंने निर्लभ होकर अपनी कृतियों के अनुवाद करने की अनुमति हिंदी लेखकों को दे दी। रूपनारायण पांडेय चारुचंद्र बनर्जी की इसी उदारता की ओर संवत करते हुए लिखते हैं ‘.....निस्वार्थ भाव से मुपत ही अपने सब ग्रंथों का अनुवाद करने की आज्ञा देकर अपनी उदारता का परिचय दिया है।’^२

इस काल के अनुवादकों को अपने पूर्ववर्ती अनुवादकों की त्रुटियों एवं दोषों की प्रतीति थी, अतः उनके अनुवाद अपेक्षाकृत अधिक सुसंस्कृत और शुद्ध हैं। ‘परगाछा’ के अनुवाद ‘दुरंगी दुनियाँ’ की भाषा मूल उपन्यास की भाषा से बहुत मेल खाती है। इसी प्रकार रामचंद्र शुक्ल द्वारा अनूदित ‘शशांक’ की भाषाशैली परिष्कृत एवं प्रांजल है। भाषा के स्वाभाविक प्रवाह से ऐसा नहीं लगता कि यह अनुवाद है। पर कहीं कहीं उर्दू-फारसी कथा साहित्य की भाषा शैली का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है। रमेशचंद्र दत्त के अनूदित उपन्यास ‘राजपूत जीवन-संध्या’ को निम्न पंक्तियाँ देखिए, ‘नाजो नखरे से भरी हुई नूरजहाँ मीठी हँसी हँसकर, भौं तानकर और प्रेममद छाके नयनों से अपने प्यारे की ओर देखकर बोली.....’^३ मुहावरों का प्रयोग भी खुलकर किया गया है। कलेजा ठंडा होना, टाल मटोल करना, घुघू का सा मुँह बनाना आदि मुहावरे प्रचुरमात्रा में दृष्टिगत होते हैं। अनुवादकों को उर्दू शब्दों से भी परहेज नहीं है—वगैरह, मालकिन, मर्दमानुस, बिगड़ल जैसे शब्दों का प्रयोग अनुवाद की भाषा को दिन प्रतिदिन की बोलचाल की भाषा के निकट ले आता है। रवींद्र के अनूदित उपन्यास ‘कुमुदनी’ का एक वाक्य देखिए—‘गैरहाजिर होने के कसूर पर आफिस के दरवान की आधी तनखाह काट ली गई थी।’^४ अनुवादकों ने मूल बंगला पद्य का हिंदी पद्य में अनुवाद करने की चेष्टा की है। कहीं ऊपर बंगला पद्य देकर उसके नीचे हिंदी पद्य की पंक्तियाँ दी गई हैं, जैसे रवींद्र के अनूदित उपन्यास ‘कुमुदनी’ में पहले बंगला पंक्तियाँ दी गई हैं—

मिछे करो कैनो निदे ।

ओगो बिदे श्री गोविदे ॥

और उसके नीचे हिंदी अनुवाद दिया गया है—

‘झूठी करते क्या निदा ।

अहो बिदा श्री गोविदा ॥’

१. हेमचंद्र मोदी, श्रीकांत प्रथम पर्व, वक्तव्य ।

२. रूपनारायण पांडेय, बृहत्ता हुआ फूल, वक्तव्य ।

३. राजपूत जीवनसंध्या, पृ० २५०-५१ ।

४. कुमुदनी, पृ० २०६ ।

पद्यानुवाद में व्रजभाषा का प्रयोग किया गया है—

सुधर स्याम की मधुर बांसुरी
हरी न कहूँ धरि देह
कै छाँड़ी हों हो वृंदावन
अनत बसैरों लेह

कुछ स्थलों पर बंगला पद्य का अनुवाद अच्छा नहीं बन पाया है, लगता है जैसे पद्य की पंक्तियों का भाषानुवाद मात्र कर दिया गया है। एक उदाहरण लीजिए—

भीखे में रानी दोगो क्या ?
सोना रूपा नहीं चाहिए ।
प्राण मिले तो बच जाऊँ
मान रत्न की भिक्षा माँगू ।^१

कुछ उपन्यासों के अनुवाद में बंगला पद्य की पंक्तियाँ ज्यों की त्यों रख दी गई हैं, उनका हिंदी में अनुवाद नहीं किया गया है। उदाहरण के लिये, बंकिम का 'विष वृक्ष' लिया जा सकता है। उसके पृष्ठ ३६, ६०, ६१ पर बंगला गीत ज्यों के त्यों रख दिए गए हैं। बंगला से अनूदित उपन्यासों में परिच्छेद के आरंभ में दी गई अंग्रेजी उक्तियों को या तो ज्यों का त्यों रखा गया है जैसे 'शैलवाला' में अथवा इन अंग्रेजी उक्तियों के हिंदी अनुवाद दे दिए गए हैं जैसे 'मान-कुमारी' में।

अनुवादकों ने पाद टिप्पणियों की सहायता से बंगला की संस्कृति, रहन सहन आदि से हिंदी पाठकों को परिचित कराया है। उदाहरणार्थ, 'कुम्दिनी' के २५वें पृष्ठ पर पाद टिप्पणी में बताया गया है कि वहाँ की स्त्रियाँ लोहे की एक तरह की पतली चूड़ी पहनती थीं और उसे सुहाग की निशानी समझा जाता था। इसी प्रकार पृ० २६ पर 'चालता' को एक प्रकार का खट्टा मीठा फल बताया गया है। कहीं कहीं बंगला शब्दों के बंगला रूप ही दिए गए हैं जैसे 'बऊ रानी' का प्रयोग मिलता है, न कि उसके हिंदी रूप 'बहू रानी' का। कुछ अनुवादों में बीच बीच में संस्कृतनिष्ठ पदावली का प्रयोग मिलता है। 'आनंद मठ' का यह उद्धरण देखिए, 'अप्सराओं के भूविलास से युक्त कटाक्ष ज्योति द्वारा निमित्त जो काम शर हैं, उनका अपव्यय पुष्पधन्वा मदनदेव परिणीत दंपतियों के प्रति नहीं किया करते हैं।'

इन अनूदित उपन्यासों में कौतूहल वर्णन के लिये अनेक उपायों का अवलंब लिया गया है, जैसे पात्रों का नाम कुछ देर तक छिपाना और फिर उन्हें प्रकट करना। शिल्प संबंधी एक दूसरी विशेषता जो इन अनुवादों में पाई जाती है, वह यह कि प्रत्येक परिच्छेद के आरंभ में संस्कृत, हिंदी, उर्दू, अंग्रेजी की सूक्तियाँ या पद्य पंक्तियाँ दी गई हैं। उदाहरण के लिये 'राजपूत जीवनसंध्या' में 'अभिज्ञान शाकुंतल', 'मालविकाग्निमित्र' तथा 'कादंबरी' के उद्धरण मिलते हैं; 'महाराष्ट्र जीवनप्रभात' में शेख सादी, तुलसी, भूषण और राधाकृष्ण दास की पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं और 'कपालकुंडला' में 'कॉमेडो ऑफ़ ऐरस', 'किंग लियर', 'रघुवंश', बंगला काव्य 'मेघनाद वध' और 'वोरांगना' काव्य से।

अनुवादकों ने कहीं तो मूल लेखक की आज्ञा से और कहीं अपनी इच्छानुसार मूल से

अनुवाद में परिवर्तन किए हैं। श्री रामचंद्र शुक्ल ने 'शशांक' के अनुवाद में इस प्रकार के परिवर्तन किए हैं और इनके लिये मूल लेखक की पूर्व स्वीकृति ले ली थी। मूल उपन्यास नायक शशांक की मृत्यु के कारण दुःखांत है, पर अनुवादक ने उसे सुखांत बनाने के लिये नायक को दक्षिण भेज दिया है। सैन्यभीति और मालती नामक पात्रों की अवतारणा भी अनुवादक की मौलिक रचना का प्रतिफल है। यही बात शिवसहाय चतुर्वेदी द्वारा किए गए 'मेज बऊ' के अनुवाद 'आदर्श बहू' के संबंध में सत्य है। मूल कथा दुःखांत है, पर अनुवादक ने उसे सुखांत बना दिया है। मूल से परिवर्तन का एक अन्य कारण यह भी था कि मूल में जो उपन्यास बृहत्काय थे, उन्हें ज्यों का त्यों प्रकाशित करने का साहस प्रकाशकों को न था। रुद्रनारायण अग्रवाल टालस्टाय के 'युद्ध और शांति' की भूमिका में लिखते हैं, 'अभी हिंदी में बृहद् ग्रंथों की खपत नहीं है—कम से कम टालस्टाय और ह्यूगो के ग्रंथों की खपत नहीं है। इसी लिये पुस्तक को संक्षिप्त करने का निश्चय किया।' कलेवर को छोटा करने के लिये ही अनुवादक ने मूल रचना के कतिपय प्रसंग—रूसी सैनिकों का रहन सहन, अफसरों की विलासप्रियता, लोमड़ी का शिकार, जार के दरबार का रहन सहन, पीरी के फ्रीमेसन संप्रदाय में प्रवेश करने आदि से संबंध प्रसंगों को निकाल दिया है।

इस काल के अनुवादकों ने घोषणा तो यह की है कि वे मूल रस की रक्षा करेंगे, 'हमने मूल का रस अनुवाद में भी रखने की चेष्टा की है।' मूल भावों की रक्षा में पूरी सावधानी रखी गई है।^{१३} परंतु सर्वत्र वे सफल नहीं हो पाए हैं। उन्हें स्वयं भी आत्मविश्वास नहीं है कि वे अपने इस लक्ष्य में सफल हो सके हैं। अनुवादकों ने भी अपने पूर्ववर्ती अनुवादकों की त्रुटियों की ओर संकेत किया है। महादेव साहा ने 'अरक्षणीया' की भूमिका में लिखा है—'अरक्षणीया के कई हिंदी अनुवाद हो चुके हैं। वे शब्दशः अनुवाद नहीं हैं। कुछ अनुवादकों ने अनुवाद में कितनी ही बातें अपनी ओर से जोड़ दी हैं, कहीं संक्षिप्त कर दिया है, कहीं छाया-नुवाद मात्र कर दिया है।' सारांश यह है कि हिंदी अनुवादकों ने मूलग्रंथ के भाव पर ही ध्यान दिया है, हिंदी भाषा और हिंदीभाषी समाज की प्रकृति के अनुसार रचना में थोड़ा बहुत हेरफेर करने में उन्होंने किसी संकोच का अनुभव नहीं किया है। इस पर भी कुछ अनुवादकों का अनुवाद कार्य अत्यंत उच्चकोटि का है और समकालीन विद्वानों ने उनकी भूरि भूरि प्रशंसा की है। रुपनारायण पांडेय और रुद्रनारायण अग्रवाल के अनुवादों की प्रशंसा सर्वत्र हुई। शरत् के 'शुभदा' की भूमिका में प्रवाणक का निम्न वक्तव्य देखिए, 'अनुवाद के संबंध में इतना ही यथेष्ट है कि इसे पं० रुपनारायण पांडेय ने किया है।' अन्यत्र भी उनकी प्रशंसा में कहा गया है, 'माधुरी संपादक पं० रुपनारायण पांडेय सिद्धहस्त अनुवादकर्ता गिने जाते हैं। आपके किए हुए अनुवाद 'आँख की किरकिरी' (चौखेरवाली) को स्वयं गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर ने श्रेष्ठ अनुवाद कहकर संतोष व्यक्त किया था।' इसी प्रकार रुद्रनारायण अग्रवाल की प्रशंसा

१. रुद्रनारायण अग्रवाल, युद्ध और शांति, भूमिका, पृ० १।

२. रुपनारायण पांडेय, बहता हुआ फूल, भूमिका।

३. नाथूराम प्रेमी, श्रीकांत, निवेदन।

४. महादेव साहा, अरक्षणीया, भूमिका।

५. शुभदा, निवेदन, पृ० ४।

करते हुए प्रेमचंद ने लिखा था, 'इलस्ट्रेटेड बीकली इंडिया' के भूतपूर्व संपादक, 'एडवांस' तथा 'नेशनल हेराल्ड' के सहायक संपादक.....इनसे अच्छा अनुवादक अन्यत्र न मिलेगा।' अवध उपाध्याय ने भी इनकी स्तुति में ये शब्द लिखे हैं, 'इनसे अच्छा अनुवाद करना किसी भी व्यक्ति के लिये कठिन होगा।'।

१९७५ वि० से पूर्व या तो बंगला के गार्हस्थ्य-जीवन-संबंधी उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद हुआ था अथवा ऐसे उपन्यासों का जिनमें शृंगार के निम्न कोटि के अतिरंजित चित्र तथा इतिहास की अन्वेषित दुर्दशा की गई थी। ऐसे ही उपन्यासों के कुप्रभाव के परिणाम-स्वरूप विशोरीलाल गोस्वामी ने निम्न कोटि के ऐतिहासिक उपन्यास लिखे थे, 'मैंने अपने उपन्यासों में ऐतिहासिक घटना को गौण और अपनी कल्पना को मुख्य रखा है और कहीं कहीं तो कल्पना के आगे इतिहास को दूर से ही नमस्कार भी कर दिया है।' उनके उपन्यास शुद्ध रोमांस न होकर वासना के अतिरंजित चित्र एवं कौतूहलवर्धक प्रसंग मात्र हैं। परंतु इस काल के अनूदित बंगला उपन्यासों का ऋण स्वीकार न करना कृतघ्नता होगी। उन्होंने हिंदी भाषा-भाषी जनता तथा लेखकों का रुचि-संस्कार करने में तो सहायता दी ही, हिंदी के मौलिक लेखकों का दृष्टिक्षितिज विस्तीर्ण किया—'उन्हें नए नए सामाजिक एवं राजनीतिक विषयों पर उपन्यास लिखने की प्रेरणा दी, ऐतिहासिक उपन्यास का आदर्श प्रस्तुत किया 'ऐतिहासिक उपन्यास किस ढंग से लिखना चाहिए, यह प्रसिद्ध पुरातत्वविद् श्री राखालदास बक्षोपाध्याय ने अपने 'करुणा', 'शशांक' और 'धर्मपाल' नामक उपन्यासों द्वारा अच्छी तरह दिखा दिया।'।^१ स्वदेशी आंदोलन बंगाल की उपज है, अतः उसका चित्रण बंगाल के कथा साहित्य में ही अधिक हुआ। बंग भंग के सिलसिले में ही क्रांतिकारी पार्टी का जन्म हुआ। बंगला के उपन्यासों—रवि बाबू के 'घरे बाहिरे' और शरद के 'पथेरदाबी' में उसका चित्रण है। आगे चलकर जेनेंद्र तथा यश-पाल के हिंदी उपन्यासों में भी उसकी झलक पाई जाती है, पर निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसकी प्रेरणा उन्हें बंगला उपन्यास से मिली थी। हाँ, जेनेंद्र के 'सुनीता' तथा रविबाबू के 'घरे बाहिरे' में पर्याप्त साम्य है। यहाँ तक कि सुनीता विमला की, श्रीकांत निदिलेश का, तथा हरिप्रसन्न संदीप का प्रतिरूप लगते हैं। जिस प्रकार सुनीता अपने पति के मित्र की ओर आकृष्ट होती है, उसी प्रकार 'घरे बाहिरे' में विमला संदीप के प्रभावशाली व्यक्तित्व पर मुग्ध हो पति के प्रति उदासीन हो जाती है। 'घरे बाहिरे' के उपन्यास शिल्प—अनेक पात्रों के मुख से आत्मकथा के रूप में कथानक प्रस्तुत करना—का भी बाद के हिंदी उपन्यासों पर प्रभाव पड़ा। मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी हिंदी लेखक बंगला लेखकों द्वारा दोक्षित हुए। 'बंगला उपन्यासों में नारी पात्र पुरुषों की अपेक्षा प्रधान रहे हैं, 'बंग साहित्य' में नायक तो महादेव के समान घूल में पड़े हैं और नायिकाएँ उन पर बड़े आनंद से विराज रही हैं।^२ 'दुर्गेशनंदिनी' की विमला, आनंदमठ की शांति, 'देवी चौधरानी' की नायिका इसके उदाहरण हैं। हिंदी उपन्यासों में भी उनके अनुकरण पर स्त्री पात्रों को प्रधानता दी गई है। वृंदावनलाल वर्मा के अधिकांश उपन्यास नायिकाप्रधान हैं, उनके नारी पात्र पुरुष पात्रों की अपेक्षा अधिक तेजस्वी एवं गरिमापूर्ण हैं। इसी प्रकार बंगला के चंद्रशेखर की 'उद्भात प्रेम' नामक

१. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ५१४।

२. रवींद्रनाथ, पंचभूत, पृ० २००।

भावात्मक रचना ने ब्रजनंदन सहाय को प्रभावित किया, जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने 'सौंदर्योपासक' एवं 'राधाकांत' की रचना की। जैसे 'घरे बाहिरे' में द्वंद्व है कि वैवाहिक प्रेम शुद्ध है या स्वतः स्फुरित प्रेम, इसी प्रकार जैनेंद्र के 'सुनीता' आदि उपन्यासों की नायिकाएँ भी आत्म-संघर्ष में लीन हैं। वे एक ओर हृदय के झूले पर झूलती हुई अपने प्रेमी की ओर आकृष्ट होती हैं और दूसरी ओर परंपरागत सामाजिक एवं नैतिक मर्यादाओं का बंधन उनको पति के प्रति निष्ठावान् बनाए रखना चाहता है और इस प्रकार के द्वंद्व में फँसी रहकर वे स्वयं देख पाती हैं तथा अपने पतियों के जीवन को भी अभिशप्त बना डालती हैं। शरत् की तरह जैनेंद्र ने भी पारिवारिक संबंध के जटिल आवर्त और उसके घात प्रतिघात की कहानी कही है। शरत् मानव अंतश्चेतना के उपन्यासकार थे, उन्होंने प्राचीन नैतिक मान्यताओं का खंडन किया और बताया कि देह की पवित्रता से अधिक मन की पवित्रता है तथा समाज के स्थूल बंधन टूटने चाहिए। जिसे समाज पाप कहता है, वह पाप नहीं है। जैनेंद्र की भी यही मान्यता रही है। इसी कारण जिस प्रकार आरंभ में शरत् पर यह आरोप लगाया गया कि उन्होंने पाप के मनोरम चित्र अपने उपन्यासों में अंकित किए हैं, उसी प्रकार 'सुनीता' में उसके नग्न किए जाने पर आक्षेप किया गया। जैनेंद्र के नारी पात्र भी शरत् के नारी पात्रों के सदृश वैचारिक क्रांति उत्पन्न करनेवाले हैं। शरत् की किरणमयी तथा जैनेंद्र की सुखदा में पर्याप्त साम्य है। इस प्रकार जैनेंद्र पर रवींद्र तथा शरत् दोनों का प्रभाव स्पष्ट है। सारांश यह है कि हिंदी कथा-साहित्य को उर्दू से मिली मूर्च्छना का प्रारंभिक उपचार ही बंगला से अनूदित उपन्यासों ने नहीं किया, उसके साहचर्य से हमारे कथा साहित्य को जीवन का दैनिक चित्रपट ही नहीं प्राप्त हुआ, अपितु उसने हिंदी उपन्यास को नई भावभंगी वाली औपन्यासिक शैली भी प्रदान की।

बंगला के अतिरिक्त मराठी और गुजराती के कतिपय उपन्यासों के अनुवाद भी हिंदी में हुए, यद्यपि बंगला की अपेक्षा इनकी संख्या बहुत कम थी। १९९५ वि० तक जहाँ बंगला से अनूदित उपन्यासों की संख्या सौ से भी अधिक है, वहाँ मराठी के केवल एक दर्जन और गुजराती से एक दर्जन से भी कम उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद हुआ। यही अनुपात बंगला, मराठी और गुजराती के उपन्यासकारों का है। १९७५ वि० तक केवल वा० ना० शाह के दो मराठी उपन्यासों 'सम्राट् अशोक' और 'छत्रसाल' का ही हिंदी अनुवाद क्रमशः हरिभाऊ उपाध्याय और बा० रामचंद्र वर्मा ने किया था, परंतु उसके बाद कितने ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासों के अनुवाद हिंदी में किए गए। वामन मल्हार जोशी के 'रागिणी' और 'आश्रम-हरिणी' अपनी तरह के उपन्यास हैं। 'रागिणी' में दार्शनिक वादविवाद के साथ साथ कुतूहल एवं रहस्यमय तत्त्वों की प्रधानता है, और वह अत्यंत लोकप्रिय भी हुआ।^१ 'आश्रमहरिणी', पौराणिक पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यास है जिसमें द्विपतिव सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। सैद्धांतिक वादविवाद की प्रधानता एवं स्त्री-स्वातंत्र्य संबंधी अति प्रगतिशील विचारों के कारण वह हिंदी पाठकों के बीच अधिक लोकप्रिय न हो सका। भास्कर विष्णु फड़के का 'जेबहाँ सूर्योदय होईल' नामक सामाजिक उपन्यास का गोपीवल्लभ शालिग्राम ने 'जब सूर्योदय होगा'

१. 'जिस मराठी भाषा के सुप्रसिद्ध सामाजिक उपन्यास 'रागिणी' का अनुवाद कराके हमने छापा और उसका जैसा आदर हमारे प्रेमी पाठकों और समालोचकों ने करके हमारे उत्साह को बढ़ाया.....' उषाकाल, प्रस्तावना, पृ० क।

नाम से संवत् १९८५ में अनुवाद किया। उपर्युक्त उपन्यासों के अतिरिक्त इस काल के मराठी से अनूदित प्रायः सभी उपन्यास ऐतिहासिक हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि हिंदी में सामाजिक उपन्यास तो थे, परंतु उच्च कोटि के ऐतिहासिक उपन्यासों का नितांत अभाव था। मराठी में उस समय हरिनारायण आष्टे के उत्कृष्ट ऐतिहासिक उपन्यास विद्यमान थे, जबकि हिंदी में किशोरीलाल गोस्वामी के अत्यंत हीन कोटि के ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त हिंदी ऐतिहासिक उपन्यासों का भंडार रिक्तप्राय था। उस रिक्तता को दूर करने के लिये लेखकों ने मराठी के उत्कृष्ट उपन्यासों का ही नहीं, साधारण ऐतिहासिक उपन्यासों का भी अनुवाद कर डाला। उदाहरण के लिये, नारायण सीताराम फडके का 'अल्ला हो अकबर' लीजिए। यह किसी भी कसौटी पर अच्छा उपन्यास नहीं कहा जा सकता, फिर भी इसका अनुवाद हिंदी में किया गया। दूसरा कारण यह था कि जिन ऐतिहासिक महापुरुषों—अशोक, छत्रसाल, शिवाजी, के पराक्रम एवं शौर्य की आधारशिला पर मराठी ऐतिहासिक उपन्यास का प्रासाद निर्माण किया गया था, वे हिंदी भाषा भाषियों के भी आदर्श पूज्य पुरुष और राष्ट्रीय भावना की ज्योति विकीर्ण करनेवाले प्रकाश केंद्र थे। इस काल के मराठी से हिंदी में अनुवाद करनेवालों में प्रमुख थे—ब्राह्म रामचंद्र वर्मा, हरिभाऊ उपाध्याय और लक्ष्मीधर बाजपेयी, यद्यपि जगन्नाथ शर्मा 'अग्निहोत्री' तथा ठाकुर राजबहादुर सिंह ने भी एक दो अनुवाद किए थे। रामचंद्र वर्मा ने 'छत्रसाल' के निवेदन में अपना उद्देश्य स्पष्ट बताते हुए लिखा है कि हिंदी वालों को बंगला के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के उपन्यासों से परिचित कराने के लिये उन्होंने मराठी उपन्यास का अनुवाद किया। यद्यपि भारत की अन्यान्य देशी भाषाओं में भी बहुत से अच्छे उपन्यास और दूसरे ग्रंथ हैं, पर न जाने क्यों हिंदी के लेखक उनसे बहुत ही कम लेते हैं। हिंदी सेवियों को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।^१ प्रस्तुत लेख के लेखक के पत्र के उत्तर में भी उन्होंने यही बात कही है, 'मराठी अनुवादों को ओर मैं इसलिये प्रवृत्त हुआ था कि उनमें से कुछ मुझे अच्छे जान पड़े थे। एक कारण यह भी था कि बंगला उपन्यासों के अनुवाद तो हिंदी में बहुत हो रहे थे, पर मराठी की ओर बहुत कम लोगों का ध्यान था। मैं हिंदी वालों को मराठी की ओर भी प्रवृत्त करना चाहता था।'

इन अनुवादों को पढ़ कर एक बात स्पष्ट ज्ञात होती है कि कुछ अनुवादकों ने मूल मराठी पुस्तक का हिंदी में अविकल अनुवाद नहीं किया है केवल मराठी उपन्यासों को आधार बनाकर स्वतंत्र रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। उदाहरण के लिये, पं० रामचंद्र शुक्ल 'अल्ला हो अकबर' की भूमिका में उसके अनुवाद के विषय में लिखते हैं, 'अंत में यह सूचित कर देना आवश्यक है कि प्रस्तुत पुस्तक इसी नाम की एक मराठी पुस्तक के आधार पर लिखी गई है। मराठी पुस्तक की केवल घटनाएँ और पात्रों के नाम लिए गए हैं। घटनाओं की क्रमयोजना, प्रकरण विभाग, कथनोपकथन, प्राकृतिक वर्णन इत्यादि सब लेखक महोदय की उद्भावनाएँ हैं। सारांश यह है कि साहित्यिक विन्यास सब स्वतंत्र हैं, केवल घटनावली गृहीत है। कई प्रसंग भी जैसे 'मेहरुन्निसा के लिये इम्दाद' और 'अब्दुल्ला का विनोदोत्पादक कलह' मराठी पुस्तक के अति-

१. रामचंद्र वर्मा, छत्रसाल, निवेदन, पृ० १।

रिक्त हैं।^१ इसके विपरीत कुछ अनुवादकों ने मूल मराठी उपन्यास का अविकल अनुवाद किया, हिंदी पाठकों की सुविधा के लिये केवल पात्रों के मराठी नामों के स्थान पर हिंदी नाम रख दिए गए हैं, जैसे हरिनारायण आप्टे के 'उषाकाल' के पात्र सावकया का नाम स्यामा कर दिया गया है। यही बात वामन मल्हार जोशी के 'रागिणी' उपन्यास के पात्रों के संबंध में सत्य है।

भारत की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं धार्मिक एकता के फलस्वरूप विभिन्न प्रदेशों में रहनेवाले व्यक्तियों के हृदय भी एक प्रच्छन्न संबंध सूत्र में बँधे हैं। अतः एक प्रदेश की साहित्यिक कृतियों को जब दूसरे प्रदेश में प्रवेश करने का अवसर मिलता है, तो शीघ्र ही उनका जनता में स्वागत व अभिनंदन होने लगता है। महाराष्ट्र में शिवाजी ने जो शौर्य, साहस, त्याग एवं गो ब्राह्मण प्रतिपालन का कार्य किया, उसका प्रभाव वहीं के समाज पर नहीं पड़ा, इतर प्रदेशों में भी उनके इस कृतित्व के प्रति आदर भाव जागा। अतः हरिनारायण आप्टे ने जब शिवाजी के जीवन एवं कृतित्व से संबंधित उपन्यास लिखे, तो उनके हिंदी अनुवादों का हिंदी प्रदेश में भी खूब स्वागत हुआ। इस सांस्कृतिक एवं धार्मिक एकता के अतिरिक्त हरिनारायण आप्टे के उपन्यासों में मानव स्वभाव का यथातथ्य एवं स्वाभाविक चित्रण हुआ है। अतः वे इसलिये भी लोकप्रिय हुए। इसी लिये अब तक 'उषाकाल' के तीन चार हिंदी संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। उसकी लोकप्रियता के संबंध में मराठी विद्वान् गोडबोले का कथन द्रष्टव्य है, 'उषाकाल नामक उपन्यास यद्यपि महाराष्ट्रीय पार्श्वभूमि पर चित्रित है, यद्यपि उसका ऐतिहासिक समय महाराष्ट्र के अभिमान का है, तथापि हिंदी में अनूदित होने पर वह हिंदी में भी बड़ा लोकप्रिय है।'^२

हरिनारायण आप्टे का दूसरा उपन्यास 'चाणक्य और चंद्रगुप्त' भी पर्याप्त लोकप्रिय सिद्ध हुआ। इसका प्रथम हिंदी अनुवाद लक्ष्मीधर वाजपेयी ने किया था, पर उसका साद्यंत संशोधित चतुर्थ संस्करण डा० राजबहादुर सिंह की लेखनी से तैयार कराकर राजपाल एंड संस, दिल्ली ने अगस्त १९५६ में प्रकाशित कराया है। इन्हीं के 'गड आला पण सिंह गेला' का अनुवाद 'सिंहगढ़ विजय' नाम से कृष्णकांत मालवीय के संपादकत्व में 'अभ्युदय प्रेस प्रयाग' से पहली बार संवत् १९७६ वि० में प्रकाशित हुआ और १९२८ ई० तक ही उसके तीन संस्करण निकल गए। नाथ माधव का 'बीर राजपूत' जिसका अनुवाद भी लक्ष्मीधर वाजपेयी ने किया था, हिंदी पाठकों में अत्यंत लोकप्रिय सिद्ध हुआ और दस वर्ष के भीतर उसके भी तीन संस्करण छपे। इन उपन्यासों का विषय राजपूतों का शौर्य, शिवाजी का कृतित्व आदि ही लोकप्रियता का कारण नहीं था, अपितु इन रचनाओं का शिल्प, कथा संगठन, चरित्र चित्रण, कुतूहल वर्धन की क्षमता और शैली भी आकर्षक थी, जिससे पाठक शीघ्र ही उन पर मुग्ध हो जाते थे।

कुल मिलाकर बंगला उपन्यासों की अपेक्षा मराठी उपन्यासों के अनुवाद हिंदी में कम लोकप्रिय हुए। इसके कई कारण हैं। हिंदी को उपन्यास लिखने पढ़ने की प्रेरणा बंगला से मिली। आरंभ में हिंदी भाषी जनता को बंगला से अनूदित उपन्यास ही पढ़ने को मिले और अन्य सामग्री के अभाव में वे लोकप्रिय हो गए। बंगला के अनुवादकों को पढ़ते-पढ़ते हिंदी

१. रामचंद्र शुक्ल, अल्ला हो अकबर, भूमिका, पृ० ३-४।

२. गोडबोले, मराठी कादंबरी : 'तंत्र आणि विकास', पृ० १४६।

पाठकों में एक विशिष्ट रुचि का भी निर्माण हो गया था, जो कोमलता, भावुकता, सहृदयता, कल्पनाशीलता के अधिक अनुकूल थी, अतः हिंदी पाठकों को मराठी के सिद्धांत प्रधान, बुद्धि प्रधान तार्किक जंजाल से परिपूर्ण उपन्यास रुचिकर न हुए ।

एक बात और । 'सरस्वती', 'हंस', 'वीणा', 'विशाल भारत' आदि हिंदी पत्रिकाओं को देखने से पता चलता है कि उनमें आकर्षक, रंगीन पात्रों पर बंगला के रवींद्र, शरत्, रमेशचंद्र दत्त, प्रभात कुमार मुखर्जी आदि के उपन्यासों का तो विज्ञापन लगभग प्रत्येक अंक में है, परंतु मराठी के केवल कतिपय उपन्यासों 'रागिणी', 'ब्रजघात' आदि का ही विज्ञापन है । इसका यह अभिप्राय नहीं कि हिंदी पत्रिकाओं के संपादक मराठी साहित्य से परिचित नहीं थे । 'सरस्वती' के संपादक पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा पद्मलाल पुन्नालाल बख्शी मराठी जानते थे और उन्होंने मराठी साहित्य पर आनंदराव जोशी इत्यादि लेखकों से लेख भी लिखवाए । सन् १९२७ की जनवरी मास की 'सरस्वती' में मराठी उपन्यास पर उनका लेख निकला था । सन् १९३७ के जून की 'हंस' पत्रिका के 'मुक्ता मंजूषा' नामक स्तंभ के अंतर्गत गीता साने के उपन्यास 'लतिका' का परिचय दिया गया है । परंतु जहाँ तक मराठी उपन्यासों के हिंदी अनुवाद का संबंध है, वे न तो इन पत्र पत्रिकाओं में छपे ही (कदाचित् अपने आकार के कारण क्योंकि मराठी कहानियों के अनुवाद तो छपे हैं) और न उनका विज्ञापन ही देखने को मिलता है । बीसवीं शताब्दी विज्ञापन का युग है, अतः यदि हिंदी पाठकों का ध्यान मराठी से अनूदित उपन्यासों की अल्प संख्या और विज्ञापन के अभाव में उधर की ओर कम गया तथा वे अधिक लोकप्रिय न हो पाए, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं । इन्हीं सब बातों को देख बख्शी जो ने लिखा था, ".....फिर भी लोकप्रियता की दृष्टि से बंगला के ही उपन्यास हिंदी में अग्रगण्य हैं ।"

हिंदी में सर्वप्रथम मराठी के ऐतिहासिक उपन्यासों विशेषतः बा० ना० शाह और हरि नारायण आप्टे की रचनाओं का अनुवाद हुआ । सम्राट अशोक को लेकर हिंदी में नाटक लिखे गए हैं, पर कोई उपन्यास देखने को नहीं मिला । अतः यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि बा० ना० शाह के 'सम्राट अशोक' ने हिंदी उपन्यास को प्रभावित किया । हरि नारायण आप्टे के जिन उपन्यासों का अनुवाद हिंदी में हुआ, उनके विषय हैं—शिवकाल (उषाकाल, सूर्यग्रहण), विजयनगर राज्य (ब्रजघात) एवं गुप्त काल (चाणक्य और चंद्रगुप्त) । चंद्रगुप्त पर हिंदी में दो उपन्यास मिश्रबंधु कृत 'चंद्रगुप्त मौर्य' एवं सत्यकेतु विद्यालंकार रचित 'आचार्य चाणक्य' प्रकाशित हो चुके हैं, पर प्रथम तो हिंदी लेखकों ने बौद्ध ग्रंथों, जैन ग्रंथों, कथा सरित्सागर, मुद्राराक्षस आदि को मूलाधार बनाया है और दूसरे उनके विवरणों एवं ऐतिहासिक बातावरण के चित्रण में इतना भेद है कि यह नहीं कहा जा सकता कि वे मराठी उपन्यास से प्रभावित हैं । हिंदी में बंगला लेखकों के राजपूत काल पर लिखे गए उपन्यासों 'राजपूत जीवन संघ्या', 'राजपूत नंदिनी' आदि के अनुवाद मराठी उपन्यासों से पहले ही हो चुके थे । अतः राजपूत काल पर लिखे गए हिंदी उपन्यासों पर बंगला का ही प्रभाव दृष्टिगत होता है । किशोरीलाल गोस्वामी तथा गंगाप्रसाद गुप्त के ऐतिहासिक उपन्यास इसके प्रमाण हैं । बलदेव मिश्र के इस काल को लेकर लिखे गए उपन्यास भी या तो स्वतंत्र मौलिक रचनाएँ

हैं अथवा थोड़ा बहुत बंगला उपन्यासों से प्रभावित हैं। उन पर मराठी उपन्यासों का प्रभाव नहीं है।

हिंदी के सामाजिक उपन्यास भी मराठी के 'रागिणी' या 'आश्रम हरिणी' से तनिक भी प्रभावित नहीं हुए। हिंदी में कोई ऐसा उपन्यास नहीं लिखा गया जिसमें ब्रह्म, स्त्री स्वातंत्र्य आदि पर सैद्धांतिक वाद विवाद के अनुरूप कथा के सूत्र तैयार किए गए हों अथवा उत्तरा जैसी सफेजट स्त्री का चित्रण हो।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि मराठी के ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक सभी प्रकार के उपन्यास हिंदी में अनूदित हुए, पर उनका प्रभाव हिंदी लेखकों पर अधिक नहीं पड़ा। हिंदी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने भले ही ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की अप्रत्यक्ष प्रेरणा मराठी उपन्यासों से प्राप्त की हो, पर प्रेरणा देने से अधिक श्रेय हम उन्हें नहीं दे सकते।

प्रस्तुत लेख के लेखक के प्रश्न के उत्तर में मराठी उपन्यासों के प्रसिद्ध अनुवादकर्ता सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी बाबू रामचंद्र वर्मा ने भी यही मत प्रकट करते हुए लिखा है, 'मेरी समझ में हिंदी की उपन्यास रचना पर मराठी उपन्यासों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है और फिर हिंदी में मराठी के अनुवाद हैं भी बहुत कम।'^१

मराठी से अनूदित कितने ही उपन्यासों में व्याकरण संबंधी भूलें, मराठी शब्दों एवं मुहावरों के पर्याय न मालूम होने अथवा असावधानी के कारण उन्हें ज्यों का त्यों रख देने की प्रवृत्ति, वाक्य शैथिल्य आदि दोष देखे जाते हैं। हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा अनूदित 'सम्राट अशोक' में किले की दीवार के लिये 'तट', स्वीकृति देने के लिये 'हकार दर्शाया', विफल करने के लिये 'हरताल पोतेंगे' आदि का प्रयोग; गोपीवल्लभ द्वारा अनूदित उपन्यास 'जब सूर्योदय होगा' में स्वास्थ्य विगाड़ने के लिये 'प्रकृति का अपाय करना', ऊब के लिये 'कंटाक', खतरे के लिये 'घोखा', ठाक के लिये 'चक्क' आदि प्रयोग इसके उदाहरण हैं। पर इन छोटी छोटी भूलों के अतिरिक्त अधिकांश अनुवाद सरल, प्रवाहपूर्ण एवं शुद्ध हैं।

मराठी से भी कम गुजराती उपन्यासों का अनुवाद हिंदी में हुआ। जिन गुजराती उपन्यासकारों के उपन्यासों का इस काल (१९७८-१९९५ वि०) में हिंदी में अनुवाद हुआ, वे हैं— इच्छाराम सूर्यराम देसाई का 'गंगा' जिसमें सूरत पर शिवाजी द्वारा किए गए आक्रमण का वर्णन है, इंद्र बसवाड़ा के 'शोभा' जिसमें दलितों उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गई है तथा 'घर की राह' रमणलाल बसंतलाल देसाई के सामाजिक उपन्यास 'कोकिला', 'पूणिमा', 'स्नेह यज्ञ' और 'अमर लालसा' हैं। 'कोकिला' के हिंदी अनुवादक थे गोरीशंकर ओझा। रमणलाल बसंतलाल देसाई गांधीवादी उपन्यासकार हैं। उनका दृष्टिकोण सुधारवादी है। इसी लिये 'पूणिमा' में, जिसका अनुवाद गुजराती भाषी पुरुषोत्तमलाल दवे ने किया, वेश्या समाज का सहानुभूति चित्र प्रस्तुत किया है और एक युवक को वेश्या का उद्धार करते हुए दिखलाया है; अनुवाद का उद्देश्य है अंतर्प्रातीय संस्कार विनिमय। अनुवाद यद्यपि गुजराती है, तथापि अनुवाद में कहीं कोई दोष नहीं मिलता। अनुवादों में कहीं कहीं गुजराती पद्य का अनुवाद हिंदी पद्य में दिया गया है। उदाहरण के लिये 'स्नेह यज्ञ' की निम्नलिखित गुजराती पंक्तियों

‘दुनियाँ माँ सदा बीते तेनी आ मुज बात छै
कला छे ना, ननु छे ना, रसीलुंद नहि कशुं’

का अनुवाद इस प्रकार किया गया है—

‘दुनिया में सदा बीतती बही यह मेरी बात
नहि कला, नाबिद नहीं, सरसता भी तो नहीं ।’

कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के गुजरात के मध्यकालीन इतिहास पर आधारित उपन्यास ‘पृथ्वीवल्लभ’ तथा ‘गुजरात नो नाथ’ का भी हिंदी अनुवाद हुआ। मुंशी के सामाजिक उपन्यास ‘वैरिनी वसुलाल कोनो बाँका’ का जगदीश नारायण ने ‘वैर का बदला’ नाम से अनुवाद किया है। यद्यपि १९९५ वि० के उपरांत अनुवादकों का ध्यान गुजराती साहित्य के अनुवाद की ओर अधिक गया और विशेषतः स्वतंत्रता के बाद मुंशी का संपूर्ण उपन्यास साहित्य, गोवर्धनराय त्रिपाठी, मेघाणी, धूमकेतु आदि के कई उपन्यास हिंदी में अनूदित हुए, पर १९९५ वि० से पूर्व गुजराती उपन्यास की ओर हिंदी लेखकों का ध्यान कम ही गया। बंगला तथा मराठी उपन्यासों के अनुवादकों की तरह गुजराती उपन्यासों का अनुवाद करने वालों का उद्देश्य भी हिंदी के उपन्यासमंडार को समृद्ध बनाना तथा हिंदी लेखकों को प्रेरणा देना था। हिंदी के विद्वान यह भी अनुभव करते थे कि बंगला के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं में भी पर्याप्त उत्कृष्ट कोटि का साहित्य है और उसका हिंदी में अनुवाद होना चाहिए। आगे चलकर ‘पृथ्वीवल्लभ’ के अनुवादक नागार्जुन ने इसी ओर संकेत करते हुए लिखा था, ‘...किंतु गुजराती, मराठी तथा अन्य सुंदर साहित्य रखने वाली प्रांतीय भाषाएँ अछूती ही रह गईं और यदि थोड़ा बहुत हुआ भी तो नहीं के बराबर ।’ ‘पाटन का प्रभुत्व’ के निवेदन में प्रवासीलाल वर्मा लिखते हैं, ‘हिंदी में ऐतिहासिक उपन्यासों का एक तरह से अभाव है जब कि उनके प्रेमी बहुत अधिक हैं। इन उपन्यासों से हमारा विश्वास है कि इस कमी की बहुत अंशों में पूर्ति होगी और हिंदी के लेखकों को भी इस तरह के उपन्यास लिखने की प्रेरणा मिलेगी।’ इस काल में गुजराती से हिंदी में अनुवाद करने वालों में उल्लेखनीय है—प्रवासीलाल वर्मा, प्रमोदशंकर व्यास, किशनलाल और जगदीश नारायण। बाद में श्री पद्मसिंह शर्मा ‘कमलेश’ ने मुंशी के कई उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद कर इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है।

उर्दू से भी बहुत कम उपन्यासों का अनुवाद हिंदी में हुआ। इनमें सबसे प्रसिद्ध है प्रेमचंद द्वारा अनूदित रतननाथ सरशार के ‘फिसानए आजाद’ का ‘आजाद कथा’ नाम से अनुवाद। इसके अतिरिक्त या तो ऐतिहासिक विषयों से संबंधित उपन्यासों का अनुवाद हुआ—जैसे हसन निजामी ख्वाजा के बेगमात के आँसू का श्रीराम शर्मा द्वारा ‘अश्रुपात’ नाम से, (जिसमें दिल्ली के गदर के बाद मुगलवंश की गतनाओं का वर्णन है) ‘बहादुर शाह का मुकदमा’ तथा अब्दुल हलीम साहब का ‘बदरुन्निसा की मुसीबत’ अथवा हास्य व्यंग्य मिश्रित रोचक उपन्यासों का जैसे अजीमबेग चुगताई का ब्रजबिहारीलाल कृत ‘बोलतार’। अधिकांश उपन्यास ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित होते हुए भी साहस प्रधान, अद्भुत रम्य और रोमांस तत्व से युक्त हैं। अनुवाद करने वालों में उल्लेखनीय थे प्रेमचंद, ‘विशाल भारत’ पत्र के संपादक श्रीराम शर्मा, जगन्नाथ प्रसाद और श्रीकृष्ण हसरत। अधिकांश अनुवाद छायानुवाद हैं। ‘बेगमात के आँसू’ के अनुवादक

श्रीराम शर्मा पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं, 'अनुवाद में कहीं-कहीं मूल पुस्तक की पंक्तियाँ की पंक्तियाँ छोड़ दी गई हैं।'^२

द्विवेदी युग तक हमारे साहित्य की आधुनिकता इतनी अपरिपक्व थी कि उस समय तक अंग्रेजी के प्रौढ़ विकास को ग्रहण कर लेना हमारे लिए गरिष्ठ भोजन था। अतः चाय और बिस्कुट के समान हम कुछ हल्के अंग्रेजी उपन्यासों के अनुवाद करने में ही दत्तचित्त हुए। फलतः अंग्रेजी के प्रथम संपर्क में हम उसके चटकीले रोमांस और भड़कीले जामूसी उपन्यासों की ओर ही आकृष्ट हुए और हमने उन्हीं के अनुवाद किए। अतः प्रारंभ में सर्वेटीज के 'विचित्र वीर', रेनाल्ड्स के 'नरपिशाच', 'पीतल की मूर्ति', 'लंदन रहस्य', लेगलॉफ के 'प्रेमचक्र' जैसे उपन्यासों के ही अनुवाद हुए।

कुछ अनुवाद ऐसे अंग्रेजी उपन्यासों के भी हुए जो कालिजों में पाठ्य-पुस्तक के रूप में पढ़ाये जाते थे। इनमें बुनयन के 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' का 'यात्रास्वर्णोदय' नाम से, डिफो का 'रॉबिंसन क्रूसो' जोनाथन स्विफ्ट का 'विचित्र विचरण' तथा हरविंग का 'रिपवान विकिल' उल्लेखनीय हैं। अनुवादकों में उल्लेखनीय थे—रामलाल वर्मा, हरिकृष्ण जीहर, देवकीनन्दन खत्री और राजबहादुर सिंह। १९७५ वि० के बाद हमारा ध्यान उत्कृष्ट कोटि के उपन्यासों की ओर गया और हमने प्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासकारों की कृतियों के अनुवाद किए। जॉर्ज इलियट की कृति का अनुवाद प्रेमचंद ने सं० १९७५ वि० में 'सुखदास' नाम से किया। मेरी कारेली के उपन्यासों के अनुवाद 'प्रेमिका', 'प्रतिशोध' और 'कर्मफल' नाम से प्रकाशित हुए। अनुवादक थे क्रमशः ईश्वरीप्रसाद शर्मा, बाबूराम मिश्र तथा पशुपाल वर्मा। 'थेल्मा' के 'प्रेमिका' नाम से अनुवाद के पीछे कारण यह था कि उसकी फ़िल्म बन चुकी थी और पत्र पत्रिकाओं में उसकी प्रशंसा ने लेखक को उसकी ओर आकृष्ट किया था। ये अनुवाद ज्यों के त्यों न होकर संक्षिप्त हैं और अनुवादकों ने पाद टिप्पणियों द्वारा विदेशी शब्दों को समझाने का प्रयास किया है। मेरी कारेली का 'वेण्डेटा' जिसका दो भागों में 'प्रतिशोध' नाम से बाबूराम मिश्र ने अनुवाद किया अपवाद है। सन् १९३१ में लार्ड लिटन की कृति का 'समाधि' नाम से तथा सुप्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यासकार राइडर हैगर्ड की रचना का 'रानी की अंगूठी' नाम से अनुवाद हुआ। प्रथम के अनुवादक थे गणेश पांडेय तथा दूसरे का अनुवाद ठाकुर राजबहादुर सिंह ने किया था। 'समाधि' 'लास्ट डेज ऑफ पॉम्पहाइ' का मर्मनुवाद था जिसमें प्राचीन रोम के महान् नगर 'पम्पियाई' की इतिहास प्रसिद्ध ध्वंसलीला का मार्मिक चित्रण है और बताया गया है कि रोमनों का नाश क्यों हुआ। यह संसार के बारह सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में से एक गिना जाता था और इसीलिए इसका अनुवाद हिंदी में किया गया। भारतीय परिस्थितियों पर लिखे गए अंग्रेजी उपन्यासों में टी० एफ० आडोनेल का 'व्हील्स ऑफ रिबोल्यूशन' प्रसिद्ध है। इसमें यूरोपियन अफसरों की मनोवृत्ति का पर्दाफाश किया गया है और भारतीय राजनीतिक उथल-पुथल का भी चित्रण है। इसका अनुवाद राधेक्ष्याम शर्मा ने 'क्रांति-चक्र' नाम से संवत् १९९५ में किया। जासूसी एवं साहस प्रधान उपन्यासों के अनुवाद की परंपरा भी चलती रही। एडगर वॉलेस के 'चार क्रांतिकारी', 'टार्जन की बहादुरी', 'जर्मनी का दावपेंच', सेल्मा लेजर लाफ का 'प्रेमचक्र' तथा सोनिया सेलिग का 'डकैत रमणी' इसी काल में प्रकाशित हुए।

अंग्रेजी के माध्यम से हम फ्रेंच, रशियन और इटैलियन कथा साहित्य के संपर्क में भी आए और अनुवादों द्वारा हिंदी पाठकों को उससे परिचित कराया गया। रूसी भाषा के प्रसिद्ध उपन्यास-कारों—तुर्गेनेव, टालस्टाय, ग्लादकोव, गोर्की, दस्तवस्की, प्रिम क्रोप्टकिन तथा यूजेन चिरकोव सभी के उपन्यासों के अनुवाद किए गए। तुर्गेनेव के उपन्यास 'अशया' का कृष्णानंद गुप्त ने, 'संघर्ष' का कृष्णवल्लभ द्विवेदी ने, 'क्रांतिकारी' का देवीदत्त शुक्ल ने तथा 'यौवन की आंधी' तथा 'पिता और पुत्र' का राजबहादुर सिंह ने अनुवाद किया। टालस्टाय के 'वार एंड पीस', 'रिसरैक्शन', 'अन्ना करेनिना' आदि अन्य सभी उपन्यासों के भी अनुवाद किए गए। अनुवादक थे—छविनाथ पांडेय, रुद्रनाथ अग्रवाल और ठाकुर राजबहादुर सिंह। छविनाथ पांडेय ने ही गोर्की के उपन्यासों का 'माँ का हृदय', 'शैलकश' तथा 'वे तीनों' नाम से अनुवाद किया। इनमें रूस के समाज की वास्तविक अवस्था का चित्रण तो है ही, मनोविश्लेषण भी बड़ा तलस्पर्शी है। अनुवादक ने मूल उपन्यास के रूसी नाम—इलिया, पाशका, जैरुव आदि रखे हैं और अनुवाद करने का उद्देश्य भारतीय जनता का लाभ बताया है, उन्हीं के 'बारबीरज्म ऑन ह्यूमेनिटी' का अनुवाद 'आदमी और भेड़िया' नाम से कामतानाथ श्रीवास्तव तथा योगेशगुप्त ने किया। इसमें भी मानवतावादी दृष्टि है और लेखक ने समाज की शोषक वृत्ति का चित्रण करते हुए बताया है कि आदमियों में भी भेड़िए मिलते हैं, उनसे हमें सावधान रहना चाहिए। दस्तवस्की के 'क्राइम एंड पनिश्मेंट' का ब्रजकृष्ण गुट्टू द्वारा 'पवित्र पापी' नाम से अनुवाद किया गया तो ग्लादकोव के 'शक्ति' के अनुवादक थे बलदेव दास। प्रिम क्रोप्टकिन के 'संघर्ष या सहयोग' के अनुवादक थे शोभालाल गुप्त और यूजेन चेखोव के 'बंदी' का अनुवाद किया कृष्णवल्लभ द्विवेदी ने। अधिकांश रूसी उपन्यासों का विषय था रूसी समाज का चित्रण, विशेषतः जार के समय की वहाँ की राजनीतिक सामाजिक, स्थिति, जार के अत्याचारों और उनके विरुद्ध युवक क्रांतिकारियों की विद्रोहाग्नि और उनके संघर्ष का चित्रण। तुर्गेनेव और क्रोप्टकिन की रचनाओं में नई और पुरानी पीढ़ी के संघर्ष का बड़ा विषय, मार्मिक एवं चित्रात्मक वर्णन मिलता है। टालस्टाय के 'युद्ध और शांति' में रूसी जनता की महत्वाकांक्षाओं, नैपोलियन के विरुद्ध उनके स्वदेश प्रेम और स्वाभिमान का चित्रण है, तो कुछ चिरंतन प्रश्न भी जैसे दांपत्य जीवन का आदर्श और युद्ध और शांति की समस्या भी उठाई गई है। उनके 'अन्ना-केरनीना' में स्त्री हृदय के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के साथ साथ दकियानूसी समाज की रूढ़ियों पर प्रहार किया गया है और वहाँ के तथाकथित आभिजात्य पर पंगु समाज पर चोट की गई है। उनके 'रिसरैक्शन' में, जिसका अनुवाद 'पुनर्जीवन' नाम से हुआ, रूस की निर्दयी जमींदारी प्रथा, विभिन्न अपराधों, जेलों में कैदियों की कष्ट स्थिति, वैश्यालयों आदि का चित्रण हुआ है। दस्तवस्की और गोर्की मानवता के कलाकार थे। इनके उपन्यासों के अनुवाद का कारण कुछ तो लेखकों का मानवतावादी दृष्टिकोण था और कुछ उनकी लोकप्रियता थी। 'क्राइम एंड पनिश्मेंट' के अंग्रेजी में सात संस्करण निकल चुके थे और फिर था भी वह निराला उपन्यास, अतः हिंदी में अनुवाद 'इस लिये हुआ कि यह अपने ढंग का निराला उपन्यास है। हिंदी में आज तक ऐसा उपन्यास हमारी नजर से नहीं गुजरा।'^१

इनमें से कुछ अनुवाद तो सुंदर हुए जैसे रुद्रनारायण अग्रवाल द्वारा अनूदित टालस्टाय का

‘पुनर्जीवन’ । उसकी भाषा प्रांजल है, उसमें प्रवाह है । लेखकों ने अनुवाद में रूसी नाम ही रहने दिए हैं, भारतीय नाम देने की चेष्टा नहीं की है । परंतु दो एक अनुवाद त्रुटिपूर्ण हैं और इसी लिये बाद के अनुवादकों ने पहले अनुवादों से असंतुष्ट होकर उनका दुबारा नए सिरे से अनुवाद किया । उदाहरण के लिये, गोर्की की ‘माँ’ का अनुवाद चंद्रमाल जीहरी ने किया था परंतु छविनाथ पांडेय को उससे संतोष न हुआ और उन्होंने उसका दुबारा अनुवाद कर डाला । अपने अनुवाद की भूमिका में वह लिखते हैं, ‘असंतोष का प्रथम कारण तो यह दिखाई दिया कि ‘मदर’ का जो अंग्रेजी संस्करण मेरे सामने था, वह उस हिंदी रूपांतर से नितान्त भिन्न था । यहाँ तक कि मूल परिच्छेद भी हिंदी में नहीं मिलते ।’ अंग्रेजी के कितने ही पैराग्राफ हिंदी में मिले ही नहीं । कहीं कहीं हिंदी में कितने ही वाक्य अंग्रेजी से सर्वथा भिन्न दिखलाई दिए । शायद किसी अन्य संस्करण से जीहरी ने अनुवाद किया हो । अनुवाद में प्रवाह और लालित्य में भी बड़ी भग्नता दिखाई दी—जीहरी ने अपने अनुवाद को इतना ‘लिटरेरी’ या अक्षरशः बनाने की कोशिश की है कि वह भारतीय साड़ी में लिपटी हुई एक आंग्रेज सुंदरी जैसी हो गई है—मूल लेखक के भाव भी उड़ गए हैं । अनुवाद में कितने ही शब्दों का अनुवाद ही गलत हो गया है ।’ एक अन्य अनुवाद में भी प्रथम खंड में उसके लेखक ने हिंदी या अंग्रेजी का पूरा परिच्छेद पढ़कर संपूर्ण अभिनव वाक्यावलिओं का परिच्छेद गढ़ कर रख दिया है । सारांश यह है कि आरंभ में किए गए रूसी उपन्यासों के अनुवाद संतोषजनक नहीं थे पर आगे चलकर इस दिशा में संतोषजनक कार्य हुआ ।

जिन प्रसिद्ध फ्रांसीसी उपन्यासकारों की कृतियों का अनुवाद इस काल में हुआ वे हैं—
 ड्यूमा, विक्टर ह्यूगो, अनातोले फ्रांस और मोपासां । ड्यूमा के ‘द थ्रो मस्केटियर्स’ का अनुवाद किया जयनारायण वपूर ने ‘तीन तिलंगे’ नाम से; उनके ‘द ब्लैक ट्यूलिप’ का ‘कैदी’ नाम से तथा ‘द व्हाईस नेक्लेस’ का ‘कंठहार’ नाम से । ‘बादशाह की बेटी’ का अनुवाद ऋषभचरण जैन ने किया तो ‘काला फूल’ के अनुवादक सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ थे और ‘विकल विद्रोही’ के राजबहादुर सिंह । इसके अतिरिक्त ड्यूमा के उपन्यास ‘जैसे को तैसा’ तथा ‘पड्यंत्र’ नाम से हिंदी में रूपांतरित हुए । ह्यूगो के ‘नाट्रोडेम-डो-पेरी’ का ‘पेरिस का कुबड़ा’ नाम से अनुवाद करनेवाले थे दुर्गादत्त सिंह, ‘प्रेम कहानी’ का अनुवाद किया था विनोदशंकर व्यास ने तथा ‘अभाग’ का अनुवाद रामायण प्रसाद की लेखनी द्वारा हुआ था । उनके तीन अन्य उपन्यासों का अनुवाद भी—‘नाइंटी थ्री’, का ‘बलिदान’ ‘फांसी’ और ‘अनोखा’ नाम से हुआ । ‘बलिदान’ का अनुवाद करनेवाले थे गणेशशंकर विद्यार्थी । ‘सेंटेंस टू डेथ’ के अनुवाद ‘फांसी’ में, जिसके अनुवादक थे कृष्णकुमार मुखोपाध्याय एक ऐसे युवक के विचार प्रस्तुत किए गए हैं जिसे निरपराध होते हुए भी प्राणदंड दिया गया था । लेखक और अनुवादक दोनों का उद्देश्य था उन विवेकहीन न्यायाधीशों को चेताना जिनके हाथ निरपराधों के रक्त से लाल होन रहते हैं । उनके तीसरे उपन्यास ‘द लाफिंग मैन’ के अनुवादक थे लक्ष्मण सिंह । उन्होंने ‘अनोखा’ नाम से इसका अनुवाद किया और चूंकि मूल पुस्तक बहुत बड़ी थी, अतः अनुवादक को उसे ‘संक्षेप करने का बठोर कर्म करना पड़ा ।’ फ्रांसीसी उपन्यास लेखिकाओं की ओर भी हिंदी वालों का ध्यान गया । गोपालकृष्ण कौल ने जार्ज सैंड के ‘पेठाई फांटे’ का ‘जादूगरनी’ नाम से हिंदी रूपांतर किया । इसमें फ्रांस के लोकजीवन, विशेषतः किसानों की जीवन

परिस्थितियों, रीति रिवाजों का यथार्थ वर्णन किया गया है और प्रेम, सेक्स तथा विवाह की समस्याओं पर विचार प्रकट किए गए हैं। इन फ्रेंच उपन्यासों के अनुवादक ने लिखा है, 'ह्यगो विश्व साहित्य के कवि तथा उपन्यासकार हैं। उनकी कविता और उनके उपन्यास विश्व साहित्योद्यान में अपनी सुगंध फैला रहे हैं।' मोपासां के दो उपन्यासों के अनुवाद भी इस काल में हुए। 'यौवन की भूल' के अनुवादक थे ज्ञानचंद और 'स्त्रो का हृदय' का अनुवाद किया था ज्योतिप्रसाद मिश्र ने। अनातोले फ्रांस के दो उपन्यासों—'अहंकार' और 'थाया' का भी अनुवाद इसी समय हुआ।

इन अधिकांश उपन्यासों के विषय थे—अद्भुत रोमांस, साहसिक कार्य, पड़्यंत्र, यौवन, शृंगार, प्रणय। केवल अनातोले फ्रांस के 'थाया' में पाप पुण्य की चिरंतन समस्या को उठाया गया है। इसका प्रभाव, भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' पर बताया जाता है, पर वर्मा जी ने उसे स्वयं अस्वीकार किया है। उससे प्रेरणा तो वर्मा जी ने अवश्य ली है और कथानक में भी समकक्षता मिलती है पर उसे उसका अनुकरण नहीं कहा जा सकता क्योंकि वर्मा जी ने उसे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित किया है। पात्रों का चरित्र चित्रण भी उनका मौलिक है।

फ्रांसीसी भाषा के उपन्यासों के अनुवाद की प्रेरणा हिंदी लेखकों को उनकी प्रसिद्धि के कारण मिली। अंग्रेजी के माध्यम से उन्होंने उन्हें पढ़ा और उनके कथानक तथा रचना शिल्प से इतने प्रभावित हुए कि उनका अनुवाद किए बिना न रह सके। 'द ब्लैक ट्यूलिप' के हिंदी अनुवाद 'कंदी' को भूमिका में ऋषभचरण जैन लिखते हैं, 'दिल्ली की जुवान में ड्यूमा मेरा दिलरुबा है, मैं उसका आशिक हूँ।.....' उसके तीन उपन्यासों—'ले केवालियर डे मेशन रेज' 'द ब्लैक ट्यूलिप' तथा 'द क्वींस नेकलेस' का अनुवाद कर डाला। ये अनुवाद अविकल नहीं हैं, प्रत्येक शब्द का अनुवाद नहीं किया गया है, कहीं कहीं स्वतंत्रता बर्ती गई है और प्रसंग छोड़ दिए गए हैं। उनके उपन्यासों का रचनाशिल्प इतना उत्कृष्ट था कि हिंदी अनुवादकों ने स्वीकार किया कि, 'उसके उपन्यास हिंदी के अघेड़ उपन्यासकारों को भी अभी बस बरस कलम पकड़नी सिखा सकते हैं।' जर्मनी के क्रिस्ताफ वान शिमिड के शिक्षाप्रद उपन्यास के अंग्रेजी अनुवाद 'बास्केट ऑफ द पलावर्स' का अनुवाद 'फूलों की चंगेरी' नाम से १९२९ ई० में श्रीयुत 'कृष्ण' ने किया और अनुवाद का उद्देश्य था प्रथम तो जर्मन भाषा के उपन्यासों से हिंदी पाठकों को परिचित कराना तथा दूसरे बालक बालिकाओं को शिक्षा देना, 'बालक बालिकाओं के लिए एक उपयुक्त उपन्यास की अत्यंत आवश्यक कमी की पूर्ति करेगा।' एरिक मेरिया रिमार्क नामक जर्मन लेखक की मूल पुस्तक का अनुवाद यूरोप की प्रायः सभी भाषाओं में हो चुका था। उसका अंग्रेजी अनुवाद 'आल व्हाइट ऑन द वेस्टर्न फ्रंट' नाम से प्रकाशित हुआ था और वह इतना लोकप्रिय हुआ कि अनेक संस्करणों के अतिरिक्त उस पर फिल्म भी बनी। रामचंद्र वर्मा ने मई १९३३ में उसका 'आँखों देखा महायुद्ध' नाम से अनुवाद किया जिसको पढ़कर युद्ध का भीषण रूप पाठक के संमुख सजीव हो उठता है। कुप्रिन के 'यामा द पिट' का चंद्रभाल जौहरी द्वारा 'गाड़ी वालों का कटरा' भी बहुत प्रसिद्ध हुआ।

यूरोपीय भाषाओं के उपन्यासों के अतिरिक्त एशिया की भाषाओं के उपन्यासों की ओर भी

हिंदी अनुवादकों का ध्यान गया, पर अपेक्षाकृत बहुत कम। इस काल में सर्वाधिक उल्लेखनीय उपन्यास है जापानी भाषा का 'रोमन किप' जिसका हिंदी अनुवाद हुआ 'दो घर सामने और तीन बराबर में।' इसमें जापान के पतनोन्मुखी लेखकों की स्थिति का वर्णन किया गया है, साथ ही पूंजीवादी साहित्य के ह्रास का मार्मिक चित्रण भी है। दूसरा उपन्यास है जापानी लेखक जून इचिरो टानीसाकी का 'ओ सूया कोगोशी' जिसका अनुवाद प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने 'पाप की ओर' नाम से किया। इसमें लेखक ने बताया है कि किस प्रकार मनोवैज्ञानिक कारणों से विषम परिस्थितियों में पड़ने के फलस्वरूप नायिका सूया भोलो भाली बालिका से विलासिनी बन जाती है और शिनसुकी एक हत्या के बाद दूसरी हत्या करता हुआ पशु से भी गया बीता हो जाता है।

इसका अनुवाद करने की प्रेरणा लेखक को दो कारणों से मिली। प्रथम तो इससे पूर्व हिंदी में किसी भी जापानी उपन्यास का अनुवाद नहीं हुआ था, दूसरे लेखक जापानी जीवन पद्धति तथा उनके उपन्यासों की शैली से हिंदी पाठकों को परिचित कराना चाहता था, '.....हमें विदित हो जाएगा कि उनके कथानकों की शैली कैसी है, वे किस प्रकार से, किस दृष्टिकोण से संसार की वस्तुओं को निरखते हैं।' लेखक बंगला के निम्नकोटि के उपन्यासों के अनुवाद से भी क्षुब्ध था और चाहता था कि यदि अनुवाद ही करना है, तो उत्कृष्ट उपन्यासों का हो, अतः उसने जापानी भाषा का यह उपन्यास चुना। वह जानता है कि अनुवादों से साहित्य की कमी पूरी नहीं हो सकती, पर कुछ न कुछ उन्नति तो होगी ही। 'बंग भाषा के सड़े गले उपन्यासों के अनुवाद करने की प्रथा अवश्य निंदनीय है। उससे हम अपने साहित्य की उन्नति कर सकते हैं, अपने विचार प्रवाह को विशद कर सकते हैं' किंतु साहित्य की कमी पूरी नहीं हो सकती।^२

यद्यपि लेखक ने मूल कृति की भाषा शैली का आनंद देने की चेष्टा की है, पर वह पूरी तरह सफल नहीं हो पाया है। पात्रों के नाम तक लिखने में गलती स्वयं अनुवादक ने स्वीकार की है क्योंकि वह जापानी उच्चारण से अनभिज्ञ है। कहीं कहीं भावानुवाद मात्र से काम चलाया गया है, 'जहाँ तक हो सका है, मूल का अनुवाद दिया गया है' परंतु जहाँ अनुवाद होना मुश्किल था या यथावत् अनुवाद करने से कुछ दूसरा ही आशय प्रकट होता है, वहाँ आशय ही लिखा गया है।^३

१. प्रतापनारायण श्रीवास्तव, पाप की ओर, भूमिका, पृ० ५, ६, ११।

२. वही, पृ० ५, ६, ११।

३. वही, पृ० ५, ६, ११।

प्रेमचंद-पूर्व हिंदी कहानी

सुमन मेहरोत्रा

कहानी कहना और कहानी सुनना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कहानी अपने जन्म से ही एक ऐसा सशक्त माध्यम रही है जो व्यक्ति को व्यक्ति से संबद्ध करती है तथा मानव प्रकृति में निहित अंतर्विरोधों की अभिव्यक्ति भी करती है। व्यक्ति अपने मनोभावों को दूसरों तक पहुँचाने को उत्सुक रहता है तथा दूसरे के विषय में जानने को जिज्ञासु भी रहता है। भाषा के अभाव में सर्वप्रथम मनुष्य ने संकेतों के माध्यम से अपने प्रति घटी घटनाओं या मनोरंजन को दूसरों तक पहुँचाया। इन घटनाओं का प्रारंभिक स्वरूप व्यक्ति के अनुभव को ही संप्रेषित करता है। प्रारंभ में मनुष्य ने अपने अनुभव को संकेतों, चित्रों और शब्दों द्वारा सीधे सीधे व्यक्त किया जिसका मुख्य उद्देश्य उत्सुकता और जिज्ञासा का निरूपण करना ही होता था। शनैः शनैः घटनाओं और अनुभवों को रोचक बनाने के लिये उन्हें किस्से के रूप में प्रस्तुत किया। अतः घटना और अनुभव की अभिव्यक्ति ने ही कहानी का रूप लिया। तदुपरांत अनुभव को दूसरे को सुनाने में कल्पना, व्यवहार का समावेश घटना को क्रमबद्धता में बाँधता चला गया। साथ ही उस वस्तु विशेष को भी विकसित होने का अवकाश मिला। क्रमशः वस्तु विकास में घटना, अनुभव, कल्पना और मनोरंजन के साथ साथ मनुष्य जीवन से जुड़ने वाले सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि अनेक तत्व कहानी को व्यवस्थित करने में सहायक हुए।

मनुष्य की चेतना, उसकी विचार शक्ति तथा उसकी प्रज्ञा के साथ साथ कहानी का विकास भी होता गया। अपनी प्रारंभिक अवस्था से उठकर व्यक्ति सामाजिक बना। मनुष्य ने सहयोग के आधार पर अपने जीवन को व्यवस्थित और स्थिर बनाया। अनेक संबंध बने। नए नए नैतिक, सामाजिक और धार्मिक आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई। विभिन्न कार्यों, व्यापारों और व्यवसायों का विस्तार हुआ। कहानी भी गण्य और किस्सागोई की परिधि से निकलकर आकार प्रकार में कहानी के रूप में आने लगी। आदर्शों को समझाने, उनको स्मरण रखने तथा उन आदर्शों पर जीवन को चलाने के लिये कहानी कथा के माध्यम से उपदेश देने लगी जिससे वस्तुस्थिति को समझना और समझाना सहज हो सका। व्यक्ति जीवन को उदात्त बनाने के लिये उपदेशात्मक, आदर्शवादी और उद्देश्यपूर्ण कहानियाँ रची जाने लगीं। इनकी अभिव्यक्ति को सार्थक बनाने के लिये भाषा का सशक्त साधन व्यक्ति को उपलब्ध हुआ। भाषा, कहानी के विभिन्न रूप, प्रकार और आकार को रचने में सहायक हुई। समाज में वर्ण बने, व्यवसाय के अनुरूप जातियाँ बनीं, राष्ट्र बने। राजा, सामंत, जमींदार, कारिंदे आदि मनुष्य जीवन के अनेक विभाजित अंग समाज में उत्पन्न हुए। कहानी भी अपने विकास में मनुष्य समाज की जटिलता को वहन करती चली गई। जहाँ एक ओर व्यक्ति और व्यक्ति के संबंध बनने के परिणामस्वरूप उनमें स्नेह, सौहार्द, प्रेम, करुणा, त्याग आदि सद्भावनाओं का उदय हुआ वहीं इसका एक दूसरा पक्ष भी उजागर हुआ। ईर्ष्या, द्वेष, शत्रुता, हिंसा आदि भावनाएँ भी समाज में व्यवहृत हुईं। कहानी में इन दोनों पक्षों के मध्य संघर्ष करते व्यक्ति को चित्रित किया गया।

कहानी धीरे धीरे इतनी विकसित तथा परिपक्व होती गई कि मनुष्य जीवन की सभी प्रवृत्तियों को समाहित कर लेने की क्षमता उसने अर्जित कर ली ।

कहानी की परंपरा

संपूर्ण विश्व में कहानी की परंपरा प्रारंभ में काव्यात्मक ही थी । इसका आरंभिक सिरा प्राचीन मिस्र की 'जादूगरों की कहानियों' में प्राप्त होता है । इसका समय लगभग ई० पू० ४००० है । इस प्रकार की कथाएँ अरबी, यूनानी, हीब्रू तथा भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी उपलब्ध हैं । पश्चिम में 'ईसप' और भारत में 'पंचतंत्र' की कहानियाँ विश्व भर के आकर्षण का केंद्र रही हैं । आज भी पंचतंत्र की कहानियों को बच्चों के विकास में महत्वपूर्ण माना जाता है । मध्यदेशीय प्रेम कहानियों को भी लोकप्रियता प्राप्त हुई । 'पंचतंत्र' के समान ही 'अरेबियन नाट्स' को भी विश्व व्यापी लोकप्रियता मिली है ।

कहानी लेखन को उन्नीसवीं शती में ही साहित्यिक दृष्टि से मान्यता मिली । जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका तथा रूस में लगभग एक ही समय में कहानी लेखन का उदय हुआ । जर्मनी में कहानी का उदय ई० टी० डब्ल्यू० हाफमैन की 'एक्जोटिक टेल्स' से हुआ । इनका प्रकाशन १८१४-२१ के बीच हुआ । इसी समय जान लुडविग टीक ने साहित्यिक कृत्यों से परिपूर्ण राक्षसों, परियों और देव बालकों की कहानियों की रचना की । अमेरिका में भी १८१९-२० के बीच इविंग का एक कथा संकलन प्रकाशित हुआ जिसे 'द स्केच बुक' नाम दिया गया । अमेरिका में लघु कथाओं का प्रारंभ इसी पुस्तक से माना जाता है । तदुपरांत १८३२ में अमेरिकन कहानी सिंतिज पर एडगर एलेन पो का आविर्भाव हुआ । अमेरिकी और जर्मन कथाकारों के विपरीत रूसी कहानीकारों ने सर्वप्रथम अभिजात और विशिष्ट व्यक्तियों के स्थान पर सामान्य व्यक्तियों और उनकी समस्याओं को अपनी कहानियों का विषय बनाया । दो विख्यात उपन्यासकारों अलेक्जेंडर पुश्किन और निकोलाई गोगोल द्वारा कहानी की शुरुआत हुई । इन दो कहानीकारों ने कहानी साहित्य में एक नवीन क्रांति का प्रारंभ किया । आम आदमी की व्यथा, पीड़ा, मानसिकता और चिंतन को वाणी मिली । इस प्रकार जीवन के यथार्थ रूप के चित्रण से कहानी का कलेवर बना । सन् १८३० ई० के आसपास ही फ्रांस में भी तीन कहानीकारों प्रोस्पर मेरिमो, आनार द बाल्जाक तथा थियोफ़िल गेंतियर का उदय हुआ । फ्रांसीसी लेखकों विशेष रूप से बाल्जाक ने समाज की गलित, भयानक वास्तविकताओं को चित्रित कर पाठकों के लिये कहानी को अधिक विश्वसनीय बनाया । कथ्य और शिल्प की विभिन्नता होते हुए भी इतने लोगों का एक साथ कहानी सृजन की ओर आकर्षित होना यह प्रमाणित है कि कहानी अभिव्यक्ति का एक सार्थक, उपयोगी और महत्वपूर्ण साधन बन सकती है । इसी समय औद्योगिक विकास में प्रगति तथा अनेक पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन के फलस्वरूप कहानियों की माँग बढ़ने लगी । कहानी के स्वरूप, गुण और शिल्प को लेकर सैद्धांतिक चर्चा भी होने लगी । विशिष्ट रूप से दो दृष्टियाँ कहानी में परिलक्षित होती हैं । एक में घटनाओं को महत्व दिया गया दूसरी में चरित्र निरूपण को ही कहानी की आत्मा माना गया ।

बीसवीं शताब्दी में मोपांसा ने कथानक की संक्षिप्तता, चरित्र की सूक्ष्मता और शिल्प की गहराई को कहानी के विशिष्ट तत्व माना । कथा का ह्रास विश्व के लगभग सभी कथाकारों ने स्वीकार किया । रूस में तुर्गनेव के पश्चात् चेखव ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया ।

बीसवीं शती तक पाश्चात्य साहित्य में कहानी के लिये नए क्षितिज बड़ी तीव्रता से खोज लिए गए थे, जिसका प्रभाव हिंदी कहानी पर भी पड़ा ।

हिंदी कहानी की परंपरा

कहना न होगा कि हिंदी कहानी साहित्य पाश्चात्य कथा साहित्य का ऋणी है । हिंदी कहानी का जन्म बहुत पुराना नहीं है । इसकी परंपरा अवश्य ऋग्वेद के लाक्षणिक संवादों से प्रारंभ होती है । ऋग्वेद में यम यमी, पुरूरवा उर्वशी आदि का वर्णन संवाद रूप में विद्यमान है । उपनिषदों में अनुश्रुति पौत्रायण तथा सत्यकाम जाबाला की कथाएँ संवाद रूप में मिलती हैं । आगे चलकर रामायण, महाभारत स्वयं बृहत् कथाएँ हैं और इनके अंतर्गत अनेक कथाएँ समाहित हैं । संस्कृत के उपरांत जब प्राकृत भाषा का विकास हुआ तब ऐसी अनेक कथाओं का उदय हुआ जिनमें कहानी के तत्व अधिक स्पष्ट रूप से विद्यमान थे । प्रारंभ से चली आ रही मौखिक कथाएँ सर्वप्रथम लिखित रूप में पैशाची में ही उपलब्ध होती हैं । इन कथाओं में सबसे प्राचीन गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' है । इस बृहत्कथा के अंतर्गत रामायण, महाभारत के वर्णन, राजकुमार राजकुमारियों की प्रेमकथाएँ तथा उनके साहित्यिक कार्यों के प्रसंग मिलते हैं । बृहत्कथाओं में दशकुमारचरित, कादंबरी, वासवदत्ता, तिलक मंजरी तथा यशस्तिलक आदि उल्लेखनीय हैं ।

नीति कथाओं को लेकर कथाओं की एक स्वतंत्र परंपरा भी मिलती है । पशु, पक्षी, पर्वत तथा वृक्षों आदि का मानवीकरण कर उनको कहानी के पात्र के रूप में निमित्त किया जाता या उनके माध्यम से राजनीति, धर्म तथा नीति का उपदेश दिया जाता था । जीवन की चर्चाओं का प्रतिपादन इनका मुख्य विषय रहा । इसी कारण इन कथाओं में शिल्प शैली की कलात्मकता का प्राधान्य न होकर विषय वस्तु की प्रधानता मिलती है । इन नीति कथाओं में जातक कथाएँ विशेष रूप से लोकप्रिय हुईं । इन कथाओं के नायक राजा, राजवंशी अथवा राजकुमार हुआ करते थे । नैतिकता, शौर्य, आदर्श और उदात्तता इन कथानायकों में प्रतिष्ठित होती थी और सामान्य जनता को उनके चरित्र का अनुसरण करने की नैतिक शिक्षा दी जाती थी ।

मध्ययुग के आरंभिक वर्षों में मुसलमानी संस्कृति के प्रभाव के कारण प्रेमकथाओं की ओर भी लेखकों का ध्यान आकर्षित हुआ । यह नीति कथाओं से हटकर कहानी साहित्य में स्वतंत्र धारा के रूप में विकसित हुई । मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव से यहाँ लैला मजनू, शीरी फरहाद, यूसुफ जुलेखा आदि प्रणय कथाएँ कहानियों में प्रवेश कर गईं । सूफी कवियों के प्रेमभावनाओं में अलौकिक और लौकिक कथाओं का समावेश एक साथ किया गया । रीतिकाल में कृष्ण राधा की कथाओं को भक्त हृदयों में प्रश्रय मिला । इन कथाओं में कथा तत्व अति विस्तार से मिलता है । अनेक घटनाओं का बाहुल्य दिखाकर, संपूर्ण जीवन को क्रमबद्ध करके कहानी का रूप दिया जाता था । एक के पश्चात् एक घटनाओं को चित्रित करके ही नायक के जीवन की विशद झाँकी दिखाई जाती थी । इसी कारण कथा में विस्तार रहता था तथा शैली वर्णनात्मक होती थी ।

इसी समय कहानी का एक और रूप भी मिलता है जो वार्ता, वृत्तांत, किस्सा, स्वप्न आदि नामों से लिखा गया । 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता', 'दो सौ बखन वैष्णवों की वार्ता' धार्मिक कथाएँ हैं जो किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से कथा वार्ता के रूप में सुनाई गई हैं । यह परंपरा द्विवेदी युग तक चलती रही । बीरबल का 'उपहास', 'ठगलीला', 'किस्सा गुलाबकावली', 'हासिम ताई

का किस्सा', 'छबीली भटयारिन', 'शीरी फरहाद', 'मर्द औरत का किस्सा' आदि इसी कथा-शिल्प की कहानियाँ हैं। इसी कड़ी में लल्लू लाल द्वारा अनूदित 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी' आदि कथा संग्रह, ईशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी', 'उदयभानु चरित', सदल मिश्र की 'नासिकेतोपाख्यान', राजा शिव प्रसाद सितारे हिंद की 'राजा भोज का सपना', भारतेन्दु की 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती', 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न', 'हमीर हठ', मुंशी शादी लाल की 'किस्सा शाहूष' आदि अनेक कहानियों के माध्यम से यह परंपरा तथा कथा का यह स्वरूप काफी लंबे समय तक कहानी साहित्य में लिखा जाता रहा। वार्ताओं में संतों के चरित्र के विविध कथानक और उनके व्यक्तित्व का परिचय भी दिया जाता है। ब्रजभाषा के अतिरिक्त राजस्थानी में भी गद्यात्मक कथाएँ प्राप्त होती हैं। इन कहानियों में घटनाओं की बहुलता और पात्रों के पोषण का वर्णन सर्वत्र देखा जा सकता है। राजस्थानी गद्य परंपरा का प्रारंभ दसवीं शताब्दी से स्वीकारा जाता है। खड़ी बोली गद्य परंपरा के अंकुर ब्रजभाषा और राजस्थानी गद्य में मिलते हैं किंतु खड़ी बोली गद्य का समुचित रूप से प्रारंभ भारतेन्दु युग में हुआ। सन् १८०० और १८०३ के मध्य ईशा अल्ला खाँ ने खड़ी बोली में लिखना प्रारंभ किया। उनकी रचना 'उदयभानु चरित' या 'रानी केतकी की कहानी' खड़ी बोली गद्य के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। 'रानी केतकी की कहानी' लौकिक शृंगार से भरपूर है। इसमें सभी पात्र हिंदू हैं और अलौकिक घटनाओं का समावेश कथानक में किया गया।

उनोसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध हिंदी कहानी के विकास क्रम में अत्यंत महत्वपूर्ण है। जिस समय भारतेन्दु का आविर्भाव हुआ, उसी समय पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव के कारण हिंदी भाषा भाषी नई विचारधारा के प्रति उत्साहित थे। इसी समय अनेक छोटे बड़े ग्रंथों की रचना हुई। देश की तात्कालिक परिवर्तित परिस्थितियों के कारण काव्य क्षेत्र में वीर, भक्ति, शृंगार और रीतिधाराएँ अपना प्रभाव खोती जा रही थीं। उनमें शिथिलता और जड़ता अनुभव होने लगी थी। अतः हिंदी गद्य साहित्य में विशेष रुचि हुई और गद्य का प्रचार बड़ी तेजी से होने लगा। कहानी में अभी पौराणिक कथाओं का प्रभाव कम नहीं हुआ था फिर भी देश की राजनीतिक स्थिति ने कहानी साहित्य को प्रभावित अवश्य किया था। आलोच्य काल में आधुनिकता का प्रभाव भारतेन्दु हरिश्चंद्र युग में तीव्र गति से प्रारंभ हो गया था। अतः प्रेमचंद-पूर्व कहानी साहित्य में प्राचीनता और नवीनता दोनों रूपों का समावेश मिलता है।

विदेशी शासन के अंतर्गत एक पराधीन, अशक्त तथा विवश देश की कल्पना करना कोई कठिन बात नहीं है। अंग्रेजों की नीति लूटमार की नहीं थी उनकी नीति लंबी प्रक्रिया की शोषण की नीति थी। वे भारत को कृषि प्रधान देश ही बनाए रखना चाहते थे ताकि औद्योगिक उत्पादन के लिये भारत एक बड़े बाजार के रूप में बना रह सके। इस प्रकार कृषि, व्यवसाय और शासन तीनों दृष्टियों से भारत धीरे धीरे एक कंगाल देश होता गया। चारों ओर निर्धनता और निराशा फैलती गई। साहित्य पर इसका प्रभाव पड़ा। कहानियों में अमीरी और गरीबी का वर्णन किया जाने लगा। जमींदार, ताल्लुकेदार आदि कहानियों के नायक बने और उनके चरित्रों का विकास उनकी अपनी रियाया के प्रति अत्याचारों को प्रदर्शित करके किया गया। माधवराव सप्रे की कहानी 'एक टोकरी भर मट्टी' जिसका रचनाकाल सन् १९०० से १९०१ ई० तक माना जाता है, में एक जमींदार तथा एक विधवा बुढ़िया की कहानी है।

शोषण और अत्याचार का चित्रण कर कहानी के अंत में उसके परिणाम को भी दिखाया गया है। सत् और असत् के प्रति शिक्षात्मक दृष्टिकोण ही कहानी का उद्देश्य है।

इस काल में भारतीय समाज अनेक विकारों और समस्याओं से ग्रस्त था। देश में अनेक प्रकार की रूढ़िवादिता, अंधविश्वास, कूप-मंडूक-प्रवृत्ति, कट्टरपंथी भावना, धार्मिक आडंबर, नारी की सभी संदर्भों में दयनीय स्थिति, अशिक्षा, छुआछूत आदि अनेक दूषण व्याप्त थे।

इन समस्याओं के समाधान तथा उनकी यथार्थ परिस्थिति का अवलोकन कराना कुछ साहित्यकारों ने भी अपना कर्तव्य समझा। कथाकारों ने समाज में प्रचलित रूढ़ियों, अंधविश्वासों तथा धर्म के आडंबर को अपनी रचनाओं के माध्यम से पाठकों तक पहुँचाकर समाज की आँखें खोलने का प्रयत्न किया जिससे समाज के जर्जरित ढाँचे को आस्था और विश्वास का आधार प्राप्त हो। वेश्यावृत्ति, मद्यपान, जुआ आदि कुप्रथाओं का अंत हो सके। तात्कालीन कथा साहित्य ने इन विचारों को अपनी रचनाओं में प्रश्रय दिया। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' की कहानी 'राजा भोज का सपना' कहानी में सपने के माध्यम से घमंडी राजा को धर्म, नीति और नैतिकता की शिक्षा दी जाती है। अहंकार से ओतप्रोत राजा को सत्य वास्तविक स्वरूप दिखाता है। सामाजिक परिस्थितियों को भी कहानी में दिखाया गया है। एक जगह लिखा है कि 'अनगिनत सूरतें एक ओर से निकलती और दूसरी ओर अलोप होती जाती हैं। कभी राजा को वे सब भूखे और नंगे इस आइने में दिखलाई देते जिन्हें राजा खाने को दे सकता था।' इस वाक्य से उस बाल की शोषण पद्धति को सर्वथा अधार्मिक बताने का प्रयत्न लेखक ने किया है। इसी प्रकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' में एक प्रेम-कथा के माध्यम से उस काल के समाज में प्रचलित कुरीतियों को पाठक तक पहुँचाया गया है। १४ वर्ष की बालिका का पति के खो जाने पर पुनर्विवाह भी नहीं हो सकता था और परिवार के सदस्यों के लिये भी उसकी कोई सार्थकता नहीं थी। परिवार के सदस्यों में उसका कोई स्थान नहीं था। इसी कारण उसको अनेक यंत्रणाएँ झेलनी पड़ती थीं। प्रेमचंद-पूर्व कहानी अपने कथानक में किसी न किसी प्रकार की शिक्षा को लेकर चलती थी जिसका प्रभाव प्रेमचंद की प्रारंभिक कहानियों में भी परिलक्षित होता है। प्रेमचंद ने 'कला कला के लिये' नहीं बल्कि 'कला जीवन के लिये' सिद्धांत को माना था। उनके विचार में साहित्य का कुछ उद्देश्य होता है। इसी कारण उनकी कहानियाँ किसी न किसी आदर्श को लेकर चलती हैं।

हिंदी कहानी का जन्म राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से विषम परिस्थितियों के माध्यम हुआ। जन्म के साथ ही उसे अनेक समस्याओं और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। तत्कालीन विषम परिस्थितियों से कथाकार हटने अवगत नहीं थे और न ही परंपरा से चली आ रही कहानी को लीक से अपने को पृथक् कर सकते थे। दूसरी ओर यह समय खड़ी बोली का शैशव काल था अतः परिपक्व भाषा भी उनके पास नहीं थी। स्वाभाविक है कि कहानी का एक मिश्रित रूप इस काल में मिलता है जिसमें संस्कृतियों का मिश्रण है, अनेक भाषाओं का मिलाजुला रूप है तथा कथानक भी ऐतिहासिक, पौराणिक और समसामयिक लिए गए हैं। उस काल के कथाकारों के समक्ष जो कठिनाइयाँ थीं उनपर विचार कर लेने से उस काल की प्राप्त कहानियों को ठीक तरह से समझा जा सकता है।

कथाकारों की समस्याएँ

भाषा अभिव्यक्ति का एक सशक्त साधन है। भाषा का गठोलापन, उसकी संक्षिप्तता तथा भाषा में प्रवाह ही किसी कृति को सार्थक बनाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब कुछ कथाकारों का ध्यान कहानी की ओर गया तो उनके लिये यह आवश्यक हो गया था कि कहानी जैसी छोटी विधा में वे अपनी संपूर्ण अनुभूतियों की अभिव्यक्ति कर सकें। कहानी की अपेक्षा उपन्यास का फलक अधिक विस्तृत होता है। अतः बात को स्पष्ट करने के लिये उसमें अधिक विकास होता है। यही कारण था कि इस काल में उपन्यास की तरफ़ पर ही कहानी की भी रचना की गई। उपन्यास की भाँति लंबे-लंबे कथानक लिए गए। भाषा में व्याकरण की अशुद्धियाँ थीं तथा प्रादेशिकता का प्रभाव अधिक था। भाषा सशक्त न होने के कारण ही वाक्यों को दूर तक खींचा जाता था। 'राजा भोज का सपना' जैसी कहानियों में कहीं पर भी विराम नहीं है। पूरी कहानी एक ही वाक्य में लिखी गई है। गद्य होते हुए भी पद्य की पद्धति पर भी कहानियाँ लिखी गईं। 'रानी बेतकी की कहानी' में स्थान स्थान पर कविता भी है बल्कि खड़ी बोली के वाक्यों में लय और ताल भी मिश्रित हैं। चूँकि पाठक का कविता से अधिक परिचित थे अतः बीच बीच में कविता का प्रयोग कर कथाकार अपनी बात की पुष्टि बलपूर्वक करते थे।

दूसरी समस्या कहानी के लिये कथानक की थी। समकालीन समस्याओं का अधिक ज्ञान न होने के कारण पौराणिक तथा ऐतिहासिक कथानकों को ही कहानी का विषय बनाया गया। राजा, रानी, राजकुमार आदि के चरित्रों के माध्यम से उपदेश दिए जाते थे। सुधारवादी दृष्टिकोण होने के कारण ही घटनाओं और चरित्रों के माध्यम से सामाजिक और धार्मिक चरित्र को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जाता था। इस काल में कुछ हास्य-व्यंग्य प्रधान कहानियाँ भी लिखी गईं जैसे 'दुलाई वाली'। समाज में नवीन विचारों के प्रवेश को अनुभव कर सामाजिक कहानियाँ भी लिखी गईं। 'ग्यारह वर्ष का समय', 'आपत्तियों का पहाड़', 'मन की चंचलता' आदि कहानियाँ सामाजिक कुरीतियों की ओर ध्यान खींचती हैं। कहानी में चरित्र भी अतिमानव के रूप में चित्रित किए जाते थे, जो शौर्य, साहस तथा शक्ति में सर्वोपरि होते थे। ये चरित्र सामाजिक नहीं लगते थे। प्रेमचंद ने जब १९०७ में कहानी क्षेत्र में पदार्पण किया तो कथानक को भी काट-छाँटकर संक्षिप्त किया और कहानी के नायक को एक सामाजिक प्राणी बनाया। प्रेमचंद-पूर्व के कथाकारों के समक्ष पहले से चली आ रही नायक की एक बनी बनाई लीक थी जिससे वे अपने को बचा नहीं सके।

इस काल के कथाकारों के समक्ष सबसे निकट समस्या पाठक की थी। उस काल में कविता लिखना या कवितापाठ करना एक बौद्धिक कार्य समझा जाता था परंतु कहानी कहने या लिखने की स्थिति ऐसी नहीं थी। अतः कहानी लेखकों को पाठकों को जुटाना पड़ता था। इसी कारण कहानी का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन माना गया। जितना अधिक मनोरंजन हो सकेगा या जितने दिलचस्प ढंग से कहानी की रचना होगी उतने ही अधिक उसके पाठक होंगे। कहानियों में प्रेम एक ऐसा विषय आया जिसने, परोक्ष रूप से ही सही, पर पाठकों की सख्या में वृद्धि की। देवकीनंदन खत्री के उपन्यास 'भूतनाथ' तथा 'चंद्रबाँता संतति' तिलस्मी तथा जादुई कथानक को लेकर लिखे गए। इसी कारण वे अत्यधिक प्रसिद्ध हुए। इन उपन्यासों के कारण अहिंदी भाषी

लोगों ने भी हिंदी पढ़ना सीखा । मुख्य रूप से पाठकों को आकर्षित करने के लिये ही ऐसे विषयों को चुना गया जो उपन्यास तथा कहानी को भी कविता के स्तर का बना सकें । आज भी जब कि कहानी एक साहित्यिक विद्या मानी जाने लगी है तथा विश्वविद्यालयों में अन्य विषयों की भांति पढ़ाई जाती है, उत्सुकता, जिज्ञासा और मनोरंजन एक सीमा तक उसके उद्देश्य बने हुए हैं । उस काल में कहानियों की रचना पाठकों की रुचि को ध्यान में रखकर ही की जाती थी ।

प्रेमचंद-पूर्व कहानियों का विश्लेषण

हिंदी कहानी का आरंभ कहाँ से हुआ तथा हिंदी की कौन सी कहानी प्रथम कहानी मानी जाए इस विषय को लेकर अनेक चर्चाएँ परिचर्चाएँ हो चुकी हैं । किस सन् में कौन सी कहानी प्रकाशित हुई है इस कसौटी पर प्रथम कहानी का निर्णय नहीं हो सकता है क्योंकि उस काल की अनेक कहानियाँ बंगला और अंग्रेजी से अनूदित कहानियाँ हैं । मौलिक कहानियों के मध्य भी यह विवादास्पद है कि कहानी के तत्वों के अनुसार कौन सी कहानी खरी उतरती है । इस विवाद में न पड़कर उस काल की कुछ प्रमुख कहानियों को लेकर तत्वों के अनुसार विश्लेषण करने पर उसकी ऐतिहासिकता पर अधिक प्रकाश पड़ सकता है ।

कथानक

बिना भी कहानी में मुख्य रूप से एक घटना चलती रहती है और लेखक छोटी छोटी अन्य घटनाएँ मुख्य कथा को आगे बढ़ाने के लिये चित्रित करता चलता है, जो मुख्य घटना को अधिक प्रामाणिक बनाती है । आधुनिक हिंदी कहानियों में जब कि पाश्चात्य साहित्य में भी यह बात स्वीकार कर ली गई है कि कहानी में कथानक एक व्यर्थ की वस्तु है, घटनाओं का संकलन भिन्न रूप से किया जाने लगा है । इसमें चरित्र की प्रधानता रहती है, घटनाओं का वर्णन चरित्र के माध्यम से ही किया जाता है । प्रस्तुत युग की कहानियों का अवलोकन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि घटनाओं के बाहुल्य से ही चरित्रों का निर्माण किया जाता था । कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग के लेखकों ने यह सोचने की आवश्यकता ही नहीं समझी कि घटनाओं के संकलन में अनावश्यक घटनाओं को बड़ी सरलता से निकाला जा सकता है । रामचंद्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' में मुख्य कथा वहाँ से प्रारंभ होती है जहाँ से दोनों मित्रों को खंडहरों में श्वेतधारिणी स्त्री मिलती है । उसके पूर्व का कथानक केवल कथानक के लिये ही लिखा गया है । इससे एक बात स्पष्ट होती है कि कथाकारों ने कहानी के निर्माण में कथानक की कितनी आवश्यकता है यह समझने का प्रयत्न नहीं किया ।

इस काल की अधिकांश कहानियों के कथानक स्थूल हैं । कथानक में भावनात्मक संदर्भ भी स्थूल कथानक के दबाव में आ गए हैं । किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'इंदुमती' की कथा कुल इतनी है : 'इंदुमती की माता की मृत्यु जब वह चार वर्ष की थी तभी हो गई थी । उसके पिता उसको लेकर विध्याचल के जंगल में रहने लगते हैं । बोधयुक्त होने पर भी जंगल के पशु, पक्षियों और नदी के अतिरिक्त उसका साक्षात्कार किसी से नहीं हुआ था । सयानी होने पर एक दिन वह अपनी परछाईं स्वच्छ जल में देखकर अपने प्रति मोह से भर उठती है । फिर उसे इतनी लज्जा आती है कि दुबारा वह अपना प्रतिबिम्ब नहीं देखती । तभी एक दिन उसे जंगल

में एक युवक दिखाई देता है। पिता के अतिरिक्त आज तक उसने किसी अन्य पुरुष को नहीं देखा था। इंदुमती उसे अपने पिता के पास ले आती है। उसका पिता बहुत क्रोधित होता है पर पुत्री के कहने से उस युवक को क्षमा कर देता है। तभी बीस पच्चीस आदमी आकर उसे पकड़ लेते हैं। बाद में यह जानकर कि वह युवक राजकुमार है, वृद्ध पिता उसे अपनी कन्या दे देता है। कथानक की दृष्टि से कहानी बड़ी स्थूलता से आगे बढ़ती जाती है। जीवन और परिस्थितियों के बीच जो सूक्ष्म-संबंध-तंतु होता है, जिसके वर्णन में लेखक अनुभूतियों का चित्रण कर सकता था, वहाँ भी सतही ढंग से कहानी ऊपर ही ऊपर चलती रहती है। किसी नारी के जीवन में प्रथम पुरुष का दर्शन मनोवेगों को उद्बलित करता है, परंतु इस कहानी में पुरुष का आना फिर उसके साथ विवाह हो जाना आकस्मिक संयोग मात्र ही रहता है। इसी कारण कथानक में कलात्मक क्षमता का अभाव है।

इस काल की कहानियों में कीतूहल और चमत्कार की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। कथानक में रहस्यमय ढंग से किसी बात का रहस्योद्घाटन करना ही कलात्मक माना गया और उसमें संयोग तत्व (चांस एलिमेंट) को महत्व दिया गया। 'दुलाईवाली' कहानी में एकदम अंत में आकर इस बात का रहस्योद्घाटन होता है कि दुलाईवाली और उसका पुरुष भिन्न ही है। पाठक इन घटनाओं से चमत्कृत होता है और उसका मनोरंजन भी होता है किंतु अप्रत्याशित रहस्यात्मकता भरने की चेष्टा में कहानी प्राणवान नहीं बन पाती। कहानी में गहनता भी नहीं आ पाती और वह मन और हृदय पर अपना प्रभाव डालने में असमर्थ रह जाती है। इस काल की लगभग सभी कहानियों में कथानक का प्रयोग उद्दीपन के रूप में किया गया है। इस लक्ष्य की कहानियों में चरित्रों का निर्माण भी किसी अप्रत्याशित घटना से प्रेरित होता है।

कहानियाँ छोटी हों या बड़ी परंतु प्रेमचंद-पूर्व कहानियों में कथानक दर्शनात्मक शैली में ही लिखा गया है। इस काल की कहानियों के कथानक इतिहासात्मक प्रवृत्तियों को अधिक लिए हुए हैं। लंबे लंबे वर्णन, अनेक घटनाओं का ताना बाना बुनते चलते हैं। 'राजा भोज का सपना' कहानी में प्रारंभ के तीन चार पृष्ठ में राजा के कृतकार्यों का वर्णन मिलता है। तदुपरांत राजा भोज का स्वप्न आरंभ होता है। एक एक वर्णन को लेखक ने विस्तार दिया है। पाठक की कल्पना पर लेखक कुछ भी नहीं छोड़ना चाहता। कहानी का आरंभ होता है, उसका विकास होता है, चरम स्थिति आती है फिर अंत होता है। इस क्रम में कहीं कोई उतार चढ़ाव नहीं होता। स्पष्ट रूप से लेखक सभी कुछ पाठकों को बताता चलता है। वर्णनात्मक शैली के कारण ही कहीं कहीं कहानी बोझिल होने लगती है। इसका प्रभाव प्रेमचंद काल तक देखा जा सकता है। प्रेमचंद तथा उनके समकालीन लेखकों की अनेक ऐसी कहानियाँ हैं जो आदि से प्रारंभ होकर क्रमवद्ध होती हुई अंत तक पहुँचकर ही समाप्त होती हैं। कहानी किसी घटना से आरंभ होती है। बीच में पात्रों के जीवन में संघर्ष आता है। संघर्षों से जूझते हुए पात्र एक स्थिति पर आकर एक निश्चय पर पहुँच जाते हैं और यहीं कहानी का अंत हो जाता है।

चरित्रचित्रण

प्राचीनकाल में यह मान्यता रही है कि कहानियों के नायक आदर्श, नीति, सिद्धांत, मर्यादा एवं लोककल्याण की रक्षा करनेवाले पात्र होते हैं। ये पात्र सदैव संघर्षरत दिखाए जाते हैं। संघर्ष के दो कारण दिखाए गए हैं—एक प्रेमनिर्वाह दूसरा व्यक्तित्व में मर्यादा पालन। पात्रों

का चरित्र सत् और असत् के संघर्ष से निमित्त होता है। संघर्ष सत् पात्रों के व्यथापूर्ण जीवन और कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के कारण होता है। अतः ऐसे चरित्रों को शारीरिक रूप से शक्तिशाली, साहसी, दृढ़निश्चयी, रूपवान आदि गुणों से परिपूर्ण दर्शाया गया है। वे जीवन में आई किसी भी प्रकार की कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। परंतु ऐसे चरित्रों के अभ्यंतर में क्या है, यह जानना लेखक का मंतव्य नहीं रहा। किन्हीं मनोविश्लेषणात्मक तथ्यों के आधार पर चरित्रों का निर्माण इस काल के लेखकों का उद्देश्य नहीं था। पात्रों के बाह्य रेखाचित्र तक ही लेखक सीमित रहा है। जहाँ कहीं ऐसे स्थलों की संभावना है भी, वहाँ भी लेखक ने अपने पात्रों के मनोभावों, अनुभूतियों तथा अंतर्द्वंद्वों तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं किया है। 'पंडित और पंडितानी' कहानी में अनमेल विवाह केवल एक सामाजिक कुरीति के रूप में ही प्रदर्शित किया गया है। 'इंदुमती' कहानी में भी लेखक ने किशोरी मन की उद्भावनाओं को कहानी में लाने के लिये किसी प्रकार की परिकल्पना नहीं की है। केवल स्थूल घटनाओं के मध्य ही चरित्रचित्रण को उभारा है। ऐसे पात्रों में नारी और पुरुष दोनों को ही लेखकों ने लिया है। पुरुष परंपरा से चली आ रही धीर वीर, धीर गंभीर आदि परिभाषाओं से निमित्त लगते हैं तो दूसरी ओर नारियाँ अपूर्व सौंदर्यमयी, कोमलांगी और अपने कर्तव्य के प्रति सचेत दिखाई गई हैं। नारीजीवन में केवल कर्तव्य है, भावनाओं का कोई स्थान नहीं है।

वस्तुतः इस काल के कहानीकारों का दृष्टिकोण आदर्शवादी तथा सुधारवादी था अतः स्वाभाविक था कि कहानियों में ऐसे चरित्रों को लिया जाए जो समाज के लिये किसी आदर्श की स्थापना कर सकें। ये सभी कहानीकार नैतिकता के उत्थान एवं भारतीय संस्कृति की गौरवशाली परंपराओं में विश्वास रखते थे। उस काल में समाज की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। उन कुरीतियों से समाज को बचाना ही इन कहानीकारों का मुख्य उद्देश्य था। अतः ऐसे चरित्रों का निर्माण किया गया जो विशृंखल होती आस्था को कोई आधार दे सकें। ऐसा नहीं था कि सामाजिक यथार्थ को पहचानने की अंतर्दृष्टि उनके पास नहीं थी वरन् वे आदर्श को यथार्थ से अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। 'रानी केतकी की कहानी' में आए हुए रानी के व्यक्तित्व का निर्माण घनिष्ठ प्रेम के आधार पर करने का प्रयत्न किया गया है जिसमें लेखक को सफलता भी मिली। हिंदी प्रेमालोक्यों की पद्धति पर ही प्रेमसाधना को दर्शाया गया है। इन प्रेमालोक्यों का स्पष्ट प्रभाव इस रचना पर देखा जा सकता है। विरह की उदात्त स्थिति, प्रेमी को पाने की व्याकुलता तथा उसको प्राप्त करने के लिये साहसयुक्त प्रयास का वर्णन ही पात्रों के व्यक्तित्व का उद्घाटन करता है। कहानी में जब नायिका को यह पता लगता है कि उसके पिता ने उसके प्रेमी को हिरन बना दिया है और वह जंगलों में भटक रहा है तो उसमें तोष प्रतिक्रिया होती है और लोकमर्यादा, पारिवारिक प्रतिष्ठा और माता पिता के विरोध को तिलांजलि देकर अपने प्रेमी को ढूँढ़ने निकल जाती है। मार्ग में आई कठिनाइयों और संघर्षों से जूझती है। इस प्रकार उसके व्यक्तित्व में मर्यादापालन और प्रेमनिर्वाह के मार्ग में आए अवरोधक संघर्षों को अंकित किया गया है। इस कहानी में नायिका का चरित्रनिरूपण आकर्षक ढंग से किया गया है। कहानी के अंत में असत् पात्रों पर सत् पात्रों की विजय दिखाकर पाठक को समाज की कुरीतियों के प्रति सचेत कराया है। भारतीय परंपरा के अनुकूल ही कहानी सुनाई है।

इस युग में कहीं कहीं चरित्रचित्रण में मनोविज्ञान या मनोविश्लेषण का हल्का सा पुट

भी मिलता है। यह मनोविश्लेषण लेखक द्वारा वर्णनात्मक शैली में ही किया जाता है। लेखक नाटक की भाँति ही कहानी के मंच पर आकर अपने पात्रों के चरित्रों का व्योरा देता है। इसमें लेखक आलोचक और द्रष्टा दोनों हो जाता है। एक उदाहरण इस प्रकार है, 'पति ने कहा—'मैं सच कहता हूँ मैं तुमसे डरा करता हूँ, तुम्हारी अंधता ने मुझे एक अनंत आवरण से ढँक रखा है, वहाँ मेरा प्रवेश असंभव है। मैं जिसको धमका सकूँ, जिसपर क्रोध कर सकूँ, जिसे आदर दे सकूँ जिसके लिये गहने गढ़ा सकूँ मुझे ऐसी पत्नी चाहिए' (सरस्वती १९०३ भाग ४, संख्या २-३)। उपर्युक्त कहानी में पति का मनोविश्लेषण साहित्यिक भाषा में किया गया है। स्थूल चरित्र से हटकर मन के अंदर प्रवेश करना लेखक का साहस ही माना जाएगा।

वातावरण

कहानी में कहानीकार वातावरण का चित्रण इस उद्देश्य से करता है कि कथानक और कथानक को विकसित करनेवाले चरित्रों के अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचा जा सके। वातावरण का प्रारंभ कहानी में पाठक की रुचि और संवेदना को बाँधता भी है। इसी कारण वातावरण को प्रभावित बनाने के लिये प्रकृति का सहारा लिया जाता था। आधुनिक कहानियों में कथानक और पात्रों का वातावरण, उनका समाज और परिवेश चित्रितकर उनके व्यक्तित्व का विकास दर्शाया जाता है। परंतु उस काल में कहानी का वातावरण प्रकृतिचित्रण से ही आरंभ किया जाता था जिसमें अलंकार, उपेक्षाओं और उपमाओं का सहारा लिया जाता था। लल्लू लाल की कहानी 'प्रेम सागर' में वातावरण इस प्रकार दिखाया गया है, 'शीष्म की अति अनीति देख, नृप पावस प्रचंड पशु पक्षी, जीव जंतुओं की दशा, विचार चारों ओर से दलबादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया। जिस समय घन जो गरजता था सोई घौस बजता था और वर्ण वर्ण की छटा जो घिर आई थी सोई शूरवीर रावत थे, जिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमक थी, बगपाँत ठोरठोर ध्वजा सी फहराय रही थी, दादुर मोर बडखँतों की सी भाँति यश बखानते थे और बड़ी बड़ी बूँदों की झड़ी वाणों की सी झड़ी लगी थी।' प्राकृतिक वातावरण वर्णन करने में कहानीकारों ने प्राकृतिक उपकरणों की ध्वनियों को भी साथ साथ दिया है जैसे बूँदों को तड़ तड़, छड़ छड़ या बादल की गरज को घनन घनन से दर्शाया है जिसके कारण वातावरण सजीव हो जाता है। भारतेंदु की कहानियों में यथातथ्यता का निर्वाह तथा जीवित परिस्थितियों का चित्रण प्रमुख रूप से मिलता है। उनकी कहानी 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती' का एक दृश्य है जहाँ लेखक प्रकृति का मानवीकरण करता है—'साँझ फूली हुई, आकाश के एक ओर चंद्रमा, दूसरी ओर सूर्य, पर दोनों लाल लाल, अजब समा बैँधा हुआ, कसेरू, गंडेरी और फूल बेचनेवाले सड़क पर पुकार रहे थे।' जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कहानी में कविता या शेर शायरी का समावेश उस काल के अनेक लेखकों ने किया है। वातावरण का चित्रण, किशोरीलाल गोस्वामी की कहानी 'गुलबहार' में इस प्रकार किया गया है—

‘बाहर आई तो उनके साथ ही
गुल के कदम आए।

हुई रुखसत, चमन से यह तो
बह फिर कब ठहरती थी॥’

यह काव्यात्मक टुकड़े या प्रकृतिचित्रण कहानी को रोचक या कोमल बनाने में सहायक होते हैं। चरित्रों के विकास में उनका कोई योगदान नहीं होता है। जहाँ आधुनिक कहानियों में वातावरण पात्रों और चरित्रों का विकास या मनःस्थितियों का सहभोक्ता होता है वहीं इस काल की कहानियों में केवल वर्णन मात्र बनकर रह जाता है।

कुछ हास्य-व्यंग्य-प्रधान कहानियों में वातावरण, प्रकृति के स्थान पर पात्रों के हावभाव, व्यवहार तथा उनकी बोली ठोली से निम्ति मिलता है। 'किसी महफ़िल में एक काली कलूटी रंडी नाच रही थी। जब गाँव चुकी तो किसी ने पूछा 'बीबी, आपकी इसम शरीफ़ क्या है?' बीबी ने उत्तर दिया कि जनाब 'बाँदी को मिसर कहते हैं।' फिर मियाँ ने कहा कि किस बेव-कूफ़ ने आपका नाम मिसरी रखवा है, तुम तो शीरा हो। बीबी ने हँसकर उत्तर दिया कि खैर साहब, आपकी हम शीरा ही सही' (हिंदी प्रदीप, अप्रैल १८७९)। ऐसे चित्रों को पत्र पत्रिकाओं में 'गपाष्टक' कहा गया। हिंदी प्रदीप में 'गपाष्टक' नामक एक स्तंभ होता था। इसमें हास्य व्यंग्य का इतना गहरा पुट होता था कि उसमें कहानी होते हुए भी कहानी की वास्तविकता को ढूँढ़ना पड़ता था। ऐसे वातावरण से केवल कहानी का कीतूहल रस ही उद्भूत होता है।

भाषा और शैली

यह पहले भी कहा जा चुका है कि खड़ी बोली गद्य का यह प्रारंभिक काल या अतः किसी के शैशव काल में परिपक्वता को ढूँढ़ना न्यायसंगत नहीं है। कथा की जो प्राचीन परंपरा चली आ रही थी उससे लेखक प्रभावित थे। अतः अलंकृत और संस्कृतगर्भित भाषा का, और सहज तथा उर्दू के पुट के साथ व्यवहार की भाषा का भी प्रयोग किया गया। वास्तविकता यह थी कुछ लेखकों का ध्यान भाषा की ओर उतना नहीं था जितना उसकी नाटकीयता की ओर था। इसी कारण लेखक अपनी ओर से भी वक्तव्य देता चलता था और 'हाय राम' या 'हाय रे', 'देखो तो' आदि शब्दों का प्रयोग प्रभावात्मकता को बढ़ाने के लिये किया जाता था। पृथक् पृथक् लेखकों ने प्रादेशिक भाषा तथा बोलचाल के तोड़े मरोड़े रूपों को भी कहानियों की भाषा में प्रयोग किया।

संस्कृतगर्भित भाषा का प्रयोग प्रकृतिचित्रण या पात्रों की मनःस्थितियों के अंकन में अनेक स्थलों पर किया गया। 'रानी केतकी की कहानी' की भाषा अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध है। इसका कारण स्वयं इंशा अल्ला के अपने शब्दों में 'एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी, कोई कहानी ऐसी कहिए जिसमें हिंदी छुट और किसी बोली का पुट न मिले। तब जा के मेरा जो फूल की कली के रूप में खिले, बाहर की बोली और गंवारी कुछ इनके बीच न हो।' इंशा अरबी, फ़ारसी और उर्दू के विद्वान् थे। लखनऊ के पढ़े थे तथा प्रसिद्ध कवि थे। ऐसे व्यक्ति के लिये किसी भाषा का शुद्ध रूप पकड़ना कठिन कार्य नहीं था। इसके पहले उर्दू में ये 'सिल्के गौहर' कहानी लिख चुके थे, भाषा पर इनकी पूरा अधिकार था।

दोनों प्रकार की भाषा का प्रयोग होने पर भी कहानी की भाषा के लिये जो स्फूर्ति, प्रवाह अपेक्षित है, उसका अभाव इन कहानियों में स्पष्ट परिलक्षित किया जाता है। भाषा व्यक्ति और परिवेश के संश्लिष्ट रूप को वहन करती हुई अभिव्यक्ति का माध्यम बनती है। यह चेतना प्रस्तुत काल के कहानीकारों में न्यूनतम ही मिलती है। अतः भाषा का स्वरूप कृति का माध्यम मात्र बनकर रह जाता है।

कहानी के कथानक, चरित्रचित्रण या वातावरण लगभग सभी के लिये विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। प्रत्येक बात को स्पष्टता की सीमा तक ले जाना ही लेखक जैसे अपना कर्तव्य समझता था। इसी कारण कहानियों में किस्सागोई शैली का आधिक्य मिलता है। कहानियों में घासिक, पौराणिक कथाओं, लोक कथाओं वाली शैली से लेकर फ़ारसी की मसनवी शैली की आख्यान परंपरा सभी का संमिलित रूप उपलब्ध होता है। पाश्चात्य प्रभाव भी कहीं कहीं दृष्टिगत होता है। कहानी का प्रारंभिक काल था अतः कहानी को अनेक प्रकार के प्रयोगों से गुजरना पड़ा।

उपलब्धियाँ

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कहानी अपने इतिहास की परंपरा का बल प्राप्त कर साहित्यिक विधा के रूप में उदित हुई। वह एक ओर अतीत के प्रति प्रतिगामी थी दूसरी ओर वर्तमान की वस्तुस्थिति से जुड़ी हुई थी तथा भविष्य के लिये एक नए मार्ग की खोज में थी। अपनी सीमाओं तथा अनिवार्यताओं के बावजूद भी हिंदी कहानी ने स्वाभाविक रूप से एक दिशा निर्देशन किया था। रचना की प्रकृति में कुछ विशेषताएँ ऐसी होती हैं, जिससे उसकी एक निश्चित संज्ञा बनती है। कहानी भी एक निश्चित प्रकार की कलाकृति है उसका एक रचनात्मक प्रयोजन होता है। परंतु यह चेतना प्रारंभिक युग की कहानियों में विद्यमान नहीं थी। उस काल की कहानियों में संयोग तत्व या आकस्मिकता का आग्रह इस सीमा तक था कि कथात्मक पद्धतियों में 'कौतुक' को ही प्रधानता दी गई। अपनी कृति को मनोरंजक तथा रोचक बनाने की धारणा के कारण कहानी की स्वाभाविकता भी उसकी चमत्कारिता के नीचे दब गई थी। कथानक, चरित्र, वातावरण आदि कहानी के प्रमुख तत्वों में किसी का विन्यास सहज रूप से विकसित नहीं हो पाया था। पाठकों की माँग को सर्वोपरि रखकर ही उस काल के कहानीकारों की प्रतिबद्धता कहानी के कलात्मक पक्ष की ओर न होकर आकस्मिकता, चमत्कारिता तथा कौतूहल के प्रति थी। दूसरी ओर परंपरा से चली आ रही शैलियों के कारण नवीनता का अभाव काफी लंबे समय तक कहानियों में बना रहा। नीति, आदर्श तथा धर्म की प्रतिष्ठा के प्रति कर्तव्यपरायण दृष्टिकोण ने उपदेशात्मक कहानियाँ ही साहित्य को दीं। कहानियों का आदि और अंत अतिरंजना और कल्पना से ही होता था। फिर भी इस बात को नकारा नहीं जा सकता है कि आज जो कहानी साहित्यिक विधा के रूप में प्रतिष्ठापित हो गई है उसका आरंभ 'रानी केतकी की कहानी', 'ग्यारन वर्ष का समय', 'दुलाई वाली', 'राजा भोज का सपना', 'इंदुमती', 'भूतों वाली हवेली', 'विचित्र चोरी', 'प्लेग की चुड़ैल' आदि इसी प्रकार की कहानियों से ही हुआ, जिसका विकास आनेवाले युग में प्रेमचंद, कौशिक और सुदर्शन आदि के द्वारा हुआ।

प्रेमचंद युग की यथार्थवादी कहानी

विश्वनाथ त्रिपाठी

प्रेमचंद की कहानियाँ संवत् १९७३ अर्थात् १९१६ ई० से प्रकाशित होने लगीं। अतः हिंदी कहानी में प्रेमचंद युग का प्रादुर्भाव इसी समय से मानना चाहिए। इसके पूर्व यद्यपि यह विधा स्थापित हो चुकी थी और १९१५ ई० में पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' जैसी समर्थ कहानी छप चुकी थी फिर भी प्रेमचंद-पूर्व युग की कहानियों में यथार्थ अपने अनेक पक्षों को उद्घाटित करता हुआ नहीं प्रकट होता। उन कहानीकारों में वह धैर्य नहीं है जो कहानी को व्यापक, जटिल और गंभीर प्रभाव छोड़ जानेवाली कृति बना देता है। उनमें वह अंतस्संघटन नहीं जो कहानी को नुकीलापन प्रदान करता है। कहानीकार को अपने मन का प्रभाव पाठक तक पहुँचा देने की जल्दबाजी है। इसी लिए प्रेमचंद-पूर्व युग की कहानी न उतनी विश्वसनीय है न स्वाभाविक। उसपर बहुआयामी यथार्थ का उतना दायित्व नहीं है जितना कि कहानीकार के मन पर पड़े हुए प्रभाव का। जिसे कि कहानी जल्दी से जल्दी उगल कर छुट्टी ले लेना चाहती है। यह कमजोरी शायद हिंदी कहानी की प्रारंभिकता की अनिवार्यता थी।

प्रेमचंद युग की कहानी यथार्थ को अधिक व्यापकता और गहराई में चित्रित करती है। प्रेमचंद की कहानियाँ विशेष रूप से अपने यथार्थ को पूरी तरह व्यक्त कर देने में तत्पर लगती हैं। प्रेमचंद के समकालीन कहानीकारों में अनेक प्रेमचंद के अनुयायी हैं और अनेक प्रेमचंद के पूरक, यानी जिन क्षेत्रों को प्रेमचंद ने छोड़ दिया है उनपर कलम चलाते हैं। लेकिन इस विषय पर कुछ अधिक लिखने से पूर्व प्रेमचंद युग के यथार्थ के ही महत्वपूर्ण पक्षों पर विचार कर लेना समीचीन होगा। यहाँ यथार्थ से आशय साहित्येतर—आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक यथार्थ से है। प्रेमचंद और उनके युग के कहानीकारों का सम्मिलित विषय क्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें अपने युग की प्रायः सभी समस्याएँ आ गई हैं। इस युग की कहानियों की विशेषताओं पर विचार करते समय इन समस्याओं का बार बार उल्लेख करना पड़ेगा। अभी यहाँ उन पर अलग से विचार किया जा रहा है।

पं० रामचंद्र शुक्ल ने इस युग की राजनैतिक आर्थिक स्थिति की व्याख्या इस प्रकार की है—“अंग्रेजी राज्य जमने पर भूमि की उपज या आमदनी पर जीवननिर्वाह करनेवालों (किसानों और जमींदारों दोनों) की और नगर के रोजगारियों या महाजनों की परस्पर क्या स्थिति हुई। उन्हें यह भी देखना चाहिए कि राजकर्मचारियों का इतना बड़ा चक्र ग्रामवासियों के सिर पर ही चला करता है, व्यापारियों का वर्ग उससे प्रायः बचा रहता है। भूमि ही यहाँ सरकारी आय का प्रधान उद्गम बना दी गई है। व्यापार श्रेणियों को यह सुभीता विदेशी व्यापार को फूँता फलता रखने के लिये दिया गया था, जिससे उनकी दशा उन्नत होती आई और भूमि से संबंध रखनेवाले सब वर्गों की—क्या जमींदार, क्या किसान, क्या मजदूर गिरती गई।” (पृ० ५३५, गद्य साहित्य की वर्तमान गति० हि० सा० इ०)।

प्रेमचंद युग में मुख्य अंतर्विरोध ब्रिटिश साम्राज्य और भारतीय जनता का था। देशी पूँजीवाद का विकास विदेशी इजारेदारों की कृपा पर अवलंबित था। देशी पूँजीवाद का स्वाभा-

विक विकास सामंती व्यवस्था को तोड़कर होता । लेकिन भारत में ऐसा नहीं हुआ । ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपने हित के लिये देशी रजवाड़ों को बनाए रखा, उन्हें संरक्षण प्रदान किया । इस प्रकार उन्होंने भारत में सामंतवाद को कायम रखने का ही काम किया । लेकिन भूमि पर दबाव बढ़ जाने से, बड़े चढ़े लगान के कारण छोटे जमींदारों की भी हालत बिगड़ रही थी । देशी पूँजीवाद का विकास भी अवरुद्ध था । वह विदेशी इजारेदारों की कृपा से ही अपना सीमित विकास कर सकता था । यही स्थिति शिक्षाप्राप्त भारतीयों की भी थी । उच्च पदों पर नियुक्तियाँ अंग्रेजों की ही होती थीं । अतः यह वर्ग भी अंग्रेजों से असंतुष्ट था । मतलब यह कि व्यापक भारतीय समाज का हित छोटे बड़े किसान, छोटे मोटे जमींदार, व्यापारी, देशी पूँजीपति, उच्च शिक्षाप्राप्त लोग, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध था । इसकी चेतना फैलाई महात्मा गांधी ने ।

प्रेमचंद ने साहित्य में प्रवेश लगभग उसी समय किया जब राजनीति में गांधी ने प्रवेश किया । प्रेमचंद को आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कलाकार, गांधीवादी, समाजसुधारक आदि कहकर यही प्रकट किया जाता है कि वे गांधीवाद से प्रभावित और उसके सिद्धांतों के अनुसार साहित्य-रचना करनेवाले कथाकार थे ।

गांधीजी ने भारतीय राजनीति को गाँव गाँव में फैला दिया । उनके पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस उच्चमध्यवर्गीय लोगों की ऐसी संस्था थी जिसका काम प्रस्ताव पारित करना था । गांधीजी ने राजनीति को आंदोलन का रूप दिया । ऐसा सर्वग्राही और अखिल भारतीय व्यापक आंदोलन जो हमारे देश में अभूतपूर्व था । 'उन्होंने कांग्रेस की उस पुरानी नीति को बदला जो अंग्रेजों के सामने रोना और गिड़गिड़ाना ही जानती थी । अर्जिनवीस लोग कांग्रेस छोड़कर अलग गुटबंद हुए । गांधीजी का यह युगांतरकारी महत्व था कि रूस से लगभग दुगुनी आबादी के विशाल देश—संयुक्त भारत—की करोड़ों जनता को उन्होंने राजनीतिक जीवन की दीक्षा दी । क्रांतिकारी और भी थे, आज भी हैं । लेकिन गांधीजी से अधिक जनता को राजनीतिक जीवन में खींचकर कोन लाया है ?' (समस्याएँ : प्रेमचंद और उनका युग—डॉ० रामविलास शर्मा) ।

गांधीजी की राजनीति की विशेषता यह थी कि उन्होंने राजनीति को अध्यात्म और संस्कृति से भी जोड़ दिया । वे अपने युग की विकसनशील ऐतिहासिक शक्तियों के प्रतीक बन गए । उनकी राजनीति भारतीय संस्कृति और भारतीय परंपरा का ही विकास मालूम पड़ती थी । गांधीजी ने भारतीय भाषा में, भारतीय मिथकों, मुहावरों के द्वारा भारतीय मानस को प्रभावित, सक्रिय किया । गांधीजी का योगदान समाज के सभी पक्षों पर था । उनका आग्रह मूलतः राजनैतिक नहीं, नैतिक था । वे स्त्रीशिक्षा, अछूतोंद्वारा, चर्खा, सफाई, नशाबंदी, ब्रह्मचर्य, आरोग्य सभी क्षेत्रों में आंदोलन के द्वारा सुधार लाना चाहते थे । उनका व्यक्तित्व सर्वग्राही था । गांधीवादी आंदोलन भी सर्वग्राही था ।

लगभग यही सर्वग्राहिता हमें प्रेमचंद की कहानियों में मिलती है । प्रेमचंद की कहानियों का क्षेत्र इतना विशद एवं व्यापक है, उनके पात्र इतने विविध हैं कि उनकी कहानियाँ तत्कालीन उत्तरी भारत—विशेषतः हिंदीभाषी क्षेत्र का प्रतिरूप बन गई हैं ।

प्रेमचंद का महत्व जानना हो तो उनके पूर्व और उनके बाद की हिंदी कहानियों को देखें ।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि हिंदी कहानी की इतनी सुदीर्घ यात्रा एक कहानीकार ने तय की। प्रेमचंद ने लोकगाथात्मक, पुनर्जन्म का आभास देनेवाली, उपदेशपरक, आदर्शोन्मुख, यथार्थवादी, सभी प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं।

प्रेमचंद अपने यथार्थ और अपनी परंपरा की उपेक्षा न करनेवाले रचनाकार हैं। रचनाकार 'कागदलेखी' नहीं 'आँखिनदेखी' कहता है। वे भारतीय जनता का पथ प्रदर्शन तो करते हैं, पाठकों की रुचि का परिष्कार भी करते हैं, जीवन मूल्यों का निर्माण करते हैं किंतु पाठकों और भारतीय जनता के साथ रहकर। साथ रहने का मतलब उनके जीवन का ही चित्रण करके। वे जीवन को सामान्य जनता अर्थात् अपने अधिकांश पात्रों के मुहावरों में प्रस्तुत करते हैं—यह नहीं कि एक पढ़ा लिखा व्यक्ति जो कहानीकार हो गया है, जीवन को जैसा देखता है। यही कारण है कि प्रेमचंद की अनेक कहानियों में अनेक रूढ़ियाँ अपने आप समा गई हैं। प्रेमचंद ने देशी विदेशी रचनाकारों का व्यापक अध्ययन किया था। वे गाँधीवाद समाजवाद से प्रभावित थे। उन्होंने स्वयं लिखा है कि 'मैं बोल्शेविक उमूलों का लगभग कायल हो गया हूँ।' 'महाजनी सभ्यता' जैसा निबंध कोई अप्रतिबद्ध या तथाकथित 'तटस्थ' विचारक नहीं लिख सकता। लेकिन रचनाकार के रूप में प्रेमचंद अपनी जीवनदृष्टि रचनाकार पर आरोपित नहीं करते उनकी रचनाओं में जीवनदृष्टि रची बसी होती है। निश्चित ही वे विषयवस्तु का चयन, न्यास, संघटन, प्रस्तुति विशिष्ट जीवनदृष्टि से ही करते हैं किंतु जीवन को क्षतविक्षत करके नहीं, उसे स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करके। स्वाभाविक का मतलब वैज्ञानिक नहीं, जनमानस को स्वीकार्य। चाहें तो इसे मनोवैज्ञानिक यथार्थ कह लें। लेकिन तब यह अनिवार्य न होगा कि जो वैज्ञानिक हो, वह मनोवैज्ञानिक यथार्थ भी हो। भारतीय जनता के बीच युग युगों से अनेक रूढ़ियाँ चली आ रही हैं। अंधविश्वास, मान्यताएँ और भावसत्य के रूप में स्वीकृत पता नहीं कितनी बातें प्रचलित हैं। आधुनिक दृष्टि से संपन्न रचनाकार भी यदि ऐसे लोगों को अपना पात्र बनाता है तो उसे चित्रण उन्हीं जैसा करना पड़ेगा—स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता से यही आशय है। ऐसे लोगों की मानसिकता कहानी में नहीं बदलेगी, कहानी के द्वारा शायद बदल सकती है। अधिक संभावना तो इस बात की है कि वह व्यवस्था या स्थितियों के परिवर्तित होने से बदलेगी। प्रेमचंद इसे जानते थे। उदाहरण के लिये प्रेमचंद की कहानी 'डामुल का कैदी' लें।

सेठ खूबचंद के हाथों मजदूर युवक गोपीनाथ की हत्या हो गई और सेठ को १५ साल की डामुल (काले पानी) की कैद हुई। सेठजी के जेल जाने के सातवें महीने उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई। लड़के का नाम कृष्णचंद्र रखा गया। सेठ की पत्नी प्रमीला ने पुत्र का लालन-पालन बहुत अच्छी तरह किया। कृष्णचंद्र की शकल गोपीनाथ पर गई है 'सब यही कहते हैं कि तुम भैया गोपीनाथ का रूप घर कर आए हो।'

यही नहीं गोपीनाथ का चित्र देखकर कृष्णचंद्र की माँ तक उसे कृष्णचंद्र का चित्र समझती हैं। सेठजी जब छूटकर आए तो मजदूरों के मुहल्ले में जन्माष्टमी देखने गए। वहाँ कृष्ण की मूर्ति देखकर सर झुक गया। 'सेठजी ने बाल रूप भगवान के सामने जाकर सर झुकाया और उनका मन अलौकिक आनंद से खिल उठा। उस झाँकी में उन्हें कृष्णचंद्र की झलक दिखाई

दी। एक ही क्षण में जैसे उसने गोपीनाथ का रूप धारण किया। दाहिनी ओर में देखते थे तो कृष्णचंद्र, बायीं ओर से देखते थे, तो गोपीनाथ।'

यह मानना मुश्किल है कि इस कहानी में पुनर्जन्म विषयक प्रेमचंद का अपना दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। मजदूर युवक गोपीनाथ ने मरने के पहले सेठजी का मन मोह लिया था। उसने क्रुद्ध मजदूरों से सेठजी की रक्षा की यद्यपि उसपर गोली सेठ ने ही चलाई थी। इस घटना का सेठ के मन पर सेठ की पत्नी प्रमीला और मजदूरों पर निश्चय ही बहुत गहरा प्रभाव पड़ा होगा। सेठजी को पुत्र की प्राप्ति इस घटना के लगभग—यानी गोपीनाथ की मृत्यु के बाद हुई। ऐसे अवसरों पर जरा सी समानता होने पर यह मान लेते हैं कि मृत व्यक्ति ने ही अमुक रूप में जन्म लिया है। यहाँ गोपीनाथ और कृष्णचंद्र का रूपसाम्य, केवल रूपसाम्य नहीं व्यंजित कर रहा है। रूपसाम्य के माध्यम से वह सेठजी, प्रमीला और लोगों की परिवर्तित-धारणा को व्यक्त कर रहा है। सेठ खूबचंद निर्धन हो चुके हैं। उनकी विलासिता और समृद्धि हवा हो चुकी है। वे अब कृष्णचंद्र रूपी गोपीनाथ जैसे मजदूर युवक के पिता हैं। कृष्णचंद्र भी गोपीनाथ की ही भाँति मारा जाता है और इस प्रकार जैसे कृष्णचंद्र और गोपीनाथ का साम्य पूर्ण होता है। इसके बाद सेठ खूबचंद जब जन्माष्टमी में बालकृष्ण की छवि देखते हैं तो उन्हें वह मूर्ति एक ओर से गोपीनाथ की दिखलाई पड़ती है दूसरी ओर से कृष्णचंद्र की।

इस कहानी में लोकविश्वास को पूरी तरह स्थापित करने के लिये घटनाओं को उसी के अनुकूल मोड़ लिया गया है। कहानी का घटना व्यापार गाँव की चौपाल पर सुनी किसी लोक वार्ता की याद दिलाता है। यहाँ प्रेमचंद ने कहानी का कथानक जनसामान्य की रुचि और विश्वास को ध्यान में रखकर गढ़ा है, आधुनिक शिक्षितों, आलोचकों, बुद्धिजीवियों को ध्यान में रखकर नहीं। जो एक समूह के लिये स्वाभाविक हो, जरूरी नहीं दूसरे के लिये भी स्वाभाविक हो। सेठ पुत्र और मजदूर दोनों को पूर्ण रूप से एक कर दिया गया है। हृदय परिवर्तन है किंतु वह आकस्मिक नहीं उसका आधार है। इसी प्रकार सेठपुत्र और मजदूर युवक का समान अंत भी आकस्मिक या नियतिवाद के कारण नहीं, यह समानता ठोस स्थितियों के कारण है। समान भ्राकृति लोकविश्वास पर आधारित है किंतु अन्य व्यापार स्थितियों के कारण विकसित होते हैं। उनमें कार्यकारण की परंपरा है। सेठ पुत्र ऐतिहासिक दृष्टि से सेठ का विकसित रूप है। सेठ नहीं लेकिन उनकी संतान, उनकी भावी पीढ़ी मजदूर से एकमेक हो सकती है। इतिहास में यदि एकता संभव हो तो हमारी महान् सामाजिक विजय होगी। यह स्मरणीय है कि कहानी में इस एकता के अंतराल में मिल में होनेवाली हिंसक वारदातें हैं, मजदूरों का क्रुद्ध प्रदर्शन है, सेठ का गोली चलाना है और फिर फौजी गारद द्वारा गोली चलाए जाने पर सेठपुत्र कृष्णचंद्र की मृत्यु है। सेठ खूबचंद मजदूर युवक पर गोली चलाते हैं किंतु उनकी संतान मजदूर गति प्राप्त करता है। इस दृष्टि से यह स्थिति प्रतीकात्मक बन जाती है।

पुनर्जन्म पर विश्वास वैज्ञानिक न सही किंतु यह कहानी उन लोगों की हो सकती है जो पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं।

आत्माराम, रानी सारंघा जैसी कहानियाँ लोकवार्ता का पुट लिए हैं। आत्माराम का तोता मानों अपने मालिक को प्रेम का प्रतिदान दे देता है। उसी को ढूँढ़ते ढूँढ़ते आत्माराम को सोने की मोहरें मिल जाती हैं। लोकवार्ताओं में इस प्रकार आकस्मिक धन मिल जाने की

घटनाएँ इतनी आती हैं कि उन्हें कथानक रुढ़ि माना जा सकता है। यही नहीं, कहानी के अंत में प्रेमचंद यह भी लिखते हैं कि अभी भी उस गाँव में आधी रात को सुनाई पड़ता है—

शिवदत्त, हरिदत्त, गुरुदत्त दाता
राम के चरन में चित्त लागा।

प्रेमचंद ने कहानी कहने की कला पश्चिम से नहीं सीखी थी। उनकी प्रारंभिक और अधिकांश कहानियों पर मध्यकालीन प्रकथनात्मकता का गहरा असर है। बैतालपचीसी, सिंहासनबतीसी, तोतामैना आदि कथाकृतियों से प्रेमचंद की कहानियाँ जुड़ी लगती हैं। अक्सर वे कहानी इस ढंग से शुरू करते हैं मानों चौपाल पर बैठा हुआ कोई बुजुर्ग कहानी सुना रहा हो—

यह वह समय था जब चित्तौड़ में मृदुभाषिणी मीरा प्यारी आत्माओं को ईश्वरप्रेम के प्याले पिलाती थी। रणछोड़ जी के मंदिर में जब भक्ति से विह्वल होकर वह अपने मधुर स्वरों में अपने पीयूषपूरित पदों को गाती तो श्रोतागण प्रेमानुराग से उन्मत्त हो जाते। '.....' एक बार ऐसा संयोग हुआ कि (मर्यादा की वेदी) 'किसी गाँव में शंकर नाम का एक कुरमी किसान रहता था। सीधा सादा गरीब आदमी था, अपने काम से काम, किसी के लेने में न देने में।'

किस्सा शुरू करने का यह ढंग बिलकुल पंचतंत्र या जातकों का है।

कहने का मतलब यह कि प्रेमचंद कहानी कहते और सुनाते हैं। कहानी कहते समय उनकी चेतना से श्रोता और पाठक, उनकी रुचि, उनका बोध, उनके विश्वास कभी ओझल नहीं होते। उनकी कहानियों के रचनाविधान में उनका श्रोता पाठक निहायत अंतरंगता से घुलमिला है। प्रेमचंद की कहानियों की लोकप्रियता का यह सबसे बड़ा कारण है।

महान् रचना युगीन होकर ही कालजयी होती है। युगीन रचना का मतलब युग का सतही चित्रण नहीं बल्कि उसके अंतर्विरोधों का चित्रण। प्रेमचंद ने किस्सागोई तो पुराने किस्सों-कथाओं से लिया लेकिन वस्तुविषय उन्होंने अपने समसामयिक जनजीवन को बनाया। हम आगे देखेंगे कि इससे किस्सागोई का पुराना ढाँचा भी बिलकुल वही नहीं रह गया। प्रेमचंद-पूर्व कथाकार श्रोता पाठक को किसी कल्पित लोक में फँक देते थे या अपने भावात्मक निष्कर्षों तक बहुत जल्दी पहुँचा देते थे। कुल मिलाकर वे भोज्य सामग्री परोसनेवालों की तरह ही थे जिसमें भोक्ता को रस लेने के लिये स्वयं अपने बोध का व्यायाम नहीं कराना पड़ता, श्रोता, पाठक को रचना में संपृक्त सक्रिय नहीं होना पड़ता। उसे केवल कौतूहल या मनोरंजन होता है। प्रेमचंद ने श्रोता, पाठक की आँखों के सामने उसकी समस्याएँ खोलकर रख दीं। उनकी विषमता का, अंतर्विरोधों का चित्रण किया। प्रेमचंद ने कहानी को कौतूहल या मनोरंजन का विषय ही न बना रहने देकर उसे गंभीर विद्या का रूप दिया। उनकी कहानियाँ पढ़कर पाठक को अपनी, अपने जीवन की, समाज की, परिवेश की नई पहचान होती है। जीवन उसके सामने उसी रूप में नहीं रह जाता, जैसा कि पहले चित्रित किया गया था। किस्सागोई की शैली सार्थक एवं रचनात्मक छल बनकर रह जाती है। पाठक को पढ़ते समय लगता है कि वह किसी सहज, जाने-पहचाने चित्रों को देख रहा है। लेकिन उन जानेपहचाने चित्रों की गतिमयता ऐसे अंतस्संबंधों को जन्म देती है जिनके चलते पाठक उन्हें नए रूप में पा लेता है। यही प्रेमचंद की कहानियों की आधुनिकता या जादू है। पुरानी किस्सागोई के छल से पाठकों का विश्वास अजित करना

फिर घटनाव्यापार के माध्यम से उन्हें नवीन संदर्भों में प्रस्तुत कर देना ही समकालीन जीवन के अंतर्विरोधों का चित्रण करना है। पात्र तो जाने पहचाने हैं, घटनाएँ भी अनजानी नहीं हैं, केवल उनकी योजना ऐसी की गई है कि पुराने अंतस्संबंध परिवर्तित हो गए हैं। यही परिवर्तित अंतस्संबंधों का बोध आधुनिक बोध है। अन्य लोग केंद्रीय या युग का केंद्रीय अंतर्विरोध मूल में न रखकर गौण अंतर्विरोधों को रचना का आधार बनाते हैं अतः वास्तविक युगीन मूल्य नहीं संप्रेषित कर पाते। प्रेमचंद ने अपने युग के केंद्रीय अंतर्विरोध अर्थात् आर्थिक राजनैतिक अंतर्विरोध पर रचना दृष्टि को आधारित किया है, इसलिये वे गहरे भी, व्यापक भी, युगीन भी और कालजयी भी हैं। प्रेमचंद की सभी कहानियों में केंद्रीय अंतर्विरोध की यह पहचान नहीं मिलती। कहानियों की अपेक्षा यह पहचान उनके उपन्यासों में उजागर है किंतु निश्चय ही प्रेमचंद की श्रेष्ठ कहानियाँ वे ही हैं जिनमें यह अंतर्विरोध रचना का आधार है। आधुनिक युग में सबसे पहले यह बोध भारतेन्दु की रचनाओं में मिलता है। उनके बाद हिंदी साहित्य की मुख्य धारा में यह बोध जटिलतर होते हुए व्यापक और विकसित होता गया है।

प्रेमचंद की सुप्रसिद्ध कहानी 'पूँस की रात' को लें।

कहानी का प्रारम्भ इस वाक्य से होता है—'हल्कू ने आकर स्त्री से कहा—सहना आया है, लाओ, जो रुपये रखे हैं, उसे दे दूँ, किसी तरह गला तो छूटे।'।

कहानी का शीर्षक है पूँस की रात। समस्या जाड़े की ठंड से बचने की है। जाड़े की ठंड से बचने के लिये कंबल चाहिए। कंबल के लिये रुपए हल्कू के पास थे। 'उसने मजूरी से एक एक पैसा काट काट कर तीन रुपए कंबल के लिये जमा किए थे।' खेत उसकी संपत्ति थी। लेकिन इस संपत्ति से उसे कोई लाभ नहीं हो रहा था। उसके पास दूसरी संपत्ति थी—शरीर की। वह मजूरी करके पैसे इकट्ठा करता था। वे पैसे खेत खा जाता था। भूमि पर लगान बढ़ रहा था, दबाव बढ़ रहा था। छोटे किसानों के लिये भूमि संपत्ति न रह कर विपत्ति का स्रोत बन गई थी। छोटा किसान कर्ज के नीचे दबा जा रहा था। इस स्थिति के राजनैतिक, आर्थिक, अंतर्राष्ट्रीय कारण हल्कू की पत्नी नहीं जानती थी किंतु इसे भोग रही थी। अतः कहती है—'न जाने कितनी बाकी है जो किसी तरह चुकने में ही नहीं आती। मैं कहती हूँ, तुम क्यों नहीं खेती छोड़ देते? मर मर काम करो, उपज हो तो बाकी दे दो, चलो छुट्टी हुई। बाकी चुकाने के लिये ही तो हमारा जनम हुआ है। पेट के लिये मजूरी करो। ऐसी खेती से बाज आए '.....तुम छोड़ दो अबकी से खेती। मजूरी में सुख से एक रोटी खाने को तो मिलेगी।'।

प्रेमचंद के युग में छोटा किसान मजदूर बन रहा था। हल्कू उसी प्रकार मजदूर बना जैसे होरी और गोबर। देश की आर्थिक स्थिति का व्योरा, उसी का नक्शा ढाँचा अरूप ही बना रहता है। वह रूपायित होता है व्यक्ति की जीवन स्थितियों में आकर। उसका शब्दबद्ध चित्रण करना साहित्य का काम है। इसी में यथार्थ का प्रवाह और उसकी दिशा भी संकेतित हो उठती है।

लेकिन खेत की फसल नष्ट हो जाने पर हल्कू की जो प्रतिक्रिया होती है वह पाठक को थोड़ा असमंजस में डाल सकती है। मेरा ख्याल है कि असमंजस सामान्य पाठक को कम आलोचक को ज्यादा होता है। 'दोनों खेत की दशा देख रहे थे। मुन्नी के मुख पर उदासी छाई थी पर हल्कू प्रसन्न था।

मुन्नी ने चिंतित होकर कहा—‘अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी होगी ।’

हल्कू ने प्रसन्न मुख से कहा—‘रात के ठंड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा ।’

यहाँ किसान फसल नष्ट हो जाने पर राहत महसूस कर रहा है । अकर्मण्य किसान ऐसा सोचते हैं । लेकिन इस अकर्मण्यता के पीछे उनका चरित्र या कोई पैतृक, पारिवारिक दुर्गुण नहीं । भूमि का स्वामित्व बोज़ बन जाता है । वह किसी प्रकार की सुविधा देने के बदले केवल असुविधा, अपमान, उत्पन्न और कष्ट देता है । ऐसी संभावनाहीन और दुःखद स्थिति छोटे किसान को अकर्मण्य बना देती है । प्रायः लोग अकर्मण्य सामाजिक विसंगति या स्थिति की तर्कहीनता के कारण होते हैं । जब श्रम का फल नहीं मिलता तो श्रम क्यों किया जाए ? जब सब कुछ करने से भी कुछ नहीं होता तो कुछ भी क्यों किया जाए ?

सिर्फ यही नहीं, अपना श्रम ही श्रमिक के विरुद्ध हो जाता है । मजदूर के श्रम का फल मिल मालिक को मिलता है । मिल मालिक और शक्तिशाली होता है जिससे वह मजदूर का दमन और शोषण करता है । इस तरह मजदूर का श्रमिक उसके व्यक्तित्व से कटकर न केवल अलग हो जाता है बल्कि वह व्यक्तित्वांग अपने ही व्यक्तित्व के विरुद्ध खड़ा होता है । आत्मनिर्वासन की यह प्रक्रिया हल्कू के साथ भी घटित होती है । उसका श्रम फसल है जो उसका नहीं, सेठ का होगा । जो अपना नहीं उसके नष्ट हो जाने का दुःख कैसा ! उल्टे प्रसन्नता इसलिये कि कम से कम अब श्रम तो नहीं करना होगा, पूरा की रात में घर के बाहर तो न सोना पड़ेगा । और आदमी का यह एकत्व ही व्यंजित कर देता है कि हल्कू की स्थितियाँ कितनी अमानवीय हैं ।

कहानी के पात्र आत्मनिर्वासन की इस प्रक्रिया को नहीं जानते । वे सिद्धांत और नीतियाँ नहीं जानते । आत्मनिर्वासन की अवधारणा प्रेमचंद को अवगत थी इसका प्रमाण नहीं किंतु यह सब स्थितियों की विषमता में निहित था । प्रेमचंद ने स्थितियों का चित्रण किया तो वह विषमता पात्रों के जीवन में घटित होती हुई दिखलाई पड़ी । अंतर्विरोध अपने आप खुल जाता है ।

इसी तरह ‘कफ़न’ के पात्रों की अमानवीय स्थिति है । वे भी अकर्मण्य, कामचोर और चोर हैं । बेटे की माँ प्रसववेदना से तड़फड़ा कर मर रही है और दोनों अलाव के सामने भुना हुआ आलू पा लेने के लिये एक दूसरे को झाँसा दे रहे हैं । पिता के जीवन का सबसे बड़ा सुखद अनुभव है भरपेट पूड़ी तरकारी खाने की घटना । औरत के चीखने मरने की स्थिति के साथ घीसू माधव के ये पैतरे और भरपेट पूड़ी तरकारी खाने की महत्वाकांक्षा एक ऐसा व्यंग्य उत्पन्न करती है जिसकी मिसाल अन्यत्र मिलना दुर्लभ है । व्यंग्य विरूपता से उत्पन्न होता है । ओचित्य से सुपमा आती है और अनोचित्य से विषमता । यह विरूपता शारीरिक, स्थूल भी होती है और सामाजिक नैतिक भी । जो होना चाहिए, जो तर्कसंगत है, उचित है, नैतिक है, वह नहीं होता तो विरूपता आती है । यह विरूपता हास्य और पीड़ा से साथ साथ जुड़ी होती है । जिसे व्यंग्य कहते हैं वह विरूपताजनक हास्य और पीड़ा दोनों से युक्त होता है । कमसमझ, असंस्कृत और हृदयहीन व्यक्ति उसमें हँसी हो पाते हैं जब कि सहृदय सुसंस्कृत लोगों के लिये वह हँसी पीड़ा को कहीं अधिक तीव्र बना देती है । प्रेमचंद इस कला में लासानी है । डॉ० रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि वे कबोर के बाद हिंदी के सबसे बड़े व्यंग्यकार हैं । कफ़न में

घोसू माधव का बफ़न के पैसे से शराब पी लेना, भोजन कर लेना, फिर गाना बहुत हास्यास्पद लगता है, उनके असामाजिक एवं अमानवीय आचरण पर क्षोभ भी होता है। किंतु इसके लिये हमारी समझ उनको दोष नहीं दे सकती। अमानवीय आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के सामने वे निहायत असहाय और निरीह प्रतीत होते हैं। जैसे खाने पीने के बाद उनकी उदारता क्षणिक और संदिग्ध है उसी प्रकार उनकी तृप्ति और उनका गायन भी क्षणिक और छद्म है। वह उनकी वास्तविक असहायता और आजीवन अभावग्रस्तता को ही उजागर करता है। जवान बीबी प्रसवपीड़ा से छटपटा कर मरती है यह नारी के प्रति पुरुष का अमानवीय रुख भी कहा जा सकता है किंतु यह बात घोसू माधव के लिये उतना लागू नहीं होती। वे खुद व्यवस्था की अमानवीयता से ग्रस्त हैं। पत्नी की पीड़ा का कारण घोसू माधव नहीं। घोसू माधव के हाथ में पैसा नहीं, अतः वे पत्नी की पीड़ा कम नहीं कर सकते। पीड़ा का कारण स्त्री का शरीर है। यों पत्नी की प्रसववेदना को चीख में घोसू माधव की आर्थिक दुरवस्था का ही स्वर सुनाई पड़ता है।

‘पूँस की रात’ और ‘बफ़न’ जैसी कहानियों में वेबल समसामयिकता नहीं है। युग के केंद्रीय अंतर्विरोध यानी आर्थिक अंतर्विरोध को पात्रों की स्थितियों में छान लिया गया है। वह इतना सूक्ष्म हो गया कि ऊपर ऊपर से दिखलाई नहीं पड़ता। यद्यपि इसी के कारण वह पात्रों और घटनाओं में सर्वत्र फँस गया है। समस्या आर्थिक है किंतु चित्रण उस स्थिति का है जिसमें यह व्याप्त है। इसलिये ये कहानियाँ समस्याप्रधान मजमूनी या किसी प्रसंग या प्रकरण को ध्यान में रखकर लिखी गई नहीं लगतीं। इन कहानियों की उत्कृष्टता का यह बहुत महत्वपूर्ण लक्षण है। ये कहानियाँ अखंड मानवीय स्वभाव के किन्हीं पक्षों को उद्घाटित करके स्वभाव की अखंडता को व्यंजित करती हैं। इनमें रचनात्मक पूर्णता है। रचनात्मक दृष्टि से ये छोटी कहानियाँ विकलांग बिल्कुल नहीं हैं।

प्रेमचंद ने समसामयिक विषयों को भी ध्यान में रखकर कहानियाँ लिखी हैं। हृदय परिवर्तन की ‘जादू की छड़ी’ का इस्तेमाल प्रेमचंद ने इन्हीं कहानियों में प्रायः किया है। ‘मैकू’, ‘इस्तीफा’, ‘बड़े घर की बेटी’, ‘पंच परमेश्वर’ इत्यादि कहानियाँ इसी कोटि की हैं। ये कहानियाँ भी मार्मिक और प्रभावशाली हैं, लोकप्रिय भी हैं। हृदय परिवर्तन की विधि का उपयोग करने के बावजूद ये कहानियाँ मार्मिक और लोकप्रिय क्यों हैं? लेकिन डॉ० रामविलास शर्मा जैसे प्रेमचंद के प्रशंसक ने इन कहानियों के बारे में लिखा है—‘उनकी सबसे असफल कहानियाँ वे हैं जिनमें उनका उद्देश्य हृदय परिवर्तन दिखलाना है। इनमें उनका यथार्थवादी चित्रण अपनी चमक खो देता है और उसके बदले आदर्शवादी अस्वाभाविकता का मुलम्मा ही पल्ले पड़ता है।’ (प्रेमचंद और उनका युग)।

हृदयपरिवर्तन के कारण कथानक का स्वाभाविक क्रम या नैरंतर्य झटका खाकर टूट जाता है। हृदयपरिवर्तन घटनाविवास को खा जाता है। झटका लगता है, समाधान हो जाता है लेकिन रचना में दरार पड़ जाती है—यह सब ठीक है। लेकिन ज्यादा ठीक आलोचक के लिये है। मुझे लगता है झटका और दरार की बात सामान्य भारतीय पाठक के लिये उतनी ठीक नहीं।

यह हृदयपरिवर्तन गाँधीवादी आदर्शवाद से प्रेरित है। यह आदर्शवाद हर जगह आरोपित

भी नहीं लगता। वह कथानक की माँग जैसा लगता है। कारण यह कि प्रेमचंद समस्याओं का चित्रण करने में आदर्शवादी नहीं। वे समस्याओं का चित्रण यथार्थवादी पद्धति से करते हैं। विषमताओं, अंतर्विरोधों का भरपूर, विवरणात्मक चित्र खींचते हैं। लेकिन उन समस्याओं का समाधान उनके पास नहीं। समाधान सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक स्थितियों में नहीं। अविकसित पूँजीवाद के सामने समाजवादी समाधान का चित्र बहुत स्पष्ट नहीं होता क्योंकि तब तक पूँजीवादी या व्यक्तिवादी विचारधारा के विकास की संभावनाएँ बनी रहती हैं। गांधीवाद मूलतः अविकसित पूँजीवाद की संभावनाओं से युक्त व्यक्तिवादी विचारधारा है। उस स्थिति में वह प्रगतिशील और मानवीय विचारधारा थी। जो लोग गांधीवादो आदर्शवादिता की ही ध्यान में रखकर उसे प्रतिक्रियावादी विचारधारा मानते हैं वे भूल जाते हैं कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सर्वाधिक सक्रिय और सफल विरोध गांधीजी की इसी आदर्शवादी और व्यक्तिवादी विचारधारा ने किया था। चूँकि ऐतिहासिक संदर्भ में वह प्रगतिशील विचारधारा थी अतः उसमें सामाजिक चेतना भी समकालीन अन्य सभी विचारधाराओं की अपेक्षा ज्यादा थी, वह व्यावहारिक भी सबसे ज्यादा थी। गांधी का आदर्शवाद समस्याओं का ठोस सामाजिक समाधान नहीं प्रस्तुत कर पाता था किंतु समाधान की दिशा में उन्मुख और सक्रिय करता था। पूँजीवाद का विकास होने, किसान मजदूर आंदोलनों के संगठित और सक्रिय होने पर गांधीवाद के अंतर्विरोध सामने आए और उसका आदर्शवादी मुलम्मा कालांतर में उड़ गया। लेकिन एक विशिष्ट ऐतिहासिक स्थिति में यह आदर्शवाद अनिवार्य एवं प्रगतिशील था। सभी स्वप्न बुरे नहीं होते। लेनिन ने कहा है—‘हमें स्वप्न देखना ही चाहिए।’

इसलिये आदर्शवादी समाधान, या हृदयपरिवर्तन सर्वत्र झटका देकर रचनात्मकता को तोड़ता ही नहीं। हृदयपरिवर्तन समाज में दिखलाई पड़ता था। गांधीवादी आंदोलन ने हृदय परिवर्तन की मिसालें कायम कर दी थीं। अनेक आई० सी० एस० लोगों ने नौकरियाँ छोड़ी थीं, विद्यार्थियों ने विद्यालय छोड़े थे, विदेशी कपड़ों की होलियाँ जलाई गई थीं। मोतीलाल नेहरू, चित्तरंजनदास, भूलाभाई देसाई जैसे समृद्ध बकौल सुख सुविधाएँ छोड़कर जेल में गए थे। युगों के बाद महिलाएँ घर की चारदीवारी से बाहर निकलकर सामाजिक क्षेत्र में कूद रही थीं। हृदय परिवर्तन आदर्श ही नहीं गांधी युग में यथार्थ हो गया था। इसलिये रचना में भी हृदय परिवर्तन झटका या दरार नहीं, वास्तविक और स्वाभाविक है। प्रेमचंद की रचनाधर्मिता का उचित मूल्यांकन प्रेमचंद युग की सक्रियता को समझे बिना कैसे संभव है।

हृदय परिवर्तनवाली सभी कहानियाँ समान रूप से सफल या असफल नहीं। ‘बड़े घर की बेटी’ में बड़े घर की बेटी और उसके देवर और पति का हृदयपरिवर्तन होता है। समस्या का केंद्र यहाँ भी आर्थिक है किंतु वह उद्घाटित होता है मायके और ससुराल की मिथ्या होड़ में। यह एक रूढ़िगत और मनोवैज्ञानिक समस्या है। संयुक्त परिवार आर्थिक दबाव से टूट रहा था इसमें कोई संदेह नहीं। किंतु यहाँ तोड़नेवाले उन आर्थिक दबावों की उपस्थिति नहीं है। उपस्थिति मायके-ससुराल की होड़ है। फिर संयुक्त परिवार के संस्कार इतनी जल्दी नहीं टूटते। भारत में संयुक्त परिवार सामाजिक मूल्य का दर्जा रखते हैं। फलतः ‘बड़े घर की बेटी’ की मायका-ग्रंथि यदि इस मूल्य के सामने सुलझ जाती है हृदयपरिवर्तन के द्वारा, तो यह हृदय परिवर्तन अस्वाभाविक नहीं।

दूसरी तरफ 'मैकू' और 'इस्तीफ़ा' का हृदयपरिवर्तन है। वह हृदय परिवर्तन एक क्षण का उद्वेलन है। पूरी तरह अस्वाभाविक यह भी नहीं। क्योंकि मैकू को अपने तमाचे के निशान स्वयंसेवक के गाल पर नज़र आते हैं और इस्तीफ़ा के नायक के मन में उसकी पत्नी की तेज-स्वित्ता है। लेकिन 'इस्तीफ़ा' बहुत विश्वसनीय नहीं लगता। वह आर्थिक आधार से समर्थित नहीं लगता। जैसा कि कहा गया वह मनोवेग का ज्वार मात्र है। 'मैकू' हृदयपरिवर्तन से कम विश्वसनीय 'इस्तीफ़ा' के नायक का हृदय परिवर्तन है। 'मैकू' तो उच्छृंखल निर्धन है। वह कहीं कुछ भी करके पैसा कमा सकता है, 'इस्तीफ़ा' का नायक मध्यवर्गीय है। उसे यह हृदय परिवर्तन बहुत महंगा पड़ेगा। उसका इस्तीफ़ा स्थिति की माँग नहीं, बल्कि उसके मानसिक उद्वेलन की तरंग है। लेकिन यह इस्तीफ़ा स्वाभिमान की माँग है। इस इस्तीफ़े को शायद नैतिक भी नहीं कहा जा सकता—यदि यह माना जाए कि नैतिकता की ऐतिहासिक या सदर्भों से अनुशासित अनिवार्यता है।

'शतरंज के खिलाड़ी' प्रेमचंद की ऐतिहासिक और ऐतिहासिक से ज्यादा राजनैतिक कहानी है। प्रेमचंद ने नादिरशाही कस्लेग्राम और इस्लामी कथाओं से संबंधित ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं किंतु 'शतरंज के खिलाड़ी' में स्थिति का जो व्यंग्य है वह अन्य कहानियों में नहीं। इस कहानी के विवरण बहुत भरपूर हैं। नवाबों के दिनों का सांस्कृतिक ह्रास इस कहानी में सजीव हो उठा है। नवाब वाजिदअली शाह के जमाने को साकार करने के लिये नवाब वाजिदअली शाह को नहीं लाया गया है। वाजिदअली शाह एक प्रवृत्ति के प्रतीक थे। उस जमाने का प्रायः हर छोटा मोटा सामंत और खाता पीता आदमी छोटा मोटा वाजिदअली शाह रहा होगा। 'रक्त की शुद्धता' मिथ्या वंशभिमान सामंतवाद में बहुत चलता है। मिरजा और मोर शतरंज खेलते खेलते शतरंज के मोहरों के लिये प्राण त्याग कर देते हैं लेकिन देश, नवाब, राष्ट्र की दुरवस्था से उनके कान पर जूँ तक नहीं रेंगती। यही विडंबना इस कहानी को मार्मिक बना देती है। नेपथ्य में नवाबों के दिनों का ऐतिहासिक राष्ट्रीय संकट है, विदेशी शक्ति के सर्वग्रासी बढ़ते चरण हैं और उसके जवाब में मिरजा और मोर जैसे 'सामंतों' का विलास, मिथ्या दंभ और रक्त का अहंकार है। शतरंज के खिलाड़ी खिलाड़ी क्या हैं खुद मोहरों के समान असहाय, निर्जीव और पराए हाथों द्वारा चालित हैं। नवाबी युग की ह्रासोन्मुख संस्कृति का इतना मार्मिक एवं सजीव चित्रण हिंदी के किसी अन्य रचनाकार ने नहीं किया। प्रेमचंद में तीव्र ऐतिहासिक बोध था। समसामयिक एवं आधुनिक बोध किस तरह ऐतिहासिक बोध को तीव्र बनाता है या यों कहें कि आधुनिक बोध के बिना इतिहास का ठीक बोध नहीं हो सकता, यह प्रेमचंद की रचनाओं से प्रकट होता है। जिन प्रेमचंद ने अपने समकालीन जीवन के अंतर्विरोधों का चित्रण किया उन्होंने ही अतीत के युग को एक कहानी में सजीव किया।

प्रेमचंद ने समाज के प्रायः सभी विषयों से संबंधित कहानियाँ लिखी हैं। नारी शिक्षा, विधवा विवाह, नौकरशाही, वेश्यावृत्ति, नशाबंदी, स्वदेशी आंदोलन, वर्णव्यवस्था शायद कोई सामाजिक विषय उनकी लेखनी से अछूता रह गया हो। उन्होंने हर क्षेत्र में पीड़ित व्यक्ति को सहानुभूति दी है। मध्य और उच्चवर्ग के पीड़ित मन को भी समझा है। जहाँ जहाँ मानवीय पीड़ा है प्रेमचंद वहाँ प्रायः मौजूद हैं।

प्रेमचंद के नारी पात्र भी विविध प्रकार के हैं। शहराती, ग्रामीण, उच्चवर्ग, मध्यवर्ग,

निम्नवर्ग, सती, असती, पति को त्याग की शिक्षा देनेवाली, सब तरह के नारी पात्र प्रेमचंद की कहानियों में मिल जाएंगे। प्रेमचंद ने नारी पात्रों का चित्रण बहुत कुछ उनकी वर्गीय स्थिति को ध्यान में रखकर किया है। वे मानव स्वभाव की विचित्रता, विविधता को पहचानते हैं। यह मानव स्वभाव बहुत कुछ भौतिक स्थितियों के कारण निमित्त होता है इसे प्रेमचंद जानते हैं। इसी लिये प्रेमचंद के निम्नवर्गीय नारी पात्र प्रायः कामचोर नहीं होते। उनके जीवन मूल्य भी प्रायः विघटित नहीं मिलते। प्रेमचंद की कहानियों की ऐसी नारियाँ स्थितियों से सीधे टक्कर लेती हैं। मिस पद्मा की समस्या एक तरह की है तो 'लांछन' की नायिका मिस खुरशीद की दूसरी तरह की। 'बूढ़ी काकी' उपेक्षित है तो 'लांछन' की बुढ़िया चुगुलखोर और दूसरों की निंदा में रस लेनेवाली। लेकिन प्रेमचंद की कहानियों में निम्नवर्ग का प्रतिनिधि नारी पात्र सुभागी या घासवाली है। अवर्ण नारियाँ उतना पराधीन नहीं होतीं जितना कि सर्वर्ण नारियाँ। इसका कारण यह है कि वे आर्थिक दृष्टि से अपने पति पर ही अवलंबित नहीं रहतीं स्वयं भी घर में पैसा लाती हैं। उनके चरित्र में विकास की संभावनाएँ ज्यादा हैं। प्रेमचंद ने निम्नवर्ग के और अवर्ण जीवन चरित्रों का गहरा पर्यवेक्षण किया होगा। सुभागी अवर्ण जाति का बालविधवा है। वह अपने माँ बाप की सारी जिम्मेदारी उठा लेती है खेत का, घर का सारा काम करती है। उधार लेकर बाप की मृत्यु पर क्रिया कर्म करती है। कर्ज चुकाती है। अंत में वह अपने शुभचिंतक सज्जन सिंह के अनुरोध पर उनके पुत्र के साथ विवाह कर लेती है। इस कहानी के सुगठित होने का कारण कथानक की आनुपातिक योजना है। यह योजना पात्रों की स्थिति—वर्णगत और आर्थिक दोनों को ध्यान में रखकर की गई है। सर्वर्ण जाति की बालविधवा के चरित्र में विकास की इतनी संभावनाएँ नहीं थीं। सुभागी महतो की लड़की है, खेत उसके पास है। कुम्भी या महतो खेत में खुद काम करते हैं। वे ब्राह्मण, क्षत्रिय किसानों की तरह हल की मूठी पकड़ना पाप नहीं समझते। इनकी स्त्रियाँ पर्दा नहीं करतीं—खाम तोर पर जबतक ये बड़े भूस्वामी न हों। इनके यहाँ विधवाविवाह भी चलता है। यही कारण है कि 'सुभागी' को समाज से कोई खास टक्कर नहीं लेनी पड़ती। कहानी का उद्देश्य सुभागी की कर्मठता दिखाना है। वह लड़की है लेकिन उद्यम की दृष्टि से वह लड़कों से बेहतर है। उसके भाई माँ बाप की सेवा नहीं करते। लेकिन सुभागी माँ बाप की सेवा करती है। मृत्यु के बाद उधार लेकर क्रिया कर्म करती है। इसी कर्मठता ने उसे वह आंतरिक शक्ति भी दी कि पुनर्विवाह करे। कर्मठता और कर्तव्यनिष्ठा ने उसके जीवन का नैराश्य और अंधकार दूर किया, यों कहें कि जीवन जीने की इच्छा प्रदान की। कर्मठता की बहुत बड़ी उपलब्धि होती है सक्रिय जिजीविषा।

नारी पात्रों में विविधता है। प्रेमचंद के यहाँ विविधता बालचरित्रों में भी है। प्रेमचंद के बालचरित्र एक दृष्टि से विशिष्ट हैं। उनकी निरीहता और निश्छलता का प्रेमचंद कहानी में सदैव मानवीय उपयोग करते हैं। बच्चों का मन कल्पना का भंडार होता है। वयस्क उतनी निबंध और साहसपूर्ण कल्पना नहीं कर सकते। बच्चे संवेदनशील भी बहुत होते हैं। जीवन जगत् की विषमता उनको संतुष्ट भी अधिक करती है। प्रेमचंद के बालपात्र प्रायः मानवीय संभावना और सदाशयता के प्रतीक होते हैं। विषम स्थितियों में उनका निरीह आचरण कृत्रि-

मता और कुटिलता के नीचे दबी पवित्र करुणा का संकेत कर जाता है। इस प्रकार वे भावी युग के भी प्रतीक बन जाते हैं। अनुचित आचरण देखकर उनकी निरीहता उस अनीचित्य के विरुद्ध सहज तौर पर प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। बूढ़ी काकी, रामलीला, ईदगाह जैसी कहानियों को देखने पर बालजीवन में उनकी रुचि और तद्विषयक जानकारी से चकित रह जाना पड़ता है। बूढ़ी काकी उपेक्षिता है। एक तो बुढ़ापे के कारण भोजन के प्रति उसकी उत्कंठा, आतुरता और अधैर्य, ऊपर से भतीजे बुद्धिराम की कुटिलता। सवने भोजन दिया बूढ़ी काकी को किसी ने नहीं पूछा। बूढ़ी अपाहिज। 'वे निराशामय रंतोप के साथ लेट गईं। ग्लानि से गला भर भर आता था, परंतु मेहमानों के भय से रोती नहीं। सब सो गए। जगी हैं बूढ़ी काकी और भोली लड़की लाडली। दोनों बार जब उसके माता पिता ने काकी को निर्दयता से घसीटा तो लाडली का हृदय ऐंठ कर रह गया।' वह अपने हिस्से की पूड़ियाँ बूढ़ी काकी को चुपके से दे आती हैं। बूढ़ी काकी की परवाह सिर्फ बच्ची को है।

'रामलीला' कहानी क्या है रामकथा का आधुनिकीकरण है। रामलीला की आरती के पैसे और उसी तरह आबादी जान नर्तकी के बसूले पैसे चौधरी साहब हड़प जाते हैं। जो लड़का रामचंद्र का अभिनय करता है उसे कुछ नहीं मिलता। दिखाने को तो रामचंद्र की राजगद्दी होती है, उनका जुलूस निकाला जाता है किंतु विदाई के समय उन्हें रास्ते का किराया और भोजन भी नहीं दिया जाता। राम लक्ष्मण का अभिनय करने वाले बच्चों को जिस असहाय-वस्था में विदा किया जाता है वह दृश्य राम वनगमन का प्रतीक बनकर झलक उठता है। आखिरकार रामचंद्र के प्रति द्रवित होकर उसका दोस्त दुअनी देता है। दोस्त थानेदार का पुत्र है।

'ईदगाह' का हामिद आदर्श बच्चे की मिसाल है। उसकी दादी बूढ़ी काकी की तरह अर्ध-विक्षिप्त नहीं। वह बुद्धा है लेकिन उद्यमी। हामिद ऐसा गरीब बच्चा है जिसे गरीबी ने स्वावलंबी और आदर्शवादी बना दिया है। गरीबी बच्चे को अनुभवी बना देती है। उसे स्थिति की वास्तविकता का पता बहुत जल्दी लग जाता है। इसी लिये खातेपोते घरों के बच्चे जिस उमर में बच्चे ही रह गए हैं हामिद जिम्मेदार बन गया है। उसका यह अकाल-अनुभवी-रूप निहायत करुण और मार्मिक है।

प्रेमचंद की एक कहानी है 'बालक'। यह नवजात बालक कहानी में भावी युग का प्रतीक बनकर आता है। उसने मनुष्य की अनेक तुच्छ संकीर्णताओं को जैसे तोड़ दिया। इस कहानी के द्वारा सामाजिक यथार्थ के अनेक पहलू उजागर होते हैं। लेविन इन सभी पहलुओं को प्रेमचंद ने रचनात्मक संहति प्रदान की है। गंगू ब्राह्मणपुत्र है, अब्राह्मण की नौकरी करता है। मालिक को प्रणाम न करके अपना ब्राह्मणत्व सुरक्षित रखता है। ब्राह्मण इतने खरे हैं कि जब गोमती से शादी करने का विचार करते हैं तो नौकरी छोड़ देते हैं क्योंकि इससे मालिक की बदनामी होगी। गोमती विधवाश्रम से निकली हुई औरत है। मालिक के विचारानुसार, 'इस गधे को सारी दुनिया में कोई स्त्री ही न मिलती थी, जो इससे व्याह करने जा रहा है। जब वह तीन बार पतियों के पास से भाग आई तो इसके पास कितने दिन रहेगी।'।

गोमती इसी तरह की औरत है। कुछ दिनों में गोमती सचमुच भाग गई। फिर गंगू उसे ढूँढ़ भी लाया। गंगू से विवाह के छठे महीने गोमती को पुत्र उत्पन्न हुआ। गंगू उस नवजात

शिशु को लेकर ऐसे प्रसन्न हुए कि 'शायद कृष्ण को पाकर नंद भी इतने पुलकित न हुए होंगे । मालूम होता था, उसके रोम रोम से आनंद फूटा पड़ता है । चेहरे और आँखों से कृतज्ञता और श्रद्धा के राग से निकल रहे थे ।'

प्रेमचंद ने नए आधुनिक बोध से प्राचीन नैतिकता के ढाँचे को इस कहानी में जगह जगह से तोड़ दिया है । गंगू ब्राह्मण है किंतु आर्थिक दृष्टि से अवर्ण की स्थिति में है । उसे स्थितियों के दबाव से ब्राह्मण मर्यादा तोड़नी पड़ती है । वर्णाश्रम का अभिमान उसमें है, वह अब्राह्मण मालिक को अन्य नौकरों की तरह सलाम नहीं करता किंतु जो काम नौकरी की स्थिति नहीं कर पाई वह काम प्रेम ने कर दिखाया । विधवा से विवाह किया और दूसरे पुरुष से उत्पन्न संतान से ऐसा प्रेम करने लगा जैसे नंद कृष्ण से करते थे । यह नवजात शिशु तो निरीह है, वह दोपी नहीं । इस तथ्य को सत्य बनाकर अपनाता है एक ब्राह्मण । कैसा ब्राह्मण ! जो आर्थिक दृष्टि से अवर्णों जैसा है और प्रेमी है । शिशु मानवता के भविष्य का प्रतीक है जो निर्मलता, निरीहता और पवित्रता को व्यंजित करता है । नंद और कृष्ण का सादृश्यविधान भी सार्थक है ।

प्रेमचंद की कहानियों में बाल पात्रों का गहरा मनोवैज्ञानिक चित्रण ही नहीं, उनका प्रतीकात्मक और मानवीय उपयोग भी है । 'दो बैलों की कथा' उत्कृष्ट प्रतीकात्मक रचना है । प्रेमचंद में मध्यकालीन कवियों—विशेषतः कबीर, तुलसी, सूर के समान देश और परिवेश रचा बसा है । प्रेमचंद अपने परिवेश के पशु, पक्षी, जल, थल; फल, दूध, वनस्पति, घरती, आकाश को बहुत अच्छी तरह जानते हैं—इनसे उनकी गहरी आत्मीयता है । प्रेमचंद की रचनाओं में पशुओं का जो उपयोग किया गया है, उसपर अलग से अध्ययन किया जा सकता है । प्रेमचंद मानवीय संदर्भ में पशुओं का ऐसा उपयोग करते हैं कि पशु भी निम्नतम वर्ग के मनुष्य प्रतीत होने लगते हैं—दमित, शोषित, दलित शोषित का साथ देनेवाले दुःखी, उदास और कभी कभी सहज, प्रसन्न । ऐसे प्रसन्न जैसा कि केवल दलित शोषित ही हो सकता है ।

'दो बैलों की कथा' में बैलों को सीधे सादे उन मनुष्यों का प्रतीक बनाया गया है जो अपनी सिध्दाई के कारण पिसते रहते हैं । लेकिन यदि वे बुद्धि का उपयोग करें और संगठित हो जाएँ तो जालिम को पछाड़ सकते हैं । दो बैल हैं, दोनों के स्वभाव भिन्न हैं । एक स्वाभिमानी, तेज दूसरा दम्बू । दोनों में परिस्थिति के अनुसार प्रतिक्रिया होती है । घोर संकट के समय संतुष्ट हो उठते हैं, सोचते विचारते हैं, एक दूसरे से बहुत सहानुभूति रखते हैं । एक पिटता है तो दूसरा सांत्वना देता है । कभी निराश हो उठते हैं कभी उत्साहित ।

'अबकी बड़ी मार पड़ेगी ।'

'पड़ने दो, बैल का जन्म लिया है तो मार से कहाँ तक बचेंगे ।'

जाहिर है कि ये बैल नहीं बोल रहे हैं । सदियों से पिसे भारत का नियतिवादी गरीब किसान बोल रहा है । बैलों का जीवन किस प्रकार कष्टों की परंपरा है एक विपत्ति के बाद दूसरी विपत्ति किस प्रकार आती है—इसे दिखाकर गरीब आदमी का जीवन चित्रित कर दिया गया है ।

लेकिन इस प्रतीकविधान की विशेषता यह है कि दोनों बैल सिर्फ निराश और उदास ही नहीं रहते । वे विचार करते हैं, सलाह करते हैं, संगठित होकर साँड़ का मुकाबला करते हैं ।

साँड़ सशक्त है, ये दोनों उससे घबड़ाते हैं किंतु रास्ता भी ढूँढ़ लेते हैं—थोड़ी हिम्मत करनी पड़ती है बस—

‘अरे ! यह क्या ? कोई साँड़ डोंकता चला आ रहा है ।’

मोती ने मूक भाषा में कहा—‘बुरे फँसे । जान कैसे बचेगी । कोई उपाय सोचो ।’

हीरा ने चिंतित स्वर में कहा—‘अपने घमंड में भूला हुआ है, आरजू विनती न सुनेगा ।’

‘उपाय यही है कि उस पर दोनों जने एक साथ चोट करें । मैं आगे से रगेदता हूँ, तुम पीछे से रगेदो, दोहरी मार पड़ेगी, तो भाग खड़ा होगा । ज्योंही मेरी ओर झपटे, तुम बगल से उसके पेट में सींग घुसेड़ देना । जान जोखम है, पर दूसरा उपाय नहीं है ।’

‘जान जोखम है पर दूसरा उपाय नहीं ।’ यह स्थिति की अनिवार्यता है । यही कथानक का सुगठन है, स्वाभाविकता है । इससे स्थिति का संकट और संकट से उबरने की अनिवार्यता दोनों एक दूसरे में निहित हैं ।

मोती ने मूक भाषा में कहा—इस ‘मूक भाषा’ को बोलनेवाले बेल नहीं भारत का असहाय व्यक्ति है ।

दोनों बेल दड़ियल को देखकर डर गए । दड़ियल कसाई था । मारे जाने के पहले, मारने-वाले को देखकर पशुओं को कुछ लगता होगा कि नहीं ? पता नहीं । लेकिन प्रेमचंद ने बेलों की मनःस्थिति का वयान किया है—उसका चेहरा देखकर अंतर्ज्ञान से दोनों मित्रों के दिल काँप उठे ।

दड़ियल के साथ दोनों बेल कसाईखाने की ओर चले तो रास्ते में पशुओं का झुंड मिला—‘सभी जानवर प्रसन्न थे, चिकने, चपल, कोई उछलता था, कोई आनंद से बैठा पागुर करता था । कितना सुखी जीवन था इनका, पर कितने स्वार्थी हैं सब । किसी को चिंता नहीं कि उनके दो भाई बघिक के हाथ पड़े कैसे दुःखी हैं ।’

अंत में थान पर पहुँचकर उन्हें इतना आत्मविश्वास आया कि कुलाचें मारी, मालिक दिख गया और वे फिर अपनी जगह आ गए ।

यह थान देश है ।

इस तरह प्रतीकात्मक कहानी एक रूपक बनती है । कलात्मक सफलता बेलों के जीवन, उनके स्वभाव को पहचानते हुए तत्कालीन गरीब आदमी के जीवन और स्वभाव का तालमेल बिठाने, उन्हें एकीकृत या एकरूप करने में है ।

प्रेमचंद ने व्यंग्य कहानियाँ भी लिखी हैं—मोटर के छीटे, मोटे राम—जैसी कहानियाँ इसी कोटि में आती हैं । व्यंग्य प्रेमचंद का अमोघ अस्त्र है । वे व्यंग्य प्रतिष्ठान पर करते हैं इसी लिये वह तिलमिला देनेवाला और मार्मिक होता है ।

इस प्रकार प्रेमचंद की कहानियों को निम्नलिखित श्रेणियों में बाँट सकते हैं—

- (१) लोकवार्ता का आश्रय लेकर चलनेवाली कहानियाँ—जैसे सारंधा, आत्माराम ।
- (२) ऐतिहासिक कहानियाँ—दिल की रानी, शतरंज के खिलाड़ी ।
- (३) हृदयपरिवर्तन पर आधारित कहानियाँ—मैकू, इस्तीफा, बड़े घर की बेटी आदि ।
- (४) आद्यंत सामाजिक यथार्थ का निर्वाह करनेवाली कहानियाँ—पूस की रात, कफ़न आदि ।
- (५) प्रतीकात्मक कहानियाँ—दो बेलों की कथा ।
- (६) व्यंग्यपरक कहानियाँ—मोटेराम, मोटर के छीटे ।

यह विभाजन कहानियों की मुख्य प्रवृत्ति को ही ध्यान में रखकर किया गया है। प्रेमचंद के यहाँ कथानक इतना सुगठित होता है कि विभिन्नता और विविधता संश्लिष्ट होकर कहानियों में मीजूद रहती है अतः प्रत्येक श्रेणी की कहानी में अन्य श्रेणियों की भी प्रवृत्तियाँ मिलेंगी।

प्रेमचंद युग के अन्य प्रमुख कहानीकार हैं—जयशंकर प्रसाद, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, निराला, बेचन शर्मा उग्र, सुदर्शन, निश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, चंडीप्रसाद हृदयेश, जनार्दन झा द्विज, विनोदशंकर व्यास, जैनेंद्रकुमार, ऋषभचरण जैन, राय कृष्णदास, चतुरसेन शास्त्री।

इनमें से अनेक कहानीकारों की रचनाओं में प्रेमचंद की पारिवारिक कहानियों का प्रभाव है। कौशिक की 'ताई' में प्रेमचंद की पारिवारिकता और हृदयपरिवर्तन, सुदर्शन की 'हार की जीत' में नैतिकता का आग्रह, ऋषभचरण जैन को 'दान' में विभिन्न वर्गों की स्थिति के आधार पर निर्मित भावना का महत्व, प्रसाद की 'गुंडा' में लाछित को चित्रित करके उसकी मानवता का प्रकटीकरण, चतुरसेन शास्त्री की 'दुखवा मैं कैसे कहूँ मेरी सजनी' में सामंती जीवन में नारी-स्थिति की कठिनाई, प्रेमचंद की कहानियों के बाहर की चोज नहीं। चंद्रधर शर्मा गुलेरी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' का महत्व इस तथ्य को लेकर अधिक है कि वह कहानी १९१५ में प्रकाशित हुई थी। उसका यथार्थवादी चित्रण और आदर्शवाद प्रेमचंद की विषयवस्तु की परिधि के बाहर न पड़ेंगे। इस युग के कहानीकारों में प्रसाद रोमानी रंग भरते हुए कल्पना के सहारे स्वप्नल संसार निर्मित करके स्थितियों की कचोट व्यजित करते हैं जैसे आकाशदीप, पुरस्कार, ममता में। निराला 'सुकुल की बीबी', 'चतुरी चमार' आदि में प्रेमचंद के सामाजिक यथार्थवाद को ओर गहराते हैं। राय कृष्णदास का क्षेत्र अतीत एवं कल्पना का उपयोग करने के कारण प्रसाद के क्षेत्र से मिलता जुलता है किंतु राय कृष्णदास में काव्यात्मकता इतनी मुखर हो उठती है कि उनकी प्रबंधात्मकता खंडित हो जाती है। इससे भी अधिक काव्यात्मकता 'हृदयेश' की कहानियों में है जिसमें घोर अकथात्मक भाषा का प्रयोग है। अकथात्मक भाषा का मतलब काव्यात्मक भाषा नहीं।

इन कहानीकारों में पांडेय बेचन शर्मा उग्र और जैनेंद्र की स्थिति विशिष्ट है। पांडेय बेचन शर्मा उग्र भाषा के विषय में कहीं वहाँ निराला के समान प्रयोग करके कथ्य को चुटीला बनाते हैं। वे जहाँ विचार और कला में संतुलन कायम कर पाते हैं वहाँ 'उसकी माँ' जैसी श्रेष्ठ कहानी प्रस्तुत करते हैं, वध्य—सघनता 'भुनगा' नामक कहानी में फैंटेसी वा शिल्प रच देती हैं। किंतु उग्र कुल मिलाकर भाषा के पैतरे भाँजने के चक्कर में कलात्मक सहजता को धारण नहीं कर पाते। यही हालत जैनेंद्र की है। इन कहानीकारों का प्रासंगिक उल्लेख प्रेमचंद-युगीन कहानियों की कलात्मक विवेचना के संदर्भ में ही करना अधिक समीचीन है।

प्रेमचंद की कहानियों का सबसे महत्वपूर्ण कलात्मक गुण है सहजता। यह सहजता इतनी वास्तविक है कि इसने हिंदी के कई आलोचकों के मन में झम पैदा कर दिया कि प्रेमचंद कला की दृष्टि से श्रेष्ठ रचनाकार नहीं है।

प्रेमचंद की कलात्मक सहजता को भारतीय कथासाहित्य की परंपरा, पाठकों के संस्कार और युगबोध के संदर्भ में ही आँक पाना संभव है। परंपरा, संस्कार, युगबोध—तीनों परस्पर संबद्ध होकर प्रेमचंद की रचनात्मकता पर गुणात्मक प्रभाव डालते हैं। अगर इनमें से कोई

एक भी तत्व न होता या अनुपात में कम ज्यादा होता तो प्रेमचंद साहित्य को लोकप्रियता और उत्कृष्टता दोनों एक साथ न प्राप्त होती। खुद प्रेमचंद साहित्य में जहाँ कहीं इस अनुपात में शिथिलता आई है, कमजोरी आ गई है।

डा० रामविलास शर्मा ने प्रेमचंद के कहानी कहने के ढंग पर विचार करते हुए लिखा है— 'कहानी फुरसत की चीज है, काम धाम से छुट्टी पाकर सुनने की चीज, और जल्दबाजी से काम बिगड़ जाता है। प्रेमचंद के कहानी कहने में फुरसत का भाव मिलता है। वह कहानी सुनाते हैं, अक्सर लच्छेदार जवान में, वाक्यों को स्वाभाविक गति से फैलने की आजादी देकर, अंग्रेजी बाग के माली की तरह उनकी डालियाँ और पत्ते कतरकर नहीं, फूलों और पत्तियों को हवा में बढ़ने और लहराने की आजादी देकर। जिंदगी के अनुभवों पर टीका टिप्पणी भी साथ में चली करती है, व्यंग्य, अनूठी उपमाएँ और हास्य बीच बीच में पाठक को गुदगुदाते रहते हैं।' (प्रेमचंद और उनका युग)।

भारत का कथाश्रोता जल्दबाजी में नहीं रहता। वह कहानी का रस लेना चाहता है। जल्दबाजी, तैयार माल की खपत बहुत कुछ स्पर्धाशील पूँजीवादी व्यवस्था की देन है। प्रेमचंद-युगीन भारत—विशेषतः गाँव, इस व्यवस्था से बहुत कुछ अछूते थे। उस जीवन से उठाए हुए चरित्र और उनके क्रियाकलापों में भी जल्दबाजी नहीं थी। इसलिये उनपर आधारित कहानियों में भी जल्दबाजी नहीं है। रचनाकार, कथ्य, सामाजिक और रचना में कैसी अंतरंगता होती है, इसे समझना हो तो प्रेमचंद की रचनाएँ देखिए।

प्रेमचंद को न कहानी बहकर छुट्टी पा लेने की जल्दबाजी है न कहानीकार के रूप में 'प्रतिष्ठित हो जाने की जल्दबाजी उनकी निगाह वर्ण्य विषय पर है। निगाह यानी दृष्टि और बोध उन्हें युग और अपने जीवनानुभव से मिले। यह बोध गढ़ता-छोलता कथ्य को प्रस्तुत करता है, कथ्य गढ़े और छोले जाने की प्रक्रिया में शिल्प को उभारता चलता है।

प्रेमचंद की कहानियों में हिंदीभाषी क्षेत्र का जीवन बिखरा पड़ा है। ऐसा लगता है जैसे यह क्षेत्र ही शब्द रूपांतरित हो गया हो। उनकी कहानियों में जीवन जाग्रत तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत किया गया नहीं लगता। जो जैसा है वैसा ही रख दिया गया है। फिर उनकी कला कहाँ है? वह किस बात में है?

उनकी कला जीवन जगत के खंडों को चुनने और संयोजित करने में है। वे जीवन खंड ज्यों का त्यों उठाते हैं, उन्हें तोड़ मरोड़ कर नहीं उठाते। लेकिन किस खंड के साथ कौन सा खंड जोड़ा जाए, या कि रचना किस खंड से शुरू की जाए और उसका अंत किससे हो, इसे खुद उनका रचनाकार निर्णीत करता है। यहाँ विभिन्न खंडों को जोड़ने की प्रक्रिया या उस मानदंड पर भी विचार कर लेने का सवाल उठता है जो एक खंड को दूसरे खंड से जोड़ता है। घटनाएँ जिन्हें खंड कहा गया है, शिलाएँ या ईंटे हैं। इनका गारा चूना क्या है।

प्रेमचंद की कहानियों के कथानक का विकास उनकी आंतरिक अनिवार्यता, तार्किकता या संगति की माँग के आधार पर होता है। किसी पात्र और घटना का विकास अनेक दिशाओं में संभव है। प्रेमचंद पात्र और घटनाओं की अंतर्संबंधता को कथानक के विकास की अनिवार्य प्रक्रिया बना देते हैं। पात्र और घटना परस्पर इतना रगड़ खाते हैं कि उनकी गति को दिशा क्रमशः पाठक के मन में उभरती जाती है। पात्र और घटना की इस स्पंदित, सजीव, अनेक

दिशाओं में लहराती किंतु अंततोगत्वा एक दिशा में उन्मुख हो जाने की अंतस्संबंधता का चित्रण प्रेमचंद की विशेषता है। यही पाठकों का विश्वास अर्जित कर लेती है, संभव को कथानक में घुला देती है। इस प्रक्रिया में जीवन जगत् के अविकृत खंड, परस्पर जुड़कर रचनात्मकता में स्थित हो जाते हैं। प्रेमचंद इन खंडों को पिघलाते नहीं किसी सॉचे में ढालने के लिये। वे खंड अपने मूल रूप में स्थित होते हैं, प्रेमचंद उन्हें परस्पर सटा देते हैं और चारों ओर एक रेखा से घेर देते हैं। यह रेखा आकार बना देती है। उसमें जीवन खंडों का अपना रूप, अपना खुरदुरा-पन अर्थात् सहजता सुरक्षित रहती है।

प्रेमचंद कार्य के लिये कारण ढूँढ़ने में अनथक प्रयास करते हैं। कारण ढूँढ़ने में कहा गया, कारण ईजाद करने में नहीं कहा गया। प्रेमचंद प्रायः सत् और असत् दोनों प्रकार के पात्रों के मन को विविध दिशाओं में दौड़ाते हैं। फिर जैसे हार कर या थक कर या उत्साहित होकर पात्र किसी विशिष्ट दिशा में सक्रिय हो उठता है। इससे घटना के आंतरिक और बाह्य दोनों ढाँचे समतुल्य हो जाते हैं, आंतरिक और बाह्य संगति बैठ जाती है। एक घटना जो होती है, एक काम जो कोई पात्र करता है, वह यों ही नहीं, उसके पीछे संस्कारों स्थितियों की उलझन है। कार्य या घटना उस उलझन को बरतारफ़ करके नहीं सामने आए हैं उसमें से गुजर कर, उसके घात प्रतिघात को झेलकर सामने आए हैं। 'पूस की रात' में हल्कू की पत्नी रूपए पति को नहीं देना चाहती। किंतु अंत में उसे रूपए देने पड़ते हैं। देने की अनिच्छा किस तरह देने की क्रिया या घटना में परिणत हुई—

हल्कू ने आकर स्त्री से कहा—सहना आया है, लाओ, जो रूपए रखे हैं, उसे दे दूँ, किसी तरह गला तो छूटे।

मुन्नी झाड़ू लगा रहो थी, पीछे फिर कर बोली—तीन ही तो रूपए हैं दे दोगे तो कम्बल कहाँ से आवेगा? 'माघ पूस की रात' हार में कैसे कटेगी, उससे कह दो, फसल पर दे देंगे। अभी नहीं।'।

'हल्कू एक क्षण अनिश्चित दशा में खड़ा रहा।' अनिश्चित दशा में खड़ा रहा यानी पत्नी की बात से प्रभावित हो गया। पत्नी की बात व्यर्थ नहीं गई। उसकी हल्कू के बोध पर चोट पड़ी। इसी लिये वह निश्चित से अनिश्चित दशा में आ गया।

लेकिन इस अनिश्चित दशा को स्थितियों का बोध फिर धायल करता है—

'पूस सिर पर आ गया, कंबल के बिना हार में रात को वह किसी तरह सो नहीं सकता। मगर सहना मानेगा नहीं'—यहाँ से साहूकार के कर्ज का बोध प्रबल हुआ। तर्क आगे चलता है—'घुड़कियाँ जमाएगा, गालियाँ देगा। बला से जाड़ों में मरेंगे, बला तो सिर से टल जाएगी।' इतना सोचा फिर स्त्री के समीप आ गया और खुशामद करके बोला—'ला दे दे गला तो छूटे। कंबल के लिये कोई दूसरा उपाय सोचूँगा।'।

'दूसरा उपाय सोचूँगा'—पत्नी के बोध में उत्तेजना पैदा करता है। यह उत्तेजना स्थितियों को और उधेड़ देती है। वह यानी उत्तेजना स्वयं भी स्थितियों पर ही आधारित है, उसी का फल है—'कर चुके दूसरा उपाय। जरा सुनूँ तो कौन उपाय करोगे—न जाने कितनी बाकी है जो किसी तरह चुकने ही नहीं आती। मैं कहती हूँ तुम क्यों नहीं खेती छोड़ देते? मर मर कर काम करो, उपज हो तो बाकी दे दो....ऐसी खेती से बाज आए....'मैं रूपए न दूँगी, न दूँगी।'।

हल्कू इस स्थिति को नकार नहीं सकता । जो लोग कुतर्की नहीं होते वे तर्क में हार भी सकते हैं । पात्र यदि सजीव हों तो रचनाकार उनसे मनमानी नहीं कर सकता । लेकिन तर्क में पराजित हो जाना एक बात है । स्थिति को समझना : उसके सिर्फ एक पक्ष को समझना नहीं है । स्थिति का दूसरा पक्ष हल्कू प्रस्तुत करता है—

हल्कू उदास होकर बोला—तो क्या गाली खाऊँ ।

हल्कू को मुन्नी के पति को कोई गाली दे । पत्नीत्व का तेज जागता है । ऐसी किसकी मजाल—‘मुन्नी ने तड़प कर कहा—गाली क्यों देगा, क्या उसका राज है ।’

कहने को वह कह गई ! लेकिन राज तो सहना का था । वर्गसंघर्ष के विचारक सिद्धांत और विश्लेषण से वहेंगे कि मुन्नी ने समझा नहीं गलत बात कर गई । राज तो साहूकार का था ।

मुन्नी गलत बात कह गई लेकिन विचारकों की पुस्तकें पढ़े बिना, उनके भाषण सुने बिना, केवल स्थितिबोध से ही दूसरे क्षण अपने कथन की गलती समझ गई । यहाँ प्रेमचंद रचनाकार की हैसियत से हस्तक्षेप करते हैं, टीका टिप्पणी करते हैं । यह टीका टिप्पणी वे न करते कहानी नाटक बन जाती । टीका टिप्पणी भारत की कथाओं में होता था । लेकिन यह टिप्पणी सिर्फ विचार नहीं—विचार चित्र है ।

‘मगर यह वहने के साथ ही उसकी तनी हुई भौंहें ढोली पड़ गई । हल्कू के उस वाक्य में जो कठोर सत्य था, वह मानों एक भीषण जंतु की तरह उसे घूर रहा था ।’

इसे केवल टिप्पणी कहना हिमाकत होगी । यह टिप्पणी मुन्नी के मन का चित्रण करती है, उसके मन के भीतर जो हो रहा है उसे आलोकित कर देता है । ‘जंतु घूर रहा है’, यह कठोर स्थिति की विरूपता है । विरूपता दुर्लभ्य है । इसलिये भीषण जंतु है । ‘घूर रहा है’ ‘लील जाने को उद्यत है—अंकन में तात्कालिकता है ।

‘उसने जाकर आले पर से रुपए निकाले और लाकर हल्कू के हाथ पर रख दिए ।’

इस तर्क में कौन हारा कौन जीता । हल्कू या मुन्नी ? हल्कू ने रुपए माँगे थे, मुन्नी नहीं दे रही थी । हल्कू ने मुन्नी को चुप कर दिया । मुन्नी ने रुपए दे दिए । लेकिन हल्कू की क्या हालत थी ?

‘हल्कू ने रुपए लिये और इस तरह बाहर चला मानों अपना हृदय निकाल कर देने जा रहा हो । उसने मजूरी से एक एक पैसा काट काटकर तीन रुपए कंबल के लिये जमा किए थे । वह आज निकले जा रहे थे । एक एक पग के साथ उसका मस्तक अपनी दीनता के भार से दबा जा रहा था ।’

न हल्कू जीता न मुन्नी । जीती स्थितियों की क्रूरता, वह भीषण जंतु जो घूर रहा था, दोनों को लील गया ।

प्रेमचंद उस निर्ममता का पालन अपनी अनेक उत्कृष्ट कहानियों में करते हैं जिसे ‘संवेदना का निरुदन’ (डे हाइड्रेशन ऑफ सेंसिबिलिटीज) कहा जाता है । प्रेमचंद भवुकता की नितांत उपेक्षा करते हुए, स्थिति की उचित, संभव, संभावनाओं की ओर ही तो ले जाते हुए, कथानक का विकास जिन कहानियों में करते हैं, वे उनकी उत्कृष्ट कहानियाँ हैं । इन कहानियों में कथानक का विकास, स्थितियों की विषमता की चार आद्यंत झेलता रहता है । विकास और

संघटनबोध के सहारे होता है। बोध यहाँ रचनात्मक औचित्य का पर्याय समझिए। यहाँ कारण और कार्य के बीच न दैवी शक्ति, न नियति, न हृदयपरिवर्तन का हस्तक्षेप होता है। कफ़न, पूस की रात इसी तरह की कहानियाँ हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचंद ने बोध के इस उपयोग को क्रमशः पहचाना है। यह उनकी पहले की कहानियों में नहीं मिलता या कम मिलता है।

पहले यह कहा जा चुका है कि प्रेमचंद ने जिस समय लेखन प्रारंभ किया था, हमारा समाज अविकसित पूँजीवाद के दौर से गुजर रहा था। व्यक्तिवादी चिंतन और आचरण में बहुत संभावनाएँ थीं। गाँधीवादी प्रभाव का जादू समाज में हृदयपरिवर्तन को यथार्थ बना रहा था। हृदयपरिवर्तन एक विशिष्ट परिदृश्य बन गया था, इसमें कोई संदेह नहीं। ऐतिहासिक विकास ने बहुत जल्द यह प्रकट कर दिया कि गाँधी का आदर्शवाद जिस हृदयपरिवर्तन पर खड़ा है वह शोषक या उच्चमध्यवर्ग के आर्थिक हितों पर आघात न करके ही संभव है। फिर हृदय परिवर्तन का फल भी सबको समान रूप से नहीं भुगतना पड़ता। मिलमालिक दयालु होकर बोनस दे दे, राय साहब द्रवित होकर लगान माफ़ कर दें तो उनकी स्थिति में कोई अंतर नहीं आएगा। यदि 'इस्तीफा' का नायक हृदयपरिवर्तन की ओर में इस्तीफा दे दे तो उसका परिवार भूखों मरने लगेगा। मध्यवर्ग उच्चवर्ग के आदर्शों को अपनाने की कोशिश करता है, उनके किसी भी नेक आचरण से बहुत प्रभावित हो जाता है। अतः आंदोलन की लहर उठने पर बाफी बलिदान कर सकता है। इस दृष्टि से ही यह यथार्थ है। अन्यथा जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है हृदयपरिवर्तन की वे कहानियाँ ज्यादा स्वाभाविक और सुगठित हैं जिनमें हृदयपरिवर्तन किसी आर्थिक स्थिति को झटका नहीं देता। पारिवारिक या प्रेम के प्रसंगों में यह ज्यादा स्वाभाविक लगता है। जहाँ हृदयपरिवर्तन किसी आर्थिक स्थिति को परिवर्तित करता है, वहाँ वह स्वाभाविकता और यथार्थबोध को झटका देता है। 'इस्तीफा' जैसी कहानी से यह लगता है कि प्रेमचंद को अभी इस दिशा में और आगे बढ़ना था यानी 'कफ़न' और 'पूस की रात' के बोध तक पहुँचना था जिसमें संवेदना-शून्यता, संवेदना उत्पन्न करने का अच्छा आधार बन जाती है।

प्रेमचंद की कला नाट्यतत्त्व से युक्त है। नाट्यतत्त्व दृश्यता को रेखांकित करता है। चित्रण की अनिवार्य-कथनता स्थिति को नाटकीयता में कस देती है। नाटकीयता दृश्यता का कसाव है। पात्रों का मनोजगत् जब अनिवार्य अनुभावविधान या आचरण में व्यक्त होता है तब चित्रण नाट्य बन जाता है। इसी लिये प्रत्येक साहित्यरूप नाट्यधर्मी होकर ही उत्कर्ष प्राप्त करता है। कभी कभी विचार तत्व भी मार्मिक बन जाता है किंतु वह भी हमारी विशिष्ट मनोस्थिति में विशिष्ट अनुभव स्थितियाँ उभार कर ही मार्मिक होता है। अस्तु।

प्रेमचंद पात्रों के मनोजगत् की हलचल को अनुभावविधान एवं उनके बाह्य आचरण द्वारा प्रकट करने में लासानी हैं। मानसिक द्वंद्व या हलचल को प्रकट करने के लिये जितना अनिवार्य है वह उतना ही चित्रित करते हैं। अनावश्यक चित्रण करें तो नाट्यधर्मिता नहीं रह जाएगी। नाट्यधर्मिता शिथिलता या स्फीति नहीं सहन कर सकती। नाट्यधर्मिता का व्यंजना से गहरा संबंध होना चाहिए। यह अनिवार्य-कथनता पात्रों के बाह्यांतर चित्रण में संतुलन या समतुल्यता

कायम कर देती है। पात्र की एक एक चेष्टा मनोजगत् के एक एक टुकड़े को या टुकड़ों के संश्लेष को उद्घाटित कर देती है। 'पूरा की रात' के जिस अंश पर हमने विचार किया है, उसी को नाट्यधर्मिता या दृश्यता की दृष्टि से देखें।

'मुन्नी झाड़ू लगा रही थी। पीछे फिर कर बोली'

'जब हल्कू ने जोर देकर कहा कि रुपए दे दे तो'

'मुन्नी उसके पास से दूर हट गई और आँखें तरेरते हुए बोली'—

'मुन्नी ने तड़प कर कहा—

'मगर यह कहने के साथ ही उसकी तनी हुई भीड़ें ढोली पड़ गई' प्रेमचंद ने लिखा मानो उसे कोई भीषण जंतु घूर रहा हो। तड़पने के फौरन बाद—नहीं कहने के साथ ही तड़पने के बाद तननेवाली भीड़ें ढोली पड़ जाएँ। चेहरे से यह भी प्रकट हो कि स्थिति का भीषण जंतु उसे घूर रहा है—लील जाने को उद्यत है।

यह दृश्यता कितनी संश्लेष है। तड़पना—तनी हुई भीड़ों का ढोला पड़ना, स्थितिजन्य असहायता, निगल लिये जाने की—यह सब मुन्नी की इस चेष्टा में है। इस चेष्टा का अभिनय एक क्षण में हो। अभिनय बहुत कुशलता की माँग करता है। लेकिन सफल अभिनय मुन्नी के मनोदेश के एक एक टुकड़े को प्रत्यक्ष कर देगा सामाजिक के सामने।

जो रचना यथार्थ की विषमता का चित्रण करती है उसमें व्यंग्य का गुण आ जाता है। व्यंग्य विरूपता से जन्मता है। औचित्य या सुषमा सौंदर्य का आधार है जबकि अनौचित्य या विषमता विरूपता का। जो जितनी मात्रा में जहाँ होना चाहिए वह उतनी मात्रा में वहाँ नहीं हो तो सुषमा नहीं उत्पन्न होगी। यह बात जैसे दृश्य क्षेत्र में व्यक्तिगत तौर पर आकर्षण या विकर्षण उत्पन्न करती है वैसे ही सामाजिक क्षेत्र में भी। सामाजिक अव्यवस्था भी विरूपता है। जो होना चाहिए वह नहीं होता तो कारण-कार्य की सहज परंपरा भंग होती है, तर्क हीनता आती है और सामाजिक विरूपता जन्म लेती है। व्यंग्य इस विरूपता को उद्घाटित करके प्रकारंतर से इसे सुरूपता में परिणत करने की माँग करता है। सामाजिक विरूपता अमानवीय है। व्यंग्य अमानवीयता को उद्घाटित करके दो काम करता है, उसे हास्यास्पद बनाकर उसपर प्रहार करता है और विरूपता या तर्कहीनता या अमानवीयता के कारण जो पीड़ा है उसे भी व्यक्त करता है। अतः व्यंग्य में स्थिति का तनाव होता है। उसमें हास और पीड़ा दोनों की सहस्थिति होती है। व्यंग्य निर्ममता की मुद्रा धारण करता है मानवीयता के प्रति ममता व्यंजित करने के लिये। यह व्यंग्य जड़वादो यथास्थिति पर, प्रतिक्रियावादिता पर, शोषक प्रतिष्ठान पर चोट करता है।

प्रेमचंद में व्यंग्य के उत्तम उदाहरण वे कहानियाँ नहीं हैं जो हास्यास्पद पात्रों को केंद्र में रखकर लिखी गई हैं जैसे 'मोटेराम शास्त्री', 'मोटर के छीटे' या 'लॉछन'। प्रेमचंद का व्यंग्य उत्कृष्ट रूप में मिलता है उन कहानियों में जहाँ व्यंग्य का केंद्र तो कोई पात्र ही है किंतु पात्र की व्यक्तिगत विरूपता उसके शरीर, विकलांगता, स्थूलता आदि को लेकर नहीं, बल्कि उसकी स्थिति को लेकर है। अर्थात् व्यंग्य किसी व्यक्तिगत विरूपता तक सीमित नहीं बल्कि उस पात्र की सामाजिक या पारिवारिक स्थिति के कारण है। पहले प्रकार की कहानियाँ हास्य या विरक्ति ही उत्पन्न करती हैं जैसे 'मोटेराम' जबकि दूसरे प्रकार की कहानियों में व्यंग्य कहानी पात्र की स्थिति और स्थिति-परंपरा से निर्मित होता है। पहले से ही गहीं पता चल जाता कि कहानीकार

किसी हास्यास्पद पात्र को प्रस्तुत कर रहा है। ऐसी कहानियों में हास्य और विरक्ति नहीं, हास्य और करुणा या पीड़ा उत्पन्न होती है; जैसे 'नशा', 'बड़े भाई साहब', 'कफ़न', 'पूँस की रात', 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि।

व्यंग्यकार प्रेमचंद का रूप उनकी वर्णनशैली में उभरता है। वे किसी पात्र का व्यंग्यपूर्ण वर्णन बहुत रस लेकर करते हैं। बिलकुल गाँव की चौपाल में हुक्का पीते या खैनी मलते हुए बैठकवाजों की तरह। प्रेमचंद की व्यंग्यपूर्ण शैली का बहुत गहरा संबंध गाँव की कटूक्तियों, कूटोक्तियों और मुहावरों से है। प्रेमचंद की अपार शक्ति यह है कि वे संसार को बच्चे की तरह, युवा की तरह, बूढ़े अंधेड़ की तरह, स्त्री, बच्ची, सभी प्रकार के प्राणियों की तरह अनुभव कर सकते हैं, वे पशुओं के मनोजगत् को भी काफी पहचानते हैं। प्रेमचंद की संवेदना का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसी व्यापकता के चलते उसमें गहराई भी आई है। उनके व्यंग्य का संबंध उनकी इस व्यापक, गहरी संवेदना से भी है। अगर उनमें अशेष प्राणि जगत् के लिये इतनी गहरी व्यापक संवेदना न होती तो उनके व्यंग्य में इतनी करुणा भी निहित न होती। बड़े भाई साहब बहुत रोब मारते हैं लेकिन लगातार फेल होते जाने से जो उनके मन पर गुजर रही है, वे ही जानते होंगे। ऊपर का आत्मविश्वास जितना मुखर है, वस्तुतः वह उतना ही दयनीय और खस्ता है। सफलता के क्षेत्र में निरंतर पीछे पड़ते जाते हुए बड़े भाई साहब बोल बोलकर उस स्थिति को ढकते हैं। आखिर में उनके पास सिर्फ यह तर्क बचता है कि वे बड़े हैं तो बड़े ही रहेंगे। बड़प्पन बीत चुका है, सिर्फ बड़ी उमर रह गई है।

प्रेमचंद किसी भी स्थिति के व्यंग्य पक्ष की उपेक्षा प्रायः नहीं करते। अनेक कहानियों की शुरुआत ही वे भोली मुद्रा में व्यंग्य से करते हैं कि पाठक एक ओर प्रेमचंद की निरीह वाचन-शैली देखता है दूसरी ओर निहायत सादगी से व्यक्त शब्दों की स्थितियों में अचूक व्यंग्य।

'पंडित दुर्गानाथ जब कालेज से निकले तो इन्हें जीवननिर्वाह की चिंता उपस्थित हुई। वे दयालु और धार्मिक थे। इच्छा थी कि ऐसा काम करना चाहिए जिससे अपना जीवन भी साधारणतः सुखपूर्वक व्यतीत हो और दूसरों के साथ भलाई और सदाचरण का भी अवसर मिले'... इसी प्रकार बहुत सोच विचार के पश्चात् उन्होंने निश्चय किया कि किसी जमींदार के यहाँ 'मुस्तारआम' बनना चाहिए।' (पछतावा)

सदाशयता का विराम आया जमींदार के मुस्तारआम बनने में।

'सेठ चंडूमल जब अपनी दुकान और गोदाम में भरे हुए माल को देखने तो मुंह से ठंडी साँस निकल जाती।' (चकमा) इत्यादि।

पहले कहा गया है कि प्रेमचंद युग के अधिकांश कहानीकारों की समझ विषयवस्तु और शैली की दृष्टि से प्रेमचंद के ही कहानीकार-व्यक्तित्व में हो जाती है। सुदर्शन, विश्वभरनाथ शर्मा कौशिक, चतुरसेन शास्त्री आदि में प्रेमचंद के ही कुछ पक्ष मिल जाते हैं, वे मानों अपूर्ण प्रेमचंद हों। 'उसने कहा था' भी प्रेमचंद की कहानी लग सकती है किंतु इस कहानी का महत्व ऐतिहासिक है। प्रेमचंद के पूर्व लिखी (१९१५ ई०) इस कहानी में वस्तुसंगठन और प्रस्तुति का अभूतपूर्व संतुलन है। अपनी अचूक मायिकता में यह कहानी प्रेमचंद के लेखन प्रारंभ करने के पहले ही मानों प्रेमचंद की प्रौढ़ कहानी का रूप प्रस्तुत कर देती है। गुलेरी जो की इस कहानी का प्रकाशन हिंदी कहानी इतिहास में एक ऐतिहासिक घटना रहा होगा।

जैनेंद्र और पांडेय बेचन शर्मा उग्र अवश्य ऐसे कहानीकार हैं जिन पर अलग से विचार करने की थोड़ी बहुत आवश्यकता प्रतीत होती है ।

जैनेंद्र ने पना विषय क्षेत्र मुख्यतः मनोविज्ञान चुना । उनकी कहानियों को देखकर लगता है कि वे पात्रों के मनोजगत् में हो रही हलचल को, या उसकी तरंगों को दृश्य जगत् की घटनाओं की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं । रचना के लिये यह दृष्टिकोण हानिकर ही हो यह आवश्यक नहीं । सतर्त यह है कि मानसिक जगत् की तरंगों से प्रेरित चेष्टाएँ ऐसे चित्रित या प्रस्तुत की जाएँ कि विश्वसनीय बन जाएँ वे लोकसामान्य अनुभव से जुड़ सकें । उनके विपरीत या उनसे अलग कटी रहकर, अपनी मनोवैज्ञानिकता की घोषणा न करती रहें । मनो-वैज्ञानिकता का रचनात्मक उत्कर्ष प्रेमचंद के यहाँ भरपूर है किंतु जैनेंद्र को जो मनोवैज्ञानिक कहानीकार होने की उपाधि मिली वह बहुत कुछ आरोपित या रचना में आवश्यकता से अधिक स्फारित मनोवैज्ञानिकता के कारण । 'पाजेब' कहानी को लें । यह कहानी इस मार्मिक मनो-वैज्ञानिक अनुभव पर आधारित है कि बच्चों का मानस इतना कोमल होता है कि जोर डालने पर वे झूठ को सच और सच को झूठ समझने लगते हैं । इस कहानी के माध्यम से यह भी खुलता है कि कहनेवाला, पूछनेवाला या मनानेवाला शक्तिशाली हो तो सीधा सादा व्यक्ति भी अपने को अकारण अपराधी मानने लगे । इस दृष्टि से यह कहानी न केवल प्रतीकात्मक बल्कि सशक्त व्यंग्य रचना भी बन जाती है और परिवार से लेकर अधिनायकतावादो शासकों तक सबपर चोट करती है । शक्तिशाली का प्रचार झूठा होने पर कैसे सच भी लगने लगता है, इसकी व्यंजना इस कहानी के माध्यम से बहुत सशक्त तौर पर होती है ।

लेकिन इस कहानी की आनुपातिकता पर विचार करें—एक घटना खंड को दूसरे घटना खंड से जोड़ने की प्रक्रिया पर विचार करें तो जैनेंद्र की कलात्मकता संदिग्ध हो उठेगी ।

एक तो चोरी के बारे में पूछताछ नौकर से ज्यादा होनी चाहिए थी पुत्र की अपेक्षा । लेकिन मान लीजिए की मानसिक दबाव में आकर—शायद सत्यवादी कहलाने, अपराध स्वीकार की प्रशंसा पाने या पूछताछ की संत्रासक स्थिति से बचने के लिये आशुतोष ने बिना चुराए हुए ही मान भी लिया कि उसने पाजेब चुराई है तो भी वह इसे भूल कैसे पाएगा कि वस्तुतः उसने पाजेब नहीं चुराई है । कोई सफल कहानी झूठमूठ के इस अपराध स्वीकार की व्यंजना मात्र कर सकती है । इसे बहुत दूर तक घसीटा नहीं जा सकता । पाजेब में इसकी व्यंजना मात्र नहीं होती । इस 'मनोवैज्ञानिक' किंतु झूठी घटना को 'सच' से ज्यादा स्थापित करने के लोभ में जैनेंद्र कहानी को ही अस्वाभाविक और तर्कत्रुटित बना देते हैं । 'सच' या स्वाभाविकता पूरी तरह आरोपित हो जाए, 'मनोवैज्ञानिकता' से—यह प्रयास गड़बड़ शाला कर देता है । मान लीजिए आशुतोष का झूठा अपराध-स्वीकार एक ऐसे द्वंद्वात्मक आचरण को जन्म देता कि उसी प्रक्रिया में यह खुल जाता कि उसने अपराध नहीं किया है, दबाव में आकर स्वीकार किया है तो बुआ को आकस्मिक रूप से लाकर मोपांसा की कहानी 'डायमंड नेकलेस' जैसी अप्रत्याशित नाटकीयता का सहारा न लेना पड़ता ।

जो बात सच नहीं उसे एक बार भी इस विवरण के साथ स्वीकार कर लेना स्वाभाविक नहीं लगता । लेकिन आशुतोष एक बार नहीं दो बार पूरी विवरणात्मकता के साथ स्वीकार

कर लेता है और टपाटप जवाब देता जाता है—मानों मदारी का जमूरा हो । इतनी विवरणात्मकता के साथ कहानी में दो दो बार झूठमूठ के अपराध-स्वीकार के चित्रण की कोई जरूरत नहीं थी—एक बार ही से काम चल जाता । लेकिन कहानीकार को मनोवैज्ञानिक कहानी लिखनी है उसे यह बात पाठक के गले के नीचे उतार देनी है कि डर के मारे बच्चे या लोग कैसे झूठ को झूठ समझते हुए भी कैसे सच कहने लगते हैं । जैनेंद्र की कहानियों में विचारों का पूर्वग्रह प्रधान होता है । वे अपने विचारों को ही कहानी के माध्यम से रूपायित करते हैं ।

उग्र मनोवैज्ञानिकता नहीं आरोपित करते किंतु उन्हें जो दिखाना है उसी को ध्यान में रख कर घटनाओं का संयोजन करते मालूम पड़ जाते हैं । जैनेंद्र को कोई मनोवैज्ञानिक तथ्य प्रकट करने की जिद है तो उग्र को सामाजिक । घटनाओं की आकस्मिकता उग्र के यहाँ जैनेंद्र से ज्यादा है । इस विषय में प्रेमचंद जितने ही धैर्यवान और सहज लगते हैं यानी अविकृत घटनाओं को उठाकर कहानी बनाते हैं, उग्र उतने ही आतुर और झटके पर झटका देते हुए कहानी को आकस्मिकता से भर देते हैं । उग्र की कहानी 'खुदाराम' इसका उदाहरण है । खुदाराम नाम ही चौंकानेवाला है । ऐसा नाम होता नहीं । उग्र ने व्यक्तित्व के अनुसार खुद यह नाम गढ़ा है खुदाराम बिना किसी कसूर या इच्छा के हिंदू मुसलमान हो गए परिस्थिति के कारण । फिर 'शुद्ध' होकर हिंदू बनने की नौबत आ पहुँची, लेकिन तबतक खुदाराम खुदाराम हो चुके थे । गली में लंगोटी लगाए घूमते और गाते फिरते थे । यही मस्तमौला खुदाराम छोटे छोटे बच्चों और स्त्रियों को—सांप्रदायिक शक्तियों को आगे खड़ा कर देते हैं और सांप्रदायिक दंगा रक जाता है अंत में ।

इस पवित्र जुलूस के नेता थे खुदाराम, उनके पीछे हिंदू मुसलमान बच्चे, बच्चों के पीछे दोनों जाति की माताएँ और सबके पीछे मुसलमान पुरुष—जुलूस के सशक्त रक्षकों की तरह चल रहे थे । 'प्रकृति पुलकित कलेवरा थी, तारिकाएँ खिलखिला रही थीं, चंद्रमा हँस रहा था । वह दृश्य पृथ्वी का स्वर्ग था ।

इरादा नेक है किंतु सदाशयता मूर्त रूप भी धारण करके सत्य बन जाए, इसकी आतुरता है । यहाँ प्रेमचंद के किसी पात्र का व्यक्तिगत हृदयपरिवर्तन नहीं, स्त्रियों और बच्चों के आगे दोनों जातियों के पूरे समूहों का सहसा हृदयपरिवर्तन है । कहा जा सकता है कि शायद ऐसी कहानी—या कि कहानी का ऐसा अंत प्रेमचंद भी करा सकते थे । लेकिन वे कहानी का यह रूपविधान कभी न करते । खुदाराम में सब कुछ आकस्मिक, सब कुछ कहानीकार की इच्छा के अनुसार हो रहा है पात्र स्वतंत्र ही नहीं मालूम पड़ते ।

अगर भाववाद का मतलब रचनाकार के लिये यह हो कि वह पहले से बने बनाए किसी विचार या भाव के ही अनुसार निर्मित कर रहा है तो निस्संदेह जैनेंद्र और उग्र प्रेमचंद से कहीं अधिक भाववादी हैं ।

प्रेमचंद की सहजता और उसके पीछे स्थितियों की जो जटिलता है वह उनकी भाषा की सहजता और जटिलता में दिखाई पड़ती है । प्रेमचंद जैसी सहज मुहावरेदार भाषा वही लिख सकता है जिसे अपने परिवेश की इतनी जानकारी उसके प्रति इतनी संवेदना और खुद भाषा का रियाज हो । वे परिश्रमी थे और भाषा का उपयोग चमत्कार के लिये नहीं करते थे । वे हिंदी और उर्दू दोनों पर समान अधिकार रखते थे—वे दोनों भाषाओं के रचनाकार माने

जाते हैं किंतु उनकी भाषा न जड़ हिंदी है न जड़ उर्दू। वह बोलियों के शब्दों, तद्भव शब्दों का साहसपूर्ण उपयोग करके भाषा का विकास करके उससे सशक्त अभिव्यक्ति पैदा करनेवाले कथाकार हैं।

प्रेमचंद युग के अन्य कहानीकारों में प्रेमचंद की भाषा के गुण भी पाए जाते हैं किंतु प्रसाद की भाषा की तत्सम पदावली नहीं खटकती क्योंकि तत्सम पदावली वांछित वातावरण का निर्माण करने में सहायक होती है।

जैनेंद्र की भाषा जानबूझकर सहज बनाई गई भाषा लगती है और उग्र में लटवे बाजी और चुटुल है यद्यपि कहीं कहीं यह चुटुल अपूर्व मामिवता उत्पन्न करती है।

रोमानी ऐतिहासिक कहानी

हरदयाल

दो विश्वयुद्धों के बीच का काल (१९१८-१९३८ ई०) आधुनिक हिंदी साहित्य की समृद्धि का काल है। इस कालखंड में जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और सुमित्रानंदन पंत जैसे कवि, प्रेमचंद और वृंदावनलाल वर्मा जैसे उपन्यासकार, जयशंकर प्रसाद जैसे नाटककार, आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे आलोचक तथा अन्य विधाओं के उच्चकोटि के रचनाकार सामने आए। लेकिन इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि इस काल की समृद्धि और श्रेष्ठता में कुछ असुविधाजनक खामियाँ भी हैं। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि, लांजाइनस के शब्दों में, 'महान् प्रतिभा निर्दोषता से बहुत दूर होती है। क्योंकि सर्वांगीण शुद्धता में अनिवार्यतः क्षुद्रता की आशंका रहती है और औदात्य में "कुछ-न-कुछ छिद्र अवश्य रह जाते हैं।' इस काल की जिन कमियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है, उनमें से एक है अंत-विरोध। यह अंतविरोधी स्थिति है कि जो काल कविता के लिये 'छायावाद' के नाम से जाना जाता है वही कथा साहित्य के लिये 'प्रेमचंद युग' के नाम से जाना जाय। जिस काल में एक ओर प्रेमचंद जैसे दैनिक जीवन के अनुभवों को सामाजिक चेतना से संबलित करके कहानियाँ लिखनेवाले रचनाकार हों, वहीं दूसरी ओर रोमानी कल्पना लोक में विचरण करानेवाली कहानियाँ लिखनेवाले प्रसाद जैसे कहानीकार हों। इतना ही नहीं, बल्कि इससे भी आगे एक ही रचनाकार में परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ मिलें। प्रेमचंद को लेकर यह विवाद कि वे आदर्शवादी कथाकार हैं अथवा यथार्थवादी, इसी अंतविरोध का परिणाम है। प्रसाद एक ओर 'प्रसाद', 'प्रतिमा' जैसी गद्यगीतात्मक कहानियाँ लिखते हैं तो दूसरी ओर 'आकाशदोष' और 'पुरस्कार' जैसी सूक्ष्म मनोद्वंद्व को व्यक्त करनेवाली प्रेम कहानियाँ लिखते हैं और तोसरी ओर 'भिखारिन', 'चूड़वाली', 'मधुआ' जैसी समाजसुधार के संकेत देनेवाली सामाजिक चेतना से संपन्न कहानियाँ लिखते हैं। इस अंतविरोध के नीचे प्रवाहित एकसूत्रता के बावजूद यह अंतविरोध है और हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

इस अंतविरोध का बीज तत्कालीन स्थितियों में खोजा जा सकता है। चाहे राजनीति हो चाहे समाज, चाहे नैतिक मूल्य हों चाहे व्यक्तिगत आचरण, उस समय यह अंतविरोध सर्वत्र विद्यमान था। इस युग के रचनाकारों की संवेदना और संचेतना में तीव्र उथल-पुथल हो रही थी।

व्यक्ति बनाम समाज, नैतिक रूढ़ियाँ बनाम सुधारवाद, प्राचीनता बनाम आधुनिकता, आध्यात्मिकता बनाम भौतिकता, आदर्शवादिता बनाम यथार्थवादिता, प्रसाद बनाम प्रेमचंद के द्वंद्व इस युग की स्थितियों की देन हैं। इस युग की स्थितियों ने इस युग में लिखी जानेवाली कहानियों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य प्रभावित किया है। सामाजिक संदर्भों वाली कहानियों को इन स्थितियों ने प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया है; रोमानी ऐतिहासिक कहानियों को अप्रत्यक्ष रूप से। राजनैतिक आकांक्षाओं, समाजसुधार के प्रयत्नों का प्रत्यक्ष प्रतिबिंब सामाजिक कहानियों में देखा जा सकता है। नारी की मुक्ति और समानता का जो आंदोलन

इस काल में चल रहा था, वह सामाजिक, रुमानी, ऐतिहासिक इत्यादि सभी प्रकार की कहानियों में प्रतिबिंबित है। इस काल में राजनीति, शिक्षा, समाज इत्यादि से संबंधित अनेक संस्थाएँ गतिमान थीं। उन सब संस्थाओं के वैचारिक संदर्भों ने इस युग के कहानीकारों की मानसिकता को एक विशेष रूप देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

दो महायुद्धों के बीच जो कहानियाँ हिंदी में लिखी गईं, उनके दो मोटे वर्ग बनाए जा सकते हैं—(१) वे कहानियाँ, जो समकालीन जीवन की दैनिक वास्तविकता को कथाधार के रूप में चुनती हैं। इन कहानियों में कहानीकार की दृष्टि आदर्शवादी, यथार्थवादी या सुधारवादी होती है। इन्हें सामाजिक वास्तविकता की कहानियाँ कहा जा सकता है। (२) दूसरा वर्ग उन कहानियों का बनाया जा सकता है जिनका कथाधार चाहे वर्तमान जीवन से चुना जाए या अतीत से, किंतु इनमें कहानीकार की दृष्टि किसी-न-किसी अंश और परिमाण में रोमानी है। जिन कहानियों का कथाधार वर्तमान से चुना गया है और दृष्टि एवं संवेदना रोमानी है, उन्हें रोमानी कहानियों का नाम दिया जा सकता है। जिन कहानियों का कथाधार अतीत से चुना गया है और जिनमें दृष्टि और संवेदना रोमानी है, उन्हें रोमानी ऐतिहासिक कहानियाँ कहा जा सकता है। चूँकि इस दूसरे वर्ग की सभी कहानियों की, चाहे वे समकालीन जीवन से संबंधित हों अथवा अतीत जीवन से, मूल दृष्टि रोमानी है; अतः इन्हें मात्र रोमानी कहानियाँ या रोमानी ऐतिहासिक कहानियाँ कहा जा सकता है। यहाँ इस दूसरे वर्ग की कहानियों का इतिहास और विवेचन ही लक्ष्य है। हम इनका अव्ययन तीन उपशीर्षकों के अंतर्गत करेंगे—

(क) रोमानी कहानियाँ।

(ख) रोमानी ऐतिहासिक कहानियाँ।

(ग) ऐतिहासिक कहानियाँ।

(क) रोमानी कहानियाँ—रोमानी दृष्टि और संवेदना क्या है, यह प्रश्न बड़ा विवादास्पद रहा है। एक ओर इसे 'क्लैसिसिज्म' का विरोधी माना गया है तो दूसरी ओर 'रियलिज्म' का। स्टांचल रोमानी को 'क्लैसिक' का विरोधी मानता था और एवरक्रांवी 'रियल' का। इस विवाद के बावजूद रोमानी दृष्टि, संवेदना और मनोवृत्ति की कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं जिन्हें प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। इनमें से पहली विशेषता यह है कि यह व्यक्तिवादी दर्शन है। यह मानता है कि व्यक्ति अनंत संभावनाओं का केंद्र है। मानवता का संपूर्ण इतिहास जाति, धर्म, अर्थ, राजनीति, नैतिकता इत्यादि के बंधनों से ऊपर उठे हुए व्यक्ति की प्रतिकूलित संभावनाओं का इतिहास है। व्यक्ति का निजी और आंतरिक अनुभव ही प्रामाणिक अनुभव है, व्यक्ति-सत्य ही सत्य है। इसलिये रोमानी दृष्टि व्यक्तिगत अनुभव को, व्यक्ति के अनुभव की प्रक्रिया को महत्व देती है। यह दृष्टि व्यक्ति पर किसी प्रकार के बंधन और उसके नियमन के पक्ष में नहीं है। यह इसलिये कि सारे बंधनों से मुक्त रहकर व्यक्ति अपनी अधिकाधिक संभावनाओं को प्रतिकूलित कर सके। यही कारण है कि रोमानी दृष्टि जीवन में स्वच्छंदता, उन्मुक्तता के साथ ही कला में भी इसका समर्थन करती है। रोमानी कला उदारवादी कला है। इसमें शिल्प की अपेक्षा वस्तु का, बुद्धि की अपेक्षा भावना को, सामान्यीकृत भावों की अपेक्षा विशेषीकृत इंद्रियानुभूतियों का तर्क की अपेक्षा कल्पना का अधिक महत्व होता है। बुद्धि और तर्क तो मनुष्य की बड़े प्रयत्न और संयम के साथ अर्जित संपत्तियाँ हैं। उसकी सहज संपत्ति तो उसकी

भावना और कल्पना हैं। रोमानी दृष्टि से युक्त व्यक्ति भावुक और कल्पनाशील अधिक होता है। अतः रोमानी कला में भावुकता और कल्पना की प्रधानता होती है। रोमानी कला लगभग एक स्वप्न लोक की, ठोस वास्तविकता से भिन्न एक अलौकिक कल्पना जगत् की सृष्टि करती है। मनोराज्य (यूटोपिया) रोमानी दृष्टि की ही सृष्टि है। रोमानी मनोवृत्ति का रचनाकार अपने वर्तमान से प्रायः असंतुष्ट रहता है। यह असंतोष साहित्य में वर्तमान के प्रति करुण और अवसादमयी दृष्टि के रूप में तथा अतीत को स्वर्णकाल के रूप में अंकित करने में आदिम और अविकसित जीवन के प्रति ललकपूर्ण आकर्षण के रूप में तथा भविष्य में एक कल्पनाराज्य निर्मित करने के रूप में अभिव्यक्त होता है। वर्तमान से, ठोस यथार्थ से, जीवन के कटु संघर्ष से पलायन भी रोमानी मनोवृत्ति का ही लक्षण है। आदिम और अविकसित जीवन की सहज, और भोले भाले, छद्मरहित जीवन के रूप में कल्पना ने ही रोमानी साहित्य में प्रकृति को इतना महत्वपूर्ण बना दिया है। रूसो का 'प्रकृति की ओर प्रत्यावर्तन' का नारा रोमानी मनोवृत्ति की ही देन है। एक अतिरेकी आवेग से भरकर रोमानी दृष्टि से संपन्न व्यक्ति स्वातंत्र्य की लालसा और विभिन्न प्रकार के बंधनों के प्रति विद्रोह की भावना से भर उठता है।

वर्तमान वास्तविकता के प्रति असंतोष रोमानी रचनाकार को असाधारण की ओर आकर्षित करता है। चाहे प्रकृति हो, चाहे मानव सौंदर्य हो, चाहे शौर्य हो—सबमें रोमानी रचनाकार असाधारणता और असामान्यता के प्रति आकर्षित होता है। दैनिक जीवन की क्षुद्रता में रोमानी रचनाकार रम नहीं सकता। वह हमेशा आश्चर्यजनक और विचित्र के प्रति आकर्षित होता है, उसमें रमता है। इसलिये वाट्सन डंटन का यह कहना कि रोमान्टिसिज्म 'द रेनेसाँ ऑफ़ वंडर' है, उचित ही है। पेटर के अनुसार रोमान्टिसिज्म 'सौंदर्य में वैचित्र्य का योग' है। प्रेम रोमानियत का केंद्रीय भाव है लेकिन यह प्रेम सामान्य प्रेम नहीं है; असाधारण प्रेम है। अक्सर तो यह प्रेम शौर्याश्रित प्रेम होता है। जहाँ शौर्याश्रित नहीं भी होता है, वहाँ भी उसमें असाधारणता होती है। त्रापदी और औदात्य के प्रति आकर्षण रोमानी प्रेम की परिणति को भी भोग की अपेक्षा आत्मबलिदान और अतींद्रिय फंतासी की ओर अधिक ले जाता है।

रोमानी मनोभाव हिंदी में अपने शुद्ध और निरपेक्ष रूप में नहीं आया। उसमें राष्ट्रीयता की भावना और उस भावना से प्रेरित आदर्शवादिता भी आ मिली। इसका सूत्रपात भारतेन्दु युग में ही हो गया था। श्रीधर पाठक, मुकुटधर पांडेय, लोचनप्रसाद पांडेय, रूपनारायण पांडेय, रामनरेश त्रिपाठी इत्यादि की रचनाओं में रोमानी मनोवृत्ति एवं राष्ट्रियता की आदर्शवादी भावना का मिलाजुला एवं विकसित रूप मिलता है। छायावाद के प्रारंभिक चरण (१९१८ के लगभग) तक यह भाव बहुत कुछ विकसित हो चुका होता है। इसलिये आधुनिक हिंदी कहानी में उसके प्रारंभिक उत्थान के समय ही यदि एक रोमानी धारा बन जाती है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

हिंदी में रोमानी कहानी का सूत्रपात जयशंकर प्रसाद (१८८९-१९३६ ई०) की कहानियों से हुआ। उनकी पहली कहानी 'ग्राम' (१९११ ई०) 'इंद्र' में प्रकाशित हुई। यह कहानी तथा चार अन्य कहानियों—'तानसेन', 'चंदा', 'रसिया बालम' एवं 'मदन मृणालिनी'—को लेकर उनका पहला कहानी संग्रह 'छाया' (१९१२) निकला। इस संग्रह के संशोधित संस्करण में

छह कहानियाँ—‘शरणागत’, ‘सिकंदर की शपथ’, ‘चित्तौर का उद्धार’, ‘अशोक’, ‘गुलाम’ तथा ‘जहाँनारा’ और संमिलित की गई। उनकी कहानियों के इस प्रारंभिक संग्रह में रोमानी मनोभाव की अधिकांश प्रवृत्तियों का प्रारंभिक रूप हमें मिल जाता है। कला की दृष्टि से ये कहानियाँ परिपक्व नहीं हैं, लेकिन इनमें रोमांटिक कवि के प्रेमस्वप्न विद्यमान हैं। इस संग्रह की जो कहानियाँ ऐतिहासिक नहीं हैं, जो प्रसाद की अपनी कल्पना से प्रसूत हैं—जैसे ‘तानसेन’, ‘चंदा’, ‘रसिया बालम’, ‘मदन मृणालिनी’—वे सब प्रेम कहानियाँ हैं। प्रेम इन कहानियों के पात्रों का ‘धर्म’ है। ‘तानसेन’ कहानी का अंतिम सूत्र वाक्य है—‘आज से हमारा धर्म ‘प्रेम’ है।’ ‘रसिया बालम’ तो बिल्कुल शरीरफरहाद या लैला मजनून की प्रेमकथाजैसी रोमानीप्रेम कहानी है। ‘मदन मृणालिनी’ प्रणय के बलिदान की कहानी है। इन सभी कहानियों की प्रमुख विशेषता है प्रेम का भावुकतापूर्ण एवं समाज से दूर स्वच्छंद वातावरण के बीच चित्रण। इस प्रेमचित्रण के मुख्य सूत्र ये हैं—प्रेम की तीव्रता, साहसिकता, संगीतमयता, बलिदान, भावुक प्रणयालाप, स्वतंत्र्य एवं प्रखर नारी व्यक्तित्व, स्वच्छंद प्राकृतिक वातावरण, काव्यात्मकता एवं नाटकीयता। उनका दूसरा कहानी संग्रह था ‘प्रतिध्वनि’ (१९२६)। इस संग्रह में उनकी पंद्रह कहानियाँ संग्रहीत हैं—‘प्रसाद’, ‘गूदड़ साई’, ‘गूदड़ी में लाल’, ‘अधोरी का मोह’, ‘पाप की पराजय’, ‘सहयोग’, ‘पत्थर की पुकार’, ‘उस पार का योगी’, ‘करुणा की विजय’, ‘खंडहर की लिपि’, ‘चक्रवर्ती का स्तंभ’, ‘कलावती की शिक्षा’, ‘दुखिया’, ‘प्रतिमा’ और ‘प्रलय’। प्रसाद जी का यह दूसरा संग्रह यद्यपि उनके कहानीकार के विकासक्रम का पहला चरण माना जाता है तथापि इस संग्रह की कहानियों में उनके कथाशिल्प का एक नया मोड़ परिलक्षित किया जा सकता है। इस संग्रह की कहानियों में अधिक सुगठन है। इस संग्रह की कहानियों से यह स्पष्ट होता है कि प्रसाद जी की कहानियाँ भाव विशेष को अभिव्यक्त करनेवाली कहानियाँ हैं। ‘प्रतिध्वनि’ की प्रायः सभी कहानियाँ सुकुमार भाववृत्तियों को अभिव्यक्त करती हैं, यद्यपि इस संग्रह की कहानियों में अधिक सामाजिक प्रश्न भी उठाए गए हैं। स्त्री पुरुष संबंधों और प्रेम का रोमानी चित्रण करनेवाली कहानियाँ भी इस संग्रह में हैं। इस संग्रह की कुछ कहानियाँ प्रतीकात्मक और रहस्यात्मक हैं। ‘उस पार का योगी’ कहानी में किरण, लहर, पवन की वातचीत के माध्यम से आंतरिक आकर्षण से युक्त मिलन का चित्रण है। ‘करुणा की विजय’ कहानी में भी करुणा, दरिद्रता, अभिमान इत्यादि को मानवी रूप दिया गया है। ‘प्रतिमा’ भी एक प्रतीकात्मक कहानी है। ‘खंडहर की लिपि’ अत्यंत भावात्मक कल्पनाचित्र है। ‘प्रलय’ कहानी में ‘कामायनी’ का बीज विद्यमान है। इतना ही नहीं, इस कहानी की ‘कामायनी’ के साथ अनेक प्रत्यक्ष और शाब्दिक समानताएँ भी हैं। आरंभ में ही ‘हिमावृत चोटियों की श्रेणी, अनंत आकाश के नीचे क्षुब्ध समुद्र, उपत्यका की कंदरा’, ‘आगे चलकर प्रकृति का भीषण व्यापार—अग्नि स्फुलिंग बर्षा, हिम टीलों का महानदों के रूप में पलटना, भयानक ताप से शेष प्राणियों का तड़पना, प्रचंड आलोक का अंधकार, आलोड़ित जलराशि, प्रभंजन, महार्णव का भीषण गर्जन, ज्वालामुखियाँ, भयंकर कंप और घोर वृष्टि और इस बीच युवक का आसव पान’—ये सब चीजें ‘कामायनी’ के चिंता सर्ग की याद दिलाती हैं। इस कहानी का अंत भी ‘कामायनी’ के अंत से मिलताजुलता है—‘आओ, यह प्रलय रूपी तुम्हारा मिलन आनंदमय हो। अखंड शांति ! आलोक ! आनंद !’ इस संग्रह की कहानियों में स्थूल घटनातत्त्व बहुत कम रह गया है। इसलिये ‘प्रतिध्वनि’ की कहानियाँ गद्यगीत या रेखाचित्र जैसी लगती हैं। वे कहानियाँ

कम ही लगती हैं। प्रकृति का मनोरम चित्रण इन कहानियों की प्रमुख विशेषता है। इन कहानियों में प्रसाद जी की भावात्मकता काव्यात्मकता, रहस्यात्मकता काल्पनिक वातावरण-निर्माण-क्षमता, दार्शनिकता और आदर्शवादिता की विशेषताएँ सामने आती हैं।

‘आकाशदीप’ (१९२९) से प्रसाद जी के कहानीकार की प्रौढ़ता का युग प्रारंभ होता है। जो प्रवृत्तियाँ अपने प्रारंभिक रूप में ‘छाया’ और ‘प्रतिध्वनि’ की कहानियों में मिलती हैं, वे यहाँ विकसित और परिपक्व रूप में मिलती हैं। इस संग्रह की सभी कहानियों की केंद्रीय वस्तु है प्रेम। इस संग्रह की कहानियों में—विशेष रूप से ‘आकाशदीप’ में—प्रेम का अत्यंत सूक्ष्म और द्वंद्वत्मक चित्रण हुआ है। ‘आकाशदीप’ कहानी में चित्रित प्रेमभावना अत्यंत उदात्त और व्यापक है। ‘भिलारिन’, ‘चूड़ोवाली’, ‘बनजारा’, ‘अपराधी’, ‘बिसाती’ साधारण पात्रों और साधारण जीवन को लेकर लिखी गई हैं। इनमें समाजसुधार के संकेत भी हैं, फिर भी इन कहानियों की मूल भावना प्रेम ही है। इनमें भी प्रसाद की रोमानी सौंदर्यचेतना, स्त्री में आत्मगौरव की भावना और अभिजात संस्कार ने अभिव्यक्ति पाई है। इस संग्रह की छोटी कहानियों में घटनातत्त्व नगण्य है। ‘बनजारा’, ‘अपराधी’, ‘बिसाती’, ‘कला’ जैसी कहानियाँ चित्रात्मक गद्यगीतों जैसी हैं। इस संग्रह की सभी कहानियों में प्रसाद जी का छायावादी कवि रूप सर्वत्र मुखर हुआ है। इनमें तीव्र अनुभूति, गीतात्मकता, संगीत और सौंदर्य, और एक प्रकार की रहस्यात्मकता ने अभिव्यक्ति पाई है। ‘समुद्र संतरण’ जैसी कहानियों में कोलाहलपूर्ण संसार से पलायन का भाव भी प्रकट हुआ। यद्यपि इस संग्रह की कहानियों में भी भावात्मकता, गीत-तत्त्व, कल्पना, सौंदर्य, रहस्यवृत्ति और प्रेममूलक प्रसादीय दृष्टि विद्यमान है तथापि उसकी अभिव्यक्ति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आ गया है। अब भावुक उच्छ्वसन का स्थान संयत संवेदनशीलता ने ले लिया है। सांकेतिकता बढ़ गई है, वर्णनात्मकता कम हो गई है। अब कहानीकार कहानी को सूक्ष्म संकेतों के माध्यम से दुनता हुआ उसे एक चरम बिंदु पर पहुँचाता है और कहानी एक ऐसे बिंदु पर पहुँचकर समाप्त होती है जहाँ उल्लास और अवसाद दोनों विद्यमान होते हैं। प्रसाद के नाटकों की तरह उनकी कहानियाँ भी ‘प्रसादांत’ हैं, यह ‘आकाशदीप’ की कहानियों से स्पष्ट होता है। इस संग्रह की कहानियों में चरित्र रचना अधिक जटिल है। पात्रों का व्यक्तित्व बहुआयामी हो गया है।

‘आँधी’ (१९३१) और ‘इंद्रजाल’ (१९३६) प्रसादजी के विकासक्रम का तीसरा चरण हैं। इन दोनों संग्रहों में प्रसादजी की प्रौढ़तम कहानियाँ संगृहीत हैं। ‘आँधी’ में ग्यारह और ‘इंद्रजाल’ में तेरह कहानियाँ हैं। इन संग्रहों में रोमानी, ऐतिहासिक और सामाजिक यथार्थ-परक तीनों प्रकार की कहानियाँ हैं। इन संग्रहों की कहानियों को देखकर लगता है कि जैसे आदर्शवाद से प्रारंभ करके प्रेमचंद की परिणति यथार्थवाद में हुई, उसी प्रकार रोमानी कल्पना और भावुकता से प्रारंभ करके प्रसाद की परिणति भी यथार्थ के घरातल पर हुई। इन दोनों संग्रहों में ऐसी कहानियों की संख्या अधिक है जो जीवन के ठोस वास्तविक घरातल पर स्थित हैं और जिनमें वास्तविक जीवन संघर्ष का चित्रण अधिक वस्तुपरक एवं सूक्ष्म कलात्मकता के साथ हुआ है। इन कहानियों में उपर्युक्त संग्रहों की कहानियों की अपेक्षा वस्तुगत वैविध्य अधिक है। ‘मधुआ’, ‘घोसू’ और ‘पुरस्कार’, ‘आँधी’ नामक संग्रह की श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। इस संग्रह में ‘आँधी’ कहानी में रोमानी तत्व सर्वाधिक हैं। यह फ़ारसीपद्धति की प्रेमकथा है। यह

[बलूची तरुणी बन्या लैला और रामेश्वर के प्रेम की कहानी है। इसमें प्रेम की एकनिष्ठता, त्यागभावना, मित्रता का आदर्श, नियति की क्रूरता इत्यादि संगुंफित हैं। इस कहानी में आँधी का उपयोग प्रतीकरूप में किया गया है। कई कथासूत्रों के एक साथ गुंथे जाने के कारण यह कहानी लंबी हो गई है। 'दासी' कहानी भी लंबी है और उसमें कई तत्व गुंफित हैं। इस संग्रह की कहानियों में रोमानियत और कल्पना के साथसाथ प्रसादजी का जीवन के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण भी अभिव्यक्त हुआ है। 'इंद्रजाल' की कहानियों में भी प्रसादजी के जाने-माने स्वर विद्यमान हैं। इसमें भी कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ हैं और कुछ काल्पनिक। दोनों प्रकार की कहानियों में भावुकता, आदर्शवादिता और कल्पनाशीलता के साथसाथ एक समय और संतुलन भी है। मनुष्य के आंतरिक जगत की सूक्ष्म पकड़ इन कहानियों में विद्यमान है। प्रणय, मादक सौंदर्य और वेदना इन कहानियों का केंद्रीय भाव है। इस संग्रह की कहानियों में नाटकीयता पहले की कहानियों से अधिक है। प्रसादजी की अधिकांश कहानियों में केंद्रीय और प्रभावशाली पात्र नारी है। नारी के चित्रण में, उसके आत्मगौरव, दर्प और बलिदान को उभारने में प्रसादजी को जितनी सफलता मिली है उतनी पुरुष के पौरुषपूर्ण प्रखर व्यक्तित्व को नहीं। 'इंद्रजाल' संग्रह की बहुचर्चित कहानी 'गुंडा' में प्रसादजी ने पुरुषदर्प को पहली बार उभारा है। यह कहानी भी प्रेम के लिए आत्मबलिदान की कहानी है—शौर्याश्रित प्रेम की कहानी है। इस संग्रह की एक और विशिष्ट कहानी है 'चित्रमंदिर'। इसमें मनुष्य की दो आदिम वृत्तियों, काम और भूख का आदिम परिवेश में चित्रण है। यह कहानी भी 'कामायनी' की बीजभूत कही जा सकती है।

समग्रतः प्रसाद जी की कहानियों पर विचार करें तो प्रसाद जी की कहानियों की मूल प्रवृत्ति ठहरती है रोमानी मनोवृत्ति, जो मुख्यतः स्त्रीपुरुष के प्रेम के रूप में अभिव्यक्त हुई है। इस प्रेम के अनेक रूप उनकी कहानियों में व्यक्त हुए हैं। प्रेम भाव, नारी के रूपयौवन, प्रकृति के सौंदर्य, विषम परिस्थितियों से संघर्ष करते मनुष्य के शौर्य और वेदना के चित्रण के साथसाथ प्रसाद जी का बौद्ध दर्शन के साथ लगाव और उनका नियतिवादी एवं आनंदवादी जीवनदर्शन भी उनकी कहानियों में अभिव्यक्त हुआ है। उनके पात्र असाधारण हैं और उनकी कहानियों का वातावरण रोमांटिक कवित्वमय। संरचना की दृष्टि से उनकी कहानियाँ तीन प्रकार की हैं। कुछ कहानियाँ गद्यगीत और रेखाचित्र जैसी हैं। इनमें गीतों की मधुरता, भावात्मक वातावरण, रहस्यात्मकता और प्रतीकात्मकता है। 'प्रसाद', 'प्रतिध्वनि', 'प्रलय', 'प्रतिमा', 'कला' इत्यादि कहानियाँ इसी प्रकार की हैं। कुछ कहानियाँ ऐसी हैं, जिनमें पहले प्रकार की कहानियों की विशेषताओं के साथसाथ प्रचुर कथातत्व और उसका क्रमिक विकास भी है। इनमें विचारतत्त्व भी पर्याप्त मात्रा में है। 'इंद्रजाल', 'स्वर्ग के खंडहर' इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। तीसरे प्रकार की कहानियाँ वे हैं जिनमें सूक्ष्म संवेदना का चित्रण काव्यात्मकता और नाटकीयता के साथ हुआ है। 'आकाशदीप', 'पुरस्कार', 'आँधी', 'सालवती', 'नूरी' इत्यादि कहानियाँ इस वर्ग में आती हैं। प्रसादजी की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ—'आकाशदीप', 'पुरस्कार', 'व्रतभंग', 'मधुआ', 'गुंडा', 'ममता' इत्यादि की संरचना एक ही है। इन सभी कहानियों का मूलधार 'एंबिवैलेंसी' की मनोदशा है—दो समान शक्तिशाली भावनाओं के बीच द्वंद्व और उस द्वंद्व के माध्यम से जटिल चरित्ररचना। ऐसी कहानियों की नायिकाएँ भावशबलता का अनोखा उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

रोमानी कथाधारा के अंतर्गत ही छायावाद के दूसरे प्रमुख कवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' (१८९६-१९६१ ई०) की प्रारंभिक कहानियाँ आएँगी । ये कहानियाँ 'लिली' (१९३३) और 'सखी' (१९३५) संग्रहों में संगृहीत हैं । ये कहानियाँ हैं 'पद्मा और लिली', 'ज्योतिर्मयी', 'कमला', 'सखी', 'श्यामा', 'परिवर्तन', 'हिरनी' और 'अर्थ' । डॉ० रामविलास शर्मा ने इन कहानियों को 'दिवास्वप्न' की संज्ञा दी है । इनमें रोमानी तत्त्व वैसा सघन तो नहीं है जैसा प्रसाद की कहानियों में है लेकिन रोमांटिसिज्म के अनेक लक्षण इनमें विद्यमान हैं । निराला ने अपनी इन कहानियों में ठोस सामाजिकआर्थिक प्रश्न उठाए हैं, लेकिन उनके समाधान काल्पनिक हैं । कहानीकार जातिपाँति, छुआछूत, आर्थिक शोषण, भैयाचार इत्यादि के प्रश्न उठाता है, सामाजिक विषमता और शोषण के खिलाफ अपने पात्रों से विद्रोह भी कराता है लेकिन समाधान के रूप में कहानियों की परिणति दिवास्वप्नों में होती है । प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में जो समाधान प्रस्तुत किए, वे आदर्शवादी थे, दिवास्वप्निल नहीं । निराला ने जो समाधान प्रस्तुत किए हैं, वे प्रतिशोध की भावना से या इसी प्रकार की किसी अन्य भावना से प्रेरित दिवास्वप्निल हैं । इसलिये प्रेमचंद की कहानियाँ रोमानी नहीं हैं, निराला की कहानियाँ रोमानी हैं । रोमानियत के इस मूल तत्त्व के साथ साथ निराला की उक्त कहानियों में रोमानियत का एक और लक्षण समाज की रुढ़ियों के प्रति विद्रोह का भाव मिलता है । 'श्यामा' कहानी में लोच की बेटी श्यामा के साथ पंडित रामप्रसाद के लड़के बंकिम का प्रेम जातिपाँति और ऊँचनीच के भेदों में बँटे समाज के प्रति विद्रोह है । श्यामा विधवा है । विधवा से प्रेम भी चौथे दशक की सामाजिक स्थिति में विद्रोह माना जाएगा । नायिका का नाम उसकी जाति, परिवेश, सामाजिकआर्थिक स्थिति को देखते हुए श्यामा होना और नायक का नाम बंकिम होना रोमानी मनोभाव को ही व्यक्त करता है । बंकिम का शहर जाकर उन्नति करते-करते हिंटी कलक्टर बन जाना, श्यामा का उसकी पत्नी होना, जमींदार दयाराम का उसके यहाँ डाली लेकर जाना, श्यामा का उसे अर्दली से कान पकड़कर बाहर निकलवा देना—यह सब दिवास्वप्निल इच्छा पूर्ति है जो प्रतिशोध की भावना से प्रेरित है । निराला की उक्त कहानियों में नायिकाओं की अवस्था, रूप, आचरण—सब रोमानी मनोवृत्त की देन हैं । निराला की सभी नायिकाएँ युवतियाँ हैं, अपनेअपने ढंग से रूपवती और चमत्कृत करनेवाली । किंतु निराला प्रारंभ से ही सामाजिकआर्थिक समस्याओं के प्रति सचेत थे, इसलिये आगे चलकर उन्होंने जो कहानियाँ लिखीं वे रोमानी कहानियाँ न होकर सामाजिक यथार्थवादी कहानियाँ हैं ।

छायावाद के तीसरे प्रमुख कवि सुमित्रानंदन पंत (१९००-१९७७ ई०) ने भी पाँच कहानियाँ लिखी हैं । ये कहानियाँ हैं—'पानवाला', 'उस बार', 'दंपति', 'बन्नु' और 'अव-गुंठन' । ये सभी कहानियाँ 'पाँच कहानियाँ' (१९३५) नामक संग्रह में प्रकाशित हुई हैं । जिस समय ये कहानियाँ लिखी गई उस समय हिंदी में यथार्थवाद का प्रवाह था और स्वयं पंत जी छायावाद की राह छोड़कर प्रगतिवाद की राह पर चल पड़े थे । इसलिये इन कहानियों के संबंध में यह कहा जाना ठीक ही है कि 'जीवन की यथार्थताओं से स्पर्धित इन रचनाओं को पंत के कवि की संपूर्ण काव्यमयता तो मिली ही है, उनके चित्तक की सोद्देश्यता भी पूरी तरह प्राप्त हुई है ।' लेकिन जैसे पंत जी की प्रगतिवादी कविता में छायावादी काव्यतत्त्व अवशिष्ट थे उसी प्रकार इन कहानियों में भी यथार्थवादिता के दावे के बावजूद रोमानी तत्त्व विद्यमान हैं ।

पंत जी ने किसी भी रोमानी कहानीकार के समान अपनी पाँच कहानियों में साधारण स्थितियों और पात्रों में असाधारणता की खोज की है।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह (१८९०-१९७१ ई०) का उल्लेख आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिंदी के एक अत्यंत भावुक और भाषा की शक्तियों पर अद्भुत अधिकार रखनेवाले लेखक' के रूप में किया था। उनकी कहानी 'कानों में कौंगना' (१९१३) को 'एक अत्यंत भावुकता-पूर्ण कहानी' कहा था। केवल यही एक कहानी नहीं, बल्कि उन्होंने कुछ और कहानियाँ भी लिखी हैं जो भावुकतापूर्ण हैं। इसके साथ ही, इन्होंने ऐसी भी कहानियाँ लिखी हैं जो अपने समय की राजनैतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक और धार्मिक समस्याओं को यथार्थ के घरातल पर उठाती हैं। 'गांधी टोपो', 'सावनी सभा' और 'गल्प कुसुमांजलि' की कुछ कहानियाँ इन्हें प्रसाद की रोमानी कथाधारा में रखती हैं और कुछ कहानियाँ प्रेमचंद की सामाजिक यथार्थ की परंपरा में। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन कुछ कहानियों में रोमानीतत्व विद्यमान हैं। इनकी पहली ही कहानी 'कानों में कौंगना' रोमानी प्रेम की एक सुंदर कहानी है। इस कहानी की नायिका का भोलापन, सभ्यता से अछूतापन रोमानियत का एक प्रमुख लक्षण है।

प्रसादजी के बहुत निकट पड़नेवाले कहानीकार चंडीप्रसाद 'हृदयेश' (१८८९-१९३६ ई०) हैं। 'नंदन निकुंज' और 'वनमाला' में संगृहीत उनकी कहानियाँ उन्हें एक रोमानी कहानीकार के रूप में प्रस्तुत करती हैं। 'प्रेम परिणय', 'प्रेम पुष्पांजली', 'प्रणय परिपाटी', 'योगिनी', 'मोनव्रत', 'प्रतिज्ञा', 'प्रेतोन्माद', 'शांति निवेदन' और 'उन्मादिनी' को उनकी प्रतिनिधि कहानियाँ माना जा सकता है। हृदयेशजी की कहानियों में घटनातत्त्व बहुत कम होता है और जो होता भी है, उसका क्रमिक विकास नहीं होता। इनकी कहानियों में भावों की प्रधानता होती है। इनकी कहानियाँ मुख्यतः प्रणयकथाएँ हैं। इन प्रणयकथाओं के माध्यम से उन्होंने सिद्धांत प्रतिपादन का प्रयत्न भी किया है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि इनकी कहानियों में प्रस्तुत के साथसाथ अप्रस्तुत भी महत्वपूर्ण हो उठा है। कहीं कहीं तो अप्रस्तुत इतना महत्वपूर्ण हो उठा है कि इनकी कहानियाँ रूपक बघाएँ हो गई हैं। इनकी एक कहानी है 'प्रेम-परिणाम'। इसका नायक शैलेंद्र विवाहित है; फिर भी वह विमला से प्रेम करता है। इस 'प्रेम-प्रसंग' से शैलेंद्र की पत्नी सरला परिचित है। वह भी अपने पति से बहुत प्रेम करती है, लेकिन वह उसके लिये सुलभ नहीं है। उसका कहना है कि शैलेंद्र उसकी मृत्यु के बाद ही उसे प्राप्त कर सकता है। इस कहानी में काव्य-रचना-प्रक्रिया का रूपक है। शैलेंद्र कवि या रचनाकार है। विमला सांसारिक विषय और सरला कल्पना का प्रतीक हैं। सिद्धांतप्रतिपादन यह है कि कवि सांसारिक विषयों के प्रति उदासीन होकर ही प्रेम मंदिर में प्रवेश पा सकता है। 'प्रेम पुष्पांजली' में रूप के आवर्षण की व्याख्या है। कहानीकार की दृष्टि में रूप का आकर्षण इंद्रजाल है। उसमें मनुष्य को मूर्ख और उन्मत्त बना देने की शक्ति है। 'प्रणय परिपाटी' कहानी में कवि और प्रजापति की सृष्टि का अंतर स्पष्ट किया गया है। कवि की सृष्टि, प्रजापति की सृष्टि से श्रेष्ठतर होती है। प्रजापति की सृष्टि के कुछ निश्चित प्राकृतिक नियम हैं, लेकिन कवि की सृष्टि इन नियमों से ऊपर है। 'कवि का महान नियम प्रेम है। उसकी सृष्टि के राजराजेश्वर स्वयं परमपुरुष हैं और राजराजेश्वरी श्री महामाया प्रकृति देवी हैं।' कवि की सृष्टि का आधार प्रत्यक्ष तो होता ही है, परंतु उसके आगे उसकी सृष्टि का आधार अनुमान भी होता है।

इसलिये प्रेम की सृष्टि परस्पर विरोधी तत्वों के मिश्रण से बननेवाली सृष्टि है। स्त्रीपुरुष के प्रेम के अतिरिक्त स्वदेशप्रेम या राष्ट्रभक्ति को लेकर भी हृदयेश ने कहानियाँ लिखी हैं। 'प्रतिज्ञा' कहानी में दो युवकों—विश्वनाथ और रमानाथ—के देशसेवा के लिये प्रतिश्रुत होने की कहानी बही गई है। 'शांति निकेतन' इनकी एक प्रसिद्ध कहानी है। इस कहानी का प्रतिपाद्य यह है कि सच्ची शांति माँ की गोद में ही मिलती है। माँ की ममतामयी कोमल गोद ही शांति का निकेतन है। हृदयेश की कहानियों का विषय कोई भी हो, लेकिन उनकी हर कहानी में भावुकता, मार्मिक परिस्थिति और आलंकारिकता होती है। प्रसाद जी की कहानियों के सबसे निकट पड़नेवाली कहानियाँ चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की हैं।

प्रसाद के जितने निकट हृदयेश हैं, उतने ही निकट राय कृष्णदास (१८९२-१९८० ई०) हैं। ये प्रसादजी के घनिष्ठ मित्र थे और १९१७ से इन्होंने कहानियाँ लिखना प्रारंभ किया था। कहानीकार की अपेक्षा यह गद्यगीतकार के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके गद्यगीतकार रूप का प्रभाव इनकी कहानियों पर भी पड़ा है। स्वाभाविक है कि इनकी कहानियाँ भावुकतापूर्ण, काव्यात्मक और रोमानी मनोवृत्ति से पूर्ण हैं। इनके मुख्य कहानी संग्रह हैं 'सुधांशु' (१९२२ ई०), 'अनाख्या' (१९२७ ई०) और 'आँखों की याह' (१९४० ई०)। कुछ लोगों ने इनके गद्यगीत संग्रह 'साधना' (१९१६ ई०) का भी कहानी संग्रह के रूप में उल्लेख किया है जो गलत है। राय कृष्णदास की कहानियाँ भावना, कल्पना, रहस्य और गीतितत्व से परिपूर्ण हैं इन्होंने अपनी 'प्रसन्नता की प्राप्ति', 'अंतःपुर का आरंभ', 'आकर्षण का अर्थ', 'रमणी का रहस्य', 'कला और कृत्रिमता', 'कल्पना' जैसी कहानियों में शाश्वत सत्यों को कहानियों के रूप में प्रकट किया है। इसलिये इनकी ये कहानियाँ या तो रूपक कथाएँ बन गई हैं या बोध कथाएँ। इनकी कहानियों का भी एक प्रमुख विषय स्त्री पुरुष का प्रेम है, किंतु माने हुए कलापाखी होने के कारण इन्होंने सच्ची कला और कला की रचनाप्रक्रिया को भी अपनी कहानियों के माध्यम से व्यक्त किया है। कुछ कहानियाँ तो विकृत गद्यगीत जैसी हैं और इनके कुछ गद्यगीत कहानियों जैसे हैं। जो कहानियाँ गद्यगीत जैसी नहीं हैं, उनमें भी बीच बीच में ऐसे अंश आ जाते हैं जिन्हें गद्यगीत कहा जा सकता है। ये अंश प्रायः प्रकृतिचित्रण से संबंधित होते हैं। 'सुनार का स्वप्न' कहानी में सुनार के स्वप्न का नीचे उद्धृत अंश गद्यगीत का ही उदाहरण है।

'.....निद्रा के तमिस्रलोक में आलोक का संचार हो उठा। स्वर्णकार ने अपने को एक प्रभापूर्ण घाटी में पाया। चारों ओर छोटी छोटी टेकरियाँ थीं, उनपर हरियाली का अटल राज्य। वनस्पति जगत् के संग सूर्य की किरणें खेल रही थीं। सारी वनस्पति फूलों से लदी हुई थी। रंगों का मेला लग रहा था—वहीं प्रकृति का मीनाबाजार था। सौरभ का कोश खुश हुआ था। मधुप की टोलियाँ गुंजार कर रही थीं, पुष्पावलियों पर झूम रही थीं। इधर उधर चिड़ियाँ चहचहा रही थीं। बीच में एक स्वच्छ फेनिल स्रोत कल कल करके बह रहा था। वसंत पवन धीरे धीरे चल रहा था, अटकता हुआ चल रहा था। पुष्पों की भीड़ में उसे मार्ग न मिलता था। वह एक भूलभुलैया में पड़ा हुआ था।'

प्रकृति का यह रंगीन और वैभवपूर्ण चित्रण रोमानी प्रकृति का एक लक्षण है। अन्य रोमानी कहानीकारों के समान रायकृष्णदास ने भी अपनी कहानियों में व्यक्तिचित्र और

व्यक्तिमन को उद्घाटित किया है। उनको भाषा अलंकृत और काव्यात्मक है।

विनोदशंकर व्यास (१९०४-१९६६ ई०) भी रोमांटिक कथाधारा के प्रमुख कहानीकार हैं। वे प्रकृति से भावुक और रोमानी मनोदशावाले व्यक्ति थे। प्रसाद को वे अपना गुरु मानते थे। 'हृदय की कसक' (१९२७) उनकी पहली कहानी है और 'नवपल्लव' (१९२८ ई०) उनका पहला कहानी संग्रह है। 'हृदय की कसक' एक भावुकतापूर्ण प्रणय कथा है जिसमें आध्यात्मिक प्रेम और शारीरिक प्रेम या वासना के द्वंद्व को चित्रित किया गया है। प्रसाद जी ने इस कहानी का संशोधन किया था; फिर भी इसमें से गलदश्रु भावुकता नहीं निकल पाई है। इसका प्रारंभ बड़े भावुकतापूर्ण नास्टैलिजिया और प्राकृतिक पदार्थों का अलंकरण के लिये उपयोग करते हुए हुआ है—'जब सहसा आकाश में बादल विर जाते—पूणिमा के चंद्रदेव की किरणें गंगा की लहरों के साथ अठखेलियाँ करती—श्मशान पर चिता दहक उठती—वन में कोयल कूक उठती—पपीहा कण शब्द से पिहकने लगता—प्रातःकाल उपवन में सुपन खिल उठते अथवा सुंदर रमणियों का दल जब कभी भी दीख पड़ता था, तब मेरा हृदय भी उमड़ आता था। मैं व्याकुल होकर कुछ देर तक विचार सागर में डुबकियाँ लगाने लगता।' कहानी का यह प्रारंभ उसके मूल स्वर की ओर संकेत करने के लिये पर्याप्त है। इस कहानी में एक युवक के अपने मित्र की विधवा सुंदरी बहिन के प्रति प्रेम का चित्रण किया गया है। प्रेम दोनों करते हैं। पहले युवक का प्रेम अशरीरी है और शांता का शारीरिक। बाद में युवक शारीरिक प्रेम की ओर झुकता है तो शांता अशरीरी प्रेम में विश्वास करने लगती है। इससे दोनों प्रेम की आग में जलते हैं। प्रेम का उदात्तीकरण होता है। युवक को शांता 'देवी' दीखने लगती है। इस उदात्तीकरण के बावजूद कहानी का अंत भावुकतापूर्ण है—'कई वर्ष बीत गए। अब केवल एक स्मृति है। अब कभी कभी, शांता की स्मृति हृदय में जाग उठती है। मैं चुपचाप बैठकर स्मृति की उसी अचल प्रतिमा के चरणों में आँसुओं के दो फूट चढ़ा देता हूँ।' विनोद शंकर व्यास की अधिकांश कहानियाँ इसी प्रकार की भावुकतापूर्ण कहानियाँ हैं।

विनोदशंकर व्यास के पहले 'नवपल्लव', 'तूलिका', 'भूली बात' और 'घूमदोप' नामक चार कहानी संग्रह प्रकाशित हुए। इनमें ४१ कहानियाँ थीं जो 'विनोदशंकर व्यास की ४१ कहानियाँ' नाम से एक साथ प्रकाशित हुईं। इसके बाद दो संग्रह और प्रकाशित हुए 'उसकी कहानी' तथा 'मणिदोप'। ४१ कहानियाँ तथा इन संग्रहों में प्रकाशित कहानियों का इकट्ठा प्रकाशन 'पचास कहानियाँ' (१९५६ ई०) नाम से हुआ। इन पचास कहानियों के बाद उनकी नई कहानियों का एक संग्रह 'नक्षत्रलोक' के नाम से छपा तथा उन्होंने १२ कहानियाँ और लिखीं, जिनका अलग से कोई संग्रह नहीं छपा, लेकिन इन सब कहानियों का इकट्ठा संग्रह 'अस्सी कहानियाँ' (१९६० ई०) के नाम से प्रकाशित हुआ। दो महायुद्धों के बीच कहानियाँ लिखना प्रारंभ कर व्यास जी बहुत बाद तक कहानियाँ लिखते रहे हैं, लेकिन लगता यह है कि एक बार उन्होंने कहानी का जो संस्कार ग्रहण किया, उसे वे अंत तक पकड़े रहे। उन्होंने बाद के कथा आंदोलनों से कोई प्रभाव ग्रहण नहीं किया। १९६० में भी उनकी मान्यता यही थी कि 'भावनात्मक छोटी कहानियाँ गीतकाव्य की एक शाखा हैं।' उन्होंने अपनी 'अस्सी कहानियाँ' की प्रस्तावना में लिखा है कि 'गायक की स्वर लहरियों की भाँति इसके प्रभाव भी बहुत ही प्रबल होते हैं। लेखक ठीक गायक की भाँति अनुभव करता है। उसकी आत्मा अपनी आकांक्षाओं को पूर्ण

देखकर प्रसन्नता और निराशा के प्रति दुःख प्रकट करती है। यह सुख दुःख सदैव उद्गार के रूप में उसके मस्तिष्क में छाए रहते हैं। प्रकृति के विलक्षण दृश्यों में तन्मय होकर वह अपने को भूल जाता है। उसकी आवश्यकता और अभाव अपनी अस्पष्ट आकृति बनाकर उसके सम्मुख खड़े हो जाते हैं। विदग्ध हृदय के आघातप्रतिघात ही एक टीस उत्पन्न करते हैं। वही टीस इन भावनात्मक कहानियों की जननी है। लेखक अपनी भावना, रुदन, क्रंदन और प्रसन्नता द्वारा उन स्वप्नचित्रों को अंकित करता है। विनोदशंकर व्यास का कहना है कि भावनात्मक कहानियों में पात्रों के चरित्रचित्रण, घटनाओं के क्रमिक विकास, विस्तृत वर्णनों की माँग करना बेकार है; क्योंकि 'ऐसी कहानियाँ केवल स्वप्नचित्रों की भाँति होती हैं। विशेष रंगामेजो उनके सौंदर्य को विकृत कर देती हैं।' विनोदशंकर व्यास के ये कथन उनकी अपनी कहानियों के संबंध में सटीक हैं। अन्य रोमानी कहानीकारों के समान विनोदशंकर व्यास की कहानियों का भी केंद्रीय विषय प्रेम है। अतिरिक्त भावुकता के कारण उनकी कहानियों में चित्रित प्रेम में असंयम का तत्व प्रधान है। उन्होंने अपनी कुछ कहानियों में वेश्याओं के भोगविलासमय बलुपित जीवन में सुलभ उद्भ्रांत प्रेम का भी चित्रण किया है। प्रेम का ऐसा चित्रण करनेवाली कहानियों में 'हृदय की कसक', 'पतित', 'रूखा स्नेह', 'सुख', 'प्रत्यावर्तन', 'भाग्य का खेल', 'प्रेम की चिता', 'मान का प्रश्न', 'कहना', 'वंशीवाला', 'प्रमदा', 'रघिया', 'मोह', 'पगली', 'लीला', 'शैया पर', 'प्रतीक्षा', 'अकिंचन', 'दीपदान', 'समाधि', 'स्वर्ग', 'बदला', 'छलिया', 'चिड़ियावाला', 'अपराध', 'अंधकार', 'विधाता', 'भूली बात', '३०२', 'उलझन', 'भविष्य के लिए', 'अभागे का घर', 'उसकी कहानी', 'वासना की पुकार', इत्यादि कहानियों का नामोल्लेख किया जा सकता है। उन्होंने 'शोर्पक रहित', 'स्वराज्य कब मिलेगा', और 'अब' जैसी कुछ राजनैतिक कहानियाँ भी लिखी हैं। इन कहानियों में वही रोमानी भावुकता है जो उनकी प्रेमकहानियों में है। विषयवैविध्य और वस्तुविस्तार की दृष्टि से व्यासजी का कथाक्षेत्र बहुत सीमित है।

गोविंदवल्लभ पंत (१८९८-१९६० ई०) ने अधिक कहानियाँ नहीं लिखी हैं। आपके दो कहानीसंग्रह प्रकाशित हुए हैं 'एकादशी' (१९२४) और 'सांध्य प्रदीप' (१९३१)। इनकी पहली कहानी 'मिलन मुहूर्त' १९१९ में 'प्रतिभा' में प्रकाशित हुई। इनकी कहानियाँ प्रसादजी की रोमानी धारा की ही कहानियाँ हैं। इन्होंने प्रसादजी की ही कथा शैली का अनुसरण किया है। प्रेम की भावुकतापूर्ण वस्तु, कवित्वमय वातावरण, असाधारण और असंभव दिखनेवाली घटनाएँ, कल्पना का प्रचुर उपयोग, अलंकृत कवित्वमयी भाषा जैसी विशेषताएँ इनकी कहानियों में हैं। 'जूठा आम' इनकी एक प्रसिद्ध कहानी है। इसकी वस्तु घोर रोमानी प्रेम है। इसमें माया नामक लड़की के प्रति 'मैं' के रोमानी प्रेम, वाचक की रसोई में माया के द्वारा चूसे जाते आम की गुठली का गिरना, माया का नीचे गिरना और मरना, वाचक के द्वारा उस आम की गुठली को बोना, आम का पौधा उगना और फिर वृक्ष बनना आदि घटनाएँ अंकित हैं। इसी आम की मंजरियों में से वाचक को माया दर्शन देती है। इस कहानी के नीचे उद्धृत अंश से कहानीकार की भावुकता और रोमानियत का अनुमान किया जा सकता है।

'आह ! वह श्रोत्र की संख्या थी। तापतप्त भूमि पर पानी छिड़ककर मैं भोजन बना

रहा था। अचानक सूर्योदय हुआ। चिक के पास मुझे माया दिखाई दी। वह आम चूस रही थी। आम मधुर था। उससे हजारगुना माधुर्य माया की मुस्कान में था। होठों में ऐसी माधुरी रखकर भी माया न जाने क्यों आम चूस रही थी ?'

'माया ने आम चूसकर उसके छिलके दूर फेंक दिए। वह जानती थी, यदि उसके जूठे आम का एक छिलका भी मेरी रसोई में गिर जाए तो वह अपवित्र हो जाएगी। मैं समझता था कि यदि उसका एक भी जूठा छिलका मेरी रसोई में गिर जाए तो वह पवित्र हो जाएगी।'

हिंदी की कई रोमानी कहानियों के समान इस कहानी को भी रूपक कथा के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। माया तो माया है। उसकी मुस्कान, उसका आम चूसना और आम की गुठली मायाजाल का, सांसारिक विषयवासनाओं का प्रतीक हैं तथा वाचक जीव है जो इस मायाजाल में फँस गया है। गोविंदवल्लभ पंत की कहानियाँ भी मुख्यतः प्रेम कहानियाँ हैं और व्यक्तिमानस की क्रियाप्रतिक्रियाओं को चित्रित करती हैं। उनमें शाश्वत सिद्धांत-स्थापन भी है और कवित्व एवं आलंकारिकता भी।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री (१८९१-१९६० ई०) एवं पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' (१९०० ई०) तथा वाचस्पति पाठक (१९०५-१९८० ई०) की कुछ भावुकतापूर्ण कहानियों को—विशेषतः देशभक्ति और प्रेम संबंधी कहानियों को इस धारा के अंतर्गत रखा जा सकता है। वैसे, ये कहानीकार अलग धारा के कहानीकार हैं।

रोमानी कहानियों की सामान्य विशेषताएँ—रोमानी कथाधारा के अंतर्गत जिन कहानीकारों की ऊपर चर्चा की गई है, उनमें से हर एक कहानीकार की अपनी निजी विशेषताएँ हैं, निजी पहचान है; फिर भी उनकी कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ हैं जो कम या अधिक मात्रा में सभी में समान रूप से मिलती हैं। यही रोमानी कथाधारा की सामान्य विशेषताएँ या प्रवृत्तियाँ हैं। ये प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) **जीवन दर्शन**—रोमानी कहानी का मूल जीवनदर्शन व्यक्तिवादी मानवतावाद है। ऐसे रोमानी कहानीकार कम ही हैं जो जयशंकर प्रसाद के समान शैव आनंदवाद या बौद्ध कर्णवाद को लेकर चले हों। अधिकांश कहानीकार तो व्यक्ति के सुख दुःख को प्रमाण मानकर ही चले हैं। उन्होंने बिना किसी दर्शन का आरोप किए सीधेसीधे मनुष्य के सुख दुःख को अपनी कहानियों में अंकित किया है। इन्होंने अपनी कहानियों में व्यक्ति मन को ही महत्व दिया है। यह व्यक्ति मन ऐसा है जिसका रहस्य आसानी से नहीं जाना जा सकता। प्रसाद की कहानी 'पुरस्कार' की नायिका मधूलिका अपनी स्नेह की भूमि छिन जाने के दुःख से व्याकुल भी है और जिसके कारण यह भूमि छिनी है, कोशल के उस राष्ट्रीय नियम को भी नहीं बदलना चाहती, चाहे उसे कितना ही दुःख उठाना पड़े। इस विचित्र स्थिति से चकराकर मधूलिका से राजकुमार अर्षण पूछता है—'तब तुम्हारा रहस्य क्या है?' मधूलिका का उत्तर है—'यह रहस्य मानवहृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार, नियमों से यदि मानवहृदय बाध्य होता तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिंचकर एक कृषक बालिका का अपमान करने न आता।' मनुष्य के इसी रहस्यमय हृदय को कहानियों में उतारने का प्रयास रोमानी कहानीकारों ने किया है। मनुष्य की अंतिम सदाशयता में इन कहानीकारों का विश्वास था। अतः इन कहानीकारों ने मनुष्य की सदाशयता को हृदयपरिवर्तन के रूप में अंकित किया

है। चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की प्रसिद्ध कहानी 'उन्मादिनी' इसका उदाहरण प्रस्तुत करती है। सौदामिनी का पति कालीशंकर उसके साथ पाशविक अत्याचार करता है। कोढ़ में खाज की तरह उसके पीछे एक गुंडा पूरनमल लगा हुआ है। परिस्थितियाँ सौदामिनी को तो उन्मादिनी बना देती हैं लेकिन उसकी कष्ट स्थिति पूरनमल के पशु को पराजित करके उसके मनुष्यत्व को जगा देती है। 'तीन वर्ष से जो चरित्रहीन, भ्रष्ट कामुक युवक, जिस सुंदरी के रूपयौवन को अपनी कामप्रवृत्ति की अग्निशांति का साधन बनाना चाहता था, वही युवक उसी सुंदरी में मातृत्व की महिमामयी शोभा का विलास देखकर भक्ति और श्रद्धा से उसको ओर ताकने लगा। व्यभिचार का भाव उस पुण्य मातृत्व की उन्मत्त धारा में विलीन हो गया। पूरन ने उसके चरणों में घुटने टेककर गद्गद कंठ से कहा—'क्षमा करो; मैंने वास्तव में बड़ी भूल की थी। मैंने आज तक अपने मनोमंदिर में कैसे भयंकर पाप का परिपालन किया था।' पूरन का यह हृदयपरिवर्तन और सौदामिनी को माँ मानना इतना अचानक होता है कि अस्वाभाविक लगता है, तथापि यह रोमानी कथाकार की जीवनदृष्टि को सामने लाता है। यही मानवतावादी दृष्टि उन कहानियों में दिखाई देती है, जहाँ मनुष्य स्वार्थ से ऊपर उठा हुआ आचरण करता है। प्रसादजी की कहानी 'नीरा' में देवनिवास की नीरा से विवाह करने की तत्परता अथवा 'धीसू' में विधवा विदो के लिए धीसू का त्याग अथवा 'मधुआ' में एक असहाय बालक के लिए एक शराबी का कर्म-बंधन में फिर से बंधना, शराव छोड़ना—यह सब कुछ मानवतावादी जीवनदृष्टि का प्रतिफल है।

रोमानी कहानीकारों ने अलौकिक शक्ति में विश्वास नहीं खोया है, लेकिन मनुष्य की लौकिकता में उनकी आस्था अधिक दृढ़ है। वे मनुष्य को उसके क्षुद्र दैनिक क्रियाकलापों में नहीं खोजते हैं बल्कि उसकी दिनचर्या में व्यक्त होनेवाले देशकालातीत सत्य को रेखांकित करते हैं। इसी कारण रोमानी कहानीकारों के द्वारा लिखित अनेक कहानियाँ रूपकों और बोधकथाओं जैसी लगती हैं। राय कृष्णदास की कहानियाँ, इस दृष्टि से, विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उनकी कहानी 'प्रसन्नता की प्राप्ति' इस सत्य को हमारे सामने लाती है कि शिशु की निश्छल और निश्चित हँसी ही प्रसन्नता का मूर्त रूप है। उनकी एक दूसरी कहानी 'अंतःपुर का आरंभ' मानवजीवन के उस सत्य को व्याख्यायित करने का प्रयत्न करती है जिसके अंतर्गत पुरुष ने तो बाहर का संघर्षमय जीवन अपनाया और नारी को घर की चहारदीवारी का सुरक्षित जीवन प्रदान किया। यहीं तो मनुष्य पशु से भिन्न हुआ।

रोमानी कहानियों में व्यस्त होनेवाली यह जीवनदृष्टि अपने भुग की स्थितियों से संचालित है।

(२) प्रेम, सौंदर्य और शौर्य—प्रेम, रोमानी कहानी का केंद्रीय विषय है। यह बहुत कुछ रोमानी और वायवीय प्रेम है जिसमें शारीरिकता कम है, भावना अधिक है। प्रेम को लेकर रोमानी कहानीकारों का दृष्टिकोण लगभग वही है जो छायावादी कविता में अभिव्यक्त हुआ है। इन कहानियों में प्रेम अपना लक्ष्य स्वयं है। उसका लक्ष्य विवाह नहीं है। निराला की कहानी 'पद्मा और लिली' की पद्मा अपने पिता से पूछती है—'विवाह और प्यार एक बात है? विवाह करने से होता है, प्यार आप होता है। कोई किसी को प्यार करता है तो वह उससे विवाह भी करता है?' पद्मा और राजेंद्र के विवाह के बीच जातिवाद आ खड़ा होता

है तो दोनों आजीवन विवाह न करने का निर्णय करते हैं। निराला की यह कहानी बहुत कुछ सामान्य जीवन की कहानी है, इसलिए उसमें प्रेम का स्तर लौकिक है तथापि आदर्शवादी है। विनोदशंकर व्यास की कहानियों में शारीरिक ललक अधिक है, किंतु उनको भी दृष्टि आदर्शवादी है। उन्होंने अपनी 'खोज' नामक कहानी में प्रेमियों का चित्र इस प्रकार अंकित किया है—'प्रेमपुजारियों के दर्शन हुए। कुछ लोग ध्यान में निमग्न थे, कुछ आहें भरभरकर आँसू बहा रहे थे। सभी का तन जर्जर और मुख पीला था। आँखों में विफलता बरस रही थी।' इसी कहानी में प्रेमसंबंधी अपने दर्शन को प्रेमदेव के द्वारा यों प्रस्तुत किया है—'अच्छा, तुम जिसे चाहते हो, उसे पाने की अभिलाषा कभी मत करना, नहीं तो सब सुख चला जायेगा। केवल अराधना करो, इसी में अक्षय सुख है।' गोविंदवल्लभ पंत की कहानी 'जूठा आम' प्रेम के इसी आदर्श को प्रस्तुत करती है। प्रसादजी की कहानियों में प्रेम का आदर्श आध्यात्मिक स्तर तक उठ जाता है। 'तानसेन' कहानी में तो प्रेम को जीवन का लक्ष्य माना गया है। 'आज से हमारा धर्म प्रेम है।' प्रसादजी की प्रारंभिक कहानियों में प्रेम का भावुकतापूर्ण और अत्यधिक रोमानी रूप मिलता है, किंतु धीरे धीरे उसमें औदात्य और गरिमा का समावेश होता गया है। उनकी प्रेमदृष्टि 'त्याग और समर्पण की भावना से दीप्त, कल्पनासी रंगीन और सूक्ष्म आदर्श से मंडित' है। वह एकांगी नहीं है। उसमें दूसरी भावनाओं के साथ द्वैतात्मकता की स्थिति भी है। उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ तो वे ही हैं जिनमें प्रेम की भावना का टकराव दूसरी भावनाओं के साथ होता है और इस टकराव में पात्र बुरी तरह से झकझोरे जाते हैं। प्रसाद को अगर रोमानी हिंदी कहानी का प्रतिनिधि कहानीकार मान लिया जाए तो कहा जा सकता है कि उसमें प्रेम के विविध रूप मिलते हैं—संसार की संवर्धनयता से दूर स्वच्छंद प्रेमक्रीड़ावाला रूप—'चंदा', 'रसियाबालम', 'रमला', 'आँधी' इत्यादि कहानियों में; अतृप्ति, वेदना और टोस से भरा प्रेम—'आकाशदीप', 'पुरस्कार', 'गुंडा' जैसी रोमानी ऐतिहासिक कहानियों में; गृहस्थ जीवन में पनपनेवाला प्रेम—'छाया', 'व्रतभंग', 'शरणागत' जैसी कहानियों में; रहस्यमय प्रेम—'समुद्र संतरण', 'उस पार का योगी' जैसी कहानियों में इत्यादि। राष्ट्रप्रेम की भावना भी स्त्रीपुरुषप्रेम की भावना के साथ रोमानी कहानियों में आ मिली है।

रोमानी कहानियों के प्रेम का कारण है रूप और यौवन का आकर्षण। इन कहानियों की सभी नायिकाएँ, चाहे वे किसी भी सामाजिक वर्ग से आनेवाली हों, युवती और अत्यधिक रूपवती हैं। निराला की कहानी 'पद्मा और लिली' की पद्मा के रूप और यौवन का चित्र यह है—'पद्मा के चंद्रमुख पर पौडशकला की शुभ्रचंद्रिका अम्लान खिल रही है। एकांत कुंज की कली सी प्रणय के वासंती मलयस्पर्श से हिल उठती विकास के लिये व्याकुल हो रही है।' केवल पद्मा ही सोलह साल की नहीं है, बल्कि 'कमला' कहानी की कमला भी सोलह साल की है—'कमला सोलहवें साल की अश्वखुली धुली कलिका है। हृदय का रस अमृतस्नेह से भरा हुआ, खुली नावों की आँखें चपल लहरों पर अदृश्य प्रिय की ओर परा और अपरा की तरह बहो जा रही है।' रोमानी कहानीकारों में प्रसाद के सौंदर्य और यौवन के चित्र सर्वाधिक रंगीन, चटकीले और मादक हैं। उनकी कहानियों की नायिकाओं के कुछ सौंदर्यचित्र देखें—(१) 'बेला साँवली थी। जैसे पावस की मेघमाला में छिपे हुए आलोकपिंड का प्रकाश निखरने की अदभ्य चेष्टा कर रहा हो, वैसे ही उसका यौवन सुगठित शरीर के भीतर उद्वेलित हो रहा था।'

(इंद्रजाल) । (२) 'वह थी मंगला की यौवनमयी उपा । सारा संसार उन कपोलों की अणिमा की गुलाबी छटा के नीचे मधुर विश्राम करने लगा । वह मादकता विलक्षण थी । मंगला के अंगकुसुम से मकरंद छलका पड़ता था ।' (चित्रवाले पत्थर), (३) 'मदिरा की तरह नशोला, चाँदनी सा उज्ज्वल और तरंगों से उत्केलित उसका यौवन, कारगार की कठिनाइयों से कुचलकर सौंदर्य के कुछ रेखाचित्र छोड़कर समय के पंखों पर बैठकर उड़कर चला गया है ।' (नूरी) । प्रसाद को इन नायिकाओं के सौंदर्यचित्रों में संगीत की मधुरता और प्रेम के रस ने मिलकर एक विचित्र संसार की रचना की है । विभिन्न सामाजिक स्थितियों से आनेवाले रोमानी कहानियों के पात्रों में अपना दर्प है जिसे शौर्य कहा जा सकता है । वैसे, रोमानी ऐतिहासिक कहानियों में शौर्य अधिक उभरा है ।

(३) विद्रोह और स्वातंत्र्य—हर प्रकार के बंधन के प्रति विद्रोह और स्वातंत्र्यता स्वच्छंदता के प्रति आग्रह रोमानियत का एक प्रमुख लक्षण है । हिंदी की रोमानी कहानियों में इन दोनों प्रवृत्तियों के उदाहरण मिलते हैं । निराला में सामाजिक बंधनों के प्रति विद्रोह का भाव अधिक मुखर है । 'सफ़ाता' कहानी का नरेंद्र विधवा आभा को समाज में रहकर समाज का विरोध करना सिखाता है । निराला ने अपनी रोमानी कहानियों में 'भैयाचार' के अत्याचारों का बड़ा विरोध किया है । 'जैसे प्रेमचंद को संयुक्त परिवार परेशान करता है, वैसे ही निराला को भैयाचार । भैयाचारों का दायरा संयुक्त परिवार से बड़ा, पूरी विरादरी से कुछ छोटा होता है । कबीलों वाले समाज के ये अवशेष—लंबा सामंती युग पार करने के बाद—ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत पनपनेवाले पूँजीवादी समाज में अभी जीवित थे । भैयाचार आपस में रक्त संबंध से जुड़े थे, भिन्न परिवारों में रहते हुए भी जन्म, मरण, विवाह आदि सभी अवसरों पर वे मिलकर जबर्दस्त सामाजिक शक्ति बन जाते थे ।' (डा० रामविलास शर्मा) । यह शक्ति जहाँ व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करती थी वहाँ उसे बाँधती भी थी, उसपर अत्याचार भी करती थी । 'कमला' कहानी की यही समस्या है । निराला ने परित्यक्ता कमला के पति और ससुर को उसके सामने झुकाकर भैयाचार के विरुद्ध अपना विद्रोह भाव प्रकट किया । 'श्यामा' कहानी का बंकिम जाति-प्रथा और जमींदारी प्रथा दोनों के प्रति विद्रोह करता है । यह विद्रोह व्यक्ति को स्वच्छंदता की ओर ले जाता है—एक ऐसे संसार की ओर, जिसमें कहीं कोई बंधन नहीं है । ऐसा संसार कल्पना के द्वारा निर्मित मनोराज्य (यूटोपिया) ही हो सकता है । इस मनोराज्य की रचना के पीछे यथार्थ संसार के संघर्षों से पलायन की भावना छिपी रहती है । प्रसाद में यह भाव बड़ा प्रबल था । 'आकाशदीप' संग्रह की कहानी 'समुद्र संतरण' का यह अंश इसी रोमानी मनोवृत्ति का द्योतक है—

'धीवरवाला ने कहा—आओगे ?

लहरों को चीरते हुए सुदर्शन ने पूछा—कहाँ ले चलोगी ?

—पृथ्वी से दूर जल राज्य में, जहाँ कठोरता नहीं, बेल शीतल, कोमल और तरल आलिंगन है; प्रवंचना नहीं, सीधा आत्मविश्वास है; वैभव नहीं, सरल सौंदर्य है ।'

इस अंश को पढ़कर प्रसादजी के गीत 'ले चल वहाँ भुलावा देकर' की निम्नांकित पंक्तियाँ स्मरण हो आना स्वाभाविक है—

जिस निर्जन में सागर लहरी,
अंबर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेमकथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे !

यथार्थ जगत् से यह पलायन रोमानी मनोवृत्ति का प्रमुख लक्षण है। यह सभी रोमानी मनोवृत्ति के व्यक्तियों में मिलता है। गालिब भी इस संसार से दूर बिना दरौदीवार का एक घर बनाकर उसमें नितांत अकेले रहना और यहाँ तक कि, मर जाना चाहते हैं—

रहिए अब ऐसी जगह चलकर, जहाँ कोई न हो,
हम सुखन कोई न हो और हम जबाँ कोई न हो।
बे-दर-ओ-दीवार-सा एक घर बनाना चाहिए,
कोई हमसाया न हो और पास्बाँ कोई न हो।
पड़िए गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार,
और अगर मर जाइए तो नौहाख्वाँ कोई न हो।

(४) भावुकता और कल्पना—रोमानी मनोवृत्ति के अनुकूल ही हिंदी की रोमानी कहानी में भावुकता और कल्पनाशीलता की प्रचुरता है। भावुकता स्वयं कहानीकार की दृष्टि में है, उसके पाशों में है, उसके वर्णनों में, मनोभावों को व्यक्त करने की पद्धति में है। प्रारंभ में इसकी प्रचुरता है; बाद में संयम आ जाने के बाद इसमें कुछ कमी हो गई है। चंडीप्रसाद हृदयेश की कहानी 'उन्मादिनी' गलदश्रु भावुकता का श्रेष्ठ उदाहरण है। सोदामिनी का पूरा व्यक्तित्व भावुकतामय है। प्रसादजी की प्रारंभिक कहानियाँ अत्यधिक भावुकतापूर्ण हैं। इस भावुकता ने ही उन्हें गद्यगीत सा बना दिया है। उनकी कहानी 'रसिया बालम' बिल्कुल शीरीफरहाद और लैलामजनूँ के ढंग की रूमानी कहानी है। इसके प्रणयालाप बड़े भावुकतापूर्ण हैं। इस कहानी की साहसिकता भावुकता की देन है। विनोदशंकर व्यास की कहानी का नीचे उद्धृत अंश चरम भावुकता के विभिन्न रूप प्रस्तुत करता है—

'उसने कहा—“आप मुझे क्षमा करें। मैं आपकी आराधना करूँगी, परंतु अब मेरा वह बासनामय प्रेम नहीं रहा।’

'मैं व्याकुल होकर कहने लगा—शांता ! शांता ! मेरे ही अस्त्रों से मुझे न भारो।' मैं स्वयं मर रहा हूँ। मेरी प्रणयपिपासा मृगतृष्णा के काल्पनिक जल से न बुझेगी। मुझे पीने दो—रूपरस से इस सूखे हृदय को सींच दो। शांता ! इस जीवन का सुख-स्वप्न देखने से—न मिलेगा। वह मेरा सपना था, जिसे तुम भी अब देखने लगी हो। अब अधिक न सताओ—“'

'कहते-कहते मैं उन्मत्त की भाँति उसके चरणों पर गिर पड़ा। वह चौंककर खड़ी हो गई। मैं भी अवाक् होकर देखने लगा। झरना खिलखिलाकर हँस रहा था। फिर उसने तीखी निगाह से देखते हुए गंभीर स्वर में कहा—वह नहीं हो सकता।' ('हृदय की कसक')

रोमानी कहानी का मूलाधार कल्पना है। घटनाएँ और स्थितियाँ, चरित्ररचना और वातावरण सबकी सृष्टि में कल्पना ने एक निर्णायक भूमिका निभाई है। रोमानी कहानीकारों ने यथार्थ जगत् को भी कल्पना में रंगकर स्वप्नलोक जैसा बना दिया है। इस कल्पनाशीलता

के कारण साधारण चीजें भी साधारण जैसी नहीं रह गई हैं। प्रसाद की कहानी 'मधुआ' में गली और शराबी की अंधेरी कोठरी अथवा 'नोरा' कहानी में नोरा के बूढ़े पिता की मौलश्री के वृक्ष के नीचे की झोपड़ी यथार्थ नहीं लगती। इन कहानियों को पढ़ने के बाद जो प्रभाव-विभव बनता है वह किसी अलौकिक संसार का बनता है। इन कहानियों में बहुत सीधी सी बातचीत भी चित्रात्मक हो उठती है। ठाकुर सरदार सिंह और शराबी के बीच के नीचे उद्धृत संवादों का सौंदर्य कल्पना की देन है—

'अद्भुत ! सात दिन पेट काटकर आज अच्छा भोजन न करके तुम्हें पीने की सूझो है। यह भी.....'

'सरकार ! मौज बहार की एक घड़ी, एक लंबे दुखपूर्ण जीवन से अच्छी है। उसकी खुमारी में रुखे दिन काट लिए जा सकते हैं।'

'अच्छा, आज दिन भर तुमने क्या-क्या किया ?'

'मैंने ?—अच्छा, सुनिए—सबेरे कुहरा पड़ता था। मेरे धुआँसे कंवल सा वह भी सूर्य के चारों ओर लिपटा था। हम दोनों मुँह छिपाए पड़े थे।' ('मधुआ')।

शराबी के द्वारा अपनी और सूर्य की एकरूपता स्थापित करना कल्पना के सुंदर उपयोग का उदाहरण है। यह कल्पना के कारण ही है कि एक जैसी घटनाएँ जहाँ प्रेमचंद में दैनिक जीवन की यथार्थ घटनाएँ प्रतीत होती हैं, वहाँ प्रसाद में कल्पनालोक की।

(५) विचित्र और असाधारणता—रोमानी मनोवृत्ति सहज और साधारण से कभी संतुष्ट नहीं रहती। वह सहज और साधारण को विचित्र और असाधारण बनाकर ही संतोष पाती है। उसमें अतिशयोक्ति से काम लिया जाता है। इसे हम कथानक के नाटकीय विधान, पात्रों के असाधारण चरित्र और आचरण, भावना के या तो त्रासदी के स्तर को छूने या ओदात्य का स्पर्श करने, दैनिकता से दूर की ध्वनि, अलंकृत भाषा इत्यादि अनेक तत्वों में देख सकते हैं। उदाहरण के लिये राय कृष्णदास की कहानी 'तापसी की तितिक्षा' को देखा जा सकता है। घने दुर्गम जंगल में टूटे-फूटे सरोवर के किनारे विशाल बट वृक्ष के नीचे एक तरुणी का ऐसी घोर तपस्या करना कि त्रैलोक्य काँप उठे, असाधारण और विचित्र है। तरुणी का ऐसे स्थान पर ऐसी तपस्या करना साधारण तो वदापि नहीं है। उसकी तपस्या के प्रभाव का निम्नांकित वर्णन इस कहानी को लौकिक स्तर से उठाकर अलौकिक और विचित्र बना देता है—'तब एक दिन सभी जुटी; क्योंकि इंद्र का सिंहासन बारबार ढिग रहा था और तापसी के मस्तक से निकली अग्निशिखा पुराणपितामह के दीर्घ स्मश्रु को चाट चाट लेती थी। विष्णु का शेषासन, तप से उद्विग्न समुद्र के थपेड़ों से इधर से उधर जा रहा था और कैलाश के शिखर कंपन होने से पार्वती को बारबार रावण की आशंका होती थी और वे शंकर से बारबार लिपट कर उनकी समाधि में विक्षेप डाल रही थीं।' इससे भी विचित्र बात है तरुणी की तपस्या का तपस्या के लिये होना। वह अपनी तपस्या के प्रतिफल के रूप में न भोग चाहती है, न स्वर्ग न अपवर्ग ! तपस्या उसके मन की मौज है; अतः जैसे उसका कोई लक्ष्य नहीं है, वैसे ही उसकी कोई निश्चित अवधि भी नहीं है। त्रिदेव और इंद्र चकराकर तापसी के पास से वापस चले गए। एक दोपहरी में एक अश्वरोही और उसका अश्व उस तापसी के पास आकर मूर्छित हो गए। तापसी ने उनकी सेवा-सुश्रूषा करके उन्हें स्वस्थ किया। राजकुमार वहाँ बारबार आने लगा। वर्षा ऋतु जब अपने

पूरे जीवन पर थी तब राजकुमार ने पूछा—‘अब कबतक तपस्या करती रहोगी ?’

‘अब तपस्या न करूँगी ।’

‘तो क्या व्रत पूर्ण और सफल हो गया ?’ राजकुमार ने कुतूहल से पूछा ।

‘वर चाहती तो कभी का पा लिया होता, किंतु वह तप की तितिक्षा के विरुद्ध था ।’

‘फिर अब क्या ?’

‘अब अपनी तपस्या का फल दान करना चाहती हूँ । यही तप की सोमा है ।’

‘तो उसका पात्र कौन होगा ?’

तापसी ने आँखें नीची कर लीं ।

कहानी का अंत अप्रत्याशित है । यह अप्रत्याशा का तत्व ही तापसी को, उसकी तपस्या को, उसकी तपस्या के वातावरण को और राजकुमार के सामने तापसी के समर्पण को असाधारणता और वैचित्र्य प्रदान करता है । तापसी के चरित्र में ऐसा औदात्य है जो उसे सामान्य स्तर से ऊपर उठा ले जाता है । प्रसादजी की कहानियों में ये तत्व अत्यधिक मात्रा में विद्यमान हैं । प्रेम के लिये आत्मबलिदान, पूरे संसार की उपेक्षा असाधारण तो है ही साथ ही उदात्त भी । ‘रसिया बालम’ में प्रेम की त्रासदी को देखा जा सकता है । प्रसादजी की ‘भिखारिन’ और ‘चूड़ीवाली’ कहानियाँ भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं । इन दोनों कहानियों में समाजसुधार के संकेत विद्यमान हैं तथापि ये प्रमुख नहीं हैं । ‘भिखारिन’ में प्रमुखता मिल गई है प्रसादजी की सौंदर्यचेतना, चारित्रिक गौरव और अभिजात संस्कार को इसमें प्रसादजी ने भिखारिन के स्वावलंबन, परिश्रम और स्वाभिमान को प्रमुखता प्रदान की है । इन विशेषताओं के कारण भिखारिन सामान्य भिखारिन नहीं रह गई है । इस कहानी का वातावरण भी सौंदर्य और संगीत से पूर्ण है । ‘चूड़ीवाली’ में एक वेश्या की गृहस्थ कुलवधू बनने की तपस्या का चित्रण है जो इस कहानी की नायिका को सामान्य स्तर से बहुत ऊपर उठा देता है । यही कारण है कि अधिकांश रोमानी हिंदी कहानियों में पात्रों का चरित्र या मनोभाव विशेष प्रमुख हो उठा है—ये कहानियाँ चरित्रप्रधान या भावप्रधान बन गई हैं ।

(६) प्रकृतिचित्रण एवं वातावरण सृष्टि—रोमानी आंदोलन को जन्म देनेवाला एक नारा था—‘प्रकृति की ओर वापस चलो’ (द रिटर्न टु नेचर—रूसो) । इसलिये यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि स्वदेशी, विदेशी सभी प्रकार के रोमानी साहित्य में प्रकृति का बड़ा महत्त्व रहा है । इसलिये हिंदी की रोमानी कहानी में भी प्रकृति उसका अनिवार्य अंग बनकर आई है । उसने कहानियों की घटनावली के लिये पृष्ठभूमि प्रदान की है; कहानी के मूल मनोभाव के अनुकूल वातावरण की सृष्टि की है; पात्रों में अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न की हैं; अलंकार के रूप में काम किया है, आदि । प्रसादजी की कहानियों में प्रकृति का रूप और उपयोग सर्वाधिक संपन्न है । ‘घोसू’ (प्रसाद, कहानी में प्रकृति के जो संक्षिप्त सांकेतिक चित्र हैं वे घोसू के चरित्र और मनोवृत्ति के अनुकूल हैं । घोसू आत्ममग्न, एकांत प्रेमी और संगीत प्रेमी है, अतः कहानी का यह प्रारंभ पूरी कहानी के विकास को निश्चित करता है—‘संध्या की कालिमा और निर्जनता मे किसी कुँए पर नगर के बाहर बड़ी प्यारी स्वरलहरी गूँजने लगती । घोसू को गाने का चसका था, परंतु जब कोई न सुने ।’ ये दोनों वाक्य एक दूसरे से इस अभिन्न भाव से जुड़े हुए हैं कि घोसू और संध्या की निर्जन कालिमा एकाकार हो गए हैं । प्रसादजी

सामान्य और वैभवशाली दोनों प्रकार के प्रकृतिचित्र अंकित कर सकने में समर्थ थे। दोनों प्रकार का एक एक उदाहरण प्रस्तुत है—

(१) 'फाल्गुनी पूर्णिमा का चंद्र गंगा के शुभ्र वक्ष पर आलोकधारा का सुजन कर रहा था। एक छोटा सा वजरा वसंत पवन में आंदोलित होता हुआ धीरे धीरे बह रहा था। नगर का आनंद कोलाहल सैकड़ों गलियों को पार करके गंगा के मुक्त वातावरण में सुनाई पड़ रहा था।' ('अमिट स्मृति')।

(२) 'आर्द्रा नक्षत्र; आकाश में काले काले बादलों की घुमड़, जिसमें देवदुंदुभी का गंभीर घोष। प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्णपुरुष झांकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अंचल में समतल उर्वरा भूमि से सौंधी बास उठ रही थी। नगरतोरण से जयघोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी शृङ्ग उन्नत दिखाई पड़ा। हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोर भरता हुआ आगे बढ़ने लगा।' ('पुरस्कार')।

इन दोनों उद्धरणों में ध्यान देने की बात यह है कि साधारण से साधारण प्रकृतिचित्रण में एक प्रकार की भव्यता प्रसादजी भर देते हैं। दूसरी बात यह कि प्रकृति और मनुष्य एक दूसरे के साथ यों घुलमिल जाते हैं कि उन्हें अलगाना कठिन हो जाता है। प्रकृति का चित्रण रोमानी कहानियों में प्रायः अलंकृत और काव्यात्मक होता है। प्रसाद में वह जितना स्वाभाविक है, उतना अन्य कहानीकारों में नहीं। अन्य कहानीकारों में उसमें सजीवता कम ही आ पाती है; और वहीं वहीं वह बनावटी लगने लगता है। हृदयेश की 'विसर्जन' नामक कहानी वा यह अंश बनावटी प्रकृतिचित्रण के उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है—

'उस समय संध्या का सुंदर समारोह था। सामने स्वच्छ सलिला गोमती, भगवती कृष्णा की शीतल रसधारा के समान, मंद मंथर गति से प्रवाहित होती हुई अपने प्रियतम के पास चली जा रही थी; और उसके पीछे हरे हरे खेतों की अभिनव शोभा के साथ संध्य गगन की सप्त-राग-रंजित सुपमा गले मिल रही थी।'।

रोमानी कहानियों में कभी प्रकृति उपमान बनती है तो कभी उपमेय। दोनों स्थितियों का एक एक उदाहरण प्रस्तुत है—

(१) 'मदिरा की तरह नशीला, चांदनी सा उज्ज्वल और तरंगों से उद्वेलित उसका यौवन, कारागार की कठिनाइयों से कुचलकर सौंदर्य के कुछ रेखाचित्र छोड़कर, समय के पंखों पर बैठकर उड़कर चला गया।' ('नूरी'—जयशंकर प्रसाद)।

(२) 'उसी तपस्विनी के तेज की तरह लू जगत को संतप्त कर रही थी।' ('तापसी की तितिक्षा'—राय कृष्णदास)।

रोमानी कहानियों में प्रकृति का उपर्युक्त प्रकार का तथा अन्य प्रकार का उपयोग न केवल मनुष्य को आधुनिक महानगरीयता से अलग करके उसके आदिम प्राकृतिक संदर्भ में देखना है बल्कि आधुनिक औद्योगिक सभ्यता से आक्रांत मनुष्य के अपने आदिम रूप के प्रति ललकपूर्ण आवर्णन (नास्टैलिज्या) का भी प्रतीक है। प्रकृति के इस उपयोग के कारण रोमानी वातावरण की सृष्टि हुई है।

(६) कवित्व और आलंकारिकता—हिंदी की रोमानी कहानी की एक और सामान्य विशेषता है कवित्व और आलंकारिकता। भावप्रवणता और कल्पनाशीलता के कारण रोमानी कहानियाँ स्वतः कवित्वपूर्ण हो गई हैं। रोमानी कहानियों में कवित्व किसी एक तत्व में केंद्रित नहीं है। वह पूरी कहानी में समाया हुआ है। वह कहानी की स्थितियों में है। कल्पना कीजिए, एक भीख माँगते बूढ़े के साथ नीरा जैसी लड़की की, जिसमें 'स्त्रीत्व के सब व्यंजन' हैं। नीरा की यह विषम परिस्थिति ही काव्यात्मक है। ('नीरा'—प्रसाद)। नीरा का नाम स्वयं कवित्वपूर्ण है। प्रसादजी तथा अन्य रोमानी कहानीकारों के पात्र जिस वातावरण में विचरण करते हैं, वह कवित्वपूर्ण है। उनके पात्रों का व्यक्तित्व कवित्वपूर्ण है। 'इंद्रजाल' (प्रसाद) कहानी की बेला का यह व्यक्तित्व क्या कवित्वपूर्ण नहीं है?—बेला साँवरी थी। जैसे पावस की मेघमाला में छिपे हुए आलोकपिंड का प्रकाश निखरने की अदम्य चेष्टा कर रहा हो, वैसे ही उसका यौवन सुगठित शरीर के भीतर उद्देलित हो रहा था। उनके पात्रों की बातचीत में कविता होती है। 'आँधी' (प्रसाद) कहानी की लैला और बाबू के बीच की सीधीसादी बातचीत जहाँ खत्म होती है, वहाँ उसमें रोमानी कवित्व आ भरता है—

“लैला ने मुस्कराते हुए बैग में से वही पत्र निकाला। मैंने कहा—‘इसे तो मैं पढ़ चुका हूँ।’

‘इसका मतलब !’

‘वह तुम्हारी चारयारी खरीदने फिर आवेगा। यही इसमें लिखा है।’ मैंने कहा।

‘बस ! इतना ही ?’

‘और भी कुछ है।’

‘क्या बाबू ?’

‘और जो उसने लिखा है, वह मैं नहीं कह सकता—’

‘क्यों बाबू ? क्यों न कह सकोगे ? बोलो।’

‘लैला बी वाणी में पुचकार, दुलार, झिड़की और आज्ञा थी।

‘वह सब बात मैं नहीं……’

बीच में ही बात काटकर उसने कहा—‘नहीं क्यों ? तुम जानते हो; नहीं बोलोगे ?’

‘उसने लिखा है, मैं तुमको प्यार करता हूँ।’

‘लिखा है, बाबू !’ लैला की आँखों में स्वर्ग हँसने लगा।”

रोमानी कहानीकारों की पूरी की पूरी संकल्पना कविता होती है। वे अपनी कहानियों में काव्य-सत्य वो ही परिकल्पित करते हैं। प्रसादजी की अनेक कहानियों को कहानियों के रूप में लिखी हुई गीतियाँ कह सकते हैं।

रोमानी कहानियों में कवित्व की सिद्धि में उनकी भाषा का बड़ा योगदान है। गद्य में लिखी हुई होने पर भी उनकी भाषा काव्यभाषा के निकट है। उसमें आलंकारिकता तो है ही; साथ भाषा में विषयन और विवात्मकता भी है। काव्यात्मक भाषा और गद्यात्मक भाषा का अंतर जयशंकर प्रसाद और सुदर्शन की कहानियों के नीचे उद्धृत दो अंशों की तुलना से स्पष्ट हो जाएगा।

(२) “क्षामा सघन, तृणसंकुल शैलमंडल पर हिरण्यलता तारा के समान फूलों से लदी हुई मंद माखत से विकंपित हो रही थी। पश्चिम में निशीथ के चतुर्थ प्रहर में अपनी

स्वतंत्र किरणों से चतुर्दशी का चंद्रमा हंस रहा था। पूर्व में प्रकृति अपने स्वप्न-मुकुलित नेत्रों को आलस से खोल रही थी। वनलता का वदन सहसा खिल उठा। आनंद से हृदय अधीर होकर नाचने लगा। वह बोल उठी—‘यही तो है।’ (‘ज्योतिष्मती’—जयशंकर प्रसाद)।

- (२) ‘प्रभात का समय था। आसमान से बरसती हुई जीवन की किरणें संसार में नवीन जीवन का संचार कर रही थीं। बारह घंटों से लगातार संग्राम के बाद प्रकाश ने अंधेरे पर विजय प्राप्त की थी। इस खुशी में फूल झूम रहे थे और पक्षी मीठे गाने गा रहे थे। पेड़ों की शाखाएँ खेलती थीं। चारों तरफ खुशियाँ मुस्कराती थीं। चारों तरफ गीत गूँजते थे।’ (‘पुष्पलता’—सुदर्शन)।

इन उद्धरणों में से पहले में काव्यात्मक चित्रण है तो दूसरे में गद्यात्मक वर्णन।

(८) संरचना—हिंदी की रोमानी कहानियों का अध्ययन हमें इस सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि उनकी संरचना प्रभावान्विति के सिद्धांत के अनुकूल होती है। या, यों कहा जा सकता है कि प्रभावान्विति का सिद्धांत रोमानी भावात्मक कहानियों पर जितना सटीक बैठता है उतना सामाजिक यथार्थवादी कहानियों पर नहीं। रोमानी भावात्मक कहानीकार का मूल उद्देश्य अपनी कहानी के माध्यम से भावविशेष को या चरित्रविशेष को मूर्त करना और अपने पाठक पर उसका प्रभाव छोड़ना होता है। इसलिये उसकी कहानी की बुनावट इस प्रकार की होती है कि कहानी के सारे तत्व एक ही प्रभाव केंद्र की ओर दौड़त दिखाई देते हैं। जयशंकर प्रसाद, चंडीप्रसाद ‘हृदयेश’, राय कृष्णदास की अधिकांश कहानियाँ हमारी इसी स्थापना की पुष्टि करती हैं।

(ख) रोमानी ऐतिहासिक कहानियाँ—रोमानी ऐतिहासिक कहानियों के अंतर्गत वे कहानियाँ आएँगी जिनमें रोमानी मनोवृत्ति को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है। सामान्य ऐतिहासिक कहानियों से इनकी भिन्नता इस अर्थ में है कि इनमें रोमानी मनोभाव प्रधान होता है, इतिहास नहीं; जब कि ऐतिहासिक कहानियों में इतिहास को प्रमुखता और महत्ता प्रदान की जाती है। रोमानी ऐतिहासिक कहानियों में इतिहास की देश, काल, घटना, पात्र इत्यादि की निश्चितता और प्रामाणिकता का कोई महत्त्व नहीं होता। इन कहानियों में इतिहास का आभासमात्र या भ्रममात्र पर्याप्त होता है। यही कारण है कि किसी निश्चित स्थान और किसी निश्चित समय का संकेत भी न होने पर रोमानी ऐतिहासिक कहानी ऐतिहासिक कहानी लगती है। राय कृष्णदास की कहानी ‘प्रसन्नता की प्राप्ति’ उदाहरण के रूप में देखी जा सकती है।

रोमानी ऐतिहासिक कहानियाँ भी उन्हीं कहानीकारों ने लिखी हैं जिन्होंने रोमानी कहानियाँ लिखी हैं। सर्वश्रेष्ठ हिंदी रोमानी ऐतिहासिक कहानीकार जयशंकर प्रसाद हैं। उनके पहले संग्रह ‘छाया’ में ही ‘शरणागत’, ‘सिक्ंदर की शपथ’, ‘चित्तौर उद्धार’, ‘अशोक’, ‘गुलाम’, ‘जहाँनारा’, रोमानी ऐतिहासिक कहानियाँ हैं। उनके अन्य संग्रहों में भी ‘चक्रवर्ती का स्तंभ’, ‘आकाशदीप’, ‘आंधी’, ‘दासी’, ‘पुरस्कार’, ‘ममता’, ‘स्वर्ग के खंडहर में’, ‘नूरी’, ‘गुंडा’, ‘व्रतभंग’, ‘चित्रमंदिर’, ‘देवरथ’, ‘सालवती’ इत्यादि अनेक रोमानी ऐतिहासिक कहानियाँ हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि प्रसादजी के कहानीकार की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि उनकी

रोमानी ऐतिहासिक कहानियाँ ही हैं। उनकी कहानियों की 'एंबिबैलेंसी' वाली संरचना को कहानियाँ इसी वर्ग की कहानियाँ हैं। प्रसादजी के समान राय कृष्णदास की भी श्रेष्ठ कहानियाँ रोमानी ऐतिहासिक कहानियाँ ही हैं। 'प्रसन्नता की प्राप्ति', 'तापसी की तितिक्षा', 'सुनार का स्वप्न', 'चित्रकार का चित्त', 'सम्राट् का स्वत्व', 'कवि और कलावंत', 'आकर्षण का अर्थ', 'क्रांति का केतु', 'कला और कृत्रिमता', 'गहूला', 'इनाम' इत्यादि अधिकांश कहानियाँ रोमानी ऐतिहासिक कहानियाँ हैं। राय कृष्णदास की इन रोमानी ऐतिहासिक कहानियों में से अधिकांश में देशकाल का निश्चितता प्रायः नहीं है। ऐसा लगता अवश्य है कि वे इतिहास के किसी विशेष कालखंड से संबंधित हैं, पर किस कालखंड से—यह बता पाना कठिन ही नहीं, असंभव है। पर इस आभास के कारण ही वे ऐतिहासिक कहलाने की अधिकारिणी हैं। दूसरी बात यह है कि अपनी इन रोमानी ऐतिहासिक कहानियों के माध्यम से राय कृष्णदास मानव जीवन के किसी शाश्वत सत्य को व्यक्त कर रहे हैं। इसलिये उनकी रोमानी ऐतिहासिक कहानियाँ प्रायः रूपकों का रूप धारण कर लेती हैं। यहाँ रोमानी ऐतिहासिक कहानियों के अंतर्गत बद्रीनाथ भट्ट 'सुदर्शन' (१८९६-१९६७ ई०) की उन कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है जो इतिहास के परिप्रेक्ष्य में शाश्वत सत्यों को कहानियों के रूप में प्रस्तुत करती हैं। 'एथेंस का सत्यार्थी', पत्थर का सोदागर' और 'फरऊन का प्रेम' कहानियों को रोमानी ऐतिहासिक कहानियाँ कहा जा सकता है। गोविंदवल्लभ पंत की 'मिलनमुहूर्त' और 'प्रियदर्शी', विनोदशंकर व्यास की 'विद्रोही', आचार्य चतुरसेन शास्त्री की 'अंबपालिका' इत्यादि कहानियाँ भी रोमानी ऐतिहासिक कहानियाँ हैं। इन रोमानी ऐतिहासिक कहानियों में राष्ट्रीयता की भावना और आदर्शवादिता की विशेषताएँ भी मिली हुई हैं।

रोमानी ऐतिहासिक कहानियों की सामान्य विशेषताएँ—रोमानी ऐतिहासिक कहानियों की सामान्य प्रवृत्तियाँ भी प्रायः वही हैं जो रोमानी कहानियों की हैं। इतिहास के प्रति इन कहानियों में व्यक्त होनेवाला दृष्टिकोण व्यक्तिवादी, आदर्शवादी और राष्ट्रभक्तिपूर्ण है। इन कहानियों में इतिहास को सामाजिक, आर्थिक यथार्थ के संदर्भ में न देखकर व्यक्ति की उपलब्धियों, देशकालातीत मानव सत्यों एवं मनुष्य की रोमानी भावनाओं में रंग कर देखा गया है। इसलिये रोमानी कहानियों की तरह रोमानी ऐतिहासिक कहानियों की मुख्य वस्तु भी प्रेम, सौंदर्य और शौर्य है। प्रसादजी की 'आकाशदीप', 'पुरस्कार' और 'गुंडा' तथा राय कृष्णदास की 'गहूला' कहानियाँ प्रेम की कहानियाँ हैं। इनकी नायिकाएँ रूपवती हैं। उनके प्रेमी या तो उनके रूप के कारण उनकी ओर आकर्षित होते हैं या वे अपने प्रेमियों के प्रति उनके शौर्य के कारण आकर्षित होती हैं। 'पुरस्कार' कहानी में अरुण मधूलिका के रोमानी सौंदर्य के प्रति आकर्षित होता है—'वह कुमारी थी। सुंदरी थी। कौशेय वसन उसके शरीर पर इधर उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था। वह कभी उसे सँभालती और कभी अपने रखे अलकों को।'... संमान और लज्जा उसके अधरों पर मंद मुस्कराहट के साथ सिहर उठते; किंतु महाराज को बीज देने में उसने शिथिलता नहीं की। सब लोग महाराज का हल चलाना देख रहे थे—विस्मय से, कुतूहल से और अरुण देख रहा था कृपककुमारी मधूलिका को। आह, कितना भोला सौंदर्य! कितनी सरल चितवन!' सौंदर्य का भोलापन और चितवन की सरलता रोमानी मनोवृत्ति की ही देन हैं। इस सौंदर्य और प्रेम के लिये मर मिटना रोमानी शौर्य है। यह शौर्य

मधूलिका में भी है और 'गुंडा' कहानी के नन्हकू सिंह में भी ।

इन रोमानी ऐतिहासिक कहानियों में विद्रोह और स्वच्छंदता की आकांक्षा के उदाहरण भी हैं । प्रसादजी की कहानी 'व्रतभंग' में कपिजल का नरन रहने का व्रत अमीरों के प्रति विद्रोह और प्रतिशोध है । इस प्रकार के व्रत और प्रतिशोध की कल्पना रोमानी ही हो सकती है । राय कृष्णदास की कहानी 'चित्रकार का चित्त' के चित्रकार का राजकुमारी को ठुकरा कर किसी अज्ञात स्थान के लिये चले जाना स्वच्छंदता है । ये रोमानो कहानियाँ भावुकता और कल्पना से परिपूर्ण हैं । इनकी तो पूरी रचना ही इन दो तत्वों पर आधारित है । ये कहानियाँ इतिहास का संदर्भ लेकर भी एक मनोरम कल्पना लोक का सृजन करती हैं । इनके पात्र विचित्र और असाधारण होते हैं । 'पुरस्कार' की मधूलिका, 'आकाशदीप' की चंपा, 'गुंडा' का नन्हकू सिंह, 'गहूला' (राय कृष्णदास) की गहूला और हेमनाभ सब असाधारण और विचित्र हैं । उनका प्रेम, उनका द्वंद्व, उनका रूप, उनका शौर्य, उनकी साहसिकता सामान्य व्यक्ति को कतई नहीं है । वे असामान्य स्थितियों में असामान्य आचरण करते हैं । इन रोमानी कहानियों में जो प्रकृति है, वह सामान्य नहीं है । 'आकाशदीप' में चंपा और बुद्धगुप्त का मिलन समुद्री सूफान के बीच होता है । इन कहानियों में प्रकृति भयानक भी है और कोमल, मधुर और रंगीन भी । एक ओर समुद्र में भयानक आंदोलन है तो दूसरी ओर 'अनंत जलनिधि में उपा का मधुर आलोक फूट उठा । सुनहली किरणों और लहरों की कोमल सृष्टि मुस्कराने लगी । सागर शांत था ।' ('आकाशदीप') ।

हिंदी की ये रोमानी ऐतिहासिक कहानियाँ अत्यधिक व विस्वपूर्ण और अलंकृत हैं । 'पुरस्कार' कहानी का यह अंश किसी भी गीत से कम नहीं है—'अरुण ने देखा एक छिन्न माधवीलता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है । सुमन मुकुलित, अमर निस्पंद थे । अरुण ने अपने अश्रु को मोन रहने का संकेत किया, उस सुषमा को देखने के लिये, परंतु कोकिल बोल उठा । जैसे उसने अरुण से प्रश्न किया—छिः कुमारी के सोए हुए सौंदर्य पर दृष्टिपात करनेवाले घृष्ट, तुम कौन ?' एक कविरवपूर्ण अतीतप्रेम नास्टैल्लिया से ये कहानियाँ भरपूर हैं । यह नास्टैल्लिया कहानीकारों में भी है और कहानियों के पात्रों में भी । 'आकाशदीप' की चंपा का यह कथन नास्टैल्लिया भी है, वैभव से ऊब भी है और अभावों का रोमान भी है—'मुझे इस बंदीगृह से मुक्त करो । अब तो बाली, जावा और सुमात्रा का वाणिज्य केवल तुम्हारे अधिकार में है, महानाविक ! परंतु मुझे उन दिनों की स्मृति सुहावनी लगती है, जब तुम्हारे पास एक ही नाव थी और चंपा के उपकूल में पण्य लादकर हम लोग सुखी जीवन बिताते थे—इस जल में अगणित बार हम लोगों की तरी आलोकमय प्रभात में तारिकाओं की मधुर ज्योति में—धिर-कती थी । बुद्धगुप्त ! उस विजन अनंत में जब माझी सो जाते थे, दीपक बुझ जाते थे, हम तुम परिश्रम से थककर पालों में धरीर लपेट कर एक दूसरे का मुंह क्यों देखते थे ? वह नक्षत्रों की मधुर छाया....' इस उद्धरण को पढ़ते पढ़ते प्रसादजी का 'बे कुछ दिन कितने सुंदर थे' (लहर) गीत याद आ जाना आश्चर्यजनक नहीं लगेगा । इस नास्टैल्लिया ने रोमानी ऐतिहासिक कहानियों में पीड़ा और अवसाद को, त्रासद स्थितियों को इतना रंग दिया है कि वे स्पृहणीय लगने लगी हैं । मधूलिका, चंपा, गहूला जैसी नायिकाओं का व्यक्तित्व अवसादमयी कविता से कितना भरपूर है, इसे अनुभव किया जा सकता है । वह इतना मूर्त है कि उसे छुआ जा सकता है ।

इन रोमानी ऐतिहासिक कहानियों में भाषा का वैसे ही काव्यात्मक और अलंकृत उपयोग हुआ है जैसा रोमानी कहानियों में। काव्यात्मकता और अलंकरण के कारण रोमानी ऐतिहासिक कहानियों में प्रकृति मोहक रूप में सामने आती है, एक अनूठे जादू से भरी हुई—‘सामने शैल-माला की चोटी पर, हरियाली में, विस्तृत जलप्रदेश में नील पिगल संध्या, प्रकृति की एक सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया स्वप्नलोक का सृजन करने लगी। उस मोहिनी रहस्यपूर्ण नील जाल का कुछ स्पष्ट हो उठा; जैसे मदिरा से सारा अंतरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील कमलों से भर उठी।’ (‘आकाशदीप’—जयशंकर प्रसाद)। यह कितना संपन्न और मोहक प्रकृति-चित्र है। इसकी संपन्नता और मोहकता का श्रेय प्रसादजी की रंगीन कल्पना को कम नहीं है। जैसी मोहक, रंगीन, स्वप्नलोकीय एवं रहस्यपूर्ण यह ‘नील पिगल संध्या’ है, वैसी ही मोहक, रंगीन, स्वप्नलोकीय एवं रहस्यपूर्ण रोमानी ऐतिहासिक कहानियाँ हैं। रोमानी ऐतिहासिक कहानीकारों की सृजनशील प्रतिभा केवल प्रकृति के ही संपन्न और मोहक चित्र अंकित नहीं करती है, बल्कि अतीत के वैभव के भी ऐसे ही चित्र उपस्थित करती है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने ‘अंबपालिका’ कहानी में आम्नपाली के भवन का जो चित्र उपस्थित किया है वह वैभव की पराकाष्ठा का चित्र है।

रोमानी कहानियों के समान रोमानी ऐतिहासिक कहानियों की संरचना भी प्रभावित के सिद्धांत के अनुकूल हैं। ये कहानियाँ नाटकीयता से परिपूर्ण हैं—विशेष रूप से प्रसादजी की कहानियाँ। एक भावनाविशेष पर बल के कारण इन कहानियों में गद्यगीतों की विशेषताओं का समावेश हो गया है। ‘आकाशदीप’ और ‘गहूला’ जैसी कहानियाँ तो अपनी संवेदना और प्रभाव में गीत जैसी हैं। इनमें से अधिकांश कहानियों में कथा की गति चक्राकार होती है। अनेक कहानियाँ शाश्वत मानवसत्य को व्यक्त करने के कारण रूपककथाओं जैसी बन गई हैं। उनमें प्रतीकात्मकता की प्रचुरता हो गई है। निःसंदेह रोमानी ऐतिहासिक कहानियाँ अपना निजी और विशिष्ट व्यक्तित्व रखती हैं।

(ग) ऐतिहासिक कहानियाँ—इन कहानियों के अंतर्गत वे कहानियाँ आती हैं जिनमें कहानीकारों ने इतिहास की घटनाओं, काल, देश और पात्रों की प्रामाणिकता या निश्चितता को उतना ही महत्व प्रदान किया है जितना अपनी मानवीय-राष्ट्रीय-आदर्शवादी दृष्टि को। इनमें कहानीकारों ने इतिहास को सामाजिक आर्थिक परिप्रेक्ष्य में प्रायः नहीं देखा है। इस प्रकार से इतिहास को आगे चलकर राहुल सांकृत्यायन (१८९३-१९६३ ई०) ने ‘बोल्गा से गंगा’ (१९४४ ई०) की कहानियों में देखा। इस काल की ऐतिहासिक कहानियों में यह दृष्टि प्रायः नहीं है।

इस काल में तो दो ही प्रमुख ऐतिहासिक कहानीकार हैं—वृंदावनलाल वर्मा (१८८९-१९६९ ई०) एवं आचार्य चतुरसेन शास्त्री (१८९१-१९६९ ई०)। वृंदावनलाल वर्मा ऐतिहासिक कहानीकार के रूप में उतने सफल नहीं हैं जितने ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में। वृंदावनलाल वर्मा ने प्रागैतिहासिक काल से लेकर १९४७ तक के इतिहास को लेकर कहानियाँ लिखी हैं, किंतु प्रधानता मुगल काल से संबंध रखनेवाली कहानियों की है। ‘जेनावादी बेगम’, ‘नेतिक स्तर’, ‘गवैए की सूबेदारी’, ‘इब्राहीम खाँ गार्दी’, ‘मुहम्मदशाह का न्याय’, ‘शेरशाह का न्याय’, ‘टूटी सुराही’, ‘फीरोजशाह तुगलक की सहानुभूति’, ‘जहाँगीर

की सनक', 'बेतन की वसूली', 'गेहूँ के साथ भूसा', 'उस प्रेम का पुरस्कार', 'अलीवर्दी खाँ की वसीयत', 'लुटेरे का विवेक' इत्यादि कहानियों का संबंध मुगलों से है। ये कहानियाँ मुगलकालीन ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र की सफलता और दुर्बलता, सनक और झक्कीपन, देशभक्ति और विलासिता, न्यायप्रियता और अन्याय, धार्मिक उदारता और कट्टरता, दूरदर्शिता और तर्कशीलता, मानवीयता और बर्बरता इत्यादि विरोधी विशेषताओं को सामने लाती हैं। स्पष्ट है कि इतिहास के प्रति वर्माजी की दृष्टि सांप्रदायिक नहीं है, पक्षपातहीन खुली दृष्टि है। वर्माजी ने राजपूतों से संबंधित अनेक ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी हैं। ये कहानियाँ प्रमुखतः राजस्थान और गुजरात के राजपूतों से संबंधित हैं। 'युद्ध बचाया' और 'सिद्धराज जयसिंह का न्याय' का संबंध जयसिंह से है। पहली कहानी में उसकी बुद्धिमत्ता और दूसरी कहानी में हिंदू मुसलमान दोनों के प्रति उसकी समत्व दृष्टि को सामने लाया गया है। 'पहले कौन' में राजपूतों के मूर्खतापूर्ण शौर्य और 'खजाना किसका' में रणथंभोर के दो सेठों की ईमानदारी को उजागर किया गया है। 'पैर छाप कपड़े की कहानी' तथा 'थोड़ी दूर और' में देशभक्ति की भावना प्रस्तुत की गई है। 'अण्णाजी पंत', 'रामशास्त्री की निस्पृहता', 'महज एक मामूली सवार' और 'सत्ताधारी का तमाचा' का संबंध मराठों के जीवन से है। इन कहानियों में मराठों की देशभक्ति, शौर्य, बुद्धिमत्ता, राष्ट्र के लिये आत्मबलिदान की भावना, त्याग और बिना तड़क भड़क के सादगीपूर्ण जीवन पर प्रकाश डाला गया है। इन विशेषताओं के साथ ही उनके स्वभाव की दुर्बलता को भी सामने लाया गया है। वृंदावनलाल वर्मा बुंदेलखंड वासी थे। उन्हें बुंदेलखंड से विशेष प्यार था। अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में वर्माजी ने बुंदेलखंड को जितना और जैसा चित्रित किया है, वैसा वे अपनी ऐतिहासिक कहानियों में नहीं कर पाए हैं। बुंदेलखंड के इतिहास को लेकर उन्होंने कम ही कहानियाँ लिखी हैं। 'मुंह न दिखलाना' बुंदेलखंड के इतिहास से संबंध रखनेवाली एक सुंदर कहानी है। इस कहानी में गुरु के आदर्श को प्रस्तुत किया गया है। सिक्खों के इतिहास से संबंधित वर्माजी की कहानी 'रिहाई तलवार की चार पर' में वीर बंदा बिरागो के अनुयायी एक लड़के की कहानी है जिसे उसकी माँ ने एक मुसलमान अधिकारी को रिश्वत देकर छुटाया और उस लड़के ने ऐसी मुक्ति की अपेक्षा मरना अधिक अच्छा समझा। '१३ तारीख और शुक्रवार का दिन' अंग्रेजों के अंधविश्वास को सामने लाती है और 'मेरा अपराध' अंग्रेज पुलिस के आतंकवादी रूप को रेखांकित करती है। 'अंबरपुर के वीर' में वर्माजी ने अपनी १८५७ की क्रांति से संबंधित कहानियों को संगृहीत किया है। १८५७ से संबंधित कहानियाँ हैं—'अंबरपुर के वीर', 'कायदे की बात', 'देशद्रोही का मुँह काला', 'बदले के साथ इंग्लैंड का भला', 'ऋण साफ और ईमान नहीं टूटा', 'गुप्त सभा', 'वे दिन लड़ गए मैं सा 'ब', 'घायल सिपाही', 'नाना साहब और कानपुर की वह दुर्घटना', 'इतना सब कहाँ से आया', 'अलीवर्दी खाँ की वसीयत', 'बैलूर का विद्रोह', 'दयावान था ?' 'अभी तो मैं जीवित हूँ', 'दिल्ली के पतन का एक कारण यह भी था'। इन कहानियों में वर्माजी का दृष्टिकोण उन लोगों से उल्टा है जो १८५७ की क्रांति को 'सिपाही विद्रोह' कहते हैं; अर्थात् इन कहानियों को लिखने में वर्माजी का दृष्टिकोण राष्ट्रभक्ति का रहा है। १९४२ में और उसके बाद जो हिंदू मुस्लिम दंगे हुए, उनसे संबंधित वर्माजी की कहानियाँ हैं 'कटा फटा झंडा', 'हमीदा' और 'तोषी'। इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्माजी की ऐतिहासिक कहानियों का फलक बड़ा विस्तृत है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने लगभग डेढ़ सौ ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी हैं। इनका फलक प्रागैतिहासिक काल से लेकर अंग्रेजों के शासनकाल तक प्रस्तुत है। 'अभिमन्यु', 'उपमन्यु', पितृमक्त 'श्रवण', 'प्रह्लाद' इत्यादि पौराणिक कहानियाँ बालोपयोगी हैं। 'अंबपालिका', 'प्रबुद्ध', 'भिक्षुराज', 'कुमार सिद्धार्थ', 'कुणाल', 'मृत्यु चुंबन', 'आचार्य उपगुप्त' 'जैन-बौद्ध-काल से संबंधित कलात्मक कहानियाँ हैं। राजपूत जीवन से संबंधित कहानियाँ हैं 'बसंत', 'पूर्णहृति', 'भाट का वचन', 'लात की आग', 'बीर बादल', 'हठी हम्मीर', 'कान्हू चौहान', 'बेला का ब्याह', 'बल्लूजी चंपावत' आदि। मुगलकाल से संबंधित कुछ बहुत अच्छी कहानियाँ शास्त्रीजी ने लिखी हैं। मौलिकता की दृष्टि से विवादास्पद कहानी 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' मुगलकाल से संबंधित एक श्रेष्ठ कहानी है। मुगलकाल से संबंधित उनकी अन्य कहानियाँ हैं—'लालारख', 'दे खुदा की राह पर', 'नूरजहाँ का कौशल', 'सोया हुआ शहर', 'बाबर्चिन', 'दरबार की रात' इत्यादि। 'टीपू सुलतान', 'हैदर अली', 'स्कूल के सहपाठी', 'अंग्रेज बीर बालक' इत्यादि कहानियों का संबंध या तो अंग्रेजी शासनकाल से है या अंग्रेजों से। शास्त्रीजी की ऐतिहासिक कहानियाँ प्राचीन भारतीय एवं मुगलकालीन वैभव, भोग-विलास, राजपूती शौर्य, आनबान, राजा रईसों की विलासिता, सनकों, फिजूलखर्ची, मूर्खता, प्रेम इत्यादि को रेखांकित करती हैं। प्रारंभ में इतिहास के प्रति शास्त्रीजी का दृष्टिकोण रोमानी था। वे राजपूतों के बीर दर्प से लगभग अभिभूत थे। वे राजपूत दर्प के प्रति क्यों अभिभूत थे, इसका कारण उन्होंने स्वयं इस प्रकार बताया है—'इस भावना से कि मैं जन्मतः क्षत्रिय हूँ, मेरा ममत्व क्षत्रित्व पर उमड़ आया। बचपन में ही एक छोटी सी पुस्तक 'मेवाड़ का इतिहास' कहीं से मेरे हाथ आ लगी थी। उन दिनों रात को मैं बहुधा पिताजी को उसे पढ़कर सुनाया करता था। उसमें वर्णित बीर चरित्र कुछ ऐसे मेरे मन पर अंकित हो गए और मेरे मन का क्षत्रित्व का ममत्व उनमें मिलकर कुछ ऐसा रस उसमें उत्पन्न कर गया कि इस समय भावव्यक्तीकरण में समर्थ होकर मैं राजपूत शौर्य और उत्सर्ग के रेखाचित्र कहानियों में चित्रित करने लगा।' राजपूत शौर्य और उत्सर्ग की कहानियों से वे क्रमशः मुगल वैभव, विलासिता की कहानियाँ लिखने लगे। इस प्रकार की कहानियाँ लिखने की प्रेरणा उन्हें अपने उस अनुभव से मिली जो एक वैद्य के रूप में उन्हें राजमहलों में मिला। 'अभावों में पले हुए मृक्ष जन्मदरिद्र के लिये ये सब बातें कम प्रभावशाली न थीं। इसी से वैभव-विलास-ऐश्वर्य का ऐसा गहरा रंग मेरे मानस पर पड़ गया कि उसे मैंने अपनी कहानियों में दोनों हाथ उलीचा।' लेकिन शौर्य वैभव विलास का यह रंग धीरे धीरे टूटी संस्कृति के अवशेषों को अंकित करने और सामाजिक पीड़ा को चित्रित करने में बदल गया। कला की दृष्टि से शास्त्रीजी की कहानियों में बड़ी उच्चावचता है। एक ओर नितान्त साधारणकहानियाँ हैं तो दूसरी ओर उच्च कोटि की कलात्मक कहानियाँ हैं। एक ओर 'अंबपालिका' या 'प्रबुद्ध' जैसी औपन्यासिक आयामों की कहानियाँ हैं तो दूसरी ओर 'बीर बादल' या 'हठी हम्मीर' जैसी एकायामी संक्षिप्त कहानियाँ हैं। उनकी औपन्यासिक आयामोंवाली कहानियाँ सचमुच औपन्यासिक आयामोंवाली कहानियाँ हैं, इसका प्रमाण है कि उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू' उनकी कहानी 'अंबपालिका का ही विकास है।

इन दो प्रमुख ऐतिहासिक कहानीकारों के अतिरिक्त इस काल के कुछ अन्यकहानीकारों

ने भी ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी हैं, यद्यपि ऐतिहासिक कहानियाँ उनकी प्रमुख प्रवृत्ति नहीं हैं। इनमें से एक महत्वपूर्ण नाम मुंशी प्रेमचंद (१८८०-१९३६ ई०) का है। उनके कहानी संग्रह 'नवनिधि' की सभी कहानियाँ—'रानी सारंग' (१९१०), 'पाप का अग्निकुंड' (१९१०), 'राजा हरदोल' (१९११), 'ममता' (१९१२), 'अमावस्या की रात्रि' (१९१३), 'पछतावा' (१९१४), 'जुगनू की चमक' (१९१६), 'छोखा' (१९१६) और 'मर्यादा की वेदी' (१९१७)—ऐतिहासिक हैं। इनके प्रकाशन वर्षों से यह स्पष्ट है कि ये कहानियाँ प्रेमचंद की प्रारंभिक दौर की कहानियाँ हैं। फिर भी कलात्मक दृष्टि से ये वृंदावनलाल वर्मा या चतुर्सेन शास्त्री की कहानियों से हीन नहीं हैं। इन कहानियों में प्रेमचंद का दृष्टिकोण आदर्शवादी है। वे राजपूतों के जीवनादर्शों से आनवान के लिये मर मिटने की विशेषता पर लट्टू हैं। किंतु प्रेमचंद ने बाद में जो ऐतिहासिक कहानियाँ लिखीं वे और अधिक कलात्मक और यथार्थवादी हैं। ये कहानियाँ हैं—'वज्रपात' (१९२४), 'शतरंज के खिलाड़ी' तो प्रेमचंद की प्रथम श्रेणी की कहानी मानी जाती है। इनका भावबोध वही है जो प्रेमचंद की 'कफन', 'पूस की रात' और बड़े भाई साहब' कहानियों का है। प्रेमचंद की इन परवर्ती ऐतिहासिक कहानियों में उनकी विकसित कहानी कला को देखा जा सकता है। प्रेमचंद स्कूल के कुछ कहानीकारों ने इक्की-दुक्की ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी हैं, पर ऐतिहासिक कहानीकार के रूप में वे अपनी पहचान नहीं बना पाए हैं। स्पष्ट है कि इस कालावधि में शुद्ध ऐतिहासिक कहानीकार बहुत कम हुए हैं।

ऐतिहासिक कहानियों की विशेषताएँ—इस कालावधि में लिखी जानेवाली गैर रोमानी ऐतिहासिक कहानियों की संख्या ही कम नहीं है बल्कि उनकी कलात्मक उपलब्धियाँ भी कम ही हैं। इसलिये जब हम उनकी विशेषताओं की ओर दृष्टिपात करते हैं तो वे कम ही नजर आती हैं। ये विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) **जीवनदृष्टि**—ऐतिहासिक कहानियों में इतिहास को राष्ट्रीय आदर्शवादी या मानवतावादी दृष्टि से देखा गया है। वृंदावनलाल वर्मा की कहानी 'युद्ध बचाया' का संबंध राजा जयसह (अनहलवाड़ा के) से है। चार के राजा से युद्धनिमंत्रण मिलने पर उसे उन्होंने किस कुशलता से बचाया, इस कहानी का प्रतिपाद है। लगता है, कहानीकार राष्ट्रीय गौरव की भावना से भरकर मानो कह रहा है, 'देखो, हमारे यहाँ कैसे-कैसे राजा होते थे।' उनकी एक और कहानी है 'थोड़ी दूर और'। इस कहानी में दो राजपूत छाग की खालों में पानी भर पानी का स्थान बताने के बहाने महमूद गजनवी की सेना को रेगिस्तान में भटकाते हैं। जब महमूद को उनके छल का पता चलता है तो वह मारने की आज्ञा देता है। वे कहते हैं—'मार दो। हमने अपने देश को जिंदा रहने का मार्ग दिखलाया। मरने से हमें जो कुछ मिलेगा वह तुम सोच ही नहीं सकते।' इस कथन के साथ ही 'दोनों के चेहरों पर आभा सदा के लिये आ बैठो।' यह देश की रक्षा के लिये मर मिटने की भावना है—राष्ट्रीयता की भावना। इस भावना से स्वयं कहानीकार भरा हुआ है। इसलिये कहानी की कलात्मक हानि करके भी कहानीकार कहानी के अंत में अपनी टिप्पणी देने का लोभ संवरण नहीं कर पाता—'महमूद चला गया। अनेक कठिनाइयों के उपरांत उसे मुलतान का मार्ग मिल गया था। और उन दोनों ने जो मार्ग दिखलाया, उससे इतिहास धन्य हो गया।' ऐतिहासिक कहानियों में राजपूतों,

मराठों, बूंदेलों, सिक्खों इत्यादि के शौर्य, आत्मबलिदान, आनवान के जो चित्र अंकित किए गए हैं, वे राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित हैं। इन कहानियों में जिन आदर्शों की स्थापना की गई है, उनका मूल आधार राष्ट्रीयता की भावना है। आदर्शसंस्थापन का दूसरा आधार है मानवतावाद। अनेक ऐसी कहानियाँ लिखी गई हैं जिनमें मानवीय संबंधों की कसौटी जाति-धर्म-संप्रदाय-विहीन मनुष्य को माना गया है। 'शेरशाह का न्याय' (वृंदावनलाल वर्मा) इसी तथ्य को सामने लाती है कि सच्चे न्याय के सामने हिंदू और मुसलमान, राजा और प्रजा का कोई भेद नहीं है। न्याय के सामने मनुष्य या तो अपराधी है या निरपराध। जो अपराधी है, उसे उसके अपराध के अनुकूल सजा मिलनी चाहिए; चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान, राजा या राजकुमार हो या हलवाई या धोबिन। गुजरात के राजा अजयपाल से संबंधित 'सच्ची शुद्धि' (वृंदावनलाल वर्मा) कहानी का प्रतिपाद्य भी यही है। राजा अजयपाल अपनी धोबिन पर आसक्त हुआ। धोबिन ने उसे फटकारा। उसे अपने अपराध का बोध हुआ। पुरोहितों ने व्यवस्था दी कि वह प्रायश्चित्त के लिये चिता पर चढ़कर जल मरे। उसने चिता तैयार करवाई, उसपर चढ़ा; किंतु मरा नहीं। क्योंकि धोबिन ने उसे क्षमा कर दिया और पुरोहितों ने व्यवस्था दे दी कि राजा का मन अशुद्ध हुआ है, तन नहीं, और चिता पर चढ़ने मात्र से राजा का मन शुद्ध हो गया है। अतः उसे मरने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार राष्ट्रीय मानवीय आदर्शवाद ऐतिहासिक कहानियों का प्राण है।

(२) ऐतिहासिक प्रामाणिकता—अधिकांश ऐतिहासिक कहानियाँ भारत के प्रसिद्ध शासकों या उनके शासनकाल से संबंधित हैं। ये उन शासकों के संबंध में प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओं, किंवदंतियों, प्रवादों इत्यादि पर आधारित हैं। इसलिये इनमें प्रामाणिकता अप्रामाणिकता का विचित्र मिश्रण है। कोई भी ऐतिहासिक कहानीकार इस बात के लिये चिंतित प्रतीत नहीं होता कि वह जिन घटनाओं को दे रहा है वे ऐतिहासिक दृष्टि से तथ्य हैं, लोकप्रसिद्धियाँ नहीं। वस्तुतः ऐतिहासिक कहानीकार ऐतिहासिक तथ्यों को अपेक्षा मानवीय तथ्यों का उद्घाटन करने की दिशा में अधिक सजग हैं। फिर भी रोमानी ऐतिहासिक कहानियों की अपेक्षा ऐतिहासिक कहानियों में ऐतिहासिक प्रामाणिकता और तथ्यात्मकता अधिक है।

(३) चरित्रों का अध्ययन—ऐतिहासिक कहानियों का मुख्य लक्ष्य पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन प्रतीत होता है। इसलिये विवेच्य ऐतिहासिक कहानियों को चरित्र-प्रधान कहानियाँ कहा जा सकता है। वृंदावनलाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री और प्रेमचंद तीनों की ऐतिहासिक कहानियों में राजपूतों, मराठों, बूंदेलों इत्यादि के दर्प, शौर्य, राष्ट्रभक्ति, मर्यादा के लिये मर मिटने की ललक आदि चारित्रिक विशेषताओं का समान रूप से उद्घाटन हुआ है। वर्मा जी की 'पहले कौन', 'थोड़ी दूर और', 'पैर छाप कपड़े की कहानी', 'अण्णा जी पंत', आचार्य चतुरसेन शास्त्री की 'पूर्णहिति', 'भाट को वचन', 'लात की आग', 'कुंभा की तलवार', प्रेमचंद की 'रानी सारंधा', 'राजा हरदोल', 'मर्यादा की बेदी', इत्यादि कहानियाँ पात्रों की उपर्युक्त चारित्रिक विशेषताओं को सामने लाती हैं। ये कहानियाँ ऐतिहासिक पात्रों के चरित्रों की विशेषताओं को सामने लाने के लिये लिखी गई हैं, यह इस बात से भी स्पष्ट है कि ये शासकों की विचित्रताओं और सनकों को भी सामने लाती हैं। वर्मा जी की 'जहाँगीर की सनक', 'टूटी सुराही' जैसी कहानियाँ तथा आचार्य चतुरसेन शास्त्री की 'मुगल बादशाहों

की अनोखी बातें' संग्रह की कहानियाँ मुसलमान शासकों की विचित्र चारित्रिक विशेषताओं को प्रस्तुत करने के लिये ही लिखी गई हैं। इन विशेषताओं के अतिरिक्त ये भ्रूण्य की प्रेम, उदारता, परदुःख कातरता, क्रूरता, मूर्खता इत्यादि विशेषताओं को भी रेखांकित करती हैं। यहाँ यह कह देना आवश्यक प्रतीक होता है कि इन कहानियों में पात्रों के चरित्रोद्घाटन के लिये सामान्य मनोविज्ञान का सहारा लिया गया है, असामान्य मनोविज्ञान का नहीं। अक्सर तो इन कहानियों के पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ ऊपर ही मौजूद हैं। वे उनके कार्यों में व्यक्त हैं। उन्हें पकड़ने के लिये कहानीकारों को पात्रों के मन में बहुत गहरे पैठने की आवश्यकता नहीं हुई है। इसका परिणाम यह हुआ कि इन ऐतिहासिक कहानियों के चरित्र जटिल नहीं हैं। वे प्रायः सपाट और एकायामी हैं। वे कहानी के प्रारंभ में जैसे हैं, वैसे ही या लगभग वैसे ही कहानी के अंत में भी हैं। वे स्थिर चरित्र हैं। उनका विकास नहीं होता है।

(४) शिल्प—इस काल की सभी ऐतिहासिक कहानियाँ सरल वर्णनात्मक शिल्प की कहानियाँ हैं। उनमें घटनाओं की प्रधानता है। उन्हें कहने के लिये कहानीकारों ने चमत्कारपूर्ण या जटिल नाटकीय कथाशैलियों को नहीं अपनाया। शिल्प की दृष्टि से वृंदावनलाल वर्मा की कहानियाँ सबसे अधिक सपाट हैं। उनकी कहानियों का प्रारंभ कोई विशेषता लिए हुए नहीं होता—'सात सौ वर्ष पहले की बात है। गुजरात के राजा जयसिंह थे। अनहलवाड़ा (पाटन) राजधानी थी। गुजरात और धार के राजाओं के बीच बहुत समय से बैर चला आता था। कई युद्ध हो चुके थे। जब जो जीतता, एक शिलालेख अपनी अपनी कीर्ति को अमिट बनाने के लिये खुदवा देता।' ('युद्ध बचाया')। फिर कालानुक्रम से घटनाओं का वर्णन होता जाता है। वातावरण निर्माण पर कहानीकार बिल्कुल थल नहीं देता। इसलिये इसमें प्रकृति, स्याद, पात्र की वेशभूषा इत्यादि के विस्तृत और आकर्षण वर्णन प्रायः नहीं होते। बीच बीच में थोड़े बहुत संवाद आ जाते हैं पर उनमें नाटकीय संवादों की विशेषताएँ प्रायः नहीं होतीं। कहानीकार कहानी का जब अंत करता है तब किसी संकेत के साथ नहीं, बल्कि स्पष्ट कथन के द्वारा—'रण निमंत्रण वापस ले लिया गया। युद्ध होने होते बच गया।' ('युद्ध बचाया')।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री की ऐतिहासिक कहानियाँ भी वर्णनात्मक शिल्प की कहानियाँ हैं, पर उनकी वर्णन शैली अधिक साहित्यिक, अधिक कलात्मक है। वे कहानी की मुख्य घटना का प्रारंभ करने से पहले पृष्ठभूमि के रूप में या तो ऐतिहासिक विवरण देते हैं या दृश्य-चित्रण करते हैं। ऐतिहासिक विवरण सपाट होते हैं; दृश्यचित्रण कलात्मक। सपाट विवरण का उदाहरण 'अंबपालिका' (१९२८) कहानी का प्रारंभिक प्रघटक है और दृश्यचित्रण और आकर्षक विवरण का उदाहरण 'भिक्षुराज' कहानी के प्रारंभिक अंश हैं। उनकी कहानियों में बीच बीच में भी आकर्षक चित्र और रोचक संवाद मिलते हैं। उनकी कुछ कहानियाँ बड़े कलात्मक ढंग से समाप्त हुई हैं।

प्रेमचंद की प्रारंभिक ऐतिहासिक कहानियाँ उतनी कलात्मक नहीं हैं जितनी परवर्ती कहानियाँ उनकी ऐतिहासिक कहानियों का शिल्प भी वर्णन का शिल्प है; पर उसमें कलात्मकता वर्माजी और चतुरसेन शास्त्री दोनों से अधिक है। 'शतरंज के खिलाड़ी' भी वर्णनात्मक कथाशिल्प का कहानी है; पर उसमें सूक्ष्म व्यंजना और कलात्मक परिष्कार इतना अधिक है कि उसे हिंदी की श्रेष्ठ ऐतिहासिक कहानियों में से एक माना जा सकता है। कहानी को उसके अंतिम निष्कर्ष

तक ले जाने के लिये प्रेमचंद ने संवादों का किस कुशलता से उपयोग किया है, यह देखते ही बनता है—

मीर साहब का फरजी पिटता था । बोले— 'मैंने चाल चली ही कब थी ?'

मिर्जा— 'आप चाल चल चुके हैं । मुहरा वहीं रख दीजिए— उसी घर में ।'

मीर— 'उस घर में क्यों रखूँ ? हाथ से मुहरा छोड़ा कब था ?'

मिर्जा— 'मुहरा आप कयामत तक न छोड़ें, तो क्या चाल ही न होगी ? फरजी पिटते देखा तो धाँधली करने लगे ।'

मीर— 'धाँधली आप करते हैं । हार-जीत तकदीर से होती है; धाँधलो करने से कोई नहीं जीतता ।'

मिर्जा— 'तो इस बाजी में आपकी मात हो गई ?'

मीर— 'मुझे क्यों मात होने लगी !'

मिर्जा— 'तो आप मुहरा उसी घर में रख दीजिए, जहाँ पहले रखा था ।'

मीर— 'वहाँ क्यों रखूँ ? नहीं रखता ।'

मिर्जा— 'क्यों न रखिएगा ? आपको रखना होगा ।'

तकरार बढ़ने लगी । दोनों अपनी अपनी टेक पर अड़े थे । न यह दबता था न वह । अप्रासंगिक बातें होने लगीं । मिर्जा बोले— 'किसी ने खानदान में शतरंज लेली होती तब तो इसके कायदे जानते । वे तो हमेशा घास छीलते रहे, आप शतरंज क्या खेलिएगा ? रियासत और ही चीज है । जागीर मिल जाने से ही कोई रईस नहीं हो जाता ।'

मीर— 'क्या ? घास आपके अब्बाजान छीलते होंगे । यहाँ तो पीढ़ियों से शतरंज खेलते चले आते हैं ।'

मिर्जा— 'अजी जाइए भी । गाजिउद्दीन हैदर के यहाँ बावर्ची का काम करते करते उम्र गुजर गई, आज रईस बनने चले हैं । रईस बनना कुछ दिल्लगी नहीं ।'

मीर— 'क्यों अपने बुजुर्गों के मुँह में कालिख लगाते हो— वे ही बावर्ची का काम करते होंगे । यहाँ तो हमेशा बादशाह के दस्तरख्वान पर खाना खाते चले आए हैं ।'

मिर्जा— 'अरे चल चरकटे, बहुत बढ़ बढ़कर बातें न कर !'

मीर— 'जबान सँभालिए, वरना बुरा होगा । मैं ऐसी बातें सुनने का आदी नहीं हूँ । यहाँ तो किसी ने आँखें दिखाई कि उसकी आँखें निकालीं । है हीसला ?'

मिर्जा— 'आप मेरा हीसला देखना चाहते हैं; तो फिर आइए, आज दो दो हाथ हो जायें इधर या उधर ।'

मीर— 'तो यहाँ तुमसे दबनेवाला कौन है ।'

दोनों दोस्तों ने कमर से तलवारें निकाल लीं । '.....दोनों ने पैंतरे बदले, तलवारें चमकीं, छापाछप की आवाजें आईं । दोनों ने वहीं तड़प तड़पकर जानें दे दीं । अपने बादशाह के लिये जिनकी आँखों से एक बूँद आँसू न निकला, उन्होंने शतरंज के वजीर की रक्षा में प्राण दे दिए ।'

प्रेमचंद ने उपर्युक्त संवादों और बीच में संक्षिप्त सी टिप्पणी के द्वारा जितना कुछ कह दिया है, उतना बहुत बड़े वर्णन के द्वारा वे नहीं कह सकते थे ।

(५) भाषा—भाषा में जैसी काव्यात्मकता, आलंकारिकता, सरसता, बिलबात्मकता और प्रतीकात्मकता रोमानी कहानियों में है, वैसी ऐतिहासिक कहानियों की भाषा में नहीं। वृंदावनलाल वर्मा की भाषा तो नितांत सपाट और अभिघातक है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री की ऐतिहासिक कहानियों की भाषा में काव्यात्मकता, आलंकारिकता और चित्रात्मकता की विशेषताएँ अवश्य मिलती हैं—शायद इसलिये कि उनमें जो रोमानी तत्व हैं, वे उनकी गैर-रोमानी ऐतिहासिक कहानियों में भी कहीं कहीं झलक मारते हैं। 'प्रबुद्ध' कहानी का यह अंश उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है—

‘उषा की अलौकिक रहस्यरेखा की तरह सबके अंत में कोलराजनंदिनी यशोधरा ने कक्ष में प्रवेश किया, मानों उन्हें देखते ही कुमार सिद्धार्थ का चिरनिद्रित यौवन जागरित हो उठा। वे धीरे धीरे सोरभ, आलोक और शोभा बिखेरती हुई व्यास पीठ तक पहुँचकर कुमार के संमुख खड़ी हो गई। वे सिमट रही थीं और झुक रही थीं; न जाने अविकसित यौवन के भार से अथवा लज्जा के भार से। वे संमुख खड़ी होकर भूमि पर दृष्टि गड़ाए पदनक्ष से धरती पर बिछे स्फटिक प्रस्तर पर रेखा खींचने का व्यर्थ प्रयास कर रही थी।’

प्रेमचंद की भाषा काव्यात्मक और बिबात्मक तो नहीं कही जा सकती पर उसमें बोलचाल की भाषा का जादू, रवानी, म्हावरेदानी, खनक और अलंकरण अवश्य है। उस भाषा का अपना अलग चरित्र है। जैसे प्रसादजी की भाषा का अनुकरण संभव नहीं है, वैसे ही प्रेमचंद की भाषा का भी अनुकरण संभव नहीं है।

हिंदी की रोमानी ऐतिहासिक कहानी का जो अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, उससे स्पष्ट है कि हिंदी कहानी के इतिहास में उसका विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान है। रोमानी ऐतिहासिक कहानी अपने देशकाल के साथ संबद्ध भी है और उसका अतिक्रमण भी करती है। इस धारा के प्रत्येक कहानीकार—कम से कम विशिष्ट कहानीकारों की निजी पहचान है, किंतु साथ ही उनकी कुछ ऐसी सामान्य प्रवृत्तियाँ भी हैं जो उन्हें धाराविशेष का कहानीकार बनाती हैं। हिंदी की रोमानी ऐतिहासिक कहानियों में न रोमानियत शुद्ध है न इतिहास। रोमानियत और इतिहास दोनों में राष्ट्रीयता और आदर्शवादिता की विशेषताएँ आ मिली हैं। यह उनके समय की माँग थी। इन दोनों विशेषताओं के आ मिलने से रोमानी ऐतिहासिक कहानियों की छवि निखरी है; धुंधली नहीं पड़ी है।

दो दशकों (१८१८-३८) की हिंदी कहानी भाषा शिल्प और स्वरूप विश्लेषण

परमानंद श्रीवास्तव

१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के कथात्मक प्रयत्नों में हिंदी कहानो के आरंभिक विकास की संभावना को पहचाना जा सकता है। उस युग के व्यंग्य चित्र, संवाद, कथात्मक निबंध या स्वप्न कथाएँ—अनेक दृष्टियों से हिंदी कहानी को पहली बार अपना जातीय स्वभाव देता हुई जान पड़ती हैं। उनकी सर्वथा उपेक्षा करके १९०० के बाद की महत्वपूर्ण कहानियों को रेखांकित करने का अधिक औचित्य नहीं है। यह अवश्य है कि १९०० में 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ हिंदी कहानी के विकास की दिशा पहली बार स्पष्ट हुई। किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२) की कहानी 'इंदुमती' को इसी अर्थ में हिंदी की पहली मौलिक कहानी कहा गया है कि वह पूरी तरह कहानीशिल्प के उपकरणों से ही निमित्त है। १९०९ में 'इंदु' के प्रकाशन से हिंदी में भावात्मक कहानियों के विकास की गति लक्षित की जा सकती है। 'इंदु' में ही राधिकारमण प्रसाद सिंह (१८९१-१९००) की कहानी 'कानों में कंगना' (१९१३) प्रकाशित हुई। इसी समय सरस्वती में विश्वभरनाथ शर्मा कोशिक (१८९१-१९४५) की कहानी 'रक्षाबंधन' प्रकाशित हुई। चंद्रधरशर्मा गुलेरी (१८८३-१९२०) की पहली यद्यपि साधारण कहानी 'सुखमय जीवन' १९१३ के 'भारत मित्र' में प्रकाशित हुई। जयशंकर प्रसाद (१८८९-१९३७) की साधारण पर मर्मस्पर्शी कहानी 'रसिया बालम' १९१२ की 'इंदु' में प्रकाशित हुई। प्रसाद के संग्रह 'छाया' (१९१२) में 'ग्राम' और 'तानसेन' आदि कहानियाँ छपों। 'ग्राम' को प्रसाद की पहली कहानी माना गया है। प्रेमचंद (१८८०-१९३६) की पहली कहानी के रूप में 'सोत' (१९१५) का उल्लेख किया गया है, पर हिंदी में उनको पहली प्रकाशित कहानी 'पंच परमेश्वर' (१९१६) है। चंद्रधर शर्मा गुलेरी की अत्यंत महत्वपूर्ण कहानी 'उसने कहा था' १९१५ की सरस्वती में प्रकाशित हुई।

१९१८ के पहले की कहानी को हिंदी कहानी का 'आरंभ युग' माना गया है। इसी तर्क से १९१८ से '३८ तक की हिंदी कहानी को 'उत्कर्ष युग' की संज्ञा दी गई है। यह बात अलग है कि कुछ वर्ष पहले से स्वीकृत इस विभाजन को लेकर इस समय कुछ प्रश्न उठाए जा सकते हैं। कहानी के रूपगत विकास और भाषा-शिल्पगत विकास का अध्ययन करते हुए हम अनुभव करते हैं कि १९१८ और ३८ के बीच १९३० से विभाजन की एक और स्पष्ट रेखा निर्धारित की जा सकती है—(१) १९३० तक और (२) १९३० के बाद। इन दो युगों की अंतर्धारणाएँ एक दूसरे से मिलकर भी स्वतंत्र हैं। १९३० के पहले की कहानी में भावुकता या काल्पनिक भावुकता का प्राधान्य है। इसका प्रभाव कहानी की वस्तु पर भी है और शिल्प पर भी। कहीं वर्णनात्मक गद्य की सीमाएँ हैं तो कहीं काव्यात्मक गद्य की। ३० के बाद कहानी में यथार्थ दृष्टि और मनोविश्लेषण के संकेतों को पहचाना जा सकता है। आनेवाली कहानी की संभावना प्रेमचंद की 'पूँस की रात' या 'कफन' जैसी कहानियों में लक्ष्य की जा सकती है।

उपर्युक्त संकेत के बाद हम फिर इन बीस वर्षों की हिंदी कहानी के विकास की दिशाएँ पहचान सकते हैं। बहुत दूर तक कहानी का विकास देख लेने पर भी कहानी के स्वरूप विश्लेषण की दृष्टि से १९१५ में प्रकाशित 'उसने कहा था' कहानी की चर्चा की जा सकती है, इस कहानी की नवीनता आज भी आश्चर्य का विषय है। जिस समय हिंदी कहानी में स्थूल विवरण दिए जाते थे या अलंकृति का उपयोग किया जाता था, यह कहानी स्वल्प कथन की शैली का सार्थक उपयोग करती है। कहानी के रचनात्मक गठन का अध्ययन करें तो इसमें सबसे पहले लाहौर की सड़कों की व्यस्तता का चित्रण है। यह भी वर्णन या शैली का आकर्षण प्रकट करने के लिये नहीं, बल्कि बाजार के व्यस्त चित्र का आभास देने के लिये—अर्थात् उस परिस्थिति का आभास देने के लिये जिसमें कहानी के बालक-बालिका मिलते हैं और परिचित होते हैं। परिचय की घनिष्ठता परिहास का आधार बनती है पर परिहास में ही परिचय की करुण परिणति का व्यंग्य छिपा हुआ है। जिस दिन बालक के प्रश्न करने पर—'तेरी कुड़माई हो गई'।—बालिका कहती है—'हाँ, हो गई। देखते नहीं रेशम से बड़ा हुआ सालू'—उसी दिन लहनासिंह के जीवन में एक नई उन्मादग्रस्त विक्षिप्तता प्रकट होती है। शैशव के सरल जीवन का एक विनोदपूर्ण कीतुक इस समय की गंभीर नियति का साक्ष्य बन जाता है। कहानी में एक एक कर लहनासिंह का अगला जीवन चित्रित है—सैनिक के रूप में उसकी तत्परता, उसकी कर्तव्यनिष्ठा आदि अनेक पक्ष पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं। आगे वह मोड़ भी आता है जहाँ लहनासिंह अपने सुवेदार मित्र की पत्नी को बचपन की उसी छूटी हुई बालिका के रूप में उपलब्ध करता है। यहीं वह उसके पति और पुत्र के प्राणों की रक्षा का दायित्व लेता है। 'उसने कहा था' कहानी इसी प्रनिश्चय की कहानी है, जिसके लिये वह अपनी कोई चिंता न करते हुए उन्हीं दोनों की चिंता में लगा रहता है। उन्हीं घर के लिये भेजकर अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा करता है। विगत जीवन की घटनाएँ एक एक कर उसके सामने आती हैं। इस दृष्टि से इस कहाजी का शिल्प स्मृति-कथा का शिल्प है। इसकी भाषा यथार्थ और स्थानीयता के रंगों से दृढ़ती सजीव हो उठी है कि पहली बार ही उसकी समूची कलात्मक बनावट कहानी के पाठक या समीक्षक के लिये प्रधान हो उठती है। आगे के कई दशकों की हिंदी कहानी पर इस कहानी की नवीनता की स्पष्ट छाप है। १९११-१२ में लिखी हुई प्रसाद की 'ग्राम' शीर्षक कहानी से 'उसने कहा था' की भाषा की तुलना करें तो भाषा के साथ ही साथ कहानी संबंधी रचनात्मक दृष्टिगोण का अंतर पहचाना जा सकेगा।

(क) 'मेघमाला विभूषित गगन की छाया सघन रसाल कानन में पड़ रही है। अँधियारी घीरे घीरे अपना अधिकार पूर्व गगन में जमाती हुई सुशासनकारिणी महारानी के समान बिहंग प्रजागण को सुखनिकेतन में शयन करने की आज्ञा दे रही है। आकाशरूपी शासनपत्र पर प्रकृति के हस्ताक्षर के समान बिजली की रेखा दिखाई देती है.....।'

—'ग्राम' : प्रसाद

(ख) 'दो पहर रात गई है। अँधेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधासिंह खाली बिस्कुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कंबल बिछाकर और लहनासिंह के दो कंबल और एक बरानकोट ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुँह पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर।' —उसने कहा था : गुलेरी।

दोनों उदाहरणों के अंतर से यह देखा जा सकता है कि प्रसाद की कहानी प्रकृति की अलं-
कृति की कहानी है, जब कि गुलेरी की यह कहानी परिस्थिति के यथार्थ की कहानी । एक
के रचनासंसार में मेघमाला, रसालकानन जैसे प्रकृति के काव्यात्मक पहलू हैं, तो दूसरे के
रचनासंसार में खाली बिस्कुटों के टिन, कंवल, बरानकोट, खाई का मुंह और दुबला
शरीर है ।

भावुकता से कहानी की संपूर्ण मुक्ति निस्संदेह प्रेमचंद की कहानियों के साथ घटित हुई ।
इसके लिये प्रेमचंद को अपने ही भावात्मक आदर्शवाद और उससे परिचालित कहानियों की
वर्णनात्मकता से, संयोगकौशल से, संघर्ष करना पड़ा और मानवजीवन के विडंबनापूर्ण करुण
व्यंग्य को साहसपूर्वक सामने लाने की आवश्यकता प्रतीत हुई । प्रेमचंद की अपनी ही कहानियाँ
स्रोत (१९१५), पंच परमेश्वर (१९१६) कहानी की आरंभिक सीमाओं का उदाहरण कही
जा सकती हैं । सुदर्शन और कौशिक की स्थूल अर्थ में आदर्शवादी और सामान्यीकृत कहानियों
से प्रेमचंद की ये कहानियाँ किसी भी अर्थ में अलग नहीं हैं । पर १९२४-२५ तक प्रकाशित
होनेवाली 'शतरंज के खिलाड़ी', 'बूढ़ी बाकी' जैसी कहानियों के लिये यही बात नहीं कही
जा सकती ।

यथार्थ की ओर उन्मुख होनेवाली प्रेमचंद की कहानियों का विश्लेषण करने के पहले
प्रसाद और प्रसाद से प्रभावित कहानीलेखकों के कथात्मक प्रयोगों पर विचार कर लेना आव-
श्यक है । प्रसाद की कहानियों को काल्पनिक आदर्श की कहानियाँ कहना पर्याप्त नहीं है ।
प्रसाद अपनी कहानियों में इस आदर्शवाद से आगे जाकर मानवहृदय के तीव्र अंतर्द्वंद्वों को
भाषा देने की चेष्टा करते हैं और क्रमशः अपनी कहानियों में काव्यत्व की अपेक्षा नाटकीयता
को महत्व देते हुए प्रतीत होते हैं । लोचनप्रसाद पांडेय ने उनके हृदय पर जिन अपूर्व भावों
की छाया देखी थी—वह आगे की कहानियों पर बनी हुई है पर उसके रचनात्मक
उपयोग की कला में क्रमशः विकास देखा जा सकता है । 'छाया' (१९१२) की कहानियों में
कहीं संयोग से करुण प्रभाव की सृष्टि (ग्राम) है और कहीं कहानी में कविदृष्टि के उपयोग
के बाद भी अर्थात् भावुकता के बाद भी एक प्रकार का शब्द संयम (तानसेन) है और कहीं
कहीं प्रेम से बलिदान तक की अतिरंजित भावुकता (रसिया वालम) है । 'प्रतिध्वनि' (१९२४-
२६) में गद्यकाव्यत्व, लाक्षणिकता और काल्पनिकता है । यहाँ कहानी की भाषा में छायावादी
काव्यत्व का स्पर्श देखा जा सकता है । इस संग्रह की कहानियों में पाठक का साक्षात् जिन
वस्तुओं के साथ होता है, उसमें चंदन और केशर की चहलपहल, फूलों का उपहास करती हुई
बिजली सी मुस्कयान रेखा, स्वर्ग और प्रलय का अभेद जैसी वस्तुएँ या तथ्य हैं । 'आकाशदीप'
(१९२६-२९) में प्रसाद की कहानियाँ काव्यात्मक दुरुहता के बाद भी मनुष्य के मूलिक अंतः-
संबंधों को प्रत्यक्ष करती हैं । 'आकाशदीप' इस संग्रह की सर्वाधिक महत्वपूर्ण कहानी है, जिसका
आरंभ ही एक रहस्यमय संवाद से होता है—

'बंदी'

'क्या है ? सोने दो'

'मुक्त होना चाहते हो ?'

'अभी नहीं । निद्रा खुलने पर । चुप रहो ।'

‘फिर अवसर न मिलेगा ।’

‘बड़ा शीत है । कहीं से एक कंवल डालकर कोई शीत से मुक्त करता ।’

‘आँधी की संभावना है । यही अवसर है । आज मेरे बंधन शिथिल हैं ।’

‘तो क्या तुम भी बंदी हो ।’

एक ही परिस्थिति में बंदी दो व्यक्ति आलिंगन से मुक्त होकर ही जान पाते हैं कि उनमें एक स्त्री और दूसरा पुरुष है । संयोग और परिस्थितियाँ उनमें गहरे आकर्षण को जन्म देती हैं । ताम्रलस का क्षत्रिय पर अब दुर्भाग्य से जलदस्यु बुद्धगुप्त चंपा में जिस नई वस्तु को खोज पाता है, वह है कोमलता । कहानी का वातावरण^१ यहाँ भी अलंकृत है पर मानसिक जगत् का संघर्ष ही इसे एक भिन्न परिणति तक ले आता है । अकारण ही जलदस्यु होने मात्र से बुद्धगुप्त को चंपा अपने वीर पिता की मृत्यु का कारण समझने लगी है यद्यपि बुद्धगुप्त के लिये उसकी प्रणयाकांक्षा बनी हुई है । रहस्य का यही विदु प्रसाद की कहानियों को आधुनिक संवेदनात्मक दृष्टि देने में समर्थ है । यहाँ कहानी नियति के अज्ञात पर मौलिक प्रश्न को सांकेतिक अभिव्यक्ति देना चाहतो हैं—

‘विश्वास ? कदापि नहीं बुद्धगुप्त ! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी, उसी ने धोखा दिया, तब मैं कैसे वूँ ! मैं तुम्हें घृणा करती हूँ फिर भी तुम्हारे लिये मर सकती हूँ । अंधेरे हैं जलदस्यु । तुम्हें प्यार करती हूँ ।’—आकाशदीप : प्रसाद ।

जहाँ नियति के इस रहस्य का कोई सरल समाधान सुझाया गया है, वहाँ कहानी भी सब मिलाकर साधारण बन पड़ी है । ‘समुद्र संतरण’ और ‘आकाशदीप’ का अंतर इस दृष्टि से रोचक अध्ययन का विषय हो सकता है । आँधी (१९३३) में प्रसाद की दुःखांत, प्रेममूलक या ऐतिहासिक या यथार्थोन्मुख कहानियाँ हैं । मानवीय सहानुभूति का चित्रण भी यहाँ भावुकता पर आश्रित नहीं । उदाहरण के लिये ‘मधुआ’ कहानी का उल्लेख किया जा सकता है । ‘पुरस्कार’ कहानी मानवहृदय की जटिल रहस्यमयता^२ के कारण ही ‘आकाशदीप’ के कथा-शिल्प को अधिक विकसित करती हुई जान पड़ती है । प्रसाद की कहानी कला का विकास इसी दिशा में हुआ । ‘इंद्रजाल’ (१९३६) की कहानियों में वस्तु के विस्तार के अनुरूप यह जटिल रहस्यमयता विकसित हुई है । पर एक लेखक के क्रमिक विकास का कोई सीधा अनिवार्य नियम नहीं होता । ‘इंद्रजाल’ की ‘नूगी’, ‘गुंडा’ और ‘सालवती’ जैसी महत्वपूर्ण कहानियाँ भी ‘आकाशदीप’ या ‘पुरस्कार’ जैसी कलात्मक पूर्णता नहीं पा सकी हैं । प्रसाद की कहानी, उस

१. ‘सामने जलराशि का रजत शृंगार था । वरुण बालिकाओं के लिये लहरों से हीरे और नीलम की ऋंड़ा शैलमालाएँ बना रही थीं और मायाविनी छलनाएँ अपनी हँसी का कलनाद छोड़कर छिप जाती थीं । दूर दूर से धीवरों की वंशी शंकार उनकी संगीत सा मुखरित होता था ।’ —आकाशदीप, पृ० १४ ।

२. ‘यह रहस्य मानवहृदय का है मेरा नहीं । राजकुमार नियमों से यदि मानवहृदय बाध्य होता तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिचकर एक कृषक बालिका का अपमान करने न आता ।’—पुरस्कार : आँधी, पृ० १४७ ।

भावात्मक चेतना से अभिन्न है जो अथ्य विद्याओं में भी विलक्षण और मार्मिक अभिव्यक्ति पा सकी, मानवीय मूल्यों के पक्ष में ही प्रसाद की कहानियाँ, कहीं कहीं सामाजिक नैतिक मूल्यों का प्रत्याख्यान भी करती हैं। प्रकृति के उपकरण अपनी चेष्टाओं सहित प्रसाद की कहानियों में इस प्रकार रचे हुए हैं कि सब मिलाकर उनकी कहानियाँ काव्यात्मक प्रभाव की सृष्टि करती हैं। यहाँ वेदना रजनी से भी काली है और दुःख समुद्र से भी विस्तृत (देवरथ, इंद्रजाल में), वसंत की चाँदनी रात अपनी मतवाली उज्ज्वलता में मूहल के मीनारों और गुंबदों तथा वृक्षों की छाया में लड़खड़ा रही है (दास, आँधी में), सुदूर प्रतीची में एक सहस्रदल स्वर्णकमल अपनी शेष स्वर्ण किरण की मृणाल पर व्योमनिधि में खिल रहा है (खंडहर की लिपि, प्रतिध्वनि में)।

दो दशकों की हिंदी कहानी के इस युग को अकारण ही 'प्रेमचंदयुग' नहीं कहा गया है। १९१५-१६ से '३६ तक की अवधि में प्रेमचंद की कहानियाँ न केवल अपना स्वाभाविक विकास प्रत्यक्ष कर सकी हैं बल्कि कहानी की बला को ही सहज विकासात्मक परिणति तक ले जा सकी हैं। प्रेमचंद के रचनात्मक विकास को युगसंघर्ष और निजी जीवनसंघर्ष—दोनों ने समान रूप से प्रभावित किया। प्रेमचंद से पहले की हिंदी कहानी में आश्चर्यजनक कल्पना का विलास था या नोतिपरक सोद्देश्यता की चमत्कारपूर्ण परिणतियाँ थीं। प्रेमचंद ने मानसिक तृप्ति और मनोरंजन में से एक ही उपलब्धि को कहानी की सफलता के लिये आवश्यक माना। दूसरी ओर चरित्र के किसी एक अंग का आभास देनेवाली कहानी को घटना के स्थान पर अनुभूति पर निर्भर बताया।^१ प्रेमचंद के कहानी शिल्प के तीन क्रमिक विकास स्तर निर्दिष्ट किए गए हैं। १९१५ से '२० तक की कहानियाँ (सौत, पंचपरमेश्वर, नमक का दारोगा, बड़े घर की बेटी, रानी सारंघा आदि) अनावश्यक घटनात्मक विस्तार और आदर्श का अतिरंजित आरोप प्रदर्शित करती हैं। कहानी कला के निर्धारित तत्वों (कथानक, चरित्रचित्रण, वातावरण, देशकाल, उद्देश्य) से मेल खाती हुई ये कहानियाँ अपने आरंभिक बिंदु से ही (स्थूल विवरण की भाषा) निराश करती हैं—और इनका अंत भी इसी कारण से रुमानी आदर्शवाद की झलक देकर रह जाता है। उदाहरण के लिये प्रेमचंद की लंबी भावात्मक कहानी 'आगा-पीछा' के अंत पर ध्यान दिया जा सकता है—

'श्रद्धा की आँखें रोते रोते लाल हो रही थीं। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो भगतराम उसके सामने प्रेमलिंगन का संकेत करते हुए मुस्करा रहे हैं। वह अपनी दशा, काल, स्थान सब भूल गई। जरूमी सिपाही अपनी जीत का समाचार पाकर अपना दर्द, अपनी पीड़ा भूल जाता है। क्षण भर के लिये मौत भी हेय हो जाती है।' श्रद्धा का भी यही हाल हुआ। यह भी अपना जीवन प्रेम की निठुर वेदी पर उत्सर्ग करने के लिये तैयार हो गई जिस पर लैला और मजनूँ, शीरी और फरहाद एक नहीं हजारों ने अपनी बलि चढ़ा दी।'—आगापीछा : प्रेमचंद।

प्रेमचंद के दूसरे विकास स्तर की ('२० से ३०) कहानियाँ घटना से मनोविज्ञान या

१. 'कहानी जीवन से बहुत निकट आ गई है। उसकी जमीन अब उतनी लंबी चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिये स्थान नहीं रहा। अब वह केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का सजीव हृदयस्पर्शी चित्रण है। इस एक तथ्यता ने उसमें प्रभाव, आकस्मिकता और तीव्रता भर दी है।'—अब उसमें व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अंश अधिक होता है।' —साहित्य का उद्देश्य—प्रेमचंद।

प्रतीकात्मक व्यंग्य की ओर मुड़ती हुई दिखाई देती हैं। वज्रपात, शतरंज के खिलाड़ी, मुक्ति का मार्ग, माता का हृदय, शांति, बूढ़ी काकी जैसी कहानियों में कथानक का संगठन अधिक सार्थक है। आदर्श परिस्थितियों पर आरोपित नहीं परिस्थितियों के भीतर ही वह आवश्यकता-नुसार रचा हुआ है। 'शतरंज के खिलाड़ी' प्रेमचंद के कहानी शिल्प का कई स्तरों पर विकास प्रदर्शित करती है। कथारस अवश्य ही इसकी अभिव्यक्ति में घुलमिल गया है। विलासिता के रंग में डूबे हुए लखनऊ को मुगल संस्कृति के अंतिम पतन के बगार पर इस रूप में दिखाया गया है कि मीर और मिर्जा का खेल गहरे प्रतीकात्मक व्यंग्य का रूप ले लेता है। यहाँ भाषा निश्चित अर्थ में सक्रिय है—

मीर—'आप भी अजीब आदमी हैं ! यहाँ तो शहर पर आफत आई हुई है और आप को किश्त की सूझी हुई है। कुछ इसकी खबर है कि शहर घिर गया तो घर कैसे चलेंगे ?'

मिर्जा—'जब घर चलने का वक्त आया तो देखी जाएगी—यह किश्त बस जब की शह में मात है।' —शतरंज के खिलाड़ी।

'बूढ़ी काकी' कहानी में एक भिन्न स्तर पर मनोवैज्ञानिक अनुभूति की तीव्रता दिखाई देती है। स्थूल रूप में यह बूढ़ी काकी के तृष्णा मनोविज्ञान की कहानी है। इसी तृष्णा के चलते वे अपने ही घर में उपेक्षित होती हैं। निर्दयता से भसोटी जाती है। एक अकेली छोटी बालिका लाड़ली को ही इस घटना का दुःख है। रात के अंधेरे में वह अकेले हो जग रही है। उसके भय और साहस के द्वंद्व को रूप देती हुई कहानी की भाषा यथार्थ के तीखे दृश्य को सजीव करती है—

'चारों ओर अंधेरा था। केवल चूल्हों में आग चमक रही थी और चूल्हों के पास एक कुत्ता लेटा हुआ था। लाड़ली की दृष्टि सामनेवाली नीम की ओर गई। उसे मालूम हुआ कि उसपर हनुमान जी बैठे हुए हैं, उनकी पूंछ, उनकी गदा स्पष्ट दिखाई दे रही है। मारे भय के उसने आँखें बंद कर ली, इतने में कुत्ता उठ बैठा, लाड़ली को ढाढ़स हुआ। सोते हुए मनुष्य के बदले एक जागता हुआ कुत्ता उसके लिये अधिक धैर्य का कारण हुआ।' —बूढ़ी काकी।

शिल्प की दृष्टि में यहाँ फैंटेसी का हल्का सा उपयोग भी है पर उसके बाहर भी भाषा की सक्रियता कहानी की अर्थवत्ता को प्रकाशित करती है। यह मनोविज्ञान कहानी को जो प्रभाव दे सका है वह हृदयपरिवर्तन के अंतिम आदर्श से भी क्षीण नहीं होता।

प्रेमचंद के तीसरे विकास स्तर की कहानियाँ १९३० से ३६ के बीच लिखी गई हैं। यहाँ कहानी सांकेतिक कलात्मकता और गहरे यथार्थ अनुभव के संमिलित प्रभाव से एक विशिष्ट संवेदनात्मक धरातल को, उपलब्ध करती है। अंत की एकदो कहानियों में संवेदन-हीनता के संवेदन का ही चित्रण है। ईदगाह, नशा, अलग्गोशा, कुसुम, मिस पद्मा, पूस की रात और कफन इसी विकास स्तर की कहानियाँ हैं। 'ईदगाह' कहानी में उस मेले का वर्णन है जिससे हामिद नाम का बालक अपनी दादी के लिये चिमटा खरीद कर लौटता है—जहाँ दूसरे बच्चों ने खिलौने खरीदे या मिठाइयाँ खरीदीं। हामिद के पास पैसे नहीं थे इसलिये

उसने खिलौने नहीं खरीदे पर उसके सजग बालक मन ने चिमटे में ही खिलौने का आकर्षण पैदा कर डाला। चिमटे के पक्ष में उसकी दलोलें कहानी को एक अद्भुत अर्थ दे देती हैं। बालक जहाँ वयस्क हो गया है और दादी जहाँ बच्चों की तरह प्रतिक्रिया करती हुई रो रही है वहीं कहानी के शिल्प की सघनता सजीव हो उठी है। 'पूस की रात' कहानी में आगे चलकर उस संबंध भावना की खोज है जो मनुष्य को असहायता के क्षण में कहीं भी निर्भर होने के लिये सचेष्ट करती है। इस कहानी में भयंकर शीत से टिठुरते हुए हलकू किसान और झबरे कुत्ते के बीच एक अनोखा संबंध विकसित हुआ है। वे दोनों ठंड की रात में पत्ते इकट्ठा करते हैं। जलाकर आग सेंकते हैं और एक दूसरे की गर्मी पाकर सो जाते हैं। परिणाम यह कि सबेरे जब पत्नी आकर जगाती है, किसान का समूचा खेत साफ हो चुका है और इतना ही संतोष शेष रह गया है कि ठंड में और सोना तो नहीं पड़ेगा—स्थूल अर्थ में यह कहानी एक निराशावादी परिणति की कहानी है पर कहानी के आंतिक गठन और प्रभाव को देखते हुए अधिक विश्वसनीय कहानी है। आदर्शवाद के खंडित होने के साथ ही कहानी में अधिक यथातथ्यता का समावेश हुआ है। नए कथा शिल्प की सार्थकता इसी यथातथ्यता में है। प्रेमचंद की 'कफन' शीर्षक कहानी इस कला की अंतिम स्वाभाविक परिणति तक ले जा सकी है। इस कहानी के आरंभ में ही एक ऐसी परिस्थिति का चित्रण है जिसमें एक स्त्री प्रसव वेदना से पछाड़ खा रही है और उसका पति अपने पिता के साथ उसकी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है। मृत्यु की प्रतीक्षा एक अमानवीय व्यापार है—विक्षेप रूप से इस प्रतीक्षा में आश्वस्त और निश्चिन्त होना। पर यह समाज के सब से निचले वर्ग के निठले जीवन की समस्या है। घीसू और माधव ने संसार की चिंताओं से मुक्त रहकर और तिरस्करणीय अर्थ में परोपजीवी होकर जीवन बिताया है। वे दोनों उसे जाकर इसलिये नहीं देखते कि दूसरा आलुओं का बड़ा भाग साफ कर देगा। उनके निठलेपन से उनकी सतृष्ण चेष्टा को जहाँ संबद्ध किया गया है, वहाँ कहानीकार की व्यंग्य दृष्टि सजग है—

'दोनों आलू निकाल निकाल कर जलते जलते खाने लगे। कल से कुछ नहीं खाया था। इतना सब न था कि ठंडा हो जाने दें। कई बार दोनों की जबानें जल गईं। छिल जाने पर आलू का बाहरी हिस्सा तो बहुत ज्यादा गर्म तो न मालूम होता, लेकिन दातों के तले पड़ते ही अंदर का हिस्सा जुबान और हलक और तालु को जला देता था। और उस अंगारे को मुंह में रखने से ज्यादा खरियत इसी में थी कि वह अंदर पहुँच जाय।' —कफन।

अर्थात् वे मृत्यु की प्रतीक्षा भी कर रहे हैं और स्वाद की स्मृतियों में रस भी ले रहे हैं। कहानी के दूसरे खंड में स्त्री की मृत्यु हो गई है। वे सुनियोजित ढंग से छाती पीटने लगते हैं। जब उनके नाटक पर यथेष्ट पैसे जमा हो जाते हैं तो वे बाजार में कफन खरीदने चलते हैं। यहाँ परिस्थिति के मनोविज्ञान को लेखक ने सूक्ष्म सूक्ष्म के साथ व्यक्त किया है। पहले वे कोई हल्का कफन लेने की बात करते हैं फिर वे कफन की व्यर्थता पर सहमत हो जाते हैं। दोनों एक दूसरे के मन की बात साझा रहे हैं। तरह तरह के रेशमी सूती कपड़े देखते हुए जब शाम हो जाती है तो वे न जाने किस दैवी प्रेरणा से एक मधुशाला के सामने पहुँचते हैं और जैसे किसी पूर्वनिश्चित अवस्था से अंदर चले जाते हैं। असमंजस देर तक नहीं रहता। शराब आती है। चिखोना और मछलियाँ। और वे जवाबदेही या बदनामी की फिक्र छोड़कर

अपने खाने पीने की दार्शनिक व्याख्या करते रहते हैं। कहानी के अंत में श्रद्धालुता का रंग बदल जाता है, निराशा आ घेरती है। माघव चीखें मारकर रोने लगता है। धोसू समझाता है कि वह मायाजाल से मुक्त हो गई। दोनों नशे में नाचते गाते गिर पड़ते हैं। सब मिला कर यह कहानी एक अमानवीय प्रतिक्रिया को रूप देती है। लेखक ने तटस्थ कौशल से गंभीरता और अगंभीरता की संधिरेखा पर कहानी के अनुभव को स्थापित करने की चेष्टा की है। उद्देश्य की निर्यात को तोड़कर पहली बार कहानी ने यह आधुनिक स्वभाव उपलब्ध किया है। यह १९३६ की कहानी है। यहाँ तक आते आते कहानी घटनाप्रधान या चरित्र-प्रधान या वातावरणप्रधान जैसे चौखटों से बाहर आ गई है और कथानक, चरित्रचित्रण, कथोपकथन देशकाल जैसे निर्धारित प्रतिमान कहानी के लिये अप्रासंगिक हो चले हैं।

इसमें संदेह नहीं कि समकालीन होने पर भी प्रेमचंद और प्रसाद दो भिन्न कथाशैलियों के प्रतिनिधि हैं। एक पूरी पीढ़ी के लेखकों पर इनके प्रभाव की छायाएँ हैं। प्रेमचंद से प्रभावित लेखकों में विश्वभरनाथ शर्मा 'कौशिक', सुदर्शन (१८९६) भगवतीप्रसाद वाजपेयी (१८९९), ज्वालादत्त शर्मा, विश्वभरनाथ जिज्जा (१९०५) और प्रसाद की रचना-प्रक्रिया से प्रभावित लेखकों में चतुरसेन शास्त्री (१८९१-१९६०), विनोदशंकर व्यास (१९०३), रायकृष्णदास (१८९२-१९८०) आदि के नाम लिए जा सकते हैं। स्वतंत्र रचनाप्रक्रिया के कहानीकारों में बेचन शर्मा उग्र (१९००-१९६७) की चर्चा की जा सकती है। कौशिक ने कथानक प्रधान कहानियों के निर्माण में ही अपनी रचनादृष्टि का उपयोग किया जिनकी श्रेणी कहानी कला के प्रतिमान के अनुसार बहुत नीचो या हल्की आंकी जा सकती है। कौशिक की कहानियों में घटना को अपर्याप्त मानकर टिप्पणी देनेवाले लेखक की उपस्थिति काफी खटकती है। सुदर्शन की कहानियाँ वर्गग्रंथि से प्रभावित अवसर चेतना की कहानियाँ हैं। सुदर्शन की कहानियाँ वर्गग्रंथि से प्रभावित अवसर चेतना की कहानियाँ हैं। सुदर्शन और कौशिक की तरह ज्वालादत्त शर्मा ने भी भावात्मक सुधारवाद के उद्देश्य से हृदय परिवर्तन की स्थूल युक्तियों का सहारा लिया। भगवतीप्रसाद वाजपेयी शरत की भावुकताप्रधान कला से प्रभावित हैं। चतुरसेन शास्त्री की कहानियाँ इतिहास और रोमांस के संबंध की कहानियाँ हैं। उनका शिल्प औपचारिक है। विनोदशंकर व्यास भावात्मक रचना प्रक्रिया के लेखक हैं। इसे स्वीकार करते हुए ही उन्होंने '३२ तक की अपनी कहानियों के संकलन में लिखा है—

'कल्पना की विशाल भूमि पर कहानियों की अगणित रेखाएँ अंकित की जा सकती हैं।' विनोदशंकर व्यास की भाषा पर प्रसाद का प्रभाव प्रत्यक्ष है—

'नीलाकाश में मेघों से छिपा हुआ चंद्रमा निकल पड़ता है, चकोर उसकी प्रतीक्षा करता है, भ्रमर फूलों का रस लेता है, पतंग दीपक का आलिंगन करता है, उसी तरह मानव की तृष्ण व्यवस्था में प्रेमतंत्री बज उठती है, उसकी संकृति व्याकुल हो जाती है, वह हृदय को अनमना कर देती है और मनुष्य को पागल बनाकर सैकड़ों राहों में घुमा देती है।'²

रायकृष्णदास की कहानियाँ भी प्रतीक पद्धति पर आश्रित हैं और मानव स्वभाव के सूक्ष्म स्तरों को अभिव्यक्त करती हैं। गहुला, प्रसन्नता की प्राप्ति, अंतःपुर का आरंभ, कला और

१. भूमिका, पचास कहानियाँ, विनोदशंकर व्यास, पृ० १।

२. पचास कहानियाँ : विनोदशंकर व्यास, पृ० ४६।

कृत्रिमता, रायकृष्णदास की ऐसी ही कहानियाँ हैं, जिनकी संवेदना प्रसाद के अधिक निकट है। कमलाकांत वर्मा की कहानियाँ भी प्रसाद की संवेदना से प्रभावित हैं।

वेचन शर्मा 'उग्र' न केवल स्वतंत्र रचना प्रक्रिया के लेखक हैं, बल्कि वे हिंदी के प्रमुख और प्रथम राजनीतिक कहानी लेखक भी कहे गए हैं। उग्र की कहानी को 'क्रांतिकारी कहानी' की संज्ञा भी दी गई है। उनकी कहानी, कहानी के किसी भी निर्धारित दायरे में समा नहीं पाती। वह व्यंग्यपूर्ण निबंध या वार्ता निबंध के निकट पड़ती है। किसी भी अर्थ में उसे परिभाषित करना कठिन है—यद्यपि उसके प्रहार की दिशा निश्चित और स्पष्ट रूप से राजनीतिक है। उदाहरण के लिये उनकी कहानी 'टाम डिक, हैरी एंड कंपनी लिमिटेड' पर विचार किया जा सकता है, जिसकी गणना उग्र की श्रेष्ठ संकेतात्मक कहानियों में की गई है। यह कहानी कंपनी के शासन से संभव आर्थिक, नैतिक, सांस्कृतिक शोषण को व्यंग्यपूर्ण ढंग से प्रकाशित करती है। यद्यपि यह कहानी आगे की लिखी हुई है पर उग्र की २१ से २४ तक प्रकाशित राष्ट्रीय या क्रांतिकारी कहानी कला का व्यवस्थित उदाहरण बन गई है। कथाशिल्प का जैसा वैविध्य (संस्मरण, जीवनानुभव, स्केच, यात्राविवरण, चरित्रांकन, भावकथा, प्रतीककथा, फंटेसी आदि) उग्र में है और व्यंजनाओं, लक्षणाओं और वक्रोक्तियों से समृद्ध जैसी भाषा का प्रयोग उग्र ने किया है, उसकी कोई तुलना नहीं।

प्रेमचंद के बाद मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणमूलक और यथार्थवादी जिन दो कथाप्रवृत्तियों का विकास आगे चलकर स्पष्ट हुआ उनका आरंभ वस्तुतः प्रेमचंद के समय में ही हो चुका था। उदाहरण के लिये जैनेंद्र (१९०५) १९२८ से ही अपनी कहानियों में मनोग्रंथियों का गहरा (केवल फॉर्मूलाबद्ध नहीं) विश्लेषण उपस्थित करने लगे थे। मनोवैज्ञानिक और नैतिक प्रश्नों को एक विचारीोत्तेजक भूमिका में सुलझाने के लिये न सही, उपस्थित करने के लिये जैनेंद्र का महत्व स्वीकार किया गया है। फांसी (१९२८), ग्रामोफोन का रिकार्ड (१९३१), एक रात (१९३४), जाल्जवी (१९३६), पत्नी (१९३६)—आलोच्य समय के अंतर्गत लिखी गई जैनेंद्र की कुछ ऐसी कहानियाँ हैं, जो क्रमशः विकसित होती हुई कहानी के शिल्प, स्वरूप और भाषा से परिचित कराती हैं और अवश्य ही जैनेंद्र की रचनात्मक मानस और उनके सूक्ष्म अनुभव का प्रमाण देती हैं। 'फांसी' कहानी में शमशेर के मन की इकहरी, एकसी जटिलता को रूप दिया गया है। कर्नल या जुलैका अयथार्थ नहीं हैं पर उनकी सार्थकता कहीं औपन्यासिक मोड़ जैसी ही है। 'ग्रामोफोन का रिकार्ड' कहानी में मनोवैज्ञानिक नैतिक द्वंद्व अधिक स्पष्ट है। अपने या अपने कामकाज की दुनिया में समाए रहनेवाले पति से ऊबती हुई पत्नी की पत दूर पत आकांक्षा को अधिक सांकेतिक ढंग से उपस्थित किया गया है—यद्यपि संकेत सहजग्राह्य हैं। कहानी का आरंभ ही अपनी अधूरी आकांक्षाओं से अव्यवस्थित पत्नी के मानसिक चित्रण से होता है—'वह अंत में पलंग पर उठ बैठी। असल बैठे बैठे अंगड़ाई ली और बालों पर हाथ फेरने लगी। साड़ी का उसे पता न था और बाल अस्तव्यस्त थे। उठी, उठकर बड़े आईने के सामने गई, बाल ठीक किए, अपने से हरपाई खिजलाई। फिर अंगड़ाई ली और लौटकर वह पलंग की पट्टी पर आ बैठी।'।

आगे की कुछ पंक्तियाँ हैं—

‘उसके मन में प्रतीक्षा भरी बैठी रहती है। उस प्रतीक्षा में वह चिह्नक चिह्नक पड़ती है, अब वह आ जाएँ तो ?’.....’

‘उसके मन को थिरता नहीं थी। वह अपने को कहाँ बाँधे ? उस मन के भीतर पढ़ाई भी है और प्रेम भी है। लेकिन वह मन अपने अपने को जैसे अस्वीकृत पाता है।’.....’

कहानी में इन मनःस्थिति की अधिक व्याख्या अपेक्षित नहीं—संकेत के लिये ग्रामोफोन का एक रेकार्ड—‘उसे मन भा गया है—‘सैया तोरी गोदी में गेंदा बन जाऊँगी’—उसकी कुल आकांक्षा गेंदा बन जाने की है और पति इसी आकांक्षा के प्रति उदासीन है। परिणाम यह कि वह अपने को बिना खोए पराए व्यक्ति मनमोहन से जो कुछ पाती है, उसका रस उसे अच्छा लगता है। एक दिन अचानक ही मोहाविष्ट मनमोहन के प्रति वह तरल हो जाती है। सचेत होने पर उसे कुछ गूँझता ही नहीं और वह इतना ही कह पाती है—‘चले जाओ, नहीं तो पटक कर मैं अपना सिर यहीं फोड़ डालूँगी।’ शाम को ‘तुम मुझे प्रेम नहीं करते’ पति से इतना ही कह कर वह कुछ दिनों के लिये चली जाती है। कहानी के अंत का संक्षिप्त कथन कहानी के समूचे वस्तु को सार्थक बना जाता है। पारंपरिक अर्थ में इसमें कथानक को ढूँढ पाना कठिन है। घटना यहाँ मामूली सी है अर्थात् नगण्य है। कहानी के चरित्र का व्यवहार पहले से परिभाषित नहीं है। कहानी के भीड़ की आकस्मिक कहना भी कहानी को सरलीकृत करना होगा क्योंकि आरंभ से ही पत्नी की आकांक्षा को एकाधिक संकेतों में व्यक्त किया गया है।

जैनेंद्र की लंबी कहानी ‘एक रात’ दो व्यक्तियों (स्त्री पुरुष) के गहरे और जटिल मानसिक जगत् को समूची उद्विग्नता के साथ रूप देनेवाली कहानी है। पाठक के संतोष के लिये यद्यपि आवश्यक तथ्य दिए गए हैं (कहानी की भाषा भी तथ्य का भ्रम देने में कौशल का उपयोग करती है) —

‘जयराज की तीस वर्ष की अवस्था होगी। घुन में बँधा सदा कामकाज में रहता है.....’
अविवाहित है और उससे विवाह का प्रस्ताव करने की हिम्मत किसी को नहीं होती, जैसे उसे विवाह तो क्या मौत की फुर्त नहीं है।’
—‘एक रात’।

हरीपुर के प्रतिनिधि उसे निमंत्रित करने आते हैं। वह वादा नहीं कर सकता। उसे सभापति का भाषण पूरा करना है पर वह होल्डर से ब्लाटिंग पैड पर लिखता है—स्वराज इज आवर वर्थ राइट। गाड मेड लवर डिड ग्राउ मेक मैरेज आल्सो.....’ हरीपुर तेइस मोल, सबेरे की गाड़ी। मैं नहीं जा सकता। ओह, डैमन इफ आल ? त्वाइ मेक ए मइस्टी आफ् इट—डियर जयराज, माइंड लेस्ट.....’ फिर भी वह हरीपुर गया क्योंकि उसका निजत्व कुछ नहीं था। वह जरा भी अपना नहीं था। सभा में सुदर्शना ने उसके गले में माला डाली और स्वागतगान पढ़ा। पर वह उधेड़वुन में पड़ गया। उसने अपने मन को समझाया—‘हाँ, नाम उसका सुदर्शना है। सुदर्शना न होकर सुनयना भी हो सकती थी। तेरा भपना इसमें निजत्व उसमें कुछ नहीं है। सुदर्शना को तू सुनयना या सुलोचना हो सप्रज्ञ। बस एक इकाई। भारत के राष्ट्र की एक आदरणीय नारी.....’ वह रुक नहीं सकता। एकबार गाड़ी निकल चुकी थी। दूसरी गाड़ी पकड़ने के लिये कुछ घंटों की देर थी। वह लौट आया और इस बार जो चला तो वर्षा और हवा का जोर था—पर वह रुक नहीं सकता। कहानी के दूसरे हिस्से में उसी हरीपुर में एक छत के नीचे कुछ और घट रहा था। यह सुदर्शना थी—‘घर आकर एक चट्टाई पर बिना कपड़े बदले बैठ गई।’.....’ उसने अपने मन को वहाँ मसोस मसोस लिया पर समझ न

पड़ता था, वहाँ क्या उठ रहा है।' शाम को उसने पति से कहा—'मैं पतिव्रता नहीं हूँ।'.... तुमसे मैंने बहुत प्रेम पाया है बहुत आदर लिया है। वह सब मैंने चोरी की है। ठगी की है। —मैं अपात्र थी। आज मुझे पता चला है कि अपना सब कुछ मैं तुम पर नहीं वार चुकी। भीतर ही भीतर कुछ बच गया था, जो आज देखती हूँ, तुम्हारे चरणों में मैं अर्पण नहीं कर सकी थी।'....' पति सुदर्शना को समझना चाहते थे। वे अपने सारे ऐब छोड़ने के लिये तैयार थे। वह उसी रात में कमरे से बाहर निकली। वही वे कोई कैफियत नहीं माँग रहे थे। अंधेरी रात थी जिसने उसे जयराम के साथ कर दिया था। स्टेशन पर जयराम ने उसे कंबल में ढँक लिया। उसके निर्वस्त्र शरीर को उसने अपने में छिपा लिया। जयराम को लगा— 'चिड़िया घोंसले में अब आगम से सोई पड़ी है।' 'उसकी माँग थी और जयराम अपनी गाड़ी से नहीं जा सका। यहाँ विधि निषेध नहीं थे। सुबह हुई। सुदर्शन के भीतर प्रश्न शांत हो गए थे। वह जानती है जयराम में उसके लिये अपेक्षा नहीं है। पर यही अनपेक्षा सब कुछ है। चलते हुए वह कहती है—'मेरा प्रणाम लो जयराम और मेरे आशीर्वाद लो। क्योंकि एक बात मैं तुम्हें बतानी हूँ। मैं इसी वर्ष माता हो जाऊँगी।' और वह लौट जाती है पर कहानी में वही एक ऐसा संकेत छोड़ जाती है जिसके लिये कहानी में कोई विवरण नहीं दिया गया है। जो नहीं दिया गया है वही कहानी का वक्तव्य है और वहीं जैनेंद्र की कला है। एक लंबी कहानी भीतर की मनोगतियों को प्रत्यक्ष करती है और घटनाओं को अधिक महत्व नहीं देती। जो तथ्य दिए गए हैं वे मन के भीतर पहुँचाने के साधन ही हैं। निश्चय ही यह कहानी हिंदी कहानी की पारंपरिक युक्तियों से हटकर वहीं गई है और इसका पूरा प्रभाव वहानी के समूचे विन्यास पर अंकित है।

'जाह्नवी' भी १९३४ की वहानी है पर वहानी बी बला की दृष्टि से वहीं अधिक संगठित, आर्थिक और अर्थसमृद्ध है। यहाँ घटना की रेखा और भी क्षीण या धुंधली है। एक लड़की रोज सबेरे सबेरे छत पर कपड़े फैलाती हुई कौओं से घिर जाती है और गाने लगती है.... कागा चुन चुन खाइयो....' यह जाह्नवी है। जिससे उसके विवाह की बात तय हो रही थी उसे उसने सीधे सादे ढंग से लिखा था—'आप जब विवाह के लिये यहाँ पहुँचेंगे तो मुझे प्रस्तुत भी पाएँगे लेकिन मेरे चित्त की हालत इस समय ठीक नहीं है और विवाह जैसे धार्मिक अनुष्ठान की पात्रता मुझमें नहीं है। एक अनुगतता आपको विवाह द्वारा मिल जाएगी पर चाहिए कि वह जीवनसंगिनी भी हो। वह मैं हूँ या हो सकती हूँ इसमें मुझे बहुत संदेह है।'....'पर निवेदन है कि यदि आप मुझ पर से अपनी माँग उठा लेंगे.....तो मैं और भी कृतज्ञ हूँगी।' पत्र ने ब्रजतंदन के जीवन की गति बदल दी। उसके ठाट बाट कम हो गए। उसने निश्चय किया कि विवाह करेगा ही नहीं। करेगा तो उसी से करेगा। इस घटना पर बहुत सी कहानियाँ गढ़ ली गई। पर जाह्नवी वैसी ही रही। जाने कहाँ कहाँ से कौशों को निमंत्रित करती हुई, पर चीख मार कर कहती हुई कि ओ, कागा—नहीं, ये—दो नैना मत खाइयो।'....' प्रत्यक्ष है कि कहानी का कौशल जाह्नवी के मन की बनावट को अस्पष्ट रहने देने में है। जैनेंद्र की अस्पष्टता जैनेंद्र की कला है। मित व.यन का शिल्प कहानी की संवेदना को एकाग्र करता है। इस कहानी की अपेक्षा '३६ की कहानी 'पत्नी' अधिक स्पष्ट और तर्कसंगत कहानी है। यहाँ परिस्थिति की वास्तविकता ही कहानी की भाषा बन गई है। कलाहीनता ही यहाँ कहानी का कलात्मक स्वभाव है।

कहानी में कहीं कोई अप्रत्याशित मोड़ नहीं है। इस कहानी का कथानक संक्षिप्त है पर गीण नहीं है। किसी अभीष्ट प्रभाव तक पहुँचने के लिये यह कहानी किसी चरम सीमा पर आश्रित नहीं। जैनेंद्र ने अपनी कुछ कहानियों में फैंटेसी का प्रयोग किया है। जैसे '३३' में लिखी कहानी में—'यह सात समुंदर पार के नीलम देश की कहानी है, जिसमें राजकुमारी को किसी राजकुमार का इंतजार है। लेखक की चालाकी इस इंतजार को रहस्यमय बनाने में है—इंतजार को भी—'तू है। नहीं आया तो भी तू आ रहा है। तू आने के लिये नहीं आया है।' इसी को लक्ष्य कर जैनेंद्र को 'आत्मवादो'¹ या 'संशयवादो'² कहा गया है।

परिस्थिति के प्रति जैसी सजग मानसिक प्रतिक्रिया अज्ञेय (१९११) की कहानियों में है वैसी उनके समकालीन लेखकों में कम दिखाई देती है। मानव अस्तित्व से संबंधित मौलिक प्रश्नों को कहानी के साथ मिलाकर देखने का स्वभाव अज्ञेय को अन्य कहानीकारों से अलग करता है। अनुभव का निजी साक्षात्कार अज्ञेय के कविकर्म की विशेषता है पर वह स्वाभाविक ढंग से उनकी कहानियों में भी विद्यमान है। अज्ञेय की कहानियों की भाषाविश्लेषण को भी निजी बनानेवाली भाषा है।

यशपाल (१९०३-१९७७) के यथार्थवाद को सीमा सामाजिक, नैतिक और राजनीतिक प्रश्नों तक है। इन विविध क्षेत्रों में व्याप्त खोखलेपन को व्यक्त करने के लिये यशपाल ने उन सैद्धांतिक युक्तियों का सहारा लिया है जिनकी संगति मार्क्सवाद के साथ बैठती है। कहानी के शिल्प या कहानी की भाषा के प्रति यशपाल की कोई अतिरिक्त सजगता नहीं है। प्रायः एक आकस्मिक मोड़ ही यशपाल की कहानी को कहानी बनाता है। इसलिये रोचकता यशपाल की कहानी का गुण या मूल्य है। यह अवश्य है कि यशपाल की कहानियों के परिणाम क्षोभजनक और अप्रतीतिकर तथ्यों को प्रकाशित करते हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्व (१९१०) की कहानियाँ सामाजिक संबंधों के भीतर मानवीय सहानुभूति की कहानियाँ हैं। 'डाची' और 'गोखरू' जैसी प्रारंभिक कहानियों में ही अश्व इस सहानुभूति का गहरा प्रमाण देते हैं। 'डाची' की लालसा स्थूल ढंग से देखने पर एक पशु की लालसा है पर इसके पीछे एक व्यक्ति की पत्नी और पुत्री की गहरी लालसा भी है। पत्नी अधूरी आकांक्षा लेकर परलोक सिंधार गई। वह जिस पुत्री रजिया को पति के हवाले कर गई उसके मन में भी डाची पर सवार होने की आकांक्षा बनी हुई थी। बहुत संघर्ष करने पर बाकर ने जो डाची खरीदी वह मशीरमाल ने ले ली। जब वह लौटा तो उसके 'हाथ में साठ रुपए के नोट बेपरवाही से लटक रहे थे और अपनी झोपड़ी से आनेवाली प्रकाश की क्षोण रेखा को निनिमेष देखता हुआ वह इस बात की प्रतीक्षा कर रहा था कि वह रेखा बुझ जाय, रजिया सो जाय तो वह चुपचाप अपने घर में दाखिल हो।' कहानी कहने की कला पर अश्व का नियंत्रण है पर अश्व की कला कहानी के लिये कोई चुनौती नहीं। वह आंशिक कौशल का उपयोग करने के साथसाथ कहानी की स्वीकृति ही है। एक विशेष प्रकार का आंचलिक स्पर्श भी अश्व का वातावरण की सजीवता के लिये देते हैं। एक निर्जीव आभूषण गोखरू के लिये बहुत सजीव

१. कहानी : नई कहानी : नामवर सिंह।

२. वक्तव्य : मार्कंडेय : नई कहानियाँ, १९६२।

अनुभूति अश्व की चर्चित कहानी 'गोखरू' का विषय है। आरंभ में गोखरू से मलावी की आसक्ति का वर्णन है। पति के कारोबार में घाटा होने के कारण जब सभी आभूषण बिकते चले गए, मलावी ने गोखरू को बचा रखा। फिर यही गोखरू उसने अपनी लड़की मनसा को दिए। मनसा लौटी तो गोखरू घिसे हुए थे। मलावी उसे कोस ही रही थी कि उसका ध्यान मनसा पर गया। मनसा स्वयं घिस गई थी। यहाँ लेखक ने बड़े कौशल से मनसा और गोखरू को एकात्म कर दिया है। कुछ ही दिनों बाद मनसा मरणासन्न है। मलावी उसे लेने जाती है और आभूषणों का हिसाब करती हुई मनसा को लेकर लौट आती है। उसकी मृत्यु के बाद कुछ शेष नहीं रहता। दूर कहीं किसी लड़की का विवाह होने जा रहा है, और उसके मन की उद्विग्नता बढ़ती जा रही है। एक दिन वह भगवती ब्राह्मणी की बहू को यही गोखरू ले जाकर पहना देती है। कहानी की परिणति इस संवेत में है—'रात अब भी साँय साँय कर रही थी और दूर कहीं आकाश की ऊँचाईयों में देर का उड़ा हुआ फानूस धीरे धीरे नीचे की ओर आ रहा था।' अश्व की भाषा परिस्थिति को सहज यथार्थ बनाती है। उसे अयथार्थ या अतिरंजित यथार्थ बनाने की चेष्टा अश्व ने नहीं की है। इस यथार्थ अनुभव का भावुकता से कोई प्रत्यक्ष विरोध नहीं, बल्कि प्रारंभिक कहानियों में भावुकता ही लेखक की दृष्टि को निर्धारित करती है।

१९१८ से १९३८ के बीच का समय हिंदी कविता के क्षेत्र में छायावाद का समय है। अवश्य ही इस अवधि की सभी विधाओं में कोई समानतत्त्व ही सक्रिय रहा होगा और एक विधा के लेखकों ने, विशेष रूप से महत्वपूर्ण लेखकों ने, दूसरी विधाओं में भी अपने को अभिव्यक्त करने की चेष्टा की होगी। यह एक रोचक तथ्य है कि इसी आलोच्य अवधि में आलोचक रामचंद्र शुक्ल ने कविताएँ लिखीं और प्रसाद, निराला, पंत ने कहानियाँ। विशेष रूप से निराला ने कहानी के स्वरूप को अपने मौलिक व्यक्तित्व के अनुरूप नया बनाने की चेष्टा की। निराला की लंबी कहानी 'सुकुल की बीबी' का गद्य प्रचलित कहानी का गद्य नहीं है। वह निबंध और संस्मरण का गद्य प्रतीत होता है। इसके साथ ही इस कहानी में कहानी और वास्तविकता के बीच की रेखा अत्यंत धुंधली है। कहानी के रूपात्मक ढाँचे को चुनौती देती हुई इस कहानी का आरंभ इस प्रकार हुआ है—

'बहुत दिनों की बात है। तब मैं लगातार साहित्य-समुद्र-मंथन कर रहा था। पर निकल रहा था केवल गरल। पान करनेवाले अकेले महादेव बाबू (मतवाला संपादक)।—शीघ्र रक्त और रंभा के निकलने की आशा से अविराम मुझे मथते जाने की सलाह दे रहे थे।' (सुकुल की बीबी)। व्यंग्य इस कहानी की खास विशेषता है। सुकुल का परिचय देते हुए कहा गया है—'उन लड़कों में थे जिनका यह सिद्धांत होता है कि सर फट जाए, चोटी न कटे। मेरी समझ में सर और चोटी की तुलना नहीं आई, मैं सोचता था कि पूँछ कट जाने पर जंतु तो जीता है पर जंतु कट जाने पर पूँछ नहीं जीती, पूँछ में फिर भी खाल है, खून है, हाड़ और मांस है, पर चोटी सिर्फ बालों की है, बालों के साथ कोई देहात्मबोध नहीं।' उपमा का गद्य भी कहानी में व्यंग्यप्रेरित है। एक ओर कहा गया है—'सुकुल की आँखें रक्त मुकुल हो रही थीं' दूसरी ओर यह भी संकेत है—'.....सुकुल बहुत पढ़ता है। रात को खूँटी से बँधी हुई एक रस्सी से चोटी बाँध देता है, ऊँघने लगता है तो झटका लगता है, जगकर फिर पढ़ने लगता है।' सुकुल को प्रथम श्रेणी में सफलता मिली। अनेक वक्र संकेतों के बाद एक आधुनिका कुंआर

के साथ सुकुल के विवाह के धीरे से कहानी खत्म होती है। अंत में फिर महादेवप्रसाद सेठ का उल्लेख है। दूर की प्रासंगिकता का कथात्मक उपयोग निराला जिस प्रकार करते हैं, हिंदी कहानी उसकी अभ्यस्त नहीं रही है। कहानी के रूप की दृष्टि से निराला ने कहीं यह भी उल्लेख उत्पन्न की है कि एक ही कहानी उत्तम पुरुष से चलकर तृतीय पुरुष में बदल जाती है। १९२३ की मतवाला में प्रकाशित उनकी कहानी 'क्या कहा' में आगे चलकर निराला ने ऐसा ही परिवर्तन किया और इसे कहानी का गुण माना।

विचार किया जाय तो हिंदी कहानी के इन बीस वर्षों में रूप और अभिव्यक्ति संबंधी बहुस्तरीय विकास के संकेत देखे जा सकते हैं। इससे पहले की कहानी विस्मय और कुतूहल के जादुई लोक की कहानी थी। कहानी में घटनाओं को इतनी अतिरंजना दे दी जाती थी कि मनुष्य के अनुभव की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती थी। वास्तविकता का अर्थ था—एक ऐसा संसार जो वस्तुतः कहासी का संसार नहीं। कहानी का संसार इस संसार से परे था। अभिव्यक्ति रूप को देखन हुए जो अधिक स्थूल था पर था सब मिलाकर अय्यार्थ ही। दैवी संयोग प्रायः पहले की कहानियों का निर्णायक तत्व है। इसी अवधि में प्रवेश करती हुई कहानी ने कहानी को एक वयस्क अनुभव का विद्या बनाने की चेष्टा की। यहाँ भी सुधारवादी आदर्शवाद नामक युक्ति ने कहानी की कला को बहुत दिनों तक अवरुद्ध रखा। इस बीच मनुष्य की जिज्ञासा के क्षेत्र में कुछ बड़ी घटनाएँ घटीं। मनुष्य ने अंतर-आनुशासिक-ज्ञान को सृजन के लिये भी आवश्यक और उपयोगी पाया। मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और राजनीति, यहाँ तक कि विज्ञान ने भी रचनाकार के अनुभव जगत् को समृद्ध किया। देशकाल की चेतना ने भी इस समय के लेखक को वस्तु के प्रति अपनी दृष्टि निर्धारित करने में सहायता दी। रचनात्मक दृष्टि से इस समय को एक नए सहानुभूतिपूर्ण विवेक के उदय का समय भी कहा जा सकता है। इसके साथ ही रचनात्मक प्रक्रिया के प्रति भी इस समय के कतिपय लेखक जागरूक दिखाई देते हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद की परिस्थितियों ने सामाजिक, आर्थिक दृष्टि से भारत को भी प्रभावित किया था। १९१४ के बाद ही हिंदू राष्ट्रीयता बृहत्तर राष्ट्रीयता में घुलमिल सकी। १९२० के बाद कांग्रेस में निम्न मध्यम वर्ग का प्रतिनिधित्व हुआ। दमन के विरुद्ध संघर्ष का वातावरण विकसित होता रहा। १९३० में पूर्ण स्वाधीनता की माँग की गई जिसका कुछ परिणाम न निकला। वामपंथी शक्तियाँ जागरूक हुईं। साम्राज्यवादी शोषण की प्रक्रिया में महाजनी सभ्यता और पूँजीवाद के चेहरे स्पष्ट हुए। १९३६ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई और इसी वर्ष प्रेमचंद का निधन हुआ। सामान्य रूप से ये घटनाएँ एक युग के परिवर्तन की रेखाओं को स्पष्ट करती हैं पर कहानी के अध्ययन के इतिहास में इन्हें अप्रासंगिक कहकर नहीं टाला जा सकता। सामाजिक संबंधों के भीतर व्यक्ति की निजी संवेदनाओं और अनुभूतियों को जो विशिष्टता मिली, उसपर युग की बहुविध घटनाओं का प्रभाव था। आदर्श और यथार्थ के संघर्ष ने व्यक्ति की भूमिका को जिस अर्थ में महत्वपूर्ण बनाया वह युग की व्यापक संवेदना से प्रभावित है।

कथाशिल्प की दृष्टि से विचार किया जाय तो यही युग है, जिसने कहानी में घटना की अपेक्षा चरित्र को महत्व दिया। छायावादी कविता में जो स्थान चित्र का है, इस युग की कहानी में वही भूमिका चरित्र की है। छायावादी चित्रमयता में भी '३६ तक जाते जाते

महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। निराला के परवर्ती काव्यचित्रों में यथातथ्यता बढ़ी है। दूसरी ओर कलात्मक परिष्कार के आग्रह से कविता का चित्रविधान अधिक सूक्ष्म होता गया है। कहानी के शिल्प में भी इस प्रकार के कुछ परिवर्तन देखे जा सकते हैं। एक ओर प्रेमचंद की परवर्ती कहानियों में यथातथ्यता है, दूसरी ओर जैनेंद्र, अज्ञेय की कहानियों में उसी के साथसाथ सूक्ष्मता भी है। व्यक्ति के अनुभव को केंद्र में रखने की चेष्टा जैनेंद्र और अज्ञेय की कहानियों का लक्ष्य ही है। इन्हीं प्रयत्नों में घटना का महत्व चरित्र को, चरित्र का महत्व वातावरण को, वातावरण का केंद्रीय प्रभाव या अन्यतम गूँज को मिल सका है। उद्देश्यपरकता से कहानी उद्देश्यहीनता की ओर उन्मुख हुई है। चरम सीमा की अनुपस्थिति १९३० के बाद की कहानी को पूर्ववर्ती कहानी से अलग करती है। कहानी की भाषा क्रमशः परिवर्तन के इन्हीं बिंदुओं से प्रभावित हुई है। आरंभिक कहानियों में कहानी का गद्य इतिवृत्त का ही गद्य था। धीरे धीरे इतिवृत्त का तत्व कहानी से निकल गया। सूक्ष्म मनोगतियों को नई अभिव्यक्ति आवश्यक प्रतीत हुई। अतिरंजना या अलंकरण की भाषा कहानी की भाषा नहीं रही। काव्यात्मकता प्रसाद की कहानियों में गुण बनकर प्रकट हुई थी। आगे की कहानियों में वह कहानी की सीमा बन गई।

हिंदी कहानी के रूपगत अध्ययन के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकालते हुए ही विचार करना चाहिए कि कहानी का शिल्प अपने में सब कुछ है या कि उसे निर्धारित करनेवाली दृष्टि अधिक महत्वपूर्ण है। क्या दृष्टि ही रूप को निर्धारित नहीं करती। कहानी की शैलियों का अंतर रूपवादी अर्थ में बहुत मौलिक अंतर नहीं। संसार को देखने की दृष्टि ही कहानीकार की कला को भी निर्धारित कर सकती है। प्रेमचंद और प्रसाद, अज्ञेय और यशपाल की कहानियों का अंतर इसका प्रमाण है। कहानी में संसार के प्रति दृष्टि का अर्थ है मनुष्य के प्रति दृष्टि। यदि प्रेमचंद ने अनुभव किया कि—‘यह संसार चु.के से रामभरोसे बैठनेवालों के लिये नहीं है। यहाँ तो अंत समय तक (खटना) और लड़ना है’—तो इसका प्रभाव उनकी कहानी संबंधी चारणाओं पर पड़ना आवश्यक था। इसलिये जहाँ इस युग की कहानी की शिल्पविधि संबंधी विशेषताएँ—(कहानी की सार्थक वस्तु की पहचान, कथारस की रचनात्मक स्तर पर प्रतिष्ठा, चरित्र की सहज सूक्ष्म विशिष्टता का आकलन, आदर्श और यथार्थ का समायोजन) गिनाई जा रही हों, वहाँ कहानी में मनुष्य के प्रति विकसित होती हुई दृष्टि का भी समानांतर अध्ययन किया जाना चाहिए।

अनूदित कहानी (संवत् १९७५-१९८५ वि०)

शांतिस्वरूप गुप्त

हिंदी में कहानियों के अनुवाद की परंपरा सन् १९०० से ही आरंभ हो गई थी। हिंदी की पत्रिकाओं विशेषतः 'सरस्वती' का योगदान इस क्षेत्र में अविस्मरणीय रहेगा। बंगला गल्पों के अनुवाद 'सरस्वती' के साथ प्रारंभ हुए। प्रारंभ में अनुवादकों ने मुख्यतः शेक्सपीयर और मोलियर के नाटकों अथवा उपन्यासों के कथानकों को ही कहानी के रूप में प्रस्तुत किया; विशुद्ध कहानियों का रूपांतर अपेक्षाकृत कम किया गया। जिन नाटकों के कथानक को कहानी का रूप दिया गया वे हैं—'सिम्बेलोन', 'टेंपेस्ट', 'एथेंसवासी टाइमन', 'पेरिक्लिस', 'द्वैत्य नाइट', 'हैमलेट' और 'कमैडो ऑफ़ एरस'। टैगडॉ के अंग्रेजी उपन्यास का कहानी रूपांतर 'जीवनाग्नि' नाम से किया गया। जो० पी० श्रीवास्तव ने मोलियर के हास्य रस के नाटकों के छायानुवाद, भावानुवाद कहानी रूप में प्रस्तुत किए। इन रूपांतरित कहानियों के प्रतिपाद्य विषय थे—प्रेम, साहस और शौर्य। बीच बीच में भयानक दृश्यों की अवतारणा की गई है और व्यंग्य का सहारा भी लिया गया है। 'नरकगुलजार' ऐसी ही व्यंग्यपूर्ण कहानी है।

कुछ प्रबंधात्मक कविताओं का भी कहानी रूप में गद्यानुवाद किया गया। इनमें उल्लेखनीय हैं—टैनीसन के 'ईनक आरडन' का 'निधनराम' नाम से, मैकाले के 'ले आफ होरेशस' का 'होरेशस' नाम से तथा इन्हीं के 'वर्जीनिया' का 'कुमारी' नाम से अनुवाद। ये गद्यानुवाद मनोरंजन के लिये तो थे ही साथ ही विद्यार्थियों के लाभ को दृष्टि में रखकर भी किए गए थे क्योंकि ये पुस्तकें उनके पाठ्यक्रम में थीं। इन अनुवादों की एक विशेषता यह है कि अंग्रेजी नाम बदल कर भारतीय कर दिए गए हैं, जैसे ऐनीली का अनला, फिलिप रे का फूल राय, होरेशस का हरीसिंह, हरमोनियस का हरनामसिंह, सेक्सटस का शक्तिसिंह। अनुवाद प्रसादगुणसंपन्न शैली में किए गए हैं और जहाँ तहाँ उर्दू शब्दों—उज्ज, मुफ्त, टालमटोल आदि का प्रयोग किया गया है। प्रकृतिचित्रण में अवश्य काव्यमय भाषा का प्रयोग मिलता है।

इस काल की कहानी का उद्देश्य मनोरंजन के साथ साथ शिक्षा प्रदान करना भी था, क्योंकि अधिकतर अनुवादक कहानी को मनोरंजन का उपयुक्त साधन मानते थे। उदाहरण के लिये गिरिजाकुमार घोष उपनाम पार्वतीनंदन, जिन्होंने अमरीकन, जर्मन और अंग्रेजी कहानियों का अनुवाद किया, कहानी का लक्ष्य मनोरंजन ही मानते थे, '.....सरस्वती' में गंभीर शैली के लेख ही अधिकतर प्रकाशित होते थे। अवकाश का समय आनंद से बिताने के लिये हलके रुचिकर लेख बहुधा नहीं मिलते थे और इसी लिये उसका (पत्रिका का) एक अंश सदोष माना जाने लगा। '.....इस न्यूनता की पूर्ति के लिये.....वर्तमान ग्रंथकार ही को डरते डरते इस कार्य के लिये आगे बढ़ने का साहस करना पड़ा.....'।

इन अनूदित कहानियों में कथावस्तु तथा पात्र दोनों ही प्रधान हैं और चमत्कार घटनाओं के घात प्रतिघात में रहता है। कुछ कहानियाँ शिक्षाप्रद तथा नैतिक भी हैं जिनमें उपदेश दिया

गया है—‘भाग्य पर भरोसा नहीं करना चाहिए और सोच-विचार कर काम करने से ही सफलता मिलती है। यदि किसी एक प्राणी के चित्त में भी प्रेमरूपी बीज जमकर पर उपकार का वृक्ष बन जाय.....’

पत्रपत्रिकाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी की स्फुट कहानियों के अनुवाद पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हुए। पृथ्वीपाल सिंह ने वाशिंगटन इरविंग की ‘टेल्स ऑफ ए ट्रेवलर’ का अनुवाद किया, तो मिस मेरिया एजवर्थ की पुस्तक ‘पोपुलर टेल्स’ की एक कहानी का मर्मनुवाद ‘मूर्ख मुराद’ नाम से पुस्तक के रूप में सन् १९०६ में प्रकाशित हुआ। ग्रिम्स की पुस्तक ‘फेयरो टेल्स’ की कुछ चुनी हुई कहानियों का अनुवाद ‘कुसुमवाटिका’ नाम से संवत् १९६७ में प्रकाशित हुआ। अनुवादक थे ब्रजनंदनप्रसाद शर्मा। अनुवादक का उद्देश्य हिंदीप्रचार था, ‘.....बाइ विच दे कैन बिकम फेमिलियर’। जैसा कि उस समय की प्रवृत्ति थी भारतीय रूचि के परितोष के लिये विदेशी नामों और वातावरण में परिवर्तन किया गया है, यथा चर्च के स्थान पर मंदिर और चर्च यार्ड के स्थान पर शमशान रखा गया है।

ये कहानियाँ शिल्प की दृष्टि से ‘अलिफ लैला’ की कहानियों की याद दिलाती हैं जो आकार में बड़ी हैं और जिनमें उर्दू, फारसी कथाओं की ‘किस्सागोई’ का आश्रय लिया गया है। कहानी के अंत में कुछ लेखकों ने पद्य का प्रयोग किया है जैसे—

धर्म जित जय तित निश्चय ।

अनुवादकों ने कहीं तत्समप्रधान भाषा का प्रयोग किया है ‘विशुद्ध प्रेम स्वर्ग का पारिजात है’, कहीं मुहावरों और लोकोक्तियों का—‘सन्नाटा छा गया’, ‘यार दोस्त हवा हो गए’, वहाँ उर्दू शब्दों—मनसूबा, मुस्तैद, बेखटके, दखल, महलसरा आदि का, और कहीं अंग्रेजी शब्दों—कमोशन, पेंशन, कमेटी आदि का। कुछ अनुवादों की भाषा अशुद्ध है। राय साहब आत्माराम द्वारा अनूदित टालस्टाय की कहानियों के संग्रह ‘प्रेम प्रभाकर’ की भाषा ऐसी ही है। प्रमाणुओं (परमाणुओं), बेरबेर (बारबार), सैन (शयन), स्वेत (श्वेत) आदि शब्दों का प्रयोग अनुवाद की भाषा को दूषित बनाता है।

अंग्रेजी के समान संस्कृत के भी प्राचीन कथानकों का हिंदी रूपांतर कहानियों के रूप में उपस्थित किया गया। ‘कादंबरी’, ‘हर्ष चरित’, ‘रत्नावली’, ‘मालविकाग्निमित्र’ के कथानक पर आधारित अनूदित कहानियाँ ‘सरस्वती’ पत्रिका में १९०१ से १९०४ ई० तक प्रकाशित हुईं। इसी प्रकार ‘जैमिनि पुराण’ के आधार पर ‘चंद्रहास का अद्भुत उपाख्यान’ सरस्वती के १९०६ के मार्च अंक में प्रकाशित हुआ। अनुवादकों ने मूल कथाओं को ज्यों का त्यों ग्रहण किया है। उनका लक्ष्य कुतूहल के आधार पर मनोरंजन प्रदान करना है और अनुवादों की भाषा संस्कृत की छाप लिए समासयुक्त, तत्समप्रधान हिंदी है। अनुवादक थे—गदाधरसिंह, जगन्नाथप्रसाद त्रिपाठी तथा सूर्यनारायण दोक्षित।

हिंदी कहानी का इतिहास बंगला कहानियों के अनुवाद से प्रारंभ होता है। आरंभ में अनुवादक बंगला-भाषा-भाषी ही थे जैसे, बंगमहिला, गिरिजाकुमार घोष और भट्टाचार्य, परंतु बाद में रूपनारायण पांडेय जैसे हिंदीभाषी लेखकों ने भी बंगला से अनुवाद करने शुरू किए। यहाँ भी वही प्रवृत्ति मिलती है जो अंग्रेजी तथा संस्कृत से अनुवादों में मिलती है। विशुद्ध कहानियों के अनुवाद के स्थान पर औपन्यासिक लेखों पर आधारित कहानियाँ लिखी गईं जैसे

‘मुरला’ । सुधींद्रनाथ ठाकुर तथा चारुचंद्र बनर्जी के लेखों पर ‘राजपूतनी’ और ‘पत्नीव्रत’ कहानियाँ लिखी गईं । साथ ही विशुद्ध कहानियों के अनुवाद भी प्रचुर मात्रा में किए गए यथा रवींद्रनाथ ठाकुर की कहानियों के अनुवाद । इस काल को अन्य अनूदित कहानियों की तरह बंगला से अनूदित ये कहानियाँ भी अन्य पुरुष तथा वर्णनात्मक शैली में लिखी गई हैं और अधिकांश की भाषा तत्सम प्रधान है, यद्यपि कहीं कहीं मुहावरों तथा लोकोक्तियों के प्रयोग से उसे व्यावहारिक रूप देने का भी प्रयास किया गया है ।

उर्दू से अनूदित कहानियों में किस्से ही अधिक हैं जैसे—छवीली भटियारी, किस्सा सोदा-गर बच्चा, किस्सा चंगा चमेलो, शीरों फरहाद, सारिगा सदावृज, हातिमताई, किस्सा तोता, किस्सा तोता मैना, गुलसनोवर आदि । ये सभी कहानियाँ रस और प्रेम से भरपूर हैं, मनोरंजन के लिये लिखी गई हैं, बीच बीच में पद्य का प्रयोग हुआ है जैसे गुलसनोवर की निम्न पंक्तियाँ ‘मन मतंग मानै नहीं कानन को अतुराय । केतिक सिख अंकुश करे ताहि न नेक लखाय ।’ अनुवादकों ने त्रिरामचिह्नों के प्रयोग की चिंता नहीं की है और उर्दू के शब्दों का मुक्त प्रयोग किया है । ग्रामोण या बोलचाल की भाषा के भी यत्र तत्र दर्शन होते हैं जैसे—आके, को निरख, डुब्बी मार, दोनियो, ठीर पर था, आदि ।

इस काल में एक कथा पुस्तक गुजराती से भी अनूदित की गई है । यह है गणेशजी जेठा-भाई कृत ‘कौतुकमाला और बोधवचन’ । यह बोधपूर्ण एवं हास्यपूर्ण कथाओं का संग्रह है और स्पष्ट ही इसका उद्देश्य भी मनोरंजन तथा शिक्षा प्रदान करना है ।

सारांश यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक हिंदी में अनूदित कहानियों के विषय थे प्रेम, जादू और तिलस्म । अधिकतर प्रणय और रोमांस अथवा अद्भुतरम्य-तत्व पर आधारित कहानियों के ही अनुवाद किए गए क्योंकि उस समय के पाठकों की रुचि वैसी ही थी । परंतु बीसवीं शताब्दी में जैसे जैसे पाठकों की रुचि का परिष्कार हुआ, उनका दृष्टि क्षितिज विस्तीर्ण हुआ, कहानियों के विषय भी बदले ।

अद्भुत और जासूसी कहानियों के अनुवाद को परंपरा संवत् १९७५ वि० के बाद भी चलती रही । लेगलाफ और आर्थर कानन डायल की अनेक कृतियों का ‘जासूसी कहानियाँ’, ‘अफोम का अड्डा’, ‘भयंकर भेद’ नाम से अनुवाद ऋषभचरण, सुकुमार चट्टोपाध्याय आदि ने किया । प्रभातकुमार मुखर्जी की पुस्तक ‘पत्र पुष्प’ में संगृहीत बंगला कहानियों में भी कुछ कहानियाँ जासूसी थीं जिनका हिंदी में अनुवाद हुआ । श्यामाचरण डे की पुस्तक ‘बंगेर कथा’ की कहानियों में, जिनका हिंदी अनुवाद जनार्दन झा ने ‘अद्भुत कथा’ नाम से किया, अद्भुत तत्व प्रचुर मात्रा में हैं । उनमें राक्षस, राक्षसी, पक्षी आदि पात्र हैं और अद्भुत तत्व तथा चमत्कारपूर्ण प्रसंगों की योजना ने उन्हें पाठकों के लिये चित्ताकर्षक बना दिया है । पत्रिकाओं में भी अद्भुत तत्ववाली, जासूसी ऐयारी कहानियों के अनुवाद समय समय पर प्रकाशित होते रहे । ‘सरस्वती’ में प्रकाशित चारुचंद्र चट्टोपाध्याय की ‘नर कंकाल’, हाथान की ‘जीवन रहस्य’ पांचूलाल घोष की ‘पाप की चोरी’ आदि कहानियाँ इस प्रकार की हैं ।

दूसरा मुख्य विषय जो इस काल की अनूदित कहानियों में मिलता है वह है पारिवारिक जीवन और सामाजिक समस्याएँ । प्रभातकुमार मुखोपाध्याय का कहानी संग्रह ‘मणिमाला’ सामाजिक और पारिवारिक कहानियों का ही संकलन है । ‘सरस्वती’ में भी शिक्षाप्रद

पारिवारिक कहानियाँ प्रकाशित होती रहती थीं जैसे युगलकिशोर नारायण सिद्ध द्वारा बंगला से अनूदित कहानी 'अपना और पराया।' इनमें से अनेक में स्त्री जाति के त्याग के आदर्श चित्र प्रस्तुत किए गए हैं और पाठिकाओं को पतिभक्ति, त्याग और बलिदान की शिक्षा दी गई है।

कृष्णलाल वर्मा द्वारा अनूदित बंगला गल्पों का संग्रह 'गृहणीगौरव' एवं 'दर्पपूर्ण' ऐसी ही हैं। दहेज, बालविवाह, विधवा आदि की समस्याएँ संपूर्ण हिंदू समाज में थीं। अतः इनपर हिंदीतर भाषाओं में भी कहानियाँ लिखी गईं और उनका हिंदी में अनुवाद हुआ। श्री माधवय्या की रचना जिसका अनुवाद श्रीमती आर० रंगनायकी देवी ने हंस बन गया कौआ' शीर्षक से किया दहेज और बाल विवाह की समस्या से ही संबद्ध कहानी है।^१ लीलावती मुंशी की कहानी 'पतन को एक करुण कथा' में विधवा के कष्टों का मार्मिक चित्रण है। वेश्या का सहानुभूतिपूर्वक चित्रण भारतीय भाषाओं से अनूदित कहानियों में तो मिलता ही है, जापानी भाषा से एक अनूदित कहानी 'नर्तकी'^२ में भी उसके प्रति सहानुभूति प्रकट की गई है। समाज के उपेक्षित, पददलित निम्न श्रेणी के लोगों का जीवन रूसी कहानियों में चित्रित हुआ। ऐसी कहानियाँ भी हिंदी में अनूदित हुईं। इनमें गोर्की का कथासंग्रह 'शेलकश' जिसका अनुवाद संवत् १९८६ में श्रीकांत द्वारा किया गया, प्रमुख है। कदाचित् उससे प्रेरित होकर और गांधी जी के हरिजन आंदोलन से प्रभावित हो भारतीय भाषाओं में भी अस्पृश्य जातियों की सामाजिक दुखस्था के चित्र अंकित किए गए। हरिजनों की कुंठा, हीन भावना आदि का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया। श्री राजगोपालाचार्य की तमिल कहानी 'मां बाप' का विषय हरिजन युवक की हीन भावना ही है। इस कहानी का हिंदी अनुवाद श्रीमती जी० तजम्मा ने 'हंस'^३ पत्रिका में किया। मलयालम से अनूदित कहानी 'एक बूंद पानी'^४ में अछूतों की दुर्दशा और उनपर होनेवाले अत्याचारों का करुणोत्पादक चित्रण है। औद्योगीकरण की समस्या और मिलजीवन से संबद्ध कहानियों के हिंदी अनुवाद भी इस काल में किए गए। श्री राजगोपालाचार्य की अनूदित कहानी 'देवसेना'^५ में मिल-मजदूरों की गरीबी, मिलमालिकों का मजदूरनियों के प्रति दुर्व्यवहार और मिल का दमघोट वातावरण चित्रित किए गए हैं। असमिया कहानियों के अनुवाद 'दरिद्र दंपति' में यदि हृदय-द्रावक गरीबी का चित्रण है जिसके कारण दंपति विष खाकर आत्महत्या करने को बाध्य होते हैं, तो मराठी से अनूदित कहानी 'बीड़ीवाली' में सिग्रेट की मिल खुल जाने से हाथ से बीड़ी बनानेवालों पर क्या दुष्प्रभाव पड़ता है, किस प्रकार धंधा समाप्त होने से उनको अभाव और कष्ट का जीवन बिताना पड़ता है—इसका चित्रण किया गया है; अप्रत्यक्ष रूप से लेखक औद्योगीकरण के अमिश्रण का संकेत दे रहा है। कतिपय अनूदित कहानियों में राष्ट्रीय गौरव का भाव जगाया गया है और देशभक्ति की प्रेरणा दी गई है। रवींद्रनाथ ठाकुर के संग्रह

१. हंस, अप्रैल, १९३६।

२. माघुरी, मार्च, १९३७।

३. हंस, जून, १९३६।

४. वही।

५. विशाल भारत, नवंबर, १९३७।

‘गल्पगुच्छ’ की कई कहानियाँ राष्ट्रीय गौरव का भाव जगानेवाली हैं, उनमें अंग्रेजों की चाटुकारिता न करने की बात कही गई है। श्रीराम शर्मा की कहानी ‘बरदान’ में, जो अंग्रेजी लेखिका श्रीमती श्रेनर की कहानी पर आधारित है, एक ऐसे देशभक्त युवक के त्याग की गाथा है जो नारीमोह त्यागकर देश के कार्य में लग जाता है। निश्चय ही इस कहानी का उद्देश्य युवकों में देशभक्ति का भाव उत्पन्न करना है। सारांश यह है कि इस काल में अनूदित अनेक सामाजिक कहानियों के विषय हैं—गरिब-जीवन, वेश्या, दहेज, बाल-विवाह, विधवा, अछूत, मिलमजदूर, औद्योगीकरण के दोष आदि।

कतिपय अनूदित कहानियों में प्रदेश विशेष के जीवन, रीतिरिवाज, प्रथा आदि से परिचित कराया गया है। तेलुगु कहानी के अनुवाद ‘गोदावरी भी हँस पड़ी’ में बताया गया है कि आंध्र प्रदेश में संक्रांति का त्योहार कैसे मनाया जाता है। मलयालम से अनूदित कहानी ‘तरबड’ में वहाँ की एक प्रथा तरबड का चित्रण है जिसके अनुसार वंश पिता से न चलकर माता से चलता है। रूसी भाषा से अनूदित कहानियों में रूस के समाज का चित्रण मिलता है। ‘नवधू’ में जार के अत्याचार और उनसे प्रपीड़ित नवदंपति के साइबेरिया भाग जाने की कथन कहानी है, तो टालस्टाय की पुस्तक ‘महापाप’ में रूस के समाज का चित्रण है और चैखव के ‘काला पुरोहित’ में समसामयिक जीवन के यथार्थ चित्रण के साथ साथ तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं के समाधान का मार्ग बताया गया है। टालस्टाय की कहानियों में सच्चे प्रेम का आदर्श, विवाह की समस्याएँ और व्यभिचार के कारणों आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। उनके माध्यम से लेखक ने धार्मिक और नैतिक तत्त्वों पर प्रकाश डाला है। भारतीय लेखकों ने भी पश्चिम के जीवन की झलकियाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया जैसे प्रभातकुमार मुखर्जी ने अपने कहानीसंग्रह में जिसका अनुवाद हिंदी में ‘देशी और विलायती’ नाम से हुआ। परंतु इस क्षेत्र में अधिकतर कार्य विदेशी कहानियों में ही हुआ और उन्हीं के अनुवाद से हिंदी पाठकों को विदेशी समाज और जीवन के विभिन्न पहलुओं का परिचय मिला। ‘द वेल्ड मैन’ की कहानियों के अनुवादों—‘रेगिस्तान की रानी’ तथा ‘हवाई किला’ में अफ्रीका के रेगिस्तान और वहाँ के जीवन का परिचय मिलता है, तो ‘माधुरी’ में प्रकाशित ‘माकर चूड़’ का विषय जिप्सी जीवन है। इसी पत्रिका में प्रकाशित रूसी कहानी ‘झंडोवाला’ में तुर्किस्तान की लड़ाइयों का चित्रण है। जावा द्वीप के किसानों की स्थिति का परिचय हमें डच भाषा से अनूदित कहानी ‘बगावत’ में मिलता है। इस प्रकार अनेक विदेशी कहानियों से हमें विदेशी जीवनपद्धति और वहाँ की समस्याओं का ज्ञान होता है।

मनोवैज्ञानिक कहानियों का अनुवाद भी इस काल में प्रचुर मात्रा में हुआ। रवींद्र की अनेक कहानियाँ, जिन्हें ‘मानव के अंतर्जगत का रहस्यागार’ कहा गया, हिंदी में अनूदित हुईं। उनकी सुप्रसिद्ध रचना ‘काबुलीवाला’ एवं ‘होम कमिंग’ ऐसा ही कहानियाँ हैं जिनमें भावों के जोते-जागते चित्र बड़ी कुशलता से अंकित किए गए हैं। इटालियन कहानी ‘पुरुष का हृदय’ में पुरुष-हृदय में उठती हुई भावोन्मिश्रता का विश्लेषण है, उसके हृदय में उठते द्वंद का चित्रण है कि किस प्रकार नर्स से प्रेम करता हुआ भी पुरुष अस्पताल में प्रसव के लिये आई पत्नी को बचाने के लिये कठिन निर्णय करता है कि भले ही शिशु मर जाय, पत्नी बच जाय। मलयालम से

अनूदित 'चोर की चिट्ठी' में लेखक चोर के हृदय का विश्लेषण करता हुआ विक्टर ह्यूगो के समान इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि परिस्थितियों से विवश होकर ही व्यक्ति पाप मार्ग पर अग्रसर होता है। 'माधुरी' में प्रकाशित फ्रेंच कहानी के अनुवाद 'बदला' में एक ऐसी स्त्री का चित्रण है जो प्रतिशोध की आग में जलती हुई अपने बच्चे की हत्या द्वारा शत्रु नेपोलियन के सैनिकों को मार उनसे बदला लेती है। बाल मनोविज्ञान से संबद्ध कहानियों के अनुवाद भी इस काल में हुए। असमिया कहानी 'मेलानि' में बालिका के हृदय पर छोटीसी घटना के आघात का चित्रण है, तो मराठी कहानी 'कुत्ते का पट्टा' में बालिका के पालतू कुत्ते के प्रति प्रेम और उसके अभाव में उसकी पीड़ा एवं तज्जन्य बीमारी का वर्णन है। सारांश यह है कि कुछ अनूदित कहानियों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी हमें मिलता है। जानवरों से संबंधित बालोपयोगी कहानियों के अनुवाद भी हुए। ज्ञानेंद्रमोहनदास की ऐसी ही बंगला कहानियों का जनार्दन झा ने 'अद्भुत कहानियाँ' नाम से अनुवाद किया। कालिंदीचरण पाणिग्राही की उड़िया कहानी 'मांस का विलाप' भी जानवरों के परस्पर संबंधों पर लिखी एक अत्यंत भावपूर्ण कहानी है जिसमें पड़ोसी हिरन के मरने पर कुत्ते का शोक प्रकट किया गया है। लगभग इसी विषय पर एक पोलिश कहानी का अनुवाद 'गोधूलि' नाम से 'माधुरी' में हुआ जिसमें घोड़े को मरते हुए देख कर कुत्ते की अंतर्व्यथा का चित्रण हुआ है।

जिन विदेशी भाषाओं की कहानियों का इस काल में हिंदी में अनुवाद हुआ वे हैं—अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी, डच। यद्यपि कुछ अन्य देशों जैसे यूगोस्लाविया, डेन्मार्क, जर्मनी, पोलैंड, बेलजियम, जापान आदि की कहानियों का भी हिंदी में अनुवाद हुआ, पर वे अंग्रेजी के माध्यम से ही रूपांतरित हुई क्योंकि प्रथम तो अनुवादक अंग्रेजी के अतिरिक्त अन्य विदेशी भाषाओं के जानकार न थे, दूसरे इन सब भाषाओं की कहानियों के अनुवाद उन्हें अंग्रेजी में ही उपलब्ध थे और उनके लेखकों की ख्याति का पता उन्हें अंग्रेजी पुस्तकों, समाचारपत्रों तथा पत्रपत्रिकाओं के माध्यम से ही चला था। जिन अंग्रेजी कहानी लेखकों की रचनाओं का अनुवाद हुआ उनमें आर्थर कानन डायल, एफ० डब्ल्यू० बेन, एच० जी० वेन्स, विलियम ली० विवक्स, ऑस्कर वाइल्ड, टॉमस हार्डी, गाल्सवर्थी, आर० एल० स्टोवेंसन, ओ० हेनरी प्रसिद्ध हैं। फ्रांसीसी कथा-लेखकों में से मोपांसा, ए० आई० फ्रांसिस, हेनरी बारबोरस की कहानियों के अनुवाद हुए। टालस्टाय, चेखव, गोर्की, तुर्गनेव और दस्तवस्की उन रूसी कहानी लेखकों में अग्रगण्य हैं जिनका अनुवाद हिंदी में हुआ। इन यूरोपीय भाषाओं से अनुवाद करनेवालों में प्रमुख थे—अनंतप्रसाद विद्यार्थी, मदनगोपाल, इलाचंद्र जोशी और सत्यकेतु विद्यालंकार (फ्रेंच से); राय साहब आत्माराम, चंद्रगुप्त विद्यालंकार, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, श्री नीरव, अमृतलाल नागर, श्रीकांत (रूसी भाषा से) तथा ऋषभचरण, जैन, कन्हैयालाल, कार्तिकेयचरण मुकुर्जी, श्रीगोपाल नेत्रटिया, चंद्रगुप्त विद्यालंकार तथा रूपनारायण पांडेय (अंग्रेजी से)।

जिन भारतीय भाषाओं से हिंदी अनुवाद हुए, वे थीं—उर्दू, बंगला, मराठी और गुजराती, यद्यपि पत्रिकाओं में कभी कभी अन्य भाषाओं—तमिल, तेलगु, मलयालम, कन्नड, असमिया, उड़िया आदि भाषाओं की कहानियों के अनुवाद भी प्रकाशित हो जाया करते थे। बंगला कहानीकारों की कहानियों का सर्वाधिक अनुवाद हुआ क्योंकि सर्वप्रथम हिंदीभाषी बंगला साहित्य से परिचित हुए। बंगला कथाकारों में रवींद्र, शरत्चंद्र, प्रभातकुमार मुखर्जी, संजीवचंद्र

चट्टोपाध्याय की कहानियों के सर्वाधिक अनुवाद हुए, यद्यपि कुछ संग्रह ग्रंथ भी इस काल में प्रकाशित हुए जिनमें विभिन्न बंगला कथाकारों की कहानियों के अनुवाद संगृहीत हुए हैं। 'मंजरी', 'चित्रावली', 'अद्भुत कथा', 'सप्त सुमन' ऐसे ही कथासंग्रह हैं। मराठी और गुजराती से अपेक्षाकृत कम अनुवाद हुए। पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाली अनूदित कहानियों के अतिरिक्त पुस्तकाकार रूप में कुछ ही कहानी संग्रहों का प्रकाशन इस काल में हुआ। इनमें मराठी से विनायक सदाशिव सुखणकर की 'बंदेमातरम्' तथा गुजराती से गांधी जी की 'तीन रत्न' और गणेशजी जेठाभाई की 'कौतुकमाला और बोधवचन' उल्लेखनीय हैं। बंगला से अनुवाद करनेवालों में रूपनारायण पांडेय, धन्यकुमार जैन, ब्रजनंदन प्रसाद, लल्ली प्रसाद पांडेय, रामचंद्र वर्मा, नाथूराम प्रेमी, कृष्णलाल वर्मा के नाम अग्रगण्य हैं।

इस काल में कहानियों के अनुवाद कार्य में सर्वाधिक योगदान पत्र पत्रिकाओं ने दिया। वैसे भी छोटे आकार के कारण पत्रिकाओं में कहानी का प्रकाशन सुगम होता है और पाठक भी चाहते हैं कि उनका मनोरंजन करने के लिये पत्रिका में दो चार कहानियाँ अवश्य हों। यद्यपि केवल कहानी प्रकाशित करनेवाली पत्रिकाएँ इस काल में नहीं थीं, तथापि सभी पत्रिकाएँ दो चार कहानियाँ अपने प्रत्येक अंक में प्रकाशित करती थीं जिनमें कभी कभी विदेशी अथवा इतर भारतीय भाषा से अनूदित कहानी भी होती थी। जिन पत्रिकाओं ने इस कार्य में योगदान दिया—वे हैं सरस्वती, सुधा, माधुरी, हंस, विशाल भारत और वीणा। इन पत्रिकाओं में से कुछ ने कहानी विशेषांक निकाले और उनमें हिंदी कहानियों के अतिरिक्त विदेशी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की अनूदित कहानियों को प्रकाशित किया गया। 'माधुरी' का मार्च १९३७ ई० का अंक ऐसा ही है। इसमें फ्रांस, जापान, रूस, इंग्लैंड, अमरीका, यूगोस्लाविया, जर्मनी, डेन्मार्क, पोलैंड, बेलजियम आदि विदेशों की कहानियों के साथ साथ भारतीय भाषाओं—बंगला, उर्दू, मराठी और कन्नड़ से अनूदित कहानियाँ भी हैं। विदेशी कहानियाँ निश्चय ही अंग्रेजी के माध्यम से अनूदित होकर आई हैं। 'हंस' पत्रिका ने विशेषांक निकालने के अतिरिक्त एक और योजना अपनाई जिसके अनुसार पत्रिका के अलग अलग खंडों में इतर भारतीय भाषाओं के शीर्षक देकर उनके अंतर्गत लेख, कहानी, कविता आदि प्रकाशित होते थे। इस खंड में प्रायः गुजराती, मराठी, बंगला, तामिल, तेलगु, मलयालम, असमिया आदि भाषाओं की सुंदर कृतियों के विशेषतः कहानी के अनुवाद प्रत्येक अंक में प्रकाशित होते थे। 'सरस्वती' पत्रिका में 'मुक्ता मंजूषा' शीर्षक खंड में भी हिंदीतर भाषाओं की कृतियों का अनुवाद या उनकी समीक्षा होती थी। इसमें भी अनेक कहानियाँ अनुवाद रूप में प्रकाशित हुईं।

अनुवाद कार्य का श्रेय पत्रपत्रिकाओं के अतिरिक्त कतिपय प्रकाशन एजेंसियों को भी है जिनमें हिंदी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता (टालस्टॉय की कहानियाँ), हिंदी ग्रंथ रत्नाकर, बंबई (बंगला कहानियाँ), इंडियन प्रेस, प्रयाग (टैगोर की कहानियाँ), गंगा ग्रंथागार, लखनऊ, पुस्तक सदन, बनारस (गोर्की एवं मोपासा), साहित्य मंडल, दिल्ली (कानन डायल), विश्व-साहित्य ग्रंथमाला, लाहौर (तुर्गेनेव, मोपासा तथा यूरोप की श्रेष्ठ कहानियाँ) पुस्तक मंदिर काशी, सरस्वती प्रेस, बनारस के नाम उल्लेखनीय हैं।

१९७८ वि० तक आते आते कहानी अत्यंत लोकप्रिय हो गई थी। पत्रपत्रिकाओं द्वारा हिंदी कहानी संपन्न हो रही थी, पर हिंदी कहानियों की पुस्तकें कम ही थीं। रवींद्रनाथ टैगोर की

कहानियों का अनुवाद 'मंजरी' नाम से प्रकाशित करते हुए उसका संपादक वक्तव्य में लिखता है, 'हिंदी संसार में आजकल गल्पें बहुत सर्वप्रिय हो रही हैं। १५ वर्ष पहले हिंदी का भांडार इनसे बिल्कुल सूना था, लेकिन अब उसी में इनकी खूब वृद्धि हो रही है। सभी अच्छे अच्छे मासिकपत्र गल्पों से विभूषित रहते हैं। लेकिन खेद की बात है कि हिंदी में गल्प पुस्तकें बहुत ही कम देखने में आती हैं—अभी तक इस विषय की केवल ५-६ पुस्तकें ही प्रकाशित हुई हैं। यही देखकर हमने यह गल्पसंग्रह प्रकाशित किया है....'।^१ उस समय यह धारणा थी, जो बहुत अंशों में ठीक हो थी, कि अनुवादों द्वारा ही हमारे साहित्य की समृद्धि होगी, लेखकों को नई दृष्टि, नए विषय और नया शिल्प मिलेगा। कानन डायल की कृति का 'भयंकर भेद' नाम से अनुवाद करते हुए ऋषभचरण जैन इसी प्रकार का मतव्य प्रकट करते हैं, 'जबतक हजारों लाखों उत्तम ग्रंथों का अनुवाद हिंदी में प्रकाशित नहीं किया जाता, हमारा साहित्य कभी उत्फुल्ल नहीं हो सकता....'।^२

हिंदी कथा साहित्य की इस कमी को दूर करने के साथ साथ अनुवाद करने के पीछे एक कारण विश्व साहित्य के प्रति उत्सुकता तथा उससे हिंदी पाठकों को परिचित कराने की आकांक्षा भी थी। हिंदी में अधिकांश अनुवाद बंगला से थे। पाश्चात्य कहानियों के अनुवाद हिंदी में बहुत कम निकले थे। उदाहरण के लिये, जगत्प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक मोपांसा की रचनाओं का अनुवाद १९२९ ई० तक हिंदी में तो क्या, अन्य भारतीय भाषाओं में से भी किसी में नहीं हुआ था। इसी अभाव की पूर्ति के लिये श्रीगोपाल नेवटिया ने संवत् १९८८ में 'योरप की कहानियाँ' नामक संग्रह प्रकाशित किया जिसके लिये उन्होंने दो पुस्तकों से सहायता ली—'ग्रेट शॉर्ट स्टोरीज ऑफ द वर्ल्ड' तथा 'ग्रेट शॉर्ट स्टोरीज ऑफ डॉल नेशन्स'। रूसी लेखक चेखव की सात अमर कहानियाँ 'पाप' नामक संवलन में प्रकाशित करते हुए प्रकाशक लिखता है, 'विश्व-साहित्य ग्रंथमाला के पहले सेट में संसार के चार महान लेखकों (चेखव, तुर्गनेव, हाईन्स, मोपांसा) की कहानियों के पृथक् पृथक् संग्रह प्रकाशित किए जा रहे हैं।' उनका विश्वास था कि विदेशी कथा साहित्य पढ़कर हिंदी पाठकों और लेखकों दोनों की दृष्टि अधिक व्यापक और उदार बनेगी। साथ ही निकम्मी पुस्तकों के अनुवाद के कारण इज्जत में जो बट्टा लग रहा था, वह भी दूर हो जाएगा। 'पिस्तोल का निशाना' नामक रूसी कहानियों के संग्रह की भूमिका में लेखक यही आशा प्रकट करता है, 'हिंदी जगत् का दृष्टिकोण अधिक उदार और व्यापक बनेगा।'।^३ 'रवींद्र कथा कुंज' के निवेदन में नाथूराम प्रेमी भी यही आशा व्यक्त करते हैं, 'साहित्यसेवी सुजनों को अपना प्रतिभा को विकसित करने के लिये श्रेष्ठ सामग्री मिलेगी।' अमृतलाल नागर ने चेखव की कृति का अनुवाद 'काला पुरोहित' नाम से इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर किया कि उसे पढ़कर पाठक तात्कालिक रूसी जीवन से परिचित हो सकेंगे और यदि संभव हुआ तो अपना सामयिक, राजनीतिक एवं सामाजिक समस्याओं का समाधान भी पा सकेंगे।

जासूसी कहानी के संबंध में लोगों की यह धारणा थी कि वह हीन कोटि का कथा साहित्य है और उसमें लिखने के लिये मेधा, कोशल या साहित्यिक सुखि की अपेक्षा नहीं है। इस

१. रूपनारायण पांडेय, मंजरी, वक्तव्य, पृ० ६।

२. ऋषभचरण जैन, भयंकर भेद, जरा सा परिचय।

३. 'पिस्तोल का निशाना', भूमिका, पृ० ६।

मिथ्या धारणा को दूर करने के लिये भी कुछ लोगों ने विदेशी कहानियों के अनुवाद किए। आर्थर कानन डायल की जासूसी कहानियों का अनुवाद करते हुए सुकुमार चट्टोपाध्याय इसी भ्रांति को दूर करते हुए लिखते हैं 'हिंदी में जासूसी कहानी लेखकों का अभाव है।.....इन कहानियों को पढ़कर उनका भ्रम दूर हो जाएगा और वे समझेंगे कि सफल जासूसी कहानी लिखना कितना दुरूह कार्य है।' अनुवाद करने के पीछे एक प्रधान कारण मूल कहानी लेखकों की प्रसिद्धि, लोकप्रियता और विश्वविश्रुतता थी। आर्थर कानन डायल अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके थे, रूसी लेखक चेखव की कहानियाँ उनके जीवनकाल में ही संसार की इसकीस भाषाओं में अनूदित हो चुकी थीं। तुर्गनेव भी अत्यंत लोकप्रिय लेखक था। 'अंग्रेजी में तो उनकी एक भी कृति अनूदित होने से नहीं बच पाई।' ^१ जर्मनी के विद्वान लेखक टॉमस मान नोबल पुरस्कार विजेता थे, अतः उनकी ओर ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। यही कारण है कि उनकी कहानी का अनुवाद रामावतार शर्मा ने 'रेल दुर्घटना' नाम से किया और 'सरस्वती' पत्रिका के मई १९३० के अंक में वह प्रकाशित हुआ। विदेशी लेखकों की ही नहीं भारतीय लेखकों की कहानियों के अनुवाद का भी एक कारण इनकी प्रसिद्धि था। रवींद्रनाथ ठाकुर नोबल पुरस्कार प्राप्त कर ही चुके थे। शरत्चंद्र, प्रभातकुमार मुखर्जी भी अत्यंत लोकप्रिय कथा लेखक थे और उनकी कृतियों का अनुवाद मराठी तथा गुजराती में हो चुका था। उर्दू से जो कहानियाँ, विशेषतः खाजा हसन निजामी की कहानियाँ, अनूदित हुईं उनके पीछे उनकी लोकप्रियता के अतिरिक्त इतिहासरक्षा का भाव भी था। वे अंग्रेजी, गुजराती और मराठी में अनूदित हो चुकी थीं और १८५७ ई० की क्रांति के संबंध में प्रचुर सामग्री प्रदान करती थीं, बहुत से तथ्यों पर प्रकाश डालती थीं। इसी लिए उनकी अनेक कथापुस्तकों—गदर की कहानियाँ, मुगलों के अंतिम दिन, बेचारे अंग्रेजों की विपदा, बेगमों के आंसू—का हिंदी अनुवाद किया गया। अनुवादक थे—चतुरसेन शास्त्री, उमरावसिंह, बलखंडी दीन, और नवजादिकलाल श्रीवास्तव। उर्दू से एकाध पुस्तक का अनुवाद अंग्रेजी अधिकारियों की प्रेरणा और उनके सुझाव से भी हुआ। जिस प्रकार गुजराती के लेखक नंदशंकर तुलजाशंकर मेहता को अपना उपन्यास 'करणघेलो' लिखने की प्रेरणा स्कूल इंस्पेक्टर रसेल साहब से मिली थी, उसी प्रकार 'मनमुखी और सुंदर सिंह' का उर्दू से हिंदी में उल्था करने की प्रेरणा अनुवादक को पाठशालाओं के अधिकारी मेजर हालराइड से मिली।

अनुवादकों को यह ज्ञान था और उनमें इतना विवेक भी था कि मूल कृति के मूल भावों की अनुवाद में यथेष्ट रक्षा होनी चाहिए और इसकी चेष्टा भी उन्होंने की। रवींद्र कथा कुंज के अनुवादकों नाथूराम प्रेमी और बाबू रामचंद्र वर्मा ने भूमिका में लिखा है, 'प्रयत्न किया गया है कि अनुवाद मूल के सर्वथा अनुरूप हो और मूल के भाव अविच्छिन्न रूप में प्रकाशित हों।' वे अपने कार्य की कठिनाइयों से भी अवगत थे। टालस्टाय की दो कहानियाँ—'पोलीकुश' और 'क्रूजर सोनाटा' का हिंदी अनुवाद 'महापाप' पुस्तक में देते हुए अनुवादक ने बताया है, 'मूल लेखक के भावों की रक्षा का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए पर यह हमें संभव और आवश्यक दिखाई नहीं देता कि अनुवाद ज्यों का त्यों हो।' यही बात चंद्रगुप्त विद्यालंकार ने हार्डी की कहानियों का अनुवाद 'विवाह की कहानियाँ' नाम से प्रस्तुत करते

हुए उसकी भूमिका में कही है, 'इन कहानियों का मेने शब्दानुवाद नहीं किया। मेरी राय में शब्दानुवाद मूल लेखक के भावों को सजीव नहीं रहने देता और कहीं कहीं तो इसके द्वारा मौलिक भावों की हत्या तक हो जाती है'—यथासंभव मैंने लेखक का एक भी भाव इस अनुवाद में छोड़ा नहीं और यहाँ तक कि मूल कहानी के प्रत्येक महत्वपूर्ण शब्द के गंभीर भाव को भी इस अनुवाद में समाविष्ट करने का प्रयत्न किया है।' सारांश यह है कि अधिकांश अनुवादकों ने अविकल अनुवाद करने की चेष्टा नहीं की है—कदाचित् यह संभव ही नहीं है। जिन्होंने शब्दानुवाद करने का प्रयास किया वे शीघ्र ही इसके दोषों से परिचित हो गए। आर्थर कानन डायल की पुस्तक का अनुवाद 'भयंकर भेद' के रूप में करते हुए प्रकाशक उगके निवेदन में स्वीकार करता है, इस कहानी का अविकल अनुवाद करने का ही प्रयत्न किया गया है, बल्कि इसी कारण इसमें कहीं कहीं विलेखता आ गई है।' अधिकतर अनुवादकों ने विदेशी भाषाओं की कहानियों का अनुवाद करते समय भारतीय पाठकों की रुचि के लिये तथा कहानी को अधिक बोधगम्य बनाने की दृष्टि से मूल कहानी के पात्रों एवं स्थानों के नामों तथा वातावरण का भारतीयकरण कर दिया है। इतना ही नहीं, कहीं कहीं तो कहानी के विदेशी नाम के स्थान पर उसे भारतीय नाम दिया गया है। टालस्टाय की कहानी 'पोलीकुश' और 'कूजर सोनाटा' को क्रमशः 'रंगरूट' और 'महापाप' नाम दिए गए हैं। इसी प्रकार उनकी अन्य दो कहानियों के नाम हैं—'राजपूत कैदी' और 'सूरत का चायखाना।' यह नाम परिवर्तन विदेशी कहानियों तक ही सीमित नहीं है, बंगला की कहानियों के भी नाम बदल दिए गए हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रसिद्ध कहानी 'काबुलीवाला' को 'गल्पगुच्छ' में 'परदेसी' नाम से और उन्हीं की 'होम कर्मिग' को 'बच्चा' नाम से रूपांतरित किया गया है।

पात्रों का नामपरिवर्तन उसी सीमा तक न्यायसंगत है जिस सीमा तक वह मूल भाव और वातावरणसृष्टि में व्याघात न डालें, पर जहाँ इस परिवर्तन से यह भ्रांति पैदा होने लगे कि ये कहानियाँ विदेशों से संबद्ध न होकर भारत के जीवन और इतिहास से संबद्ध हैं, इनका लेखक विदेशी न होकर कोई भारतीय ही है, वहाँ वह गुण न होकर दोष माना जाएगा। प्रेमचंद जी के संपादकत्व में 'टालस्टाय की कहानियाँ' शीर्षक से जो अनुवाद छपा, उसके निवेदन में यद्यपि प्रकाशक ने उसकी यह कहकर प्रशंसा की, 'स्वर्गीय प्रेमचंद जी ने ऐसी रोचकता एवं सरलता ला दी है मानों यह उन्हीं की रचना है, परंतु पात्रों के नाम—भगीरथ, धर्मसिंह, बलदेव, चरनसिंह आदि, स्थान—दिल्ली, विलासपुर आदि, राजपूत और मराठों के युद्ध का उल्लेख पढ़ कर ऐसा लगता है कि हम भारतीय इतिहास के किसी पृष्ठ को कहानी के रूप में पढ़ रहे हैं। यही बात आस्कार वाइल्ड की कहानी के अनुवाद 'वर्षगाँठ' के संबंध में सत्य है जिसमें अंग्रेजी नामों के स्थान पर मुसलमानी नाम—रजिया, अलीशाह, मुहम्मदशाह दिए गए हैं।' यदि परिवर्तन साधारण हो और भारतीय पाठकों की सुविधा तथा बोधगम्यता को दृष्टि में रखकर किया गया हो, तो वह नहीं अखरता। चंद्रगुप्त विद्यालंकार ने हार्डि की कहानियों का रूपांतर करते समय अनेक स्थानों पर मूल कहानी में थोड़ा बहुत परिवर्तन किया है, कहीं गहरा रंग भरा है और कहीं ब्रश हल्का रखा है, तथापि यह परिवर्तन पाठक को खटकता नहीं क्योंकि जो भी परिवर्तन किए गए हैं, वे दोनों देशों की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किए गए हैं।

उस समय के पाठकों की रुचि को देखते हुए ही हमें इन अनुवादों का मूल्यांकन करना होगा । अनुवाद में विदेशी नाम आने से उस समय के पाठकों के लिये कथा का रस कम हो जाता था, यही सोचकर अनुवादकों ने उस समय के रिवाज के अनुसार नाम और स्थान बदल दिए हैं । इस प्रकार का परिवर्तन, यद्यपि अपेक्षाकृत कम, बंगला कहानियों के अनुवादों में भी किया गया है । प्रभातकुमार मुखर्जी के अनूदित कथासंग्रह 'पत्रपुष्प' के निवेदन में अनुवादक लल्लीप्रसाद पांडेय कहते हैं, 'हिंदी भाषाभाषियों के अनुकूल किंचित् परिवर्तन कर दिया गया है ।' उन्हीं की पुस्तक 'त्रिधारा' के अनुवाद में पांडेय जी ने पहली कहानी के प्लॉट तक में परिवर्तन कर दिया है ।

परिवर्तन का एक कारण मूल का विस्तार था जो हिंदी पाठकों को उबानेवाला था । अतः पाठकों को ऊब से बचाने के लिये परिवर्तन किए गए । टालस्टाय के 'महापाप' का अनुवादक यही कारण देता है, 'जहाँ कहीं हमने उबा देनेवाला विस्तार देखा, हमने उसे कुछ संक्षिप्त करने की घृष्टता की है ।' चेखव की कहानी 'ऊँच' का पिछला भाग अनुवादक ने संक्षिप्त कर दिया है पर साथ ही यह ध्यान रखा है कि भावप्रवाह में कोई त्रुटि न आने पाए । कुछ अनुवादकों ने पूरी स्वतंत्रता बरती है और विदेशी कहानी से कुछ बातें या उसका कुछ अंश लेकर स्वतंत्र रचना प्रस्तुत की है । 'सरस्वती' के फरवरी, १९३२ के अंक में प्रकाशित 'रात का सफर' इसी प्रकार की कहानी है । लक्ष्मीकांत झा ने इस कहानी का आरंभिक अंश तो सिक्केकर ल्यूइस की एक कहानी के आधार पर लिखा है, शेष उनकी मौलिक कृति है । 'बीणा' के नवंबर १९३१ के अंक में प्रतापनारायण श्रीवास्तव की रचना 'डालिया' भी अंग्रेजी में लिखी एक मौलिक कहानी का स्वरचित स्वतंत्र हिंदी रूपांतर है । इसी पत्रिका के अक्टूबर, १९३५ के अंक में प्रकाशित कहानी 'वरदान' अंग्रेजी लेखिका श्रीमती श्रीनर की कहानी के आधार पर लिखी गई है, केवल नाम और स्थान भारतीय हैं यथा नागेंद्र और गोहाटी । चतुरसेन शास्त्री की कहानी 'लालरुख' के कथानक का आधार है अंग्रेजी लेखक मूर की रचना जिसे स्वतंत्र परिवर्तनकर लेखक ने 'बीणा' के फरवरी, १९३७ में छपवाया । पृथ्वीपाल सिंह कृत 'अत्याचारी का अंत' शाहनामा की कथा को कहानी का रूप देने का प्रतिकूल है । भावानुवाद भी इस युग में अनेक हुए । शीतलासहाय ने फिनिस और आस्ट्रियन भाषाओं की दो गल्पों के क्रमशः 'नववधू' तथा 'रोजीना की डायरी' नाम से छायानुवाद प्रस्तुत किए, तो सत्यजीवन वर्मा ने ब्राजील के प्रसिद्ध लेखक नैवेदो डि असिस की कहानी का 'अपराध स्वीकरण' नाम से भावानुवाद किया । इन सब अनुवादों को छापने का श्रेय 'बीणा' पत्रिका को है ।

कुछ अनुवादकों ने विदेशी कहानियों के अनुवाद में पात्रों और स्थानों के नाम के अतिरिक्त वहाँ के मेलों आदि का ज्यों का त्यों चित्रण कर विदेशी वातावरण को अक्षुण्ण बनाए रखा है । टालस्टाय की कृति के अनुवाद 'पाप' में रतला परिवार, मिखालोविच, पीटर, पोलीकश, थियोडोर रेजन आदि नामों के अतिरिक्त वहाँ के एक मेले—निशानी नागर्द के मेले का भी यथार्थ चित्रण है । चेखव और गोर्की की कहानियों के अनुवादों में भी रूसी नाम—मीगेव, आगि-आना, यरमले, बान्या, टानिया, मिटिआ, पैट्रूशा आदि रखे गए हैं । शोलम एस की यिद्दी कहानी के अनुवाद 'मोहपाश' में भी अनुवादक रामचंद्र टंडन ने पात्रों के नाम विदेशी ही रखे हैं—गोल्दा, बूरी आदि ।

मूल कृतियों में आए पद्यांशों का कहीं पद्य में अनुवाद किया गया है, तो कहीं गद्य में। अनूदित बंगला कहानियों के संग्रह 'मंजरी' में एक स्थान पर बंगला पद्य का अनुवाद किया गया है—

बंगाली की ब्रिटिया

कलकत्ता में बेचे तमाखू औ टिकिया ।

यही पद्धति 'गल्पगुच्छ' की कहानी 'मुक्ति का उपाय' के अनुवाद में रूपनारायण पांडेय ने अपनाई है। पुरुषपरीक्षा के हिंदी अनुवाद में जनार्दन झा ने मैथिल पद्य का ब्रजभाषा पद्य में रूपांतर किया है—

पशु सम जीवहुँ को मधुर गीत गाय सुख देत ।

निज गुण सौं गीत जन सबकों वश करि लेत ॥

उर्दू की कृति 'दास्तान अमीर हमजा' के पद्य को भी हिंदी पद्य में रूपांतरित किया गया है। भारतीय भाषाओं की कहानियों में ही नहीं, विदेशी भाषाओं की कतिपय कहानियों के पद्य भाग भी हिंदी पद्य में अनूदित किए गए हैं। जिप्सी जीवन से संबद्ध गोर्की की रूसी कहानी 'माकर चूड़' इसका प्रमाण है। पद्यभागों के गद्यानुवाद करने के भी अनेक दृष्टांत हैं। अनुवादकों ने मूल में पद्य दिया है और कोष्ठक में या पादटिप्पणी के रूप में उसका गद्यानुवाद दिया है। झवेरचंद मेघाणी की गुजराती कहानी 'सुझिणी मेहार' तथा रामनागयण विश्वनाथ पाठक की 'खेमो' के अनुवाद में काशीनाथ त्रिवेदी ने यही पद्धति अपनाई है। संपूर्ण कथाकाव्यों के हिंदी गद्यानुवाद भी किए गए। गोपालराम माधव लघाटे ने टैनिसन की कृति 'डोरा' का 'अद्भुत प्रेम' नाम से तथा हिंदी के एक लघुसेवक राम ने मेकाले की काव्यरचना 'ले आफ होरे-शस' का गद्यानुवाद किया।

संवत् १९७५ वि० के बाद भी कुछ समय तक बड़ी कहानियों के, जिन्हें लघु उपन्यास कहना अधिक उपयुक्त होगा, अनुवाद होते रहे। शत्रुचंद की कृति का अनुवाद 'बिंदो का लड़का' ऐसी ही बड़ी कहानी है। टालस्टाय की कहानियों 'पोलीकुश' तथा 'क्रूजर सोनाटा' के आकार निश्चय ही बड़े हैं, अतः उनके अनुवाद भी लघु उपन्यास जैसे लगते हैं। प्रथम ९६ पृष्ठों की रचना है तो दूसरी १३१ पृष्ठों की।

इस काल में किए गए कहानी के हिंदी अनुवाद की कतिपय विलक्षण बातें भी दृष्टिगत होती हैं। अनेक पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाले अनुवादों के साथ अनुवादक का नाम नहीं दिया गया है। संभव है अनुवाद को हीन कार्य समझने की धारणा इसका कारण रही हो। कतिपय अनुवादकों ने मूल का भाव लेकर उसपर स्वतंत्र रचना की है, पर न तो उन्होंने इस बात का उल्लेख किया है और न मूल लेखक के प्रति आभार ही प्रकट किया है। चतुरसेन शास्त्री की एक कहानी 'सुधा' दिसंबर १९३१ में प्रकाशित हुई। उसका नाम है 'सिंहगढ़ आया पर सिंह गया।' इसी नाम का हरिनारायण आप्टे का मराठी उपन्यास है 'गढ़ आला पण सिंह गेला'। विषय भी दोनों का एक है। निश्चय ही शास्त्रीजी ने मराठी उपन्यास के आधार पर कहानी लिखी है, पर इसका उल्लेख नहीं किया है।

एक अन्य विशेषता जो इस समय के अनुवादों में मिलती है, वह यह है कि एक ही व्यक्ति ने मूल लेखक की संपूर्ण कथाकृतियों का अनुवाद किया है। उदाहरण के लिये, लक्ष्मीप्रसाद

पांडेय ने प्रभातकुमार मुखर्जी और रूपनारायण पांडेय ने रवींद्रनाथ ठाकुर की लगभग सभी कहानियों का हिंदी अनुवाद किया है। इसी प्रकार मुंशी कन्हैयालाल ने मि० एफ० डब्ल्यू० बेन की सभी कथाकृतियों का 'शंकर की जटाजूट', 'हिमावतार', 'फेन का बुलबुला', 'नागिन की डाह' नाम से हिंदी अनुवाद किया है। बेन की कहानियों के संबंध में आरंभ में यह भ्रांति रही कि वे मूल संस्कृत से अंग्रेजी में अनुदित की गई हैं और फिर मुंशी कन्हैयालाल ने उनका अंग्रेजी से हिंदी में अनुवाद किया है। इस मिथ्या भ्रांति का कारण स्वयं मि० बेन की टिप्पणी थी। 'शंकर की जटाजूट' के विषय में उन्होंने कहा कि उसका नाम संस्कृत में 'सुरासुरादि मानदा' था और उन्होंने इसका अंग्रेजी में 'इन द ग्रेट गॉड्स हेयर' नाम रखा है। इसी प्रकार उन्होंने अपनी अन्य पुस्तकों 'नईकारनेशन ऑफ द स्तो', 'बक्स ऑफ द फोम' और 'एन एसेन्स ऑफ द डस्क' को संस्कृत के अंग्रेजी अनुवाद कहा। महादेवपार्वती के वार्तालाप द्वारा कहानी प्रस्तुत करने की आख्यानात्मक शैली, आरंभ में संस्कृत काव्यों जैसा मंगलाचरण, तथा लेखक के मस्तिष्क का हिंदू रहस्यवाद, दंतकथाओं और संस्कृत काव्य से पूर्णतः तादात्म्य—इन सबने इस मिथ्या धारणा को और अधिक पुष्ट किया।

एक ही लेखक की उसी कृति के भिन्नभिन्न व्यक्तियों द्वारा अनुवाद किए जाने के उदाहरण भी मिलते हैं। भारतीय भाषाओं में बंगला के सुप्रसिद्ध कहानीकारों रवींद्रनाथ टैगोर और शरच्चंद्र मुखर्जी की कहानियों के कई अनुवाद मिलते हैं। रूसी लेखक गोर्की की एक ही कहानी के दो अनुवाद किए गए। विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने उसका नाम 'टानिया' रखा और श्रीनारव ने 'अभागे'। दोनों के अनुवादों में अंतर यह है कि श्रीनारव का अनुवाद भावानुवाद है, मिश्रजी का शब्दानुवाद। यही कारण है कि नारव के अनुवाद में 'कथामुख' नहीं है, जबकि मिश्रजी ने 'कथामुख' दिया है। इसी प्रकार उनकी एक कहानी दो भिन्न नामों—'डाकू' और 'किसना' तथा 'चोर' से दो भिन्न व्यक्तियों द्वारा अनुदित की गई। चेखव की कहानी का अमृतलाल नागर ने 'विल्ली के बच्चे' नाम से अनुवाद किया, तो चंद्रगुप्त बिद्यालंकार ने उसी का 'घटना' नाम से। मोषांसा की दो कहानियों 'आत्महत्या' और 'कब्रिस्तान' के अनुवाद सत्यकेतु बिद्यालंकार के अतिरिक्त अनंत प्रसाद विद्यार्थी ने भी किए।

जहाँ तक विदेशी कहानियों का संबंध है, अनुवाद सीधे मूल भाषा से न किए जाकर किसी अन्य भाषा से किए गए। फ्रेंच, रूसी आदि विदेशी भाषाओं से अनुवादक परिचित नहीं थे, जबकि अंग्रेजी से अनुवाद करना उनके लिये सरल था। फिर अंग्रेजी में संसार के सभी सुविख्यात लेखकों की कृतियाँ उपलब्ध थीं। अतः इस काल में अधिकांश अनुवाद अंग्रेजी के माध्यम से हुए। रूसी लेखक चेखव की कहानियों का अनुवाद 'विश्व साहित्य ग्रंथमाला' के अंतर्गत प्रकाशित करते हुए अनुवादक चंद्रगुप्त बिद्यालंकार स्पष्ट स्वीकार करते हैं, 'अंग्रेजी में 'चैटो एंड बिड्स' ने चेखव की कहानियों का प्रकाशन किया है। वहाँ से ये ली गई हैं।' कुछ ऐसी कृतियाँ भी मिलती हैं जो मूल में अंग्रेजी में लिखी गई थीं। अंग्रेजी से उनका अनुवाद किसी अन्य भारतीय भाषा में किया गया और वहाँ से हिंदी में। अंग्रेजी पुस्तक 'बुक ऑफ गोल्डन डीड्स' का अनुवाद पहले मराठी में हुआ और फिर वहाँ से जी०ए० मालेराव ने उसका हिंदी अनुवाद 'आत्मत्याग की सुरस कथाएँ' नाम से किया। इसी प्रकार 'मंजरी' में संकलित 'प्रलोभन' नामक

एक फ्रांसीसी कहानी के बंगला अनुवाद का हिंदी रूपांतर है। 'प्रेम गंगा' शीर्षक से प्रकाशित पुस्तक की छह कहानियाँ मूल रूप में अंग्रेजी में लिखी गई थीं और वे अंग्रेजी पत्रिका 'पियसंस मैगजीन' में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुई थीं। मूल लेखक ए० शरत्कुमार घोष ने भारतीयता की छाप लगाकर उन्हें 'अरेबियन नाइट्स' के आदर्श पर लिखा था। अनुवादक ईश्वरी-प्रसाद शर्मा ने 'माधुरी' पत्रिका के संपादक के अनुरोध पर समस्त कथामाला का हिंदी अनुवाद किया। सारांश यह है कि इस काल में कहानियों के अनुवाद के क्षेत्र में विभिन्न प्रयोग किए गए और उनमें से कुछ बड़े विचित्र थे, कम से कम आज वे विचित्र लगते हैं।

अनूदित कहानियों की भाषाशैली का अध्ययन करने से एक बात का स्पष्ट पता चलता है—जब अनुवादक बंगला की भावपूर्ण कहानी का अनुवाद करता है तो उसकी शैली काव्यमय होती है और भाषा संस्कृत की तत्सम शब्दावली प्रधान, पर, जब वह उर्दू से अथवा अंग्रेजी से ऐसी कहानी का अनुवाद कर रहा होता है जिसमें 'अलिफलैला' की किस्सागोई का तत्व होता है अथवा जो जनजीवन का सामान्य, यथार्थ और कटु चित्र प्रस्तुत करती है, तो उसकी शैली वर्णनात्मक होती है और भाषा बोलचाल की, जिसमें उर्दू शब्दों का निस्संकोच प्रयोग है, मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा को अधिक सजीव एवं प्राणवान बनाया गया है और अंग्रेजी के भी बहुप्रचलित शब्दों का प्रयोग जहाँ तहाँ किया गया है। प्रकृतिचित्रण में चाहे वह बंगला कहानी हो अथवा अंग्रेजी अथवा रूसी कहानी, अनुवादक ने काव्यमय शैली और तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया है। टैन्सन की काव्यकथा 'ईनक आर्डन' के हिंदी गद्यानुवाद में पृष्ठ ३५ पर जहाँ द्वीप, पर्वतमाला, उपत्यकाओं आदि की प्रकृतिश्री का वर्णन है अथवा गोर्की की 'टानिया' कहानी में जहाँ पृष्ठ ८९ पर मेघराशि, सागर आदि का चित्रण है, वहाँ अनुवादकों ने संस्कृत की तत्सम शब्दावली का ही प्रयोग किया है। इन स्थलों की काव्यमयता और भाषा की प्रवाहमयता हमें संस्कृतसाहित्य के प्रकृतिचित्रण का स्मरण दिला देती है। इसी प्रकार भावपूर्ण विदेशी कहानियों के अनुवाद में विशेषतः मोपांसा की कहानियों के अनुवाद में संस्कृत पदावली—दृष्टिविन्धास, आवेष्टित, उच्छ्वास, स्नेहानुरंजिता, सरितयुग्म, मूकजिह्वा आदि का प्रयोग किया गया है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, अनुवादों में विषय के अनुरूप भाषा बदलती रही है। आर्थर कानन डायल की जासूसी कहानियों और मिस मेरिया एजवर्थ की लोकप्रिय अद्भुततत्त्व-युक्त अलिफलैला जैसी कहानियों में उर्दू शब्दों—मुस्तैद, बेखटके, महलसरा, दखल, आदि का प्रयोग मिलता है। ली० विलियम की कहानियों 'रेगिस्तान की रानी', 'हवाई किला' आदि में भी उर्दूबहुल भाषा का प्रयोग किया गया है क्योंकि ये कहानियाँ अफ्रीका के रेगिस्तानी जीवन तथा मुसलमान संस्कृति से संबद्ध हैं। तेलगु भाषा से अनूदित कुछ कहानियों में भी उर्दू शब्द प्रयुक्त किए गए हैं। इसका कारण कदाचित् यह है कि आंध्रप्रदेश विशेषतः हैदराबाद के लोग उर्दू से परिचित हैं। अनुवादक भी उर्दू का अच्छा ज्ञाता था, अतः अनुवाद करते समय उर्दू के शब्दों का प्रयोग करना उसके लिये स्वाभाविक ही था। 'हंस' पत्रिका के अप्रैल १९३६ के अंक में प्रकाशित तेलगु कहानी के चिंता दीक्षितुलु द्वारा किए अनुवाद 'गोदावरी भी हंस पड़ी' में कितने ही उर्दू शब्द—तालीम, दरकार, फिहरिशत, रखसत, बदस्तूर, मार्फत आदि मिलते हैं। कुछ कहानियों विशेषतः अंग्रेजी से अनूदित कहानियों में अंग्रेजी शब्द भी आ गए हैं। वस्तुतः

पाश्चात्य वातावरण बनाए रखने के लिये यह आवश्यक था और फिर कुछ अंग्रेजी शब्दों का हिंदी अनुवाद हो ही नहीं सकता था । 'सुधा' के जून १९३३ के अंक में प्रकाशित कृष्णमनोहर सिंह सांडल द्वारा अनूदित 'धूम्रपान' कहानी में पारलर, लेपन स्क्वैश, टैंकर्ड ऑफ एल आदि तथा 'माधुरी' में प्रकाशित ओ० हेनरी की 'रोमांस' कहानी में नाइट (वीर योद्धा), हाँकर आदि शब्द आए हैं ।

अनुवादकों ने हिंदी मुहावरों और लोकोक्तियों का खुलकर प्रयोग किया है जिससे अनुवाद की भाषा सजीव हो उठी है । अंटा गाफिल होना, न घर के न घाट के, छंड़िए न हिम्मत बिसारिए न राम, ईंट से ईंट बजाना, जानलेवा मुसीबत आदि कुछ प्रयोग उदाहरण के लिये देखे जा सकते हैं । कहीं कहीं अनुवाद की भाषा प्रांजल न होकर लोकभाषा की ओर झुकी हुई है, पर यह आरंभिक अनूदित कहानियों में ही हुआ है । सन् १८७६ में अनूदित 'मनसुखी और सुंदरसिंह का वृत्तांत' में निम्न प्रयोग ग्रामीण भाषा के ही हैं—नाना माँत, बतावें हैं, बनड़ा, बेर, आवभक्त, अर्दास आदि । वाद की अधिकांश कहानियों की भाषा प्रौढ़ और प्रांजल है । अन्य भारतीय भाषाओं से हिंदी अनुवाद में कहीं कहीं मूल भाषा के प्रयोग आ गए हैं जैसे लीलावती मुंशी की गुजराती कहानी के हिंदी अनुवाद, 'पतन की एक कश्मि कथा' में जो 'हंस' के नवंबर, १९३५ के अंक में छपी, गुजराती प्रयोग—ठठेरी की बिल्ली, निराधारता—आ गए हैं । इसी प्रकार एक अन्य कहानी 'खेमी' में गुजराती प्रयोग—बाघरी, फटका, माँ ने सवा सेर सोंठ खाई हो, पगार, नातरे (पुनर्विवाह) आदि मिलते हैं । अनूदित कहानियों में मूल कथा के प्रदेश के वातावरण को अधुण बनाए रखने का प्रयास किया गया है और इसके लिये वहाँ की प्रकृति, रीतिरिवाज आदि ज्यों के त्यों चित्रित किए गए हैं । टालस्टाय की कहानी 'महापाप' में यदि रूस में होनेवाले निशानीनागर्द के मेले का चित्र है, तो फ्रांसीसी कहानी के अनुवाद 'बदला' में अंगूर की बेलों और अंजीर के वृक्षों से बने रम्य प्राकृतिक वातावरण का चित्रण है । कुछ कहानियों में हिंदीवालों के लिये अपरिचित बातों को पादटिप्पणियों द्वारा समझाया गया है । मराठी कहानी के अनुवाद 'बोड़ीवाली' में 'महालक्ष्मी का सीजन' पादटिप्पणी द्वारा ही समझाया गया है कि महालक्ष्मी बंबई का वह उपनगर है जहाँ घुड़दौड़ होती है । इसी प्रकार मलयालम भाषा से अनूदित कहानी 'तरवड' में पादटिप्पणी द्वारा बताया गया है कि तरवड केरल की एक सामाजिक प्रथा है जिसके अनुसार वंश पिता से न चलकर माता से चलता है । तमिल से अनूदित कहानी 'माँ' में भी पादटिप्पणियों का प्रयोग किया गया है ।

अनुवाद पूर्णतः दोषरहित नहीं हैं । यद्यपि ऐसा कम हुआ है, पर कहीं कहीं अनुवादक ने एकाध बात अपनी ओर से भी जोड़ दी है । उदाहरण के लिये, ओ० हेनरी की सुप्रसिद्ध कहानी 'द गिफ्ट ऑफ द मागी' के हिंदी अनुवाद 'उपहार' में अनुवादक ब्रह्मस्वरूप गुप्त ने एक उर्दू शेर अपनी ओर से जोड़ दिया है—

पसे मर्ग मेरी मजार पर जो दिया किसी ने जला दिया ।

उसे आह ! दामने यार ने सरेशाम से ही बुझा दिया ॥

यह शेर किसी उर्दू शायर का है जिसे अनुवादक ने ऊपर से जोड़ दिया है । यह ठीक है कि इससे प्रभाव और भी बढ़ जाता है, पर निश्चय ही अनुवादकला की दृष्टि से यह दोष ही है । कुछ अनुवादों की भाषा इतनी क्लिष्ट है कि जिस उद्देश्य को लेकर अनुवाद किया गया था उसी

को आघात पहुँचता है। मराठी से अनूदित कहानियाँ 'आत्मत्याग की सुरस कथाएँ' विद्यार्थियों के लिये लिखी गई थीं, पर उनकी भाषा उनकी वय तथा बुद्धि को देखकर अधिक कठिन प्रतीत होती है। इस बात की ओर 'सरस्वती' पत्रिका के एक समीक्षक ने संकेत भी किया है, "भाषा यदि सरल होती तो छोटी उम्र के विद्यार्थी इससे यथेष्ट लाभ उठा सकते थे।" कुछ अनुवादकों ने शब्दों का गलत अनुवाद किया है। मराठी से अनूदित कहानी 'कुत्ते का पट्टा' में अनुवादक ने 'जिज्ञासा' के स्थान पर कौतूहलपूर्ण चौकन्नापन और नवकाशी की जगह 'नक्षी' का प्रयोग किया है। असमिया कहानी 'मेलानि' के अनुवाद की भाषा तो बहुत ही भ्रष्ट है— 'वर्णन करना असमर्थनीय है, वे दोनों शांति धारण कर लिए, गंदे नालियों, छात्र-महल (छात्रा-वास के लिये), उन्नति के कारण (उन्नति के लिये की जगह), भंडाफोड़ कर दी, जांत (नकेल), आदि प्रयोगों से पता चलता है कि अनुवादक हिंदी व्याकरण से नितान्त अनभिज्ञ है। कभी कभी अनुवादक के मूल भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण भी अनुवाद में दोष रह गए हैं। 'गदर के पत्र तथा कहानियाँ' के अनुवादक चतुरसेन शास्त्री ने स्वीकार किया है कि वह स्वयं उर्दू नहीं जानते, इससे दूसरों से पढ़वाकर अनुवाद किया गया है। इससे उन्हें कठिनाई भी हुई और संभवतः गलतियाँ भी रह गई हों।"

उपर्युक्त कतिपय दोषों के होते हुए भी अधिकांश अनुवाद भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से सफल कहे जा सकते हैं। अधिकांश अनुवादों की भाषा सीधी, सरल और प्रवाह-मय है। इसी कारण उस समय के आलोचकों ने उनकी प्रशस्ति यह कहकर की, 'पढ़ने में मौलिक आख्यायिकाओं का मजा आता है।' ३ अथवा "ने ऐसी रोचकता एवं सरलता ला दी है मानो यह उन्हीं की रचना है।" ४

तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो हिंदी अनुवादकों का कार्य अपेक्षाकृत अधिक स्तुत्य रहा। 'माधुरी' पत्रिका के मार्च १९३७ के अंक में तेलगु कथासाहित्य की समीक्षा करते हुए तेलगु में अनूदित कहानियों के विषय में मत व्यक्त करते हुए जो कुछ कहा गया, 'अनुवाद बहुत बुरे ढंग से होता है। मूल लेखकों का नाम तक नहीं दिया जाता। कहानी पढ़ जाने पर मेरे मुँह से निकल गया—यह प्रेमचंद जी की बलि है, 'प्रेम बलि' (कहानी का नाम) नहीं।' ५ वह हिंदी अनुवादों के विषय में सत्य नहीं। अधिकांश अनुवाद प्रामाणिक हैं, उनमें मूल के भाव, वातावरण आदि सुरक्षित रखने का स्तुत्य प्रयास है। अनुवाद की भाषा के संबंध में भी उनका निश्चित आदर्श था कि वह प्रवाहमय हो और उसमें संस्कृत की तत्सम शब्दावली लाने का दुराग्रह न हो, 'स्वतंत्र भारत की राष्ट्रभाषा अवश्य ही हिंदी होगी। पर संस्कृत मिली हुई कठिन हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखने की कल्पना यदि कोई सज्जन करें तो यह उनकी भूल होगी।' ६ भारत की समस्त प्रांतिक भाषाओं के अनेक शब्दों की मिलावट राष्ट्रभाषा में होगी। ७ इस आदर्श का अनुवादों में भरसक अनुगमन किया गया है।

१. सरस्वती, नवंबर, १९२६, पुस्तक परिचय, पृ० ५८६।

२. गदर के पत्र तथा कहानियाँ, एक शब्द।

३. पत्रपुष्प, अनुवादक लल्लीप्रसाद पांडेय, निवेदन।

४. टालस्टाय की कहानियाँ, निवेदन।

५. माधुरी, मार्च १९३७।

६. टालस्टाय, महापाप, पृ० ६।

अनुवाद को सदा नीची दृष्टि से देखा जाता रहा है, पर अब उसके प्रति दृष्टि बदल रही है। अनुवाद द्वारा ही एक साहित्य में गुण दूसरे साहित्य में अवतरित हो सकते हैं। अतः अनूदित कहानियों ने हिंदी कहानी को केवल नवीन विषय—समाज का यथार्थ चित्रण, आभिजात्य वर्ग के अतिरिक्त जनसामान्य, किसान और मजदूर के जीवन के चित्र, मानव-हृदय के रहस्य आदि ही नहीं प्रदान किए, नवीन शिल्प (जैसे पत्रात्मक शैली) और प्रतिपादन शैली भी हिंदी ने इन्हीं से ग्रहण की। उसका गद्य विकसित करने का श्रेय भी अनूदित कहानियों को कम नहीं है। अनूदित कहानियों ने हिंदी कहानी को एक निश्चित दिशा दी—अद्भुतरम्य के वायवी लोक से उतारकर उसे यथार्थ की ठोस भूमि पर ले आने का बहुत कुछ श्रेय अनूदित कहानियों को ही है। जहाँ पहले कल्पना जासूसी, चमत्कारपूर्ण घटनाओं की अवतारणा में प्रयुक्त होती थी, वहाँ अब उसका प्रयोग प्रकृति के सुंदर रूपों की उद्भावना, समाज के नए रूपों के अंकन तथा आदर्श चरित्रों के निर्माण में किया जाने लगा। बंकिम के प्रभाव से हिंदी लेखकों की दृष्टि समाज की कुप्रथाओं को दूर करने और उसे स्वस्थ बनाने को ओर गई। शरत् से प्रेरणा लेकर हिंदीवाले समाज और धर्म की अनेतिकता और हृदय-हीनता पर कठोर आघात करने लगे। वे अब पात्रों के चरित्र एवं कार्यव्यापार चित्रितकर समस्याओं का हल बाहर से न लाकर मानसिक जागरण के रूप में उपस्थित करने लगे। पात्रों को व्यक्तित्व प्रदान करने, उनके अंतर्मन में झाँकने, उनके अंतःसंघर्ष को चित्रित करने की प्रेरणा भी हिंदीवालों को बहुत कुछ यूरोप के विशेषतः मोपांसा, चेखव, तुर्गनेव आदि रूसी कहानीकारों से मिली। बंगला कहानियों की संवेदनशीलता, भावमयता, उत्कृष्ट प्रेम की विह्वलता आदि का भी हिंदी कहानी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। शरत्चंद्र की कहानियों के प्रभाव की ओर संकेत करते हुए चण्डिका जैन ने ठीक ही लिखा है, 'सामाजिक और गार्हस्थ्य विधिविधानों के कारण यह क्षुब्ध और उत्कृष्ट प्रेम की विह्वलता हमारे घरों और समाज में कैसी कष्टमय घटनाओं के द्वारा प्रकाशित होती है, इसे शरत् बाबू ने बहुत व्यापक रूप से स्पष्ट किया है।' यही विशेषता हमें जैनेंद्र की कहानियों में मिलती है। उनमें यह भावुकता शरत् की तरह गलदश्रुता की कोटि तक पहुँच गई है।

प्रेमचंद तथा उनके समकालीन कहानीकारों की कहानियों में जो बौद्धिकता, समकालीन समाज का चित्रण, निम्नवर्ग के जीवन का वास्तविक अंकन और सुधारवादी दृष्टिकोण मिलता है, तथा वर्गसंघर्ष के विविध रूप उपलब्ध होते हैं, उसका भी बहुत कुछ श्रेय रूसी और फ्रांसीसी भाषाओं की कहानियों के (विशेषतः वाल्टेयर, ह्यूगो, बालजाक, मोपांसा) अनुवाद को है। मध्यवर्ग के वास्तविक जीवन का परिचय हमें प्रेमचंद तथा सुदर्शन की कहानियों में मिलता है। प्रेमचंद पर मोपांसा का प्रभाव बताते हुए ज्वालादत्त शर्मा लिखते हैं, 'प्रेमचंद की प्रेमपूर्णमा और सप्तसरोज में मोपांसा की कला की छाप दिखाई देती है। उनकी साधनाशैली, उनका विचारक्रम, उनका घटनाविकास और अंत में घटनाओं की लोट के साथ भावुकता का जोड़ मोपांसालोक की किसी विस्तृत अनुभूति की याद दिला देता है।'

हिंदी कहानी लेखकों ने मानव को सहानुभूतिपूर्वक चित्रित करने की मानववादी दृष्टि भी

पश्चिम से ली। गोर्की ने मानवीयता की स्थापना में पीड़ितों की पीड़ा का निराकरण ढूँढा था। बंगला में शरत् ने सहानुभूति और आत्मीयता से मानवता के उत्थान का मूल मंत्र दिया था। रवींद्र का दृष्टिकोण भी मानवतावादी था। मानवता के इसी लक्ष्य को लेकर प्रेमचंद तथा उनके संस्थान के अन्य कहानीकारों जैसे जैनेंद्र^१ ने समाज की अनिष्टकारी रूढ़ियों की भर्त्सना की है और दलितों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न की। मनुष्य में मनुष्यता की जागृति कर लोकमंगल की प्रतिष्ठा का भाव हिंदी को बंगला की ही देन कहा जाएगा।

पश्चिम के साहित्य में अदर्शोन्मुख यथार्थवाद का बीजारोपण टालस्टाय ने किया था। भारतवासी सदा से आदर्शवादी रहे हैं, अतः यह प्रवृत्ति उनके वातावरण और संस्कारों के अनुकूल थी, उन्होंने उसे पश्चिम से नहीं ग्रहण किया। फिर भी यह कहना गलत न होगा कि अपनी आरंभिक रचनाओं में आदर्शवाद की प्रेरणा प्रेमचंद को टालस्टाय से ही मिली थी।

इस काल में मानवमन की अस्वस्थ और विकृत मनोवृत्तियों का चित्रण न होकर केवल स्वस्थ मनोवृत्तियों का चित्रण हुआ और इसकी प्रेरणा हिंदी कहानीकारों को मोपांसा, पुश्किन तथा चेखव^२ से मिली। रवींद्र ने भी उन्हें मनुष्य के मनोराज्य के अंतरप्रदेश में प्रवेश करने का मार्ग दिखाया। प्रेमचंद और जैनेंद्र के पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण और विश्लेषण बहुत कुछ पश्चिम तथा बंगला कहानियों का ऋणी है।

शैली के क्षेत्र में भी हिंदी कहानी पश्चिम और बंगला की ऋणी है। व्यंग्य शैली का चमत्कार प्रेमचंद आदि में विकटर ह्यूगो, बालजाक, मोपांसा आदि फ्रेंच कहानीकारों के प्रभाव का परिणाम है। हिंदी में वर्णन और चित्रण में चमत्कारपद्धति का श्रेय भी इन्हीं को है। चित्रण की यथार्थवादी सजीव शैली भी मोपांसा और बालजाक तथा रूसी कलाकारों गोर्की, तुर्गनेव से आई। छोटी से छोटी घटना के आधार पर कहानी लिखने की शैली जो प्रेमचंद, प्रसाद, जैनेंद्र आदि में मिलती है, वह भी रूसी कलाकार चेखव तथा तुर्गनेव में मिलती है। इस प्रकार पश्चिम ने सीधे ही अथवा बंगला से छनकर हिंदी कहानी की विषयवस्तु और शिल्प दोनों को प्रेरणा दी, प्रभावित किया और पुष्ट किया। यद्यपि इसे पश्चिम का अंधा अनुकरण नहीं कहा जाएगा, तथापि पश्चिम के ऋण को अस्वीकार करना भी कृतघ्नता होगी।

१. जैनेंद्र—जैनेंद्र की कहानियाँ, भाग ६, सजा, पृ० १९१।

२. चेखव—डालिंग, कुत्तेवाली महिला, दलदल।

उपसंहार

निर्मला जैन

१९१८-१९ ई० के बीच का भारतीय साहित्य एक विराट् जन उद्वेलन की छत्रभूमि में रचा गया साहित्य है। इतिहास में इस युग को गांधी युग कहा गया है। साहित्य में इसे प्रमुख काव्यप्रवृत्ति के आधार पर छायावाद युग कहा गया है और कथासाहित्य के आधार पर प्रेमचंद युग। काव्य की तुलना में कथासाहित्य का चरित्र प्रायः अधिक यथार्थघर्मी होता है। जीवन और समाज से निकट संपृक्ति जितनी कथा साहित्य में प्रकट होती है उतनी काव्य में नहीं। इस दौर का भारतीय साहित्य यूँ भी पराधीन देश की राष्ट्रीय चेतना से गहरे जुड़ा है, अतः समाजोन्मुखता इसका सहज चरित्र है। इस युग में इसी लिये कथा साहित्य के मंच पर मध्य और निम्नवर्गीय पात्रों, विशेषकर ग्राम जीवन का इतने समारोह से अवतरण आकस्मिक नहीं है। स्वाधीनता आंदोलन के अंतर्गत चलनेवाले अनेक सुधारवादी कार्यक्रमों का दबाव इस काल में कथाकार की मानसिकता पर स्पष्ट देखा जा सकता है। यहाँ तक कि ऐतिहासिक विषयों को लेकर चलनेवाली रचनाएँ भी समसामयिक आशयों से मुक्त नहीं हैं।

इस समय के कथा साहित्य में विशेष ध्यान आकर्षित करनेवाली बात यह है कि इसमें वर्तमान की सामाजिक राजनीतिक चेतना जितनी प्रखर है, भविष्य के लिये उतना स्पष्ट कार्यक्रम नहीं। गाँधी के 'सर्वोदय' और 'स्वराज्य' के राजनीतिक स्वप्नों की तरह और छायावादी कवियों के क्षितिजपार स्थित रहस्यमय वितु भव्य काल्पनिक लोक की तरह। सामान्य बात एक ही है—जो जहाँ है, उससे असंतुष्ट है, परिवर्तन के लिये प्रयत्नशील है। सामाजिक चेतना का यह असमंजस, अनिश्चय और संशयात्मकता बहुत दूर तक राजनीतिक स्थिति से जुड़ा है।

लक्ष्य की इस धुँधली सी अवधारणा के बावजूद, आत्मस्वरूप की पहचान और मानवीय गौरव की प्रतिष्ठा का प्रयत्न इस युग के कथासाहित्य का केंद्रीय सरोकार है। इस सरोकार को तीव्र करने में विदेशी शक्तियों से टकराहट की भूमिका विशेष महत्वपूर्ण रही है। प्राचीन सभ्यता, संस्कृति और जीवनमूल्यों के पुनः शोध और पुनरुद्धार का जो महत् प्रयास इस दौर में दिखाई पड़ता है, वह विदेशी चुनौती के सामने आत्माभिज्ञान का एक विराट् प्रयत्न भी कहा जाएगा। राजनीतिक कार्यक्रम को इस युग के साहित्य में पूरी निष्ठा से भावात्मक स्तर पर प्रतिफलित किया गया। सामाजिक प्रश्नों से इतनी गहरी संसक्ति भक्तिकाल के बाद जितनी इस दौर में दिखाई पड़ी, उतनी और किसी युग में नहीं। कहा जा सकता है कि आत्माभिज्ञान की इस सचेतनता के लिये अस्मिता का जो संकट जरूरी है, वह इतना तीव्र शायद और कभी रहा ही नहीं। यथार्थ के कटु अनुभव ने इस युग के कथाकार में मानव नियति की गहरी समझ पैदा की है। यही इनके अतिपरिचित, सामान्य और साधारण प्रतीत होनेवाले रचनासंसार की असाधारणता है।

राजारानी, देवीदेवता, परी और जिन के संसार से तो हिंदी कथासाहित्य की मुक्ति बहुत पहले हो चुकी थी। किंतु ठेठ यथार्थ की भूमि ग्रहण करने से पहले कुछ समय तक अधिकांश हिंदी उपन्यासों पर कल्पना एवं रोमांस का प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। यह अवश्य एक

सुखद संयोग है कि लाला श्रीनिवासदास ने हिंदी के प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' में आर्थिक समस्या से जूझते हुए, मशीनीकरण एवं वैज्ञानिक तरीकों से खेतीबाड़ी का समर्थन किया है। यह बात अलग है कि इस परंपरा का अविरल अनुसरण तत्काल नहीं हुआ। सुधारवादी सामाजिक उपन्यासों की रचना का सिलसिला कुछ बाद में बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८७ ई०) और 'सौ अजान और एक सुजान' (१८९२ ई०) से शुरू हुआ। आगे चलकर इस क्रम में अनेक उपदेशात्मक, शिक्षाप्रद उपन्यासों की रचना भी हुई, और इनसे भिन्न भाववादी प्रेममूलक उपन्यासों की भी। परंतु कुल मिलाकर शिक्षा और उपदेशप्रधान उपन्यासों की बहुतायत से ऊब का जो वातावरण प्रस्तुत हुआ उससे पाठकों की मुक्ति देवकीनंदन खत्री के ऐय्यारी, तिलस्मी उपन्यास ही कर सके। तिलस्म और ऐय्यारी के इस मायाजाल की रचना में अंग्रेजी और फारसी के रोमांटिक साहित्य के अनुशीलन की महत्वपूर्ण भूमिका है। परंतु इनका एक निश्चित सामाजिक उद्देश्य है—अस्तोन्मुख सामंतीय वर्ग के अंतिम खेल का चित्रण। इनमें सामंती सभ्यता का एक भरापूरा चित्र ही नहीं सामंतवाद से पूंजीवाद की विकास यात्रा भी अंकित है। 'चंद्रकांता' के लेखक ने तो उपन्यास के अंत में स्वयं कहा है कि 'चंद्रकांता' मनोविनोद के लिये लिखी गई थी किंतु इसका इतना प्रचार देखकर अपने विचारों को भी इसमें इसलिये जोड़ दिया गया ताकि भारत का भविष्य बन सके। यह बात दूसरी है कि कहानी, घटनाओं और तिलस्म के घटाटोप में नैतिक अभिप्राय यथेष्ट प्रभाव नहीं छोड़ पाते। रोचकता इनमें इस हद तक थी कि इन उपन्यासों ने बहुत से लोगों को हिंदी भाषा सीखने के लिये प्रेरितकर हिंदी का एक बहुत बड़ा पाठक वर्ग तैयार कर दिया।

तिलस्मी, जासूसी और ऐय्यारी उपन्यासों से कुछ हटकर किशोरीलाल गोस्वामी ने ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की शुरुआत की। उन्होंने इतिहास के साथ रोमांस और राष्ट्रवाद को भी अपने उपन्यासों में प्राथमिकता दी। कुल मिलाकर प्रेमचंद के पूर्व हिंदी उपन्यास में किसी प्रवृत्तिविशेष की प्रधानता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

हिंदी में प्रेमचंद का आविर्भाव और उपन्यास युग का आरंभ पर्याय हो गए हैं। प्रेमचंद के कथा साहित्य में पहली बार उपन्यास और कहानी के मौलिक क्षेत्र, स्वरूप और उद्देश्य की पहचान ही नहीं मिलती, उसकी ऊँचाई भी मिलती है। सोद्देश्यता तो प्रेमचंद से पहले भी कथा साहित्य में पर्याप्त मिलती थी परंतु उसका कलात्मक सृजन नहीं। परंतु इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि प्रेमचंद के कथा साहित्य की शक्ति उसकी सोद्देश्यता में है। वस्तुतः उनकी क्षमता यथार्थ की पकड़ में निहित है। उन्होंने यथार्थ को जीवन के सतही घरातल पर नहीं, पूरी व्यापकता और संश्लिष्टता में पकड़ा है। उनका यथार्थबोध न तो प्रकृतवादियों की तरह मनुष्य को पाशव वृत्तियों का शिकार मानता है, न मनोविश्लेषण-शास्त्रियों की तरह व्यक्ति के एकांत किंतु जन-जीवन-निरपेक्ष सत्य को चरम सत्य मानकर साहित्य की रचना में प्रवृत्त होता है, और न ही उग्र समाजवादियों की तरह व्यक्ति को सामाजिक संदर्भ की एक यांत्रिक इकाई मानकर प्रस्तुत करता है। प्रेमचंद ने अपने युग और समाज को उसकी समस्त जटिल वास्तविकता के साथ पकड़ने का प्रयास किया है। उनके साहित्य में व्यक्ति और समाज के ये दोनों आयाम अपनी पारस्परिकता में उभरे हैं। प्रेमचंद के सामने प्रस्तुत यह चुनौती विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि हिंदी में उनका

रचनाकाल (१९१८-३६ ई०) जीवन के सभी क्षेत्रों में विरोधी शक्तियों के बीच द्वंद्व का काल था। संघर्ष भीतर भी था बाहर भी—राजनीति में, समाज में, आर्थिक तंत्र में और इन सबसे लड़नेवाली नीतियों में भी।

अंग्रेजों ने भारतीयों को राजनीतिक दृष्टि से एक तो किया किंतु उन्होंने जो शिक्षादीक्षा भारत में प्रचलित की, उसका कार्य चंद भारतीय लोगों में शोष जनता के प्रति रुआव भरना ही सिद्ध हुआ।

भारतीय समाज सामंती और महाजनी, दुहरी व्यवस्था के गिकंजे में जकड़ गया था। बहु-संख्यक किसान जनता—जमींदार, धर्म, सामाजिक रुढ़ियों, अधविश्वासों के कुचक्र में ऐसी त्रस्त और निरीह हो गई थी कि गाँव से शहर और खेती से मजूरी की ओर बढ़ने लगी थी। 'गोदान' का गोबर और 'पूस की रात' का हल्कू इसी वस्तुस्थिति को प्रकट करते हैं। पहले जमींदार और किसान थे। अब क्रमशः विकसित होती पूँजीवादी व्यवस्था ने पूँजीपति और मजदूर के रूप में एक वर्गभेद और खड़ा कर दिया। वर्गसंघर्ष के अतिरिक्त समाज में व्याप्त पुराने नए मूल्यों के संघर्ष को भी यथार्थवादी सामाजिक चेतना के उपन्यासकारों ने भलीभाँति देखा और अनुभव किया था। जर्जरित रुढ़िवादी मूल्यों की प्रतिष्ठा को इन्होंने अपने उपन्यासों में चित्रित किया। इस संघर्ष में पड़े पात्रों के लिये, विशेषकर प्रेमचंद ने जो समाधान खोजे हैं उनमें मिलनेवाला आदर्श का गहरा रंग, सत्यापित यथार्थ ढूँढ़नेवालों का विशेष समर्थन नहीं पा सका। सामाजिक यथार्थ को चित्रित करनेवाले इन उपन्यासों में जिस विषमता का चित्रण किया गया है उसका मूल आर्थिक विषमता में निहित है—वह नारी जीवन की विषमता हो, या किसानमजदूर के जीवन की।

सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति कहीं सीमित फलक पर हुई (सेवासदन) और कहीं अत्यंत व्यापक राष्ट्रीय फलक पर (रंगभूमि)। रंगभूमि में तो उस समय का संपूर्ण राजनीतिक परिदृश्य उपस्थित है। 'गबन' में भी उच्चवर्ग के लोगों और नेताओं की मानसिकता का अच्छा उद्घाटन हुआ है। 'कर्मभूमि' में तो राजनीति के साथ सामाजिक आर्थिक चेतना के अनेक आयाम सन्निहित हो गए हैं। इन उपन्यासों में स्थिति का वर्णन भी है, संक्रांति का भी। एक युग दूसरे में बदल रहा है, इस बदलाव की पहचान प्रेमचंद के उपन्यासों में, विशेषकर 'गोदान' में स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

प्रेमचंद के सामाजिकचेतनासंपन्न यथार्थवादी उपन्यासों की परंपरा में विश्वभरनाथ शर्मा कौशिक का नाम विशेष रूप से लिया जाता रहा है किंतु सामाजिक या मनोवैज्ञानिक—किसी भी स्तर पर उनके उपन्यासों में गहरे द्वंद्व या तनाव की पहचान का अभाव ही मिलता है। प्रेमचंद की समकक्षता वस्तुतः कोई दूसरा उपन्यासकार इस युग में नहीं कर सका।

प्रेमचंद की कला के प्रभाव से इस युग की अन्य उपन्यासशैलियाँ भी अछूती नहीं रहीं। उन्होंने स्वयं कोई ऐतिहासिक उपन्यास नहीं लिखा पर उनकी उपन्यासकला से तत्कालीन ऐतिहासिक उपन्यासकला का संस्कार निश्चित रूप से हुआ। ऐतिहासिक-उपन्यास-रचना की कला को परिपक्वता तो बृंदावनलाल वर्मा के हाथों ही प्राप्त हुई किंतु उनके पूर्ववर्ती ऐतिहासिक उपन्यासों से तुलना करने पर यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि उपन्यास कला को इस उत्कर्ष

तक पहुँचाने में प्रेमचंद का कितना योगदान है। विचाराधीन युग में ऐतिहासिक उपन्यासों में वर्माजी के अतिरिक्त चतुरसेन शास्त्री, निराला तथा भगवतोचरण वर्मा का उल्लेख किया जाता है। इनमें से चतुरसेन शास्त्री की दृष्टि, इतिहास से अधिक, इतिहास की चकाचौंध पर केंद्रित है। सार्वजनिक, सहज जीवनचारा को चित्रित करने का प्रयत्न वे नहीं करते। इतिहाससंबंधी उनका दृष्टिकोण आलोचनात्मक, विश्लेषणात्मक नहीं है। इतिहास उनके लिये ऐश्वर्य है, नका-चौंध और गरिमा है।

इनसे एकदम भिन्न वृंदावनलाल वर्मा 'वर्तमान की समस्याओं को लेकर प्राचीन में रम' गए और 'उपन्यास के रूप में जनता के सामने अपनी बातों को' रखने का उपक्रम करने लगे। वर्माजी ने इतिहास के माध्यम से जीवन का अन्वयकर उसे उपन्यास का रूप प्रदान किया। ऐतिहासिक उपन्यास को यह अभिप्राय देने के लिये उन्होंने इतिहासग्रंथों के साथ साथ जीवन-प्रवाह से भी सामग्री ली। ऐतिहासिक तथ्यों के साथ कल्पना के मेल से वे प्रायः बीते हुए युग को उसकी समग्रता में खड़ा करने का प्रयास करते रहे, और लगे हाथों समसामयिक आशयों की भी यथासंभव पूर्ति करते रहे। उदाहरण के लिये 'गढ़ कुंडार' में उन्होंने जातिभेद की समस्या को तीन समानांतर कथाओं के आश्रय से व्यक्त किया। इसके अलावा उनके उपन्यासों में उस स्वच्छंदतावादी दृष्टि का उन्मेष भी मिलता है, जो इस युग की प्रमुख काव्यप्रवृत्ति 'छायावाद' की प्रेरक रही।

इन सबसे अलग, ऐतिहासिकता का आभास देते हुए भगवतोचरण वर्मा ने अपने उपन्यास 'चित्रलेखा' की रचना की। उन्होंने पाप पुण्य, नैतिक अनैतिक, धर्म अधर्म से जुड़े पारंपरिक मूल्यों का प्रश्न इस उपन्यास में उठाकर इसे दार्शनिक रंग दिया है। ये प्रश्न जहाँ आधुनिक जीवन के प्रति उनकी संपूर्ण को प्रस्तावित करते हैं, वहाँ ऐतिहासिक कथासंदर्भों को ग्रहणकर उन्होंने इन प्रश्नों को कालगत आयाम देने का प्रयत्न किया है। उनकी चिंता सांस्कृतिक अधिक है।

कुल मिलाकर इस युग के ऐतिहासिक उपन्यासों में रचनासंख्या की दृष्टि से कमी भले ही आई हो (अपने पूर्ववर्ती युग की तुलना में) किन्तु वैविध्य और कलात्मकता में निश्चय ही वृद्धि हुई है। इस शैली का उत्तरोत्तर विकास स्वयं वृंदावनलाल वर्मा एवं चतुरसेन शास्त्री की बाद की कृतियों में हुआ।

ऐतिहासिक उपन्यासों के समानांतर स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति का एक रूप इस युग के रोमानी उपन्यासों में भी देखने को मिलता है। इन उपन्यासों की धुरी प्रेम है और इनमें वर्तमान सामाजिक परिवेश में प्रणय के उज्ज्वल एवं उदात्त रूप को प्रस्तुत किया गया है। यह आकस्मिक नहीं है कि इन उपन्यासों की रचना मुख्यतः छायावाद के कवि प्रसाद के हाथों हुई। आपाततः यथार्थ जीवन से कथानक लेकर भी 'बंफाल' और 'तितली' में प्रसाद ने प्रणय के प्रति स्वच्छंदतावादी दृष्टि का परिचय देते हुए व्यक्तिवादी का समर्थन किया। प्रकृति की रम्य पृष्ठभूमि, रूप और यौवन के कलात्मक चित्र तथा काव्यमय एवं अलंकृत भाषा, सब मिलकर इन उपन्यासों को एक रोमानी रंगत प्रदान कर देते हैं। अधूरा होते हुए भी 'हरावती' इन दोनों से भी अधिक रोमानी है। लगभग यही स्थिति निराला के उपन्यासों की है। 'अप्सरा', 'अलका' और 'प्रभावती' प्रेमकथाएँ तो हैं ही, अपनी मोहकता एवं सरसता

में रोमानी भी हैं। इसी धारा में मूलतः ऐतिहासिक उपन्यासकार वृंदावनलाल वर्मा ने भी कतिपय सामाजिक प्रेमकथाओं की रचना की है। इनके अतिरिक्त चतुरसेन शास्त्री, उपादेवी मिश्रा, भगवतीचरण वर्मा, गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश आदि द्वारा रचित अनेक उपन्यासों की गिनती इस प्रवृत्ति के अंतर्गत की जाती है। यह बात अलग है कि प्रसाद और निराला को छोड़कर, शेष कृतियों ने साहित्य में कोई गंभीर एवं स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ा। वैसे रोमानियत का संधान आलोचकों ने काफी दूर तक वृंदावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में भी किया है और एक हद तक भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' में भी।

जहाँ एक ओर यथार्थ की समस्याओं के लिये इस युग के उपन्यासकारों ने इतिहास और कल्पना का आश्रय लिया, वहाँ इस प्रवृत्ति के ठीक विरुद्ध प्रकृतवादीधारा के उपन्यासकारों ने यथार्थ के नग्न, अमिश्र रूप को ग्रहण किया। न इन रचनाकारों के कथ्य में वक्रता थी न कथन में। जीवन के किसी पक्ष से इन्हें परहेज नहीं। वह हत्या हो या व्यभिचार—वह जीवन में है, तो साहित्य में भी है। इनका कौशल सूक्ष्मनिरीक्षण और व्योरेवार वर्णन के सहारे उसे अभिव्यक्त करने में है। इनका महत्व इसी में है कि मानवता का एक पक्ष इनके माध्यम से सामने आता है। यह बात विचारणीय है कि यथार्थवाद के नाम पर जीवन की नग्नता और कुत्सा की स्वीकृति साहित्य में किस हद तक और किस रूप में की जा सकती है। यही कारण है कि इस धारा के लेखकों को प्रशंसा की अपेक्षा निंदा ही अधिक मिली। हिंदी में यह प्रवृत्ति समानधर्मी पश्चिमी उपन्यासों के प्रभाव से प्रचलित हुई। इनमें पश्चिमी प्रकृतवाद का खुलापन तो मिलता है किंतु जीवन के प्रति वैसी वैज्ञानिक दृष्टि नहीं। उनपर भारतीय सुधारवादी आंदोलनों का प्रभाव भी है, अतः कहीं कहीं उपदेश की प्रवृत्ति भी। प्रकृतवाद का नैराश्य भी उनमें पर्याप्त नहीं है। उनके उपन्यासों में जगह जगह आदर्शवादी रुझान और समाज के उत्थान की कामना प्रकट हुई है। मनुष्य के भीतर के पशु का इन्होंने उद्घाटन तो किया किंतु उसके स्वच्छंद विचरण का उन्मुक्त समर्थन नहीं। इन उपन्यासों की ग्राह्यता को लेकर जो मतभेद हैं, उसके मूल में समस्या इसी बात के निर्णय की है कि यथार्थ का नग्न चित्रण इनके लिये साध्य है या साधन? प्रश्न यही है कि जीवन की नग्नता के ये अतिरंजित या कम से कम व्योरेवार विस्तृत और फूहड़ वर्णन, इस जीवन के प्रति घृणा और चिंता उत्पन्न करते हैं या सस्ता मनोरंजन कर कुत्सित वृत्तियों का पोषण करते हैं? यथार्थ की प्रामाणिकता का आग्रह इन उपन्यासों में इस हद तक है कि उग्र ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'चंद हसीनों के खतूत' की रचना के लिये पत्रशैली का सहारा लिया है। इस धारा के उपन्यासकारों में पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री और ऋषभचरण जैन के नाम मुख्य रूप से लिए जाते हैं। यदि निबंध और नग्न यथार्थ की अभिव्यक्ति साहित्य की शक्ति मानी जा सके, तो वह इनमें है पर यदि रुचि यथार्थ में न रहकर नग्नता में होने लगे, तब यथार्थविषयक गंभीर विचार या चिंतन को प्रेरित करने के बजाय ऐसा साहित्य सस्ता मनोरंजन प्रदान करने लगता है। उत्कृष्ट कलात्मक अभिव्यक्ति के लिये अपेक्षित संयम का अभाव इस प्रवृत्ति की सीमा है।

जहाँतक इस युग के उपन्यास साहित्य के शिल्प का प्रश्न है, उसे मध्ययुगीन आख्यान के ढाँचे से मुक्तकर आधुनिक औपन्यासिक रूपाकार देने का श्रेय भी प्रेमचंद को ही जाता है। हिंदी उपन्यास में प्रेमचंद के 'सेवासदन' में पहली बार घटनाओं और चरित्रों के ठोस वस्तुगत-

स्वरूप पर बलाघात उनके संगठनात्मक आशय को चरितार्थ करता दिखाई पड़ता है। प्रेमचंद ने सहभागी दृष्टि से घटना को उसके पहलुओं के विधान में पहचाना। यही पहचान उसे कला-नियमों के अनुशासन में धारण करना है। देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों की घटनाप्रधान-संरचना से प्रेमचंद के उपन्यासों की तुलना करने पर, जीवन की यह ठोस पहचान स्पष्टतः अलग-अलग जा सकती है। प्रेमचंद ने जो औपन्यासिकविधान विरासत में पाया था, उसे देखते हुए घटनाओं को उनके यथार्थ प्रसंगों में और समाज के विविध संबंधों में पहचान लेना, बहुत बड़ा क्रांतिकारी घटना थी। इस पहचान ने एक नए रचनात्मक विन्यास के लिये जमीन तैयार की। घटनाएँ उनके उपन्यासों में सिर्फ कलासामग्री के रूप में अपनी पहचान नहीं बनातीं, बल्कि वे उन्हें संगठित कर कथानक या रूपबंध के रूप में विकसित करते हैं। घटनाएँ प्रेमचंद के उपन्यासों में तथ्य नहीं, सामाजिक समस्याएँ हैं। जिस सामाजिक परिवेश में ये समस्याएँ स्थित हैं, उसमें निहित गति और प्रक्रिया को प्रेमचंद धारण करके गतिशील कथानक की शक्ल देते हैं, जिसका जीवंत विकास होता है। चरित्र, स्थिति और कार्य उनके उपन्यासों में पूरी तरह एक-दूसरे की सापेक्षता में स्थित हैं। प्रेमचंद की शक्ति और सफलता इस बात में है कि वे समाज में सामान्यतः फैले दृश्यों, घटनाओं और परिस्थितियों को एक खास अनुपात में रखकर किन्हीं खास बिंदुओं पर बलाघात देते चलते हैं। यही उनकी लेखकीय विशेषता है। उनके उपन्यासों का ढाँचा आदर्शवादी और यथार्थवादी शक्तियों के तनाव या अंतर्विरोध से बनता है। जहाँ वे इनके समन्वय की बात करत हैं वहाँ भी उनकी रचना का प्रभाव समन्वय में से नहीं, तनाव और विरोध में से उभरता है।

ठोस वास्तविकता के आग्रही प्रेमचंद की भाषा भी विषयानुरूप सजीव और प्रभावोत्पादक है। वे शब्दों का गोरखधंधा रचकर पाठकों को भ्रम में डालने के विरोधी थे। उन्हें जनरलिक पर विश्वास था कि वह उन्हीं उपन्यासों को आदर का स्थान देती है, जिनकी विशेषता उनकी गूढ़ता नहीं उनकी सरलता होती है। किंतु उनकी सरलता वास्तविकता के स्वीकार से विशेष अर्थवान होती चलती है।

प्रेमचंद से भिन्न छायावादी कवियों, प्रसाद और निराला के उपन्यासों का शिल्प कुछ दूसरे ढंग का है। उपन्यास के विधागत दबाव से प्रसाद भी यथार्थ के संघटकतत्वों का इस्तेमाल अपनी रचनाओं में करते हैं किंतु इसके बावजूद एक 'आभिजात्य गरिमा और गीतात्मक तरलता की जलवायु उनके उपन्यासों के प्रभाव को नम बनाती है।' इससे कुछ अलग मिजाज निराला की औपन्यासिक रचनाओं का है 'उद्दंड आकस्मिक', कुछ प्रेमचंद के से ढंग का। विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, चतुरसेन शास्त्री, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' आदि सामान्य कोटि के उपन्यासकार, रचनाशिल्प की दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं करते।

शिल्पसंरचना में उत्कृष्टतम अंतर पहले पहल १९२९ ई० में प्रकाशित जैनेंद्र के उपन्यास 'परस्पर' में दिखाई पड़ता है। जिसका चरम रूप बाद में (१९३७ ई०) उन्हीं की रचना 'त्याग-पत्र' में उभरता है। यह अंतर भगवतीचरण वर्मा की रचना 'चित्रलेखा' में और अधिक स्पष्ट होता दिखाई पड़ता है और इलाचंद्र जोशी के उपन्यास 'घृणामयी' से मनोवैज्ञानिक रचनापद्धति की शुरूआत का आभास मिलने लगता है।

प्रेमचंद और जैनंद्र के औपन्यासिक विधान में मौलिक अंतर इस बात से पैदा होता है कि जहाँ प्रेमचंद देश, घटना और इतिहास के शिकंजे में जकड़े मनुष्य की ठोस वास्तविकता को स्वीकार करते हैं वहाँ जैनंद्र इस शिकंजे से मुक्त उस स्वतंत्रता की हिमायत करते हैं, जो उनके विचारों को भाववादी और देशकालातीत होने की सुविधा प्रदान करती है। उनकी 'भागवत-शक्ति' संबंधी अवधारणा और आनुपांग चिंतन में यह दृष्टि स्पष्ट देखी जा सकती है। डा० देवराज ने इसी लिये 'जीवन की झलक मात्र दिखाते हुए पाठकों को गहरे आत्मचिंतन में लीन करना' जैनंद्र की कला का लक्ष्य माना है। उनके उपन्यासों में इसलिये वास्तविकता नहीं, ठोस समस्या भी नहीं, भंगिमाएँ हैं—समस्याओं की भी और भाषा की भी। वे अपने तकनीकी कौशल के मातहत 'जगह जगह कहानी के तार की कड़ियाँ तोड़' देते हैं, ताकि 'पाठकों को थोड़ा कूदना' पड़े और इस आयास को वे बांछनीय मानते हैं। कठिनाई इस कौशल से नहीं, इस कौशल के कथानकनिरपेक्ष या कहें कि वास्तविकतानिरपेक्ष प्रयोग से पैदा होती है।

प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में जो प्रस्थानभेद मिलता है उसके मूल में यह आकांक्षा निहित है कि संकल्पनाओं के आधार पर रचित ये उपन्यास सभ्यतः प्रेमचंद के उपन्यासों के मुकाबले कुछ अधिक गंभीर, गहरे और सूक्ष्म एवं मार्मिक अनुभूतियों से संपन्न सिद्ध हों। 'चित्रलेखा' में पाप पुण्य, नैतिक अनैतिक संबंधी संकल्पना के सहारे जो विराट दर्शनाभास घटाटोप खड़ा किया गया है वह भावुक त्याग से प्रेरित मार्मिकता, यानी एक प्रकार से रोमानवाद से आगे नहीं ले जाता। जैनंद्र और भगवतीचरण वर्मा जीवन के ठोस वास्तविक संदर्भों से कटे रहकर भी अपने समय को बहुत सूक्ष्म और गहरी समस्याओं से जूझने का भ्रम खड़ा करते हैं। अपने समय की वास्तविकता का, चुनौतियों और ऐतिहासिक दबावों का, स्वरूप सामना करने का जो साहस प्रेमचंद में मिलता है, वह उनके वाद दुर्लभ हो गया।

प्रेमचंद ने यही काम कहानी के क्षेत्र में भी किया। नीति-उपदेशात्मक एवं कौतूहल-मनोरंजन-प्रधान कहानी की परंपरा को प्रेमचंद की कहानियों में ही ठोस यथार्थ की भूमि मिली। प्रेमचंद से पहले शिक्षा की प्रवृत्ति हिंदी कहानी में कुछ ऐसे अविकल रूप से चली आई थी कि स्वयं प्रेमचंद की आरंभिक कहानियों पर इस प्रवृत्ति का प्रभाव दिखाई पड़ता है। कौतूहल और चमत्कारप्रधान घटनाबहुल कथाओं के ढाँचे, उनमें भी संयोगतत्त्व का प्रचुर प्रयोग, नीति और मर्यादा की रक्षा में संघर्षरत चरित्र, जो नियत उद्देश्यों के लिये नियत विधि से सक्रिय रहते थे, लंबे लंबे वर्णन और अनियत गद्यशैली—यही वह सब कुछ था जिसे प्रेमचंद ने विरासत में पाया था। वर्णनों पर कहीं कहीं रीतिकालीन काव्य के प्रभाव का भी अभाव नहीं है। धार्मिककथाओं से लोककथाओं तक, और फारसी की मसनवी शैली से कथावाचन की किस्सा-गोई तक, प्रेमचंदपूर्व कहानीलेखन में अनेक प्रवृत्तियों का मिलाजुला रूप देखा जा सकता है।

प्रेमचंद से पहले यद्यपि चंद्रधर शर्मा गुलेरी की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' छप चुकी थी (१९१५ ई०) किंतु इस कहानी के प्रकाशन के बाद भी यथार्थधर्मी कहानियों की रचना की प्रवृत्ति का सिलसिला शुरू नहीं हो सका। अपनी समग्र जटिलता के साथ यथार्थ का बहुआयामी दबाव प्रेमचंदपूर्व युग की कहानियों में दिखाई नहीं पड़ता। इसी लिये उनमें न विश्वसनीयता है न स्वाभाविकता। यथार्थ को पूरी तरह व्यक्त करने में तत्पर कहानियाँ प्रेमचंद ने ही लिखीं। उनके समसामयिक अन्य कहानीकारों में से कुछ उनके अनुयायी हैं और कुछ उनके

पूरक । साहित्य में प्रेमचंद की स्थिति राजनीति में गांधीजी की स्थिति के समानांतर है । जिस प्रकार गांधीजी का व्यक्तित्व और गांधीवादी आंदोलन सर्वग्राही थे, उसी प्रकार की सर्वग्राहिता प्रेमचंद की कहानियों में भी उपलब्ध होती है । उनकी कहानियों का क्षेत्र विशद और व्यापक है, और पात्र विविधतापूर्ण । उनकी कहानियों में तत्कालीन उत्तरी भारत, विशेषतः हिंदीभाषी क्षेत्र का संपूर्ण जीवन रूपायित हुआ है ।

इस एक अनेक कहानीकार के कथासाहित्य में कहानियों के जितने विविध रूप मिलते हैं उन्हीं देखकर आश्चर्य होता है । प्रेमचंद ने लोकगाथात्मक, उपदेशपरक, आदर्शोन्मुख, यथार्थवादी सभी प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं ।

प्रेमचंद स्वदेशी विदेशी कथासाहित्य से भलीभाँति परिचित थे किंतु कहानी कहने की कला उन्होंने पश्चिम से नहीं सीखी । उनकी प्रारंभिक और अधिकांश कहानियों पर मध्यकालीन प्रकथनात्मकता का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है—मानो चौपाल में बैठे कोई बुजुर्ग-बार कहानी सुना रहे हों । यानी प्रेमचंद कहानी सुनाते हैं और कहानी सुनाते समय श्रोता और पाठक उनकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं होते । उनका श्रोता और पाठक, उनकी कहानियों के रचनाविधान का निहायत अंतरंग हिस्सा बना रहता है । यही शायद उनकी लोकप्रियता का सबसे बड़ा रहस्य है ।

प्रेमचंद ने पुराने किस्सों और कथाओं से किस्सागोई का अंदाज तो लिया, लेकिन विषयवस्तु समसामयिक जनजीवन से ग्रहण की । इसी लिये क्रमशः किस्सागोई का ढाँचा भी एकदम वही नहीं रह गया । सबसे बड़ा परिवर्तन तो यही था कि उन्होंने कहानी को मनोरंजन या कौतूहल का विषय ही न बना रहने देकर, उसे गंभीर विद्या का रूप दिया । उनकी कहानियों के माध्यम से पाठकों ने अपने परिवेश को नए सिरे से पहचाना । उन्होंने अपनी रचनादृष्टि को, अपने युग के केंद्रीय अंतर्विरोध अर्थात् आर्थिक, राजनैतिक अंतर्विरोध पर आधारित किया । इसी लिये वे युगीन भी हो सके और कालजयी भी । गहरे भी और व्यापक भी । प्रेमचंद की कहानियों में अंतर्विरोधों की यह पहचान, अवधारणा के स्तर पर नहीं स्थितियों के स्तर पर व्यक्त होती है । समस्याओं को वे स्थितियों में व्याप्त रूप में अंकित करते हैं । जीवन में व्याप्त विषमता उनकी कहानियों में ठोस वास्तविकता में उजागर होती है, यथोचित व्यंग के साथ—जैसे 'पूस की रात' और 'कफन' में ।

उनके यहाँ हृदयपरिवर्तन की 'जादू की छड़ी' से प्रेरित कहानियाँ भी काफी हैं, जैसे 'इस्तीफा', 'पंच परमेश्वर', 'बड़े घर की बेटी' आदि । यह हृदयपरिवर्तन गांधीवादी आदर्शवाद से प्रेरित है । वहीं यह आदर्शवाद आकांक्षित लगता है, और वहीं कथानक की भाँग जैसा । किंतु समस्याओं का चित्रण प्रेमचंद ने सर्वत्र यथार्थवादी पद्धति से किया है ।

प्रेमचंद की कहानियों की मुख्य चिन्ता मानवीय पीड़ा है । उन्होंने हर क्षेत्र में पीड़ित व्यक्ति को सहानुभूति दी है । निम्न वर्ग के साथ साथ मध्य और उच्चवर्ग के मन की पीड़ा को भी उन्होंने समझा है । उन्होंने समाज के प्रायः सभी विषयों से संबंधित कहानियाँ लिखी हैं । इसी लिये उनके पात्रों में—विशेषकर नारी पात्रों में बहुत वैविध्य मिलता है ।

प्रेमचंद युग के अन्य कहानीकारों पर प्रेमचंद की पारिवारिक कहानियों का प्रभाव है । कौशिक और सुदर्शन की कहानियों पर यह प्रभाव बहुत स्पष्ट है । प्रसाद, चतुरसेन शास्त्री

आदि की रचनाओं पर कहीं कहीं उसकी छाया दिखाई पड़ती है। वैसे छायावादी कवियों में से प्रसाद अतीत के रोमानी रंग भरते हुए कल्पना के सहारे स्वप्निल संसार निर्मित करके स्थितियों की कचोट व्यंजित करते हैं और निराला प्रेमचंद के सामाजिक यथार्थवाद को और गहराते हैं। काव्यात्मकता, रायकृष्णदास और हृदयेश की कहानियों में मिलती है। पांडेय वेचन शर्मा 'उग्र' और जैनेंद्र की स्थिति कुछ भिन्न और विशिष्ट है। 'उग्र' का बन्धु कहीं कहीं भाषा के निराला के समान प्रयोग से चुटीला हो जाता है। किंतु कुल मिलाकर भाषा के पैतरे भाँजने के फेर में उनमें कलात्मक सहजता की क्षति होती है। प्रेमचंद की कला की सहजता जैनेंद्र में भी नहीं मिलती। भाषा के पैतरे उनकी कहानियों में भी कम नहीं हैं।

प्रेमचंद की कहानियों में फुरसत की कला है। इसलिये रचनाकारबन्धु, सामाजिक और रचना के बीच अंतरंगता कायम करने में वे जितने सफल हो सके हैं, वह दूसरे कहानीकारों में दुर्लभ है। उनकी कहानियों में हिंदीभाषी क्षेत्र का अतिपरिचित जीवन, अतिपरिचित भाषा में रूपांतरित करके रख दिया गया है—जैसा का तैसा। कलात्मकता जीवन्मुखों के चुनाव और उनके संयोजन में है—इन खंडों के बीच रिश्ता कायम करने में है। उनके बयानक आंतरिक ताकिकता, अनिवार्यता या संगति के अनुरोध से विकसित होते हैं।

प्रेमचंद की कला में नाट्यतत्त्व भी पर्याप्त है। उनकी कहानियों में यह नाट्यतत्त्व पात्रों के अनुभावविधान एवं उनके बाह्य आचरण के रूप में प्रकट होता है। इससे उनके पात्रों के मनोजगत की हलचल तो व्यक्त होती ही है, वर्णनों में दृश्यात्मकता का गुण उन्हें नाट्यधर्मी बनाता है।

प्रेमचंद की कहानियों में व्यंग्य की भी कमी नहीं। उनकी संवेदना का क्षेत्र व्यापक भी है और इस व्यापकता में गहराई भी है। उनके व्यंग्य का संबंध इसी व्यापक और गहरी संवेदना से है। किसी भी स्थिति के व्यंग्य पक्ष की उपेक्षा करना वे नहीं जानते और तारीफ यह कि यह व्यंग्य प्रायः निहायत सादगी से व्यक्त शब्दों की स्थिति में से अचूक निशानों की तरह फूटता है।

इस सादगी की सहज विश्वसनीयता से भिन्न जैनेंद्र की कहानियों की मनोवैज्ञानिक कला है। मनोवैज्ञानिकता का अभाव प्रेमचंद के यहाँ भी नहीं है परंतु जैनेंद्र की सो स्फारित मनोवैज्ञानिकता वहाँ नहीं मिलती, जो मनोवैज्ञानिकता के अतिरिक्त आरोप के कारण, उन्हें इस उपाधि का अधिकारी बना दे। जैनेंद्र की कहानियों में स्थितियाँ विचारों को उजागर नहीं करतीं, विचारों के पूर्वाग्रह के कारण जुटाई जाती हैं। जैनेंद्र मनोवैज्ञानिक तथ्य पर बल देते हैं और 'उग्र' सामाजिक तथ्यों पर किंतु सहज रूप में नहीं। वे झटके पर झटका देते हुए कहानी में आकस्मिकता भर देते हैं। भाषा सबने अपने अपने कथ्य के अनुरूप गढ़ी है। प्रेमचंद में सहज भाषा की सामर्थ्य है और जैनेंद्र ने सहज भाषा को जानबूझकर गढ़ने की सामर्थ्य दिखाई है। प्रसाद की भाषा में तत्सम पदावली से बीता हुआ वातावरण सजीव होता है, और 'उग्र' लटकेबाजी और चुटुल से कहीं कहीं अद्भुत मामिवता उत्पन्न करते हैं।

विचाराधीन युग में कहानियों की एक धारा रोमानी ऐतिहासिक कहानी के रूप में भी उपलब्ध है। साहित्यकार का वर्तमान उसके समक्ष हमेशा रचनात्मक चुनौती के रूप में प्रस्तुत रहता है। वर्तमान से असंतोष उसे या तो आदर्श के प्रति उन्मुख करता है या असाधारणता और असामान्यता के लिये, उसके मन में मोह पैदा करता है। सामान्यतर के मोह से संपन्न इन

कहानियों का आरंभ छायावादी कवियों द्वारा ही हुआ। 'प्रसाद' के तीनों कहानि-संग्रहों—'छाया', 'प्रतिध्वनि' और 'आकाशदीप' में रोमानी कहानी का शिल्प क्रमशः प्रौढ़ होता गया है। आरंभिक कहानियों में भावुक कविहृदय के रोमानी स्वप्न अंकित हुए हैं। बाद की कहानियों में आर्थिक सामाजिक प्रश्न भी उठाए गए और 'प्रतिध्वनि' की कहानियों में प्रसाद जी की भावात्मक काव्यात्मकता के साथ रहस्यात्मकता, दार्शनिकता और आदर्शवादिता का योग भी दिखाई पड़ने लगता है। उनकी अधिकांश कहानियों की केंद्रीय वस्तु प्रेम है। कला में उत्तरोत्तर विकास के साथ प्रेम के अंकन की शैली में सूक्ष्मता और द्वंद्वात्मक विधान आता गया। 'आँधी' और 'इंद्रजाल' तक आते आते उनकी रोमानी कल्पना और भावुकता की परिणति यथार्थ में होने लगी। 'इंद्रजाल' की कहानियों में भावुकता, आदर्शवादिता और कल्पनाशीलता के साथ साथ संयम और संतुलन भी विद्यमान है। मूल दृष्टि के अनुरूप इन कहानियों की शैली में विविधता है। गद्यगीतात्मकता एवं प्रतीकात्मकता से लेकर अंतर्द्वंद्वजन्य द्वंद्वात्मक नाटकीय-विधान तक का प्रयोग इनमें किया गया है।

प्रसाद से भिन्न निराला की कहानियों में सघन रोमानियत तो नहीं किंतु उनके कालान्तरिक समाधानों के कारण रामविलास शर्मा ने इन्हें दिवास्वप्न की संज्ञा दी है। इन कहानियों में सामाजिक, आर्थिक प्रश्न भी उठाए गए हैं और सामाजिक व्यवस्था एवं रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह का स्वर भी व्यक्त हुआ है, किंतु इनकी परिणति प्रायः 'दिवा स्वप्निल' है। पंत जी ने कहानियों की रचना प्रगतिवाद के प्रभाव के दौरान की किंतु रोमानी वृत्ति के कारण साधारण स्थितियों और पात्रों में असाधारणत्व की खोज का प्रयास उन्होंने भी किया।

छायावादी कवियों के अतिरिक्त इस दौर के रोमानी कथाकारों में राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, चंडीप्रसाद हृदयेश, रायकृष्णदास, विनोदशंकर व्यास आदि का उल्लेख किया जाता है। प्रेमचंद के समाजोन्मुख मानवतावाद से भिन्न इन कहानियों में मूलतः व्यक्तिवादी-मानवतावाद का प्रतिफलन हुआ है। अधिकांश कहानियाँ प्रेम के रोमानी और वायवीय रूप को केंद्रीय विषय बनाकर लिखी गई हैं—लगभग वही दृष्टि जो छायावादी कविता में दिखाई पड़ती है। प्रेम का अतींद्रिय रूप, जो सिद्धि की तुलना में त्याग और आत्मदान की प्रतिष्ठा करता है, इन कहानियों का आदर्श है। आदर्श चूंकि बराबर दूर की चीज, कष्टसाध्य और वायवी रहता है, अतः भावुकता और कल्पनाशीलता इन कहानियों में प्रधान हो गई है। सामान्य और साधारण अनुभवसापेक्ष होता है और असामान्य और असाधारण कल्पनासापेक्ष। ये कहानीकार बराबर सहज और साधारण को छोड़कर अप्रत्याशित और असाधारण को साधते रहे हैं। इस हद तक कि जहाँ इन्होंने इतिहास के कथानक अपनाए, वहाँ भी इतिहास की प्रामाणिकता और तथ्यता की चिंता छोड़कर, इतिहास के सहारे इन्होंने स्वप्निल, और काल्पनिक आशयों को सिद्ध किया। परिणामतः इनमें इतिहास से अधिक इतिहास का आभास मुलभ हुआ है। ये कहानियाँ ऐतिहासिक कथानकों से या तो अतीत की भव्यता का ऐंद्रजालिक संमोहन खड़ा करती हैं या राष्ट्रीय आदर्शवाद का स्वरूप खड़ा करती हैं—यथार्थ से अलग एक आकांक्षित संसार, असाधारण और असामान्य। रम्याद्भुत के प्रति इनका मोह वातावरण के निर्माण में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। एक ओर प्रकृति की पृष्ठभूमि और दूसरी ओर वर्णनों में कवित्व और अलंकरण, बिंबधर्मी भाषा, जो कुल मिलाकर कविता का प्रमाण अधिक प्रस्तुत करती हैं। ऐतिहासिक कहानियों का शिल्प अवश्य सरल वर्णात्मक है। विशेषकर वृंदावनलाल वर्मा की कहानियों

की शैली तो एकदम सपाट और अभिधात्मक है। दृश्यात्मक व्योरेवार वर्णन अपनी चित्रात्मकता से प्रभावित करते हैं, कवित्व या अलंकरण से नहीं। इसी लिये इन कहानियों का प्रभाव भी भावप्रवण होता है, विचारोत्तेजक नहीं।

यूँ भावुकता या काल्पनिक भावुकता केवल रोमानी या रोमानी ऐतिहासिक कहानी में ही मिलती हो, ऐसा नहीं है। विवेच्य युग के भीतर यदि एक ओर विभाजन—१९३० से पहले और बाद की कहानी के बीच किया जाय, तो कुल मिलाकर १९३० से पहले की कहानियों में यह विशेषता कमोबेश काफी कहानियों में मिलती है। भावुकता से कहानी को संपूर्ण मुक्ति प्रेमचंद की कहानियों के साथ ही हुई। इस मुक्ति के लिये और तो और उन्हें अपने ही भावात्मक आदर्शवाद से और उससे प्रेरित वर्णनात्मकता और संयोगकौशल से संघर्ष करना पड़ा। उल्लेखनीय परिवर्तन, उनकी २४-२५ के आसपास प्रकाशित होनेवाली कहानियों में ही दिखाई पड़ा। ३० के बाद की कहानी में यथार्थ दृष्टि और मनोविश्लेषण के संकेतों की पहचान स्पष्ट होने लगी। किंतु मनोविश्लेषण की यह प्रवृत्ति मूलतः प्रसाद की कहानियों से भिन्न है। प्रसाद ने काल्पनिक आदर्श से भी आगे जाकर मानवहृदय के तीव्र अंतर्द्वंद्वों को भापा देने की चेष्टा की और इस प्रक्रिया में उनकी कहानियों में छायावादी काव्यत्व के स्पर्श के साथ ही नाटकीयता का अद्भुत संयोग हो गया। मानव के मार्मिक अंतस्संबंधों को उन्होंने काव्य की मर्मस्पर्शिता और नाटक की द्वंद्वात्मकता के योग से अंकित किया।

प्रेमचंद की पिछली कहानियों में जो यथातथ्यता मिलती है, उसका जैनेंद्र और अज्ञेय जैसे कहानीकारों में अभाव है। इन कहानीकारों ने घटनाओं के स्थान पर व्यक्ति के अनुभव को केंद्र में रखने की चेष्टा की है। इसलिये घटनाओं की रेखाएँ प्रायः क्षीण और धुँधली हैं। कहानी में विवरण नहीं है, और जो नहीं दिया गया है, वही उसका वक्तव्य है। यही मित-कथन और अस्पष्टता जैनेंद्र की कला है। प्रेमचंद की यथातथ्यता के विरुद्ध जैनेंद्र और अज्ञेय की कला में सूक्ष्मता है। जैनेंद्र ने तो 'नीलम देश की राजकन्या' में फैंटेसी कला का भी उपयोग किया है। परंतु आगे आनेवाली आधुनिक कहानी की जो भनक प्रेमचंद की 'कफन' और 'पूँस की रात' जैसी कहानियों में सुनाई पड़ती है, वह इन कहानियों में अनुपलब्ध है।

बाद में प्रसाद और प्रेमचंद से प्रभावित कहानीकारों की दो अलग पोटियाँ कहानी के क्षेत्र में आगे बढ़ीं। इनमें से भावुकरोमानी धारा क्रमशः क्षीण होती गई और उसके स्थान पर मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणमूलक प्रवृत्ति ने बल पकड़ा। 'उग्र' इन सबसे कुछ अलग तेवर के रचनाकार थे, शायद पहले राजनीतिक कहानी लेखक भी।

यथार्थवादी परंपरा के भी बाद में एकाधिक रूप विकसित हुए। एक ओर यशपाल ने सामाजिक, नैतिक और राजनीतिक क्षेत्रों में व्याप्त खोखलेपन की अभिव्यक्ति मार्क्सवादी युक्तियों के सहारे की और दूसरी ओर अश्व ने अतिरंजित यथार्थ और अयथार्थ दोनों से भिन्न सहज-यथार्थ की कहानियाँ लिखीं।

कुल मिलाकर विचाराधीन युग कथासाहित्य के विकास और प्रौढ़ताप्राप्ति का युग है। इस युग में कथासाहित्य का जो राजमार्ग तैयार हुआ उसी से आनेवाली पोटियों ने अनेक राहें निकालीं, और गद्य साहित्य को समृद्ध काव्यपरंपरा के समक्ष ला खड़ा किया। इस तथ्य को आज साक्ष्य की अपेक्षा नहीं।

अनुक्रमणिका

ग्रंथ और ग्रंथकार

बृहत् इतिहासक-कथा साहित्य (खंड १२)

अंकल टाम्स केविन	१४२	अब (कहानी)	२०६
अंगरेज वीर बालक	२२४	अब्दुल हलीम साहब	१५७
अंतःपुर का आरंभ	२०७, २११	अभागा	१६०
अंतिम आकांक्षा	५६, ६१	अभागे	२५७
अंधकार	२०६	अभागे का घर	२०६
अंधेर नगरी	१७	अभिज्ञान शाकुंतल	१४६
अंबपालिका	२२०, २२२, २२४, २२७	अभिमन्यु	२२४
अंबरपुर के वीर	२२३	अभी तो मैं जीवित हूँ	२२३
अंधिकादत्त व्यास	२०	अमर अभिलाषा	५६, १०४, ११०, ११२
अकिंचन	२०६	अमरकोश	१४
अघोरी का मोह	२०२	अमर लालसा	१५६
अजातशत्रु	१४४	अमरसिंह राठौर	६५
अर्जुनवेग चुगताई	१५७	अमला वृत्तांत माला	१४१
अज्ञेय	१२८, २४१, २४४, २७३	अमिः स्मृति	२१७
अण्णार्जी पंत	२२३, २२६	अमृतराय	२४४
अत्याचारी का अंत	२५५	अमृतलाल नागर	८४, २५०, २५२, २५७
अद्भुत कथा	२४७, २५१	अमावस्या की राति	२२५
अद्भुत कहानियाँ	२५०	अयोध्य-सिंह उपाध्याय हरिऔध	२०, ३१
अधखिला फूल	२१	अरञ्जणीया	१४६, १५०
अधखिली कली	१४६	अरविंद	११
अनंतप्रसाद विद्यार्थी	२५०, २५७	अरेबियन नाइट्स	१६४, २५८
अनाख्या	२०७	अर्थ	२०५
अनातौले फ्रांस	१६१	अलका	८६, २६६
अनाथ पत्नी	६२	अलायोभा	२३५
अनोखा	१६०	अलिफ लैला	२४६, २५८
अन्नपूर्णा का मंदिर	१४६	अलीवर्दी खाँ की वसीयत	२२३
अन्ना करेनिना	१५६	अलेक्जेंडर पुष्किन	१६४
अपना और पराया	२४८	अलेक्सेई तोलस्तोय	१२६
अपनी कैफियत (निबंध)	१३२	अल्ला हों अकबर	१५३, १५४
अपराध	२०३, २०६	अवगुंठन	२०५
अपराध स्वीकरण	२५५	अविनाशचंद्र दास	१४६, १४७
अप्सरा	८६, २६६	अशया	१५६
अफीम का भूटा	२४७	अशोक	२०२, २१६
		अश्रुपात	१५७
		अस्सी कहानियाँ	२०८

ग्रहकार

१६१

आ

आँख की किरकिरी	१४२, १४६, १४७, १५०
आँखों देखा महायुद्ध	१६१
आँखों की थाह	२०७
आँघा	२०३, २०४, २१२, २१८, २१९, २३३, २३४, २७२
आकर्षण का अर्थ	२०७, २२०
आकाशदीप	१८६, १९६, २०३, २०४, २१२, २१३, २१६-२२२, २३२, २३३, २७२
आगा पीछा	२३४
आचार्य उपगुप्त	२२४
आचार्य चाणक्य	१५५
आजकल (मासिक पत्रिका)	७०
आजाद कथा	१५७
आत्मत्याग की सुरस कथाएँ	२५७, २६०
आत्मदाह	११०,
आत्महत्या	२५७
आत्माराम	१७८, १८८
आदमी और भेड़िया	१५६
आदर्श चाची	१४६
आदर्श दंपति	२१
आदर्श बहू	१४६, १५०
आधुनिक साहित्य	२३८
आनंदमठ	१४५, १४७, १४६, १५१
आनंदराव जोशी	१५५
ऑन ब्रिटेन	१८
आनार द बाल्जाक	१६४
आपत्तियों का पहाड़	१६८
आभा	११०
आर० एल० स्टीवेंसन	२५०
आर० पी० भास्कर	१४५
आर्थर कानन डायल	२७, २६, २४७, २५०-२५४, २५८।
आलक्वाइट ऑन द वेस्टर्न फ्रंट	१६१
आलमगीर	११०
आश्चर्य वृत्तांत	२०, ३१
आश्रम हरिणी	१५२, १५६
आसमानी ताश	१४३
ऑस्कर वाइल्ड	२५०, २५४

इ

इंदु (पत्रिका)	२०१, २३०
इंदुमती	१६६, १७१, १७४, २३०
इंद्रजाल	२०३, २०४, २१३, २१८, २३३, २३४, २७२
इंद्रनाथ चौधरी	१४
इंद्र बसवाड़ा	१५६
इंशा अल्ला खाँ	१६, १६६, १७३
इच्छाराम सूर्यराम देसाई	१५६
इतना सब कहाँ से आया	२२३
इन द ग्रेट गॉड्स हैयर	२५७
इनाम	२२०
इब्राहीम खाँ गार्दी	२२१
इरावती	८६, २६६
इविंग	१६४
इलस्ट्रेटेड वीकली	१५१
इला	१४२
इलाचंद्र जोशी	१०३, १३१, २५०, २६८
इस्तीफा	१८२, १८४, १८८, १९३, २७०

ई

ई० टी० डब्ल्यू हाफमैन	१६४
ईदगाह	१८६, २३५
ईनक आर्डन	२४५, २५८
ईश्वरदास मारवाड़ी	२
ईश्वरी प्रसाद मुर्दारिस	१८
ईश्वरी प्रसाद शर्मा	१४२, १४६, १५८, २५८
ईसप	१६४

उ

उग्र, फाइल और प्रोफाइल	१०६
उदयभानु चरित	१६६
उदयास्त	११०
उदितनारायण लाल	१४२
उद्भ्रांत प्रेम	१५१
उन्मादिनी	२०६, २११, २१४
उपन्यास (लेख)	१५, ६८
उपन्यासकार वृंदावनलाल वर्मा	७८, ६०
उपन्यास रहस्य (निबंध)	१४७
उपमन्यु	२२४
उपहार	२५६
उपहास	१६५
उपेन्द्रनाथ अश्क	२४१, २७३
उमराव सिंह	२५३

उलभन	२०६
उषाकाल	१५२, १५४
उषा देवी मित्रा	८७, ९१, ९६, २६७
उसकी कहानी	२०८, २०९
उसकी माँ	१८६

उसने कहा था	१७५, १८६, १९५, २०३, २३१, २६६
उस पार का योगी	२०२, २१२
उस प्रेम का पुरस्कार	२२३
उस वार	२०५

ऋ

ऋग्वेद	१६५
ऋण साफ और ईमान नहीं टूटा	२२३
ऋषभचरण जैन	५६, १०२, १०३, ११३-११५, ११७, १६१, १८६, २४७
	२५०, २५२, २६७

ए

ए० आई० फ्रांसिस	२५०
एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न	१६६
एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती	१७
एक टोकरी भर मिट्टी	१६६
एक बूंद पानी	२४८
एक रात	२३८, २३९
एकादशी	२६४
एकजोड़िक टेल्स	१६४
एच० जी० वेल्स	२४६
एडगर एलेन पो	१६४
एडगर वालेस	२७, १५८
एडवांस	१५१
एथेंसवासी टाइमन	२४५
एन इंकारनेशन आव् द स्नो	२५७
एन एस० स आव् द डस्क	२५७
एनीबेसेंट	३, ४
एफ० डब्ल्यू वेन	२५०, २५७
एवर क्रांवी	२००
एरिक मेरिया रिमार्क	१६१
एलेक्जेंडर ड्यूमा	६७
ए० शरत्कुमार घोष	२५८
एस० एन० गणेशन (डा०)	१०१, १०३, १०४
ऐस्केट्स आव् द नावेल	२६

ओ

ओसूया कोरोशी	१६२
ओ० हेनरी	२५०, २५६

क

कंकाल	५६, ८७, ८८, ९६-९९, २६६
कंठहार	१६०
कचनार	८४
कटा फटा भंडा	२२३
कढ़ी में कोयला	१०५
कथासरित्सागर	१५५
कन्हैयालाल	२५०, २५७
कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी	१५७
कपालकुंडला	१४६
कफन (कहानी)	३८, १८१, १८२, १८८, १९३, १९५, २२५, २३०, २३५, २३६, २७०, २७३

कबीर	१८७
कब्रिस्तान	२५७
कमल	१४२
कमल प्रसाद राय	१४६
कमला (उपन्यास)	१४७
कमला	२०५, २१२, २१३
कमलाकांत वर्मा	२३८
कमंडी ऑफ एरर्स	२४५
करण घेलो	२५३
करुणा	१४५, १५१, २०६
करुणा की विजय	२०२
कर्मफल	१५८
कर्मभूमि	५१, २६५
कलम का मजदूर: प्रेमचंद	१३०
कला (कहानी)	२०३, २०४
कला और कृत्रिमता	२०७, २२०
कला और रचना कौशल	१२६
कलावती की शिक्षा	२०२
कल्पना	२०७
कल्याणी	५६
कवि और कलावंत	२२०
कविवचन सुधा (पत्रिका)	१७
कहानी नई कहानी	२४१
काजर की कोठड़ी	२५
कादंबरी	१४६, १६५, २४६
कानों में कंगना	२०६, २३०
कान्हू चौहान	२२४

कापालिक डाकु	१४३	कृष्णप्रकाश अखौरी	२६
काबूलीवाला	२४६	कृष्णमनोहर सिंह सांडल	२५६
कामतानाथ श्रीवास्तव	१५६	कृष्णलाल वर्मा	२४८, २५१
कामायनी	२०२, २०४	कृष्णवल्लभ द्विवेदी	१५६
कॉमिडी आव् ऐरर्स	१४६	कृष्णानंद गुप्त	६५, ६५, १५६
कायदे की बात	२२३	कृष्णानंद जांशी	२
कायाकल्प	४७	केतकी की शादी	२६
कार्तिक प्रसाद खत्री	३०, १४२	केन (उपन्यास)	६५, ६५
कार्तिकेय चरण मुखोपाध्याय	१४३, २५०	केशोराम सब्बरवाल	२
कार्ल मार्क्स १३, १८, ३४, ५२, १००, १२८,	२४१, २७३	के० सी० चटर्जी	१४६
काला पुरोहित	२४६, २५२	कैदी	१६०, १६१
कार्लोचरण पाणिग्राही	२५०	कैलाश प्रकाश (डा०)	६२
काशोनाथ त्रिवेदी	२५६	कोकिला	१५६
किंग लियर	१४६	कोलतार	१५७
किरणमयी	१५२	कीतुक माला और बोध वचन	२४७, २५१
किशनलाल	१५७	क्या कहा	२४४
किशोरलाल गोस्वामी १४, २७-३१, ६२,	१५३, १५५, १६६,	क्लारारं व	१४, १५, ८५
६३, ८६, ६३, १५१, १५३, १५५, १६६,	१७२, २३०, २३४	क्रांति का केतु	२२०
किस्सा गुलाबकली	१६५	क्रांतिकारी	१५६
किस्सा चंपा चमेली	२४७	क्रांतिकर्क	१५८
किस्सा तोता	२४७	क्राइम ऐंड पनिशमेंट	१५६
किस्सा तोता भैना	२४७	क्राक्सॉल	२५
किस्सा शाहूरूप	१६६	क्रास	१५
किस्सा सौदागर वच्चा	२४७	क्रिस्ताफवान शिमिड	१६१
कीथ	१४	क्रूजर सोनाटा	२५३, २५४, २५६
कुंडलीचक्र	५६, ६०, ६१	ख	
कुभा की तलवार	२२६	खंडहर की लिपि	२०२, २३४
कुणाल	२२४	खजाना किसका	२२३
कुछ आप बीती कुछ जग बीती	१६६, १७२	खवास का ब्याह (पूर्णहृति)	६६, ६७, ८४, ११०
कुछ विचार (प्रेमचंद)	३३, ६८	खान अब्दुलगफार खाँ	३
कुत्ते का पुठा	२५०, २६०	खुदाराम	१६७
कुत्तेवाली	२६२	खून	१४३
कुप्रिन	१६१	खून की खोज	२६
कुमार सिद्धार्थ	२२४	खेमी	२५६, २५६
कुमारी	२४५	खोज	२१२
कुमुदनी	१४८, १४६	ग	
कुसुम	२३५	गंगा	१५६
कुसुम कुमारी	२५	गंगा गोविर्दासिह (उपन्यास)	१४५
कुसुम वाटिका	२४६	गंगाप्रसाद गुप्त	६४, १४२, १५५
कृष्ण	१६१	गढ़ आला पण सिंह गेला	१५४, १५६
कृष्णकांत मालवीय	१५४	गढ़ कुंडार ६६, ६६, ७२, ७३, ७४, ७८,	
कृष्णकुमार मुखोपाध्याय	१६०	७६, ८४, ६३, ६४, ६७, ६८, २६६	

गणेशजी जेठाभाई	२४७, २५१
गणेश पांडेय	१४५, १५८
गदर	११३
गदर के पत्र तथा कहानियाँ	२६०
गदर की कहानियाँ	२५३
गदाधरसिंह	१६, ३०, १४५, २४६
गवन ४, ३७, ४६, ५०, ५१	२६५
गल्प कुसुमांजलि	२०६
गल्प गुच्छ	२४६, २५४, २५६
गल्प लहरी	२४५
गवैण की सूवेदारी	२२१
गहूला	२२०, २२१
गांधी १७६, १८३, २४८, २६३, २७०	
गांधी टोपी	२०६
गाड़ीवालों का कटरा	१६१
गालिव	२१४
गाल्सवर्दी	२५०
गिरिजाकुमार घोष	२४५, २४६
गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश	६२, २६७
गीता	५, ११
गीता साने	१५५
गुंडा १८६, २०४, २१२, २१६-२२१, २३३	
गुजरातनों नाथ	१५७
गुणाढ्य	१६५
गुदड़ी में लाल	२०२
गुप्त सभा	२२३
गुलबहार	१७२
गुलसनोवर	२४७
गुलाम	२०२, २१६
गूदड़ साईं	२०२
गुहिणी गौरव	२४८
गुरुआ बाबा	२६
गोहूँ के साथ भूसा	२२३
गोखरू	२४१, २४२
गोडवोले	१५४
गोद	५६, ६१,
गोदान ३५, ४०, ५२-५६, ६२, १२२, १२८, २६५	
गोदावरी भी हँस पड़ी	२४६
गोधूलि	२५०
गोपालकृष्ण कील	१६०
गोपालकृष्ण गोबले	७
गोपालराम गहमरी	२५-२७, ३०, १४२, १४३

गोपालराम माधव लघाटे	२५६
गोपालराय (डा०)	६२, ११०, ११३
गोपीवल्लभ शालिग्राम	१५२, १५६
गोरा	१४५, १४६, १४७
गोर्की १५६, १६०, २४८, २५०, २५५,	२५७, २६२
गोर्की एवं मोर्रांसा	२५१
गोली	११०
गोवर्धनराम त्रिपाठी	१५७
गोविंदवल्लभ पंत ६५, २०६, २१०, २१२,	२२०
गोरीदत्त	१८१
गोरीशंकर ओझा	१५६
गोरीशंकर शुक्ल	६६
ग्यारह वर्ष का समय	१६७, १६८, १७४
ग्राम	२०१, २३०-२३२
ग्रामोफोन का रिकार्ड	२३८
ग्रिम्स	२४६
ग्रेट शार्ट स्टोरीज़ आव् द वर्ल्ड	२५२
ग्लादकोव	१५६

घ

घंटा (उपन्यास)	५६, १०५
घटना	२५७
घटना घटाटोप	१४३
घर और बाहर	१४७
घर की राह	१५६
घरे बाहिरे	१४६, १५१, १५२
घायल सिपाही	२२३
धीसू	२०३, २११, २१६
धृणाभयी	१३१, २६८

च

चंडीचरण सेन	२६, १४२, १४४, १४५
चंडीप्रसाद जोशी (डा०)	१०५
चंडीप्रसाद 'हृदयेश' ५६, ६१, १००, १८६, २०६, २११, २१४, २१७, २१६, २७१, २७२	
चंद हसीनों के खतूत	५६, १०५-१०८, २६७
चंदा	२०१, २०२, २१२
चंद्रकला	३१
चंद्रकांता	२३, २५, ११८, २६४
चंद्रकांता संतति	२३, २५, १६८
चंद्रगुप्त मौर्य	१५५

चंद्रगुप्त विद्यालंकार	२५०, २५३, २५४, २५७
चंद्रधर शर्मा गुलेरी	१४५, १७५, १८६, १६५, २३०-२३२, २६६
चंद्रप्रभा और पूर्णप्रकाश (कुलीन कन्या)	१६
चंद्रभाल जाँहरी	१६०, १६१
चंद्रशेखर	१५१
चंद्रशेखर पाठक	१०३, १४३
चंपाकली	११३
चकमा	१६५
चक्करदार खून	२६
चक्रधर सिंह (राजा)	६६
चक्रवर्ती का स्तंभ	२०२, २१६
चतुर चंचला	१४१
चतुरसेन शास्त्री	५६, ६६-६८, ७६, ८४, ६२, ६६, १०२, १०४, ११०, ११७, १३०, १८६, १६५, २१०, २२०, २२२, २२४-२२७, २२६, २५३, २५५, २५६, २६०, २६६, २६७, २७०
चतुरसेन शास्त्री का कथा साहित्य	११०
चतुरी चमार	१८६
चपला	२८-३०
चरित्रहीन	१४६
चांडाल चौकड़ी	१४३
चाणक्य	७६
चाणक्य और चंद्रगुप्त	१५४
चार क्रांतिकारी	१५८
चारागाह	२५३
चारुचंद्र बनर्जी	२४७
चिट्ठी पत्नी (प्रेमचंद), भाग २	२४४
चिड़ियावाला	२०६
चित्तरंजनदास	१८३
चित्तीर का उद्धार	२०२, २१६
चित्तीर चातकी	१४१
चित्रकार का चित्त	२२०, २२१
चित्रमंदिर	२०४, २१६
चित्रलेखा	१२, ६५, ६६, ७८-८३, ६४, ६५, ६८, ६६, १३१, १३८, १३६, १६१, २६६-२६६।
चित्रवाले पत्थर	२१३
चित्रावली	२५१
चूड़ीवाली	१६६, २०३, २१६
चेखव	१६४, २४६, २५०, २५२, २५३, २५७, २६१, २६२

चोर की चिट्ठी	२५०
चौरासी वैष्णवों की बातें	१६५

छ

छत्तसाल	१४२, १५२, १५३
छबीली भटयारिन	१६६, २४७
छलिया	२०६
छविनाथ पांडेय	१५६, १६०
छाया	२०१, २०३, २१०, २१२, २१६, २३२, २७२।

ज

जगदीश भा विमल	६५
जगदीश नारायण	१५७
जगन्नाथ प्रसाद	१५७
जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी	२६
जगन्नाथप्रसाद त्रिपाठी	२४६
जगन्नाथ शर्मा 'अग्निहोत्री'	१५३
जगमोहनसिंह (ठाकुर)	२२, ८६
जनादेन भा	१४४, १४६, २४७, २५०, २५६
जब सूर्योदय होगा	१५२, १५६
जमनादास मेहरा	६६
जयनारायण कपूर	१६०
जयप्रकाश	२
जयरामदास गुप्त	२६, ६४
जयशंकर 'प्रसाद'	२, ४, ५६, ८६-८६, ६५-६८, १२६, १३०, १४४, १८६, १६६, २०१-२०४, २०६-२१०, २१२, २१३, २१५, २१६-२२३, २३०-२३२, २३३, २३४, २३७, २३८, २४२, २६६, २६८, २७०, २७२, २७३
जया	१४२
जर्मनी का दाँव पेंच	१५८
जवाहरलाल नेहरू	२, ३
जहाँगीर की सनक	२२३, २२६
जहाँनारा	२०२, २१६
जादूगर	६६
जादूगरनी	१६०
जॉन रॉबिन्सन	२२
जॉनसन (डा०)	१६, २१
जार्ज इलियट	१५८
जार्ज सैंड	१६०
जार्ज सैविट्स	८६

भासूस (भासिक पत्रिका)	२६	टॉमस मान	२५३
भासूस की डायरी	१४३	टॉमस हार्डी	२५०
भासूसी कहानियाँ	२४७	टार्जन की बहादुरी	१५८
बाह्लवी	२३८, २४७	टॉलस्टाय ४, १५०, १५६, २४६, २४६, २५०, २५३-२५६, २५६, २६०, २६२	
जी० ए० मालेराब	२५७	टालस्टाय की कहानी	२५१, २५४, २६०
जी जी जी (उपन्यास)	१०५, ११०	टिक्कें जीत सिंह (उपन्यास)	१४३
जी० पी० श्रीवास्तव	२४५	टी० एफ० ग्राडनेल	१५८
जीवन का मूल्य	१४६	टी० एस० इलियट	३६
जीवन रहस्य	२४७	टीपू सुल्तान	२२४
जीवन संघ्या	१४२	टूटे कांटे	७६, ८४
जीवनाग्नि	२४५	टूटी कली	१४६
जुगनू की चमक	२२५	टूटी सुराही	२२२, २२६
जुहू	१०५	टैम्पेस्ट	२४५
जूठा ग्राम	२०६	टेलस ऑफ ए ट्रेवलर	२४६
जून इचिरो टानीसाकी	१६२	टैगर्ड	२४५
जैव्हों सूर्योदय होईल	१५२	टैगोर की कहानियाँ	२५१
जे० लाग	२२	टैनीसन	२४५
जैनावादी वेगम	२२२	ट्वैल्य नाइट	२४५
जैनेन्द्र	११६		
जैनेन्द्र ११६, १३१-१३६, १५१, १५२, १८६, १६६-१६८, २३८, २३६, २४१, २४४, २६१, २६२, २६८, २६६, २७१, २७३		ठ	
जैनेन्द्र की कहानियाँ, भाग	६२६२	ठगलीला	१६५।
जैमिनी पुराण	२४६	ठगवत्तांतमाला	१४१
जैसे को तैसा	१६०	ठेठ हिंदी का ठाठ	२१
जोनाथन स्विफ्ट	१५८	ड	
ज्ञानचंद	२६१	डकैत रमणी	१५८
ज्ञानेंद्र मोहनदास	२५०	डाकू और किसना	२५७
ज्योतिप्रसाद मिश्र	१६१	डाची	२४१
ज्योतिर्मयी	२०५	डा० देवराज : प्रतिक्रियाएँ	१३४, १३६, १३७
ज्योतिष्मती	२१६	डामुल की कैदी	१७७
ज्वालादत्त शर्मा	२३७	डायमंड नेकलेस	१६६
		डालिंग	२६२
		डार्विन	१३, १०१, १०३
		डालिया	२५५
		डिफो	१५८
भाँसी की रानी लक्ष्मीबाई	७६, ८४	डिस्क्रिप्टिव कैंटलॉग	२२
भाँसी गजेटियर	७२	डी कैमरन नाइट्स	१५
		डी० एल० ड्रेक	७२
		डैनियल डिफो	१५, ८३
टानिया	२५८	डोरा	२५६
टाम काका की कुटिया	२६, १४२	ड्यूमा	१६०
टाम काकार कुटीर	१४२		
टाम डिक	२३८	त	
		तपोभूमि	११३

तरबड (कहानी)	२४६, २५६
ताई	१८६
तानसेन २०१, २०२, २१२, २३०, २३२	
तापसी की तितिक्षा	२१५, २१७, २२०
तारा	२८, ६३
तिलक मंजरी	१६५
तितली	५६, ८८, २६६
तीन इक्के	११३
तीन जासूस	२६
तीन तिलंगे	१६०
तीन पतोहू	१४१
तीन रत्न	२५१
तीन वर्ष (उपन्यास)	६२
तीन सौ दो (३०२) (कहानी)	२०६
तुर्क रमणी	६६, ६५
तुर्गेनेव १५६, १६४, २५०, २५२, २५३	
	२६१
तुर्गेनेव, मोपांसा तथा यूरोप की श्रेष्ठ कहानियाँ	
	२५१
तुलसीदास	१४६, १८७
तूलिका	२०८
तेरह तारीख और शुक्रवार का दिन	२२३
तेरहवें हिंदी साहित्य संमेलन का कार्यविवरण	
	८७
तोता मंन	१७६
तोषी	२२३
त्यागपत्र १२, ११६, १३१, १३४, १३८, २६८	
त्यागमयी	६२
त्रिभुवन सिंह (डा०)	१०४, १०५, १०६

थ

थामस ड	१६
थाथा	१६१
थियोफिल गेंतियर	१६४
थेलमा	१५८
थोड़ी दूर और	२२३, २२५, २२६

द

दंपति	२०५
द क्वींस नेकलेस	१६०, १६१
द गिफ्ट ऑव द मागी	२५६
दत्ता	१४७
द श्री मस्केटियर्स	१६०
द नाविल्स आव् टैगोर	१४५

द प्रोग्रेस आव् रोमांस	८५
द ब्लैक टर्गुलिप	१६०, १६१
द मिस्ट्रीज आव् द कोर्ट आव् लंदन	१४१
दयावान था ?	२२३
दरवार की रात	२२४
दरिद्र दंपति	२४८
द रेनेसा आव् बंडर	२०१
दलदल	२६२
द लाफिंग मैन	१६०
द वेल्ड मैन	२४६
दशकुमार चरित	१४, १६५
द स्केच बुक	१६४
दस्तवस्की	१५६, २५०
दासी	२०४, २१६, २३४
दास्तान अमीर हमजा	२५६
दिल की रानी	१८२
दिल्ली का कलंक	११३
दिल्ली का दलाल	५६, १०४-१०७
दिल्ली का व्यभिचार	११३, ११४
दिल्ली की शाहजादी	६५, ६५
दिल्ली के पतन का एक कारण यह भी था	२२३
दिवास्वप्न	२०५
दिव्या	७६, ६६
दीक्षित तुलु	२५८
दीनानाथ	३१
दीपदान	२०६
दीप निर्वाण	१४६
दुखवा मैं कासे कहूँ मेरी सजनी	१८६, २२४
दुखिया	२०२
दुरंगी दुनिया	१४६, १४८
दुराचार के अड्डे	११३
दुर्गादत्तसिंह	१६०
दुर्गाप्रसाद खत्री	५६
दुर्गेशनंदिनी	१६, १५१
दुलाईवाली	१६८, १७०, १७४
दे खुदा की राह पर	२२४
देवकीनंदन खत्री	२३-२५, ३१, १२२,,
	१५८, १६८, २६८
देवदास	१४६
देवरथ	२१६, २३४
देवराज (डा०)	१३४
देवरानी जेठानी की कहानी	१८, १४१
देवसेना	२४८

देवी चौधरानी	१५१
देवीदत्त शुक्ल	१५६
देवीप्रसाद द्विवेदी	१४६
देवीप्रसाद शर्मा	२६
देशद्रोही का मुंह काला	२२३
देशी और विलायती	२४६
दो घर सामने और तीन बराबर में	१६२
दो बहिन	१४१
दो बैलों की कथा	१८७, १८८
दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता	१६५

ध

धनप्रकाश अग्रवाल	१४६
धन्यकुमार जैन	२५१
धर्मपाल	१५१
धर्मपुत्र	११०
धूपदीप	२०८
धूमकेतु	१५७
धूम्रपान	२५६
धूर्त रसिकलाल	२१
धोखा	२२५

न

नंददुलारे बाजपेयी	८६, १३६, २३८
नंदन निकुंज	२०६
नंदशंकर तुलजाशंकर मेहता	२५३
नई कहानियाँ	२४१
नए बाबू	१४१
नक्षत्रलोक	२०८
नगेंद्रनाथ गुप्त	२६, १४३
ननीलाल वंद्योपाध्याय	१४५
नमक का दारोगा	२३४
नरककाल	२४७
नरक गुलजार	२४५
नरपिशाच	१५८
नरेंद्रनाथ गुप्त	२६
नरेंद्रभूषण	६५
नरेंद्र मोहिनी (उपन्यास)	२५
नर्तकी	२४८
नवजादिकलाल श्रीवास्तव	२५३
नवनिधि	२२५
नवपल्लव	२०८
नवबधू	२४६, २५५।

नशा	१६५, २३५
नाईटी श्री	१६०
नागार्जुन	१५७
नागिन की डाह	२५७
नाटक और उपन्यास (लेख)	२६
नाट्टीडेम डी पेरी	१६०
नाथ माधव	१५४
नाथूराम प्रेमी	१५०, २५१-२५३
नाना साहब और कानपुर की वह दुर्घटना	२२३
नामवर सिंह	२४१
नारायण सीताराम फड़के	१५३
नासिकेतोपाख्यान	१६६
नारी जीवन	१४६
निकोलाई गोगोल	१६४
नित्यानंद तिवारी	११८
निरुपमा	८६, १४६
निर्धनराम	२४५
निर्मला (उपन्यास)	४, ३७, ४८
निर्मला जैन	१, २६३
निस्सहाय हिंदू	२०
नीरव	२५०
नीरा	२११, २१५, २१८
नीलमणि	११०
नीलम देश की राजकन्या	२७३
नीलवसना सुंदरी	१४३
नूतन चरित्र	२०
नूतन ब्रह्मचारी	२०, ३१, ३२, २६४
नूरजहाँ का काँशल	२२४
नूरी २०४, २१३, २१७, २१६, २२३	
नेशनल हेरल्ड	१५१
नै के दो डि असिस	२५५
नैतिक स्तर	२२२
नैरंगे खयाल (मासिक पत्र)	१३०

प

पंचतंत्र	१६४, १७६
पंच परमेश्वर १८२, २३०, २३२, २३४	
	२७०
पंचभूत	१४६, १५१
पंडित और पंडितानी	१७१
पंडित संतोष सिंह	१७

पगली	२०६	पाप और पुण्य	६२
पचकौड़ी दे	२७, २६, १४३	पाप का अग्निकुंड	२२५
पचास कहानियाँ	२०८, २३७	पाप की और	१६२
पछतावा	१६५, २२५	पाप की चोरी	२४७
पतभड़	६२	पाप की पराजय	२०२
पतन	६५	पामेला (अंगरेजी उपन्यास)	१६, १८
पतन की एक कथण कथा	२४८, २५६	पार्वती नंदन	२४५
पतित	२०६	पिता और पुत्र	१५६
पतिता की साधना	६६	पितृभक्त श्रवण	२२४
पतिव्रता	१४६	पियसंस मैगजीन	२५८
पतिव्रता विपुला	१४६	पिया	६१
पत्थर का सौदागर	२२०	पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस	१५८
पत्थर की पुकार	२०२	पिशाचिनी	१४३
पत्थर युग के दो बुत	११०	पिस्तौल का निशाना	२५२
पत्नी	२३८, २४०	पीतल की मूर्ति	१५८
पत्नीव्रत	२४७	पुनर्जीवन	१५६, १६०
पत्नपुष्प	२४७, २६०	पुनर्नवा	६६
पथेरदावी	१५१	पुरस्कार १८६, २०३, २०४, २१०, २१२, २१७, २१६, २२१, २३३	
पद्मलाल पुन्नालाल बख्शी	१४२, १५५	पुरुष का हृदय	२४६
पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' १५७		पुरुष परीक्षा	२५६
पद्मा और लिली	२११, २०८, २१२, १३६	पुरुषोत्तम लाल दवे	१५६
परब	१३१, १३३, १४८	पुलिस वृत्तांत माला	१४१
परगाछा	२५४	पुष्पलता	२१६
परदेसी	२३०	पूना में हलचल	१४२
परमानंद श्रीवास्तव	१३२, १३३	पूणाहुति	२२४, २२६
परिप्रेक्ष्य	२०५	पूणिमा	१५६।
परिवर्तन	१२१, २६४	पूस की रात (कहानी)	३६, १८०, १८२, १८८, १६१, १६३-१६५, २२५, २३०, २३५, २३६, २६५, २७०, २७३
परीक्षा गुरु	१६-२०, ३०, ३२, १२०, १२१, २६४	पृथ्वीपाल सिंह	२४६, २५५
पवित्र पापी	१५६	पृथ्वीराज रासो	६७
पशुपाल वर्मा	१५८	पृथ्वीवल्लभ	१५७
पहले कौन	२२३, २२५	पेटर	२०१
पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ५६, १०२-११०, ११३, ११७, १३०, १८६, १६२, १६६, १६७, २१०, २३७, २३८, २६७, २६८, २७१, २७३		पेठाई फांटे	१६०
पांच कहानियाँ	२०५	पेरिकिलस	२४५
पांचूलाल घोष	२४७	पेरिस का कुवड़ा	१६०
पाजेब कहानी	१६६	पैर छाप कपड़े की कहानी	२२३, २२६
पाटन का प्रभुत्व	१५७	पैसे का साथी	११३
पानवाला	२०५	पोपुलर टेलस	२४६
पाप	२५२	पोलीकुश	२५३, २५४, २५६

प्यासी तलवार	६६
प्रकाशचंद्र सेठी	१४६
प्रणय परिपाटी	२०६
प्रणयिनी परिणय	१४, २७
प्रतापनारायण मिश्र	३०, ६२
प्रतापनारायण श्रीवास्तव	५६, १३०, १६२, २५५
प्रतिज्ञा	२०६, २०७,
प्रतिध्वनि	२०२, २०४, २३२, २३४, २७२
प्रतिभा	१६६, २०२, २०४, २०६,
प्रतिशोध	१५८
प्रतीक्षा	२०६
प्रत्यागत	५६
प्रत्यावर्तन	२०६
प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त'	६२
प्रबुद्ध	२२६
प्रभात कुमार मुखोपाध्याय	१४६, १५५, २४७, २४६ २५०, २५३, २५५, २५७
प्रभावती	८६, ६४, २६६
प्रमथनाथ चट्टोपाध्याय	१४४
प्रमदा	२०६
प्रमिला (उपन्यास)	१४२
प्रमोदशंकर व्यास	१५७
प्रलय	२०२, २०४
प्रलोभन	२५७
प्रवासीलाल वर्मा	१५७
प्लेग की चुड़ैल	१७४
प्रसन्नता की प्राप्ति	२०७, २११, २१६, २२०
प्रसाद (कहानी)	२०२
प्र० हि० सा० स० कार्यविवरण	२६
प्रह्लाद (कहानी)	२२४
प्रियदर्शी	२२०
प्रियरंजन सेन	२६२
प्रियानाथ मुखोपाध्याय	१४३
प्रिस क्रोप्टकिन	१५६
प्रेम कहानी	१६०
प्रेम की चिंता	२०६
प्रेम की पीड़ा	६२
प्रेम की भेंट	५६, ६०
प्रेम गंगा	२५८
प्रेमचंद १, २, ४, ७, १३, १७, २०, २७, ३०-३४, ३७-४०, ४२-५२, ५४-५६, ५६, ६२, ६४, ६५, ६८, ६९,	

७६, ८४, ८७, ६०, ६१, ६६, ६७, ६६, १०३, १०४, १०५, ११०-११३, ११८-१२५, १२७-१३४, १३७, १३८, १४०, १४१, १४७, १५८, १६६-१७०, १७४-१८५, १८७, १८८, १९०-१९६, २०३, २०५, २०६, २१३, २१५ २२५-२२८, २३०-२३२, २३४-२३६, २३८, २४३, २४४ २५४, २६०-२७३,	
---	--

प्रेमचंद और उनका युग	११८, १७६, १८२, १६०
प्रेमचंद पूर्व हिंदी उपन्यास	६२
प्रेमचक्र	१५२, १५८
प्रेतोन्मोद	२०६
प्रेमपथिक	६५, ६५
प्रेमपरिणय	२०६
प्रेम पुष्पांजलि	२०६
प्रेम पूर्णिमा	२६१
प्रेम प्रभाकर	२४६
प्रेम प्रसंग	२०६
प्रेम बलि	२६०
प्रेमसागर	१७२
प्रेमा (उपन्यास)	४०
प्रेमाश्रम	४२, ४३
प्रेमिका	१५८
प्रोस्पर मैरिमी	१४६

फ

फरऊन का प्रेम	२२०
फाँसी	१६०, २३८
फागुन के दिन चार	१०५, ११०
फारस्तर	१४, २६
फिसान ए आजाद	१५७
फीरोजशाह तुगलक की सहानुभूति	२२२
फूलमणि ओ करुणा	१६, १६
फूलों की चोंचरी	१६१
फेन का बुलबुला	२५७
फेयरी टेल्स	२४६
फायड	३४, १००, १०१

ब

बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय	१६, २७, २६, १४२-१४५, १४६
-------------------------	--------------------------

भाग्य	११३
भाग्य का खेल	२०६
भाग्यवती	१७, १८, ३०
भाट का वचन	२२४, २२६
भानमती	१४१
भारत मित्र (पत्रिका)	२३०
भारतीय किसान (लेख)	२
भारतीय किसानों के उद्धार का उपाय (लेख)	२
भारतेंदु हरिश्चंद्र १६, १७, १६, ३०, ३२, १६६, १७२, २०१	
भारतेंदु हरिश्चंद्र (पुस्तक)	१६
भास्कर विष्णु फड़के	१५२
भिखारिणी ५६, ५८, १६६, २०३, २१६	
भिक्षुराज	२२४, २२७
भूतगा	१८६
भूवनचंद्र मुखोपाध्याय	२५
भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र	२६, ३०
भूतनाथ	२३, २४, १६८
भूतोंवाली हवेली	१७४
भूलाभाई देसाई	१८३
भूली बात	२०८, २०९
भूषण	१४६

म

मंजरी	२५१, २५२, २५६, २५७
मंदिरदीप	५६, ११३, ११५, ११६
मणिदीप	२०८
मणिमाला	२४७
मतवाला (पत्रिका)	२४२, २४३
मदन गोपाल	१३०, २५०
मदन मृणालिनी	२०१, २०२
मदर	१६०
मदारीलाल गुप्त	५६
मधुआ १६६, २०३, २०४, २११, २१५, २३३	
मधुमालती	१४२
मन की चंचलता	१६
मनसुखी और सुंदर सिंह	२५३, २५६
मनोरमा	५६, ६०
मन्नन द्विवेदी	२६, ५६
मन्मथनाथ गुप्त	१०४
ममता	१८६, २०४, २१६, २२५
मयखाना	११३

मयूरण	१४५
मराठी कादंबरी	१५४
मरे हुए की मीत	२६
मर्द औरत का किस्सा	१६६
मर्यादा की बेदी	२२५, २२६
मल्लिका देवी (श्रीमती)	१६, १६६
महज एक मामूली सवार	२२३
महाजनी सभ्यता (निबंध)	१७७
महादेवप्रसाद सेठ	२४२, २४३
महादेव साहा	१५०
महादेवी वर्मा	१३८
महापाप २४६, २५३, २५४, २५५, २५६, २६०	
महाभारत	१६५
महामना मालवीय	३
महाराज नंदकुमार को फाँसी	१४२, १४५
महाराज दुर्गावती	८४
महाराष्ट्र जीवन प्रभात	१४५, १४६
महावीरप्रसाद गहगरी	६६
महावीरप्रसाद द्विवेदी २, ३, ३२, १४२, १४७, १५५, १५८, १६५	
महावीरप्रसाद पोद्दार	१४२
महिला	२६१
मांस का विलाप	२५०
माँ (उपन्यास)	५७, १६०, २५६
माँ बाप	२४८
माँ का हृदय	१५६
माकर चूड़	२४६, २५६
माता का हृदय	२३५
माता प्रसाद गुप्त (डा०) ११०, ११३, १४६	
मातासरन मालवीय	६५
माधव मिश्र	१५
माधव मिश्र निबंधमाला	१५
माधवयया	२४८
माधवराव सप्रे	१६६
माधवी कंकण	१४४
माधुरी (पत्रिका) १५०, २४८-२५०, २५८, २५६	
मान का प्रश्न	२०६
मान कुमारी	१४४, १४६
मानव हृदय की कथाएँ	२६१
मामा वरेरकर	१४२
मायाचक्र	६६

रमणलाल वसंतलाल देसाई	१५६	राधाचरण गोस्वामी	२०, ३०
रमणी का रहस्य	२०७	राधिकारमण प्रसाद सिंह	५६
रमला	२१२	राधेश्याम शर्मा	१५८
रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'	१७	रानी की अंगूठी	१५८
रमेशचंद्रदत्ता १६, २७, २६, १४२, १४३,	१४५, १४८, १५५	रानी केतकी की कहानी १६, १६६, १६८	१७१, १७३, १७४
रवींद्र कथा कुंज	२५२, २५३	रानी सारंधा १७८, १८८, २२५, २२६,	२३४
रवींद्रनाथ टैगोर ११, २६, १४२, १४३, १४५—	१४८, १५५, ४६, २५१,	रुचिस्तन क्रूसो १५, १६, २२, ८३, १५८	११
रवींद्रनाथ ठाकुर	२५७	रामकृष्ण परमहंस	१४२
२६२	१४७	रामकृष्ण वर्मा	६५
रवींद्र साहित्य	२०१, २०२, २१२, २१४,	रामचंद्र टंडन	२५५
रसिया बालम २०१, २०२, २१२, २१४,	२१६, २३०, २३२	रामचंद्र मिश्र ६५, ६५, १४२, १४५, १४६,	१५२, १५३, १५६, १६१, २५१,
रहस्यकथा उपन्यास	१७	२५३	
रहस्यमयी (उपन्यास) ११३, ११५	७६, ८४	रामचंद्र शुक्ल (आचार्य) १५, २७, २६,	३०, १२८, १४४, १५०, १५१, १५३,
रागेय राघव	१५८	१५४, १६७, १६६, १७५, १६६,	२०६, २४२
राइडर हैगर्ड	१४४, १५१	रामतीर्थ	११
राखालदास बंधोपाध्याय	१५२, १५४—१५६	रामदरश मिश्र	३२
रागिणी	२८	रामनरेश त्रिपाठी	२०१
राजकुमारी (उपन्यास)	३	रामनाथ पांडेय	६६
राजकुमारी अमृत कौर	३, २८८	रामनाथ लाल सुमन	१४६
राजगोपालाचारी (चक्रवर्ती)	१४२	रामनारायण विश्वनाथ पाठक	२३६
राजदूत	१४२	रामप्यारे त्रिपाठी	६५
राजधानी	२५४	६५	
राजपूत कैदी	१४४, १४८, १४६,	राममोहन राय	४, ६
राजपूत जीवन संख्या १४४, १४८, १४६,	१५५	राम रहीम	५६, ६०
राजपूतनंदिनी	१४४, १५५	रामलाल वर्मा १४१, १४२, १४३, १५८	१८६
राजपूतनी	२४७	रामलीला	१८६
राजपूत रमणी	६६	रामविलास शर्मा डा०) १७, १६, ११८,	१२२, १२८, १७६, १८१, १८२,
राजबहादुर सिंह १५३, १५४, १५८, १६०	१६, १४२, १४४	१६०, २०५, २१३	
राज सिंह (उपन्यास)	१६६, १६७, १६८	१७०, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५,	१७६, १७७, १७८, १७९, १८०,
राज-भोज का सपना १७०, १७४		१८०, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५,	१८६, १८७, १८८, १८९, १९०,
राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह १३०, २०६,	२३०, २६८, २७२	२२३	
राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद १६६, १६७	२२५, २२६	२५३	
राजा हरदोल	३	१४४	
राजेंद्रप्रसाद	२५५	१४४	
रात का सफर	२१, १५२	१४४	
राधाकांत	१७, २०, २८, ३०, १४६	१४४	
राधाकृष्णदास १७, २०, २८, ३०, १४६		१४४	

रासेलास	१६, २१
राहुल सांकृत्यायन	८४, २२२
रिचर्डसन	१६
रिववान विंकल	१५८
रिसरेशन	१५६
रिहाई तलवार की धार पर	२२३
रुद्रदत्त शर्मा	२६
रुद्रनाथ अग्रवाल	१५६
रुद्रनारायण अग्रवाल	१५०, १५६
रूपनारायण पांडेय	१४२, १४६, १४८, १५०, २०१, २४६, २५०, २५२, २५७
रूसो	२१६
रेगिस्तान की रानी	२४६, २५८
रेडक्लिफ (श्रीमती)	८५
रेनाल्ड	२५, २६, १४१, १५८
रेल दुर्घटना	२५३
रोजीना की डायरी	२५५
रोमान क्लिप	१६२
रोमांस (कहानी)	२५६
रोम्याँ रोलाँ	४

ल

लंडन रहस्य	२५, १४१, १५८
लक्ष्मणसिंह	१६०
लक्ष्मीकांत भा	२५५
लक्ष्मीधर वाजपेयी	१५३, १५४
लक्ष्मीनारायण 'सरोज'	१४१
लक्ष्मीसहाय माथुर 'विशारद'	६५
लखनऊ की कन्न	२८
लखनऊ रहस्य	६६
लगन	५६, ६०
लघुसेवक राम	२५६
लज्जाराम शर्मा (मेहता)	२१
लतिका	१५५
लल्ली प्रसाद पांडेय	२५१, २५५, २६०
लल्लूलाल	१६६, १७२
लवंगलता	२७
लहर	२२१
लांछन (कहानी)	१८५, १६४
लांजाइनस	१६६
लात की आग	२२४, २२६
लार्ड लिटन	१५८

लाल कुँवर	२८
लाल पंजा	५६
लाल पानी	११०
लाला रुख	२२४, २५५
लाला लाजपतराय	३
लाला श्रीनिवासदास	१६, १६, २०, ३०, ३१, १२१, २६४
लास्ट डेज आव् पाँप आइ	१५८
लिर्ली	२०५
लीला	२०६
लीलावती	२८, २४८, २५६
ली० विलियम	२५८
लुटेरे का विवेक	२२३
लुडविग टीक	१६४
ले आँव होरेशस	२४५, २५६
ले केवालियर डे मेशन रेज	१६१
लेग लॉफ	१५८, २४७
लेनिन	१८३
लैला मजनु	१६५, २०२, २१४
लोकमान्य तिलक	१, ३, ७
लोचन प्रसाद पांडेय	२०१, २३२

व

वंशीवाला	२०६
वचन का मोल	६१, ६७
वज्रघात	१५५
वज्रपात	२२५, २३५
वर्जीनिया	२४५
वनमाला	२०६
वयं रक्षामः	८४
वरदान	४२, २४६
वर्षगाँठ	२५४
वल्लभभाई पटेल	३, ६
वाचस्पति पाठक	२१०
वाट्स डंटन	२०१
वा० ना० शाह	१४२, १५२, १५५
वामन मल्हार जोशी	१५२, १५४
वार ऐंड पीस	१५६
वालटर हासर	६
वाल्टर स्क्वॉट	६६, ८५, ६३, ६६
वाल्टेयर	२६१
वाशिंगटन इरविग	२४६
वासना की पुकार	२०६
वासवदत्ता	१४, १६५

विकल विद्रोही	१६०
विकटर सगो	१६०, २५०, २६२
विचित्र चोरी	१७४
विचित्र बधू	१४६
विचित्र विचरण	१५८
विचित्र वीर	१५८
विजय	५६, ६०
विजया (उपन्यास)	१४७
विट्ठल भाई पटेल	३
विदा	५६, ६०
विद्रोही	२२०
विधवा विपत्ति	२०
विधाता	२०६
विनायक सदाशिव सुखराकर	२५१
विनोदशंकर व्यास	१६०, १८६, २०८, २०६, २१२, २२०, २३७, २७२

विनोदशंकर व्यास की ४१ कहानियाँ २०८
 विराटा की पद्मिनी ६६, ७०, ७१, ७३-७६,
 ८४, ६३, ६४, ६७, ६६, १४५

विलियम ली० क्विक्स	२५०
विवाह की कहानियाँ	५३
विवेकानंद (स्वामी)	२११
विशाल भारत	१५५, १५७, २४८
विश्वभरनाथ जिज्जा	६५
विश्वभरनाथ शर्मा की शिक	५६, १००
	१३० १७४, १८६, १६५, २३०, २३२
	२३७, २७०

विश्वनाथ त्रिपाठी	१७५
विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	२५०, २५७
विश्वनाथसिंह पोखरेल	६५
विश्व साहित्य ग्रंथमाला	२५७
विसर्जन	२१७
विस्मृत सम्राट्	६५
विषवृक्ष	१४५
वीणा (पत्रिका)	१५५, २५५
वीर प्रतिज्ञा	१४४
वीर बदल	६५, २२४
वीर राजपूत	१५४
वीर व्रत पालन	१४२, १४४
वीरांगना	१४६, १४६
वृंदावनलाल वर्मा	५६, ६२, ६६, ६८-७२,

७४, ७८, ७६, ८४, ८६, ८७, ६०, ६१,	
६३, ६५, ६६, ६७, ६६, १३०, १४५,	
१५१, १६६, २२२, २२३, २२५, -	
२२७, २२६, २६५-२६७, २७३	
बैंडेटा	१५८
बैतन की बमूली	२२३
बे तानों	१५६
बे दिन लद गए मेम साब	२२३
बेग्या पुत्र	११३
बैताल पचीसी	१७६
बैर का बदला	१५७
बैरागदिया राजकुमा	६६
बैरिनी बमूलाल कोनो बाँका	१५७
बैल्लू का विद्रोह	२२३
बैशाली की नगरवधू	७६, ८४
	११०

व्यभिचार	११०, १११
व्रतभंग २०४, २१२, २१६, २२१	
व्हील्स ऑफ् रिवोल्यूशन	५८
श	

शंकर की जटाजूट	२५७
शक्ति	१५६
शतरंज के खिलाड़ी	१८४
	१८८, १६५, २२५,
	२२७, २३५
शरणवत्सल हमीर	६६
शरणागत	२०२, २१२,
शरत्चंद्र १४२, १४३, १४६-१४८, १५१	
	१५२, १५५, २५०, २५३, २५६,
	२५७, २६१

शरत् साहित्य	१४८
शराबी (उपन्यास)	५६, १०५, १०६
शशांक	१४४, १५०, १५१
शशिभूषण सिंहल	६२, ७८, ७६, ६०
शांति	२३५
शांति कुटीर	१४७
शांतिनिष्ठन	२०६ २०७
शांतिस्वरूप गुप्त	८५, १४१, १५६, २४५
शाहजादा और फकीर तथा उमरा की बेटी	६५
शिवदान सिंह चौहान	३८, १०४
शिवनाथ शास्त्री	२६

शिवनारायण द्विवेदी	२६	संडीवाला	२४६
शिवनारायणलाल (चौधरी)	६६	संन्यासी	१३१
शिवनारायण श्रीवास्तव	६४, ११०	संन्यासिनी	६२
शिवप्रसाद सितारेहिद (राजा)	१६	संपत्तिशास्त्र	२
शिवसहाय चतुर्वेदी	१५०	सखाराम	५६
शीतला सहाय	२५५	सखी	२०५
शीरीं फऱहाद	१६५, १६६, २०२, २१४,	सच्ची शुद्धि	२२५
२४७		सजा	२६२
शीर्षक रहित	२०६	सती गौरव	१४६
शुभकार कपूर (डा०)	११०	सत्ताधारी का तमाचा	२२३
शेक्सपीयर	२४५	सत्यकेतु विद्यालंकार ७६, १५५, २५०,	२५७
शेख सादी	१४६	सत्यजीवन बर्मा	२५५
शेरशाह का न्याय	२२२, २२६	सत्याग्रह	५६, ११३
शेरसिंह	२६	सत्येंद्र (डा०)	६२
शेलेकश	२४८	सदल मिश्र	१६६
शैया पर	२०६	सप्तसरोज	२६१
शैलेकश	१५६	सप्त सुमन	२५१
शैलवाला	१४५, १४६	सफलता	२१३
शोणित तर्पण	१४३	समाधि	१५८, २०६
शोभा	१५६	समालोचक (पत्रिका यथार्थवाद विशेषांक)	६६
शोमालाल गुप्त	१५६	समुद्र संतरण २०३, २१२, २१३	
शोलभ एस	२५५	सम्राट् अशोक १४२, १५२, १५५, १५६	
श्यामसुंदरदास	१५	सम्राट् का स्वत्व	२५०
श्यामा	२०५, २१३	सम्राट् चंद्रगुप्त	६६
श्यामाचरण डे	२४७	सरकार तुम्हारी आँखों में	१०५
श्यामा स्वप्न	२२, ८६	सरस्वती (पत्रिका) २, १४७, १५५, २३०,	
श्रद्धानंद स्वामी	३	२४५, २४७, २५३, २५४, २५५,	
श्रद्धाराम फुलौरी	१७, ३०	२६०	
श्रीकांत (उपन्यास)	१४७, १५०, २४८,		
२५०		सरिंगा सदावृज	२४७
श्रीकृष्णलाल १६, २२, १०३, १०४, १०५		सरोजिनी नायडू	३
श्रीकृष्ण हसरत	६६, १५७	सर्वोटीज	१५८
श्रीगोपाल नेवटिया	२५०	सहयोग (कहानी)	२०२
श्रीधर ठाकुर	२०१	सांध्यप्रदीप	२०६
श्रीनिवास ग्रंथावलो	१६	साइकोडायनामिक्स आर्वा एन्मार्मल बीहैवियर	१०१
श्रीमती आर० रंगनायकी देवी	२४८	साधना	२०७
श्रीमती जी० तजम्मा	२४८	सालवती	२०४, २१६, २३३
श्रीमती श्रेनर	२४६, २५५	सावनी सभा	२०६
श्रीराम शर्मा	१५७, १५८, २४६	सावित्री देवश्र	१४६
श्री हरिश्चंद्र कला द्वितीय भाग	१७	सावित्रीदेवी	१४५
स		सास पतोहू	१४१
संगम	५६, ६१	साहित्य का उद्देश्य २७, ११८, १२२, २३४	
संघर्ष	१५६	साहित्य संदेश (पत्रिका)	२६
संजीवचंद्र चट्टोपाध्याय	२५०		

साहित्यालोचन	१५	२४२-२४४, २६६, २६८, २७१	
सिक्लेकर ल्युइस	२५५		
सिवेलीन	२४५	सूर्यनारायण दीक्षित	२४६
सिंहगढ़ आधा पर सिंह गभा	२५६	सूर्यास्त (उपन्यास)	६५
सिंहगढ़ विजय	१५४	सैंटेंस टु डेथ	१६०
सिंहासन बत्तीसी,	१६६, १७६	सेल्मा लेजर लाफ	१५८
सिकंदर की शपथ	२०२, २१६	सेवासदन ४, ३४, ३७, ४०, ४२, ६२,	
सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ	१६०	११८, ११६, १२०, १२३, १२८, १३४,	
सिद्धराज जयसिंह का न्याय	२२३	२६७	
सियारामशरण गुप्त	५६, १००	सोना और खून (चार भागों में)	१६०
सियारामशरण प्रसाद (डा०)	६१	सोनिया सेलिंग	१५८
सिल्के गौहर	१७३	सोमनाथ	११०
सी ब्राउन	१०१	सोया हुआ शहर	२२४
मुकुमार चट्टोपाध्याय	२४७, २५३	सी अज्ञान और एक सुजान २०, ३२, २६४	
मुकुल की बीबी	१८६, २४२	सीत	२३०, २३४
मुख	२०६	सौंदर्योपासक	२१, १५२
मुखदा	१५२	स्कूल के सहपाठी	२२४
मुखदास	१५८	स्तांघल	२००
मुखमय जीवन	२३०	स्त्री का हृदय	१६१
मुदर्शन १७४, १८६, १६५, २१८, २१६,		स्नेह यज्ञ	१५६
२२०, २३२, २७०		स्पेन्सर	१०१, १०३
मुधा	२५६, २५६	स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी	२१
मुर्धोदनाथ ठाकुर	२४७	स्वदेश की बलिवेदिका	६५
मुनार का स्वप्न	२०७, २२०	स्वराज्य कब मिलेगा	२६०
मुनीता (उपन्यास)	१३५, १५२	स्वर्ग	२०६
मुमापचंद्र बोंस	३, ७	स्वर्ग के खंडहर	२०४, २१६
मुमन मेहरोत्रा	१६३	स्वर्गीय कुसुम	२८
मुमिलानंदन पंत १६६, २०५, २४२, २७२		स्वर्णकुमारी देवी घोषाल	१४५
मुरसुंदरी	६६	१४६	
मुरा मुरादि मानदा	२५७	ह	
मुरेंद्रमोहन भट्टाचार्य	१४६	हंस (पत्रिका) १५५, २४८, २५८, २५६,	
मुलताना रजिया बेगम (रंगमहल में हलाहल)	६३	हंस बन गया कौआ	२४८
		हजारीप्रसाद द्विवेदी (आचार्य) १६, ७६,	
		८४, ६६, १२८	
मुलभ साहित्य माला	१४७	हठी हम्मीर	२२४
मुहराब रुस्तम	६६	हमखुरमा व हमसबाब	४०
मुहिणी मेहार	२५६	हम हवालात में	२६
सूखा स्नेह	२०६	हमीदा	२२३
सूर	१८७	हमीर दूढ़	१७
सूरत का चायखाना	२५४	हमीरहठ	१६६
सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ६६, ८६, ८७,		हरदयाल	१६६
८६, ६०, ६४, ६६, १२६, १३०,		हरविग	१५८
१८६, १६६ २०५, २११-२१३.		हर हाइनेस	११३

हरिकृष्ण जोहर	१५८
हरिनारायण आप्टे	१५३-१५५, २५६
हरिभाऊ उपाध्याय	१४२, १५२, १५३, १५६
हरिश्चंद्र चंद्रिका (पत्रिका)	१६
हर्षचरित	१४, २४६
हवाई किला	२४६, २५८
हसन निजामी ख्वाजा	१५७
हातिमताई का किस्सा	१६५, २४७, १८६
हार की जीत	१८६
हाराणचंद्र रक्षित	१४२, १४४
हार्डी	२५२-२५४
हार्षानि	२४७
हिंद स्वराज्य	७
हिंदी उपन्यास	११०
हिंदी उपन्यास और यथार्थवाद	१०५
हिंदी उपन्यास: ऐतिहासिक अध्ययन	६४
हिंदी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ	७६
हिंदी उपन्यास कोश (खंड १-२)	६२
हिंदी उपन्यास कोश (खंड २)	११०, ११३
हिंदी उपन्यास साहित्य	१६
हिंदी उपन्यास साहित्य का अध्ययन	१०१-१०४
हिंदीकथा साहित्य	१४२, १५५
हिंदी तथा मराठी उपन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन	१५६
हिंदी पुस्तक परिचय	११४
हिंदी पुस्तक साहित्य	११०
हिंदी पुस्तक सूची	१४६

हिंदी प्रदीप (पत्रिका)	१५, २०, १७३
हिंदी साहित्य	१६
हिंदी साहित्य का इतिहास	१५, ३०, १५१, १७५
हिंदी साहित्य का विकास	१०५, १०३
हिंदी साहित्य के अस्सी वर्ष	३८
हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी	८६, १३६
हिंदू गृहस्थ	२१
हिंदोस्थान (पत्रिका)	६२
हिज हाइनेस	११३
हिमावतार	२५७
हिरनी	२०५
हीरे का मोल	२६
हुगली का इमामवाड़ा	१४५
हृदय की कसक	२०८, २०६, २१४
हृदय की परख	६२, ११०
हृदय की व्यास	५६, ६२, ११०, ११२
हृदयहारिणी	२७, ६२
हेनरी वारबोरस	२५०
हेमचंद्र मोदी	१४७, १४८
हैगर्ड	२६
हंदरअली	२२४
हैना कैथरिन मैलेंस	१६
हैमलैट	२४५
हैरी एंड कंपनी लिमिटेड	२३८
होम कर्मिंग	२५४, २४६
होरेशस	२४५
ह्यू गो	१५०, १६१, २६१

